

आचार्य वाढीभ सिंह कृत जीवंधर चरित्र

क्षत्रचूडामणि



आचार्य श्री अजितसेन अपर नाम वादीभसिंहसूरि विरचित

क्षत्रचूडामणि

(जीवन्धर-चरित्र)

भाषा टीकाकार एवं सम्पादक :

ब्र. यशपाल जैन, जयपुर

एम.ए.

प्रस्तावना :

पण्डित रतनचन्द भारिल्ल

शास्त्री, न्यायतीर्थ, साहित्यरत्न, एम.ए., बी.एड.

प्राचार्य, श्री टोडरमल दिगम्बर जैन सिद्धान्त महाविद्यालय, जयपुर

प्रकाशक :

पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट

ए-4, बापूनगर, जयपुर - 302015

फोन : 0141-2707458, 2705581

E-mail : pststjaipur@yahoo.com

एवं

पताशे प्रकाशन संस्था, घटप्रभा

जिला-बेलगाँव (कर्नाटक) 591306

प्रकाशकीय

पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर एवं पताशे प्रकाशन संस्था, घटप्रभा के माध्यम से आचार्य श्री वादीभसिंहसूरि कृत 'क्षत्रचूडामणि' के पंचम संस्करण का प्रकाशन करते हुए हमें हार्दिक प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है।

सिद्धान्त चक्रवर्ती आचार्य श्री विद्यानन्दजी मुनिराज की प्रेरणा से इसका प्रथम सचित्र संस्करण श्री अखिल भारतवर्षीय दि. जैन विद्वत् परिषद् ट्रस्ट जयपुर द्वारा प्रकाशित किया गया था। चार माह के अल्पकाल में ही इसका प्रथम संस्करण हाथों-हाथ बिक गया। अत्यधिक लोकप्रियता के कारण पुस्तक की माँग निरन्तर बनी रहने से चार हजार प्रतियों का द्वितीय संस्करण जनवरी 02 में तृतीय संस्करण 13 फरवरी 2005 एवं चतुर्थ संस्करण 3 अगस्त 2008 को प्रकाशित किया गया और अब वह भी समाप्त हो गया। अब यह एक हजार प्रतियों का पंचम संस्करण आपके हाथों में है। इस संस्करण में उन अशुद्धियों को दूर करने का प्रयत्न किया गया है जो पाठकों ने हमें सुझाये थे।

पुस्तक के विषय में कुछ भी कहना सूर्य को दीपक दिखाने के समान हैं। पहले तो यह ग्रंथ परीक्षाबोर्ड के पाठ्यक्रम में ही था; अतः जो भी पुराने विद्वान थे, सभी को इस ग्रंथ का अच्छा अभ्यास था। इतना ही नहीं आचार्य श्री समन्तभद्रजी को तो यह ग्रंथ कण्ठस्थ था ही, आचार्य श्री विद्यानन्दजी को भी यह ग्रंथ कण्ठस्थ है तथा वे अपने शिष्यों को इसके पठन-पाठन की प्रेरणा भी देते रहते हैं। प्रथम संस्करण के आशीर्वचन में आचार्य श्री विद्यानन्दजी स्वयं लिखते हैं – “यह ग्रंथ नीति का अपूर्व काव्य है। साहित्यिक सुषमा भी इसकी अतिविशिष्ट है। इसके पढ़ते समय जहाँ एक ओर रस-छंद अलंकार आदि की दृष्टि से विशिष्ट आनन्दानुभूति होती है और इसका बाह्य कलेवर एवं आध्यात्मिक नीति परक दिशा निर्देश भी न केवल उत्तम आदर्श हैं, अपितु व्यावहारिक धरातल पर भी अत्यन्त उपयोगी है। साथ ही इसके प्रतिपाद्य निर्विवाद रूप से सर्वजन स्वीकार्य होने से भी इसकी महत्ता को सभी ने मुक्तकंठ से स्वीकार किया है।”

हमारे साहित्य प्रकाशन विभाग के मंत्री एवं ट्रस्टी ब्र. यशपालजी ने इस ग्रंथ का अन्वयार्थ, भाषा टीका एवं सम्पादन का कार्य बड़े ही मनोयोगपूर्वक किया है। यह ग्रंथ आज हम सबके हाथ में है तो इसका सम्पूर्ण श्रेय ब्र. यशपालजी को ही जाता है। उनके इस श्रम के लिए उन्हें जितना भी धन्यवाद दिया जाए कम ही है।

ग्रंथ की प्रस्तावना लोकप्रिय विद्वान् अध्यात्म रत्नाकर पण्डित श्री रतनचन्दजी भारिल्ल ने लिखी है; उन्होंने इस कृति के अन्वयार्थ एवं सम्पादन को भी बारीकी से देखा है। दोनों महानुभावों के श्रम ने ग्रंथ की उपयोगिता बढ़ा दी है; इसके लिए हम दोनों के हृदय से आभारी हैं।

प्रकाशन का दायित्व सदा की भाँति विभाग के प्रभारी श्री अखिल बंसल ने बखूबी सम्हाला है। चित्रों की परिकल्पना एवं नयनाभिराम आवरण इन्हीं की सूझ-बूझ से सार्थक हो सका है; इसके लिए वे धन्यवाद के पात्र हैं। पुस्तक की लोकप्रियता का कारण कथा के साथ-साथ नीति वचनों का होना भी है। जिन महानुभावों का ग्रंथ की कीमत कम करने में आर्थिक सहयोग प्राप्त हुआ है संस्था उनका भी आभार मानती है।

आप सभी नीतिशास्त्र से लाभान्वित हों – इसी भावना के साथ –

श्रीमती इन्दुमती अण्णासाहेब खेमलापुरे

अध्यक्ष

पताशे प्रकाशन संस्था, घटप्रभा

डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल

महामंत्री

पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर

मनोगत

मुझे मेरे विद्यार्थी जीवन में सन् १९५९ में बाहुबली-कुम्भोज (महाराष्ट्र) स्थित गुरुकुल में क्षत्रचूड़ामणि ग्रन्थ के अध्ययन का सुअवसर प्राप्त हुआ। सौभाग्य से अध्यात्मरसिक, सरल परिणामी, परोपकार-परायण एवं अध्यापन-रसिक मुनिराज श्री १०८ समन्तभद्र महाराज ने स्वयं मुझे यह ग्रन्थ पढ़ाया। पूज्य श्री मुनिराजजी को यह ग्रन्थ इतना प्रिय था कि यह उन्हें आद्योपान्त कण्ठस्थ था। इसमें भी खास बात यह थी कि वे इस ग्रन्थ को प्रारम्भ से अन्त तक, इसके विपरीत अन्त से प्रारम्भ तक क्रमशः शुद्ध, स्पष्ट और अत्यन्त रस लेकर सुनाया करते थे। आप ग्रन्थाधिराज समयसार का स्वाध्याय तो करते ही थे, नाटक समयसार के भी रसिक थे। नाटक समयसार भी आपको प्रायः कण्ठस्थ ही था। इनके अतिरिक्त इष्टोपदेश, समाधिशतक आदि अनेक ग्रन्थ भी आपको कण्ठस्थ थे।

इन्हीं सब कारणों से मेरे अध्ययन काल से ही मुझे भी यह क्षत्रचूड़ामणि ग्रन्थ अत्यन्त प्रिय है। कुम्भोज-बाहुबली में गुरुकुल के छात्रों को यह ग्रन्थ अनेकबार पढ़ाने का सौभाग्य भी मुझे मिला था।

जिनागम के चारों अनुयोगों की अपनी-अपनी कथनशैली है। प्रथमानुयोग में कथाशैली मुख्य होती है, तो चरणानुयोग में आचरणमूलक उपदेशशैली। उपदेशशैली के लिए पूरक नीतिशास्त्र का भी चरणानुयोग में प्रयोग होता है।

‘क्षत्रचूड़ामणि’ ग्रन्थ की यह अनूठी विशेषता है कि इसके श्लोकों में एक पंक्ति में कहानी चलती है, तो दूसरी पंक्ति में नीति का वर्णन। इसप्रकार से देखा जाए तो यह ग्रन्थ प्रथमानुयोग व चरणानुयोग के सुन्दर सुमेल को सिद्ध करता है।

दक्षिण भारत के सरल स्वभावी, अध्यात्म के प्रचारक एवं कन्नड़ मातृभाषिक मुनिराज श्री महाबल महाराज एवं सम्पूर्ण भारतवर्ष में विहार करनेवाले तीर्थरक्षाशिरोमणि आचार्य श्री आर्यनन्दी महाराज को भी यह ग्रन्थ अत्यन्त प्रिय था।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्रीकानजी स्वामी के सम्पर्क में आने पर समयसारादि आध्यात्मिक ग्रन्थों का मर्म सुनकर यह मुझे स्पष्ट हुआ कि चारों अनुयोगों का तात्पर्य एकमात्र वीतरागता ही है।

परिणामस्वरूप 'क्षत्रचूडामणि' ग्रन्थ पर कुछ लिखने का भाव हुआ। तदनुसार मैंने पाँच वर्ष पूर्व ही इस पर लेखन कार्य प्रारम्भ किया था, लेकिन अन्य व्यस्तताओं के कारण इसे पूर्ण नहीं कर पाया।

यह ग्रन्थ पूर्व में ही अर्थ सहित अनेक स्थानों से प्रकाशित हो चुका है; फिर भी मुझे अत्यन्त प्रिय होने से मैंने स्वान्तःसुखाय/स्वयं के स्वाध्याय के लिए ही भाषाटीका लिखी है। उसमें मैंने निम्नलिखित बातों पर विशेष ध्यान दिया है -

(१) प्रत्येक श्लोक के लिए शीर्षक दिए हैं, जिससे श्लोक का भाव समझने में सुविधा हो सके।

(२) अन्वयार्थ एवं सरलार्थ को भी यथासम्भव सरल बनाने का प्रयास किया है।

(३) श्लोकों के भावार्थ को लेकर विशेषार्थ लिखने से उसमें सहज ही अध्यात्म प्रस्फुटित हुआ है। प्रथमानुयोग में व्यवहार की मुख्यता से कथन आता है, अतः सामान्यजन कर्म को बलवान समझते हैं; लेकिन इस मान्यता का जगह-जगह निराकरण हुआ है। मूल ग्रन्थाधार से निमित्त का अकिञ्चित्करपना ही सिद्ध हुआ है। शुभभाव - पुण्य भी कर्मबन्धन का कारण होने से संसार ही है - यह द्रव्यानुयोग का विषय यथासम्भव शास्त्रानुसार व तर्क से स्पष्ट हुआ है।

(४) जीवन्धरकुमार की मूलकथा में समागत २३ उपकथाएँ पाठकों को स्पष्ट लक्षित हों - इसके लिए उन उपकथाओं को क्रमांक देकर उल्लिखित किया है।

(५) जिन श्लोकों में नीति का वर्णन आया है, वहाँ उसे प्रदर्शित करने हेतु बड़े अक्षरों में **अत्र नीतिः** लिखा है एवं परिच्छेद भी बदला है। सरलार्थ एवं विशेषार्थ में भी नीतिपरक वाक्यों को गहरे अक्षरों में (Bold Type) दिया है।

(६) अन्वयार्थ में अर्थ को और स्पष्ट करने के लिए कुछ शब्द अपनी तरफ से प्रयुक्त किए हैं, उन्हें [] ऐसे ब्रेकेट में दिया है।

अध्ययनप्रिय तत्त्वप्रेमी पाठकों से मेरा विनम्र अनुरोध है कि वे इस भाषा-टीका में जो त्रुटियाँ रह गई हों – उनकी ओर ध्यानाकर्षण करावें, ताकि आगामी संस्करण में संशोधन का प्रयास किया जा सके।

इस ग्रन्थ की भाषा-टीका लिखने में मुझे अनेक लोगों का सहयोग प्राप्त हुआ है, जिन्हें मैं विस्मृत नहीं कर सकता –

(१) पण्डित रतनचन्दजी भारिल्ल ने सम्पूर्ण टीका का बारीकी से अवलोकन कर महत्त्वपूर्ण संशोधन करवाये हैं। (२) ब्र. विमला बहिन ने विशेषार्थ लेखन में विशेष सुझाव दिए हैं। (३) पण्डित बाबूलालजी बाँझल गुनावालों ने समस्त टीका को पुनः लिखते हुए भाषासम्बन्धी त्रुटियों को दूर किया है। (४) पण्डित राजेश शास्त्री शाहगढ़ एवं पण्डित संजय शास्त्री बड़ामलहरा ने प्रूफ संशोधन में अपना सहयोग प्रदान किया है।

ग्रन्थ का टाइप सेटिंग पण्डित रमेशचन्दजी शास्त्री (जैन कम्प्यूटर्स) जयपुर ने किया है। अनेक बार पेज सेटिंग में परिवर्तन करने के बावजूद भी उन्होंने इस कार्य को धैर्यपूर्वक किया है – यह उनके तत्त्वप्रेम को ही प्रदर्शित करता है।

इनके अतिरिक्त पण्डित प्रकाशचन्दजी हितैषी दिल्ली, पण्डित अभयकुमारजी शास्त्री छिन्दवाड़ा, पण्डित राकेशकुमारजी शास्त्री नागपुर, पण्डित राकेशकुमारजी शास्त्री लोनी, पण्डित दिनेशभाई एवं श्रीमती उज्ज्वला शहा मुम्बई, पण्डित अनुभवप्रकाश शास्त्री व पण्डित संजीवकुमार गोधा, जयपुर आदि ने भी अनेक महत्त्वपूर्ण सुझाव दिए हैं, जो मुझे उपयोगी सिद्ध हुए हैं। अतः मैं इन सबका हार्दिक आभार मानता हूँ।

साधर्मि जन इस ग्रन्थ का अध्ययन कर अपने जीवन को कृतार्थ करने का सफल प्रयास करें – इसी मंगल-भावना के साथ विराम लेता हूँ।

– यशपाल जैन, जयपुर

प्रस्तावना

पण्डित रतनचन्द भारिल्ल

शास्त्री, न्यायतीर्थ, साहित्यरत्न एम.ए., बी.एड.

नीतिशास्त्र के कुशल चितेरे, संस्कृत भाषाविद्, काव्य प्रतिभा के धनी, दक्षिणप्रान्तीय वादीभसिंहसूरि अलंकरण (उपाधि) के नाम से विख्यात ग्रन्थकार का दीक्षा-नाम मुनि अजितसेन और जन्म-नाम औडेयदेव था। प्रस्तुत क्षत्र-चूड़ामणि काव्य-ग्रन्थ के अतिरिक्त आपके द्वारा रचित गद्य-चिन्तामणि एक ऐसी अनुपम गद्य रचना है जो कि महाकवि बाणभट्ट जैसे प्रसिद्ध गद्यकार की रचना पद्धति को भी पीछे छोड़ देती है।

आपके ग्रन्थों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि आप तत्त्वज्ञान और अध्यात्म के मर्मज्ञ तो थे ही, राजनीति और नीतिशास्त्र के भी विशेष विद्वान थे। आपका काव्य-कौशल, साहित्यिक-सौन्दर्य, संस्कृत व्याकरण-विषयक ज्ञान, संस्कृत शब्दकोष तथा काव्य-शास्त्रीय ज्ञान अगाध था।

श्रवणबेलगोला की मल्लिषेण प्रशस्ति में आपके दो शिष्यों के नामों का उल्लेख है - १. मल्लिनाथ और २. पद्मनाथ। मुख्यतः मैसूर राज्य और पोम्बुच्च क्षेत्र आपके धर्मप्रचार के केन्द्र थे। वहाँ के विभिन्न स्थानों के शिलालेख इस बात के साक्षी हैं। इतिहासज्ञ विद्वानों ने संस्कृत साहित्य के इतिहास में आपका अस्तित्व दशवीं शताब्दि में माना है और आप भी श्री पुष्पसेन मुनि के शिष्य थे।

वादीभसिंहसूरि कृत क्षत्रचूड़ामणि कृति सरल संस्कृत भाषा एवं काव्य शैली में लिखी गई एक ऐसी नीति परक साहित्यिक रचना है, जिसके प्रत्येक श्लोक में कथानक के साथ-साथ पाठकों को कुछ न कुछ राजनैतिक, धार्मिक और सदाचार प्रेरक सन्देश भी दिया गया है। इस कृति के कथानायक तद्भव मोक्षगामी महाराजा जीवन्धरकुमार हैं, इसकारण इसका अपरनाम जीवन्धरचरित्र भी है। इसमें पाठकों को दिए गए सन्देश सामयिक, सटीक और सोदाहरण होने

से अत्यन्त प्रभावी हो गए हैं।

उदाहरणार्थ – कथानक के मूलनायक जीवन्धरकुमार के पिता महाराजा सत्यन्धर यद्यपि यथा नाम तथा गुणसम्पन्न, सदा सत्य बोलनेवाले, वृद्धों की सेवा करनेवाले, गूढ़ रहस्यों को समझने में निपुण, पुरुषार्थी, हठरहित, दूरदर्शी और विवेकी राजा थे; तथापि होनहार के अनुसार वे अपनी रानी विजया पर इतने अधिक मोहित और विषयासक्त हो गए थे कि उन्होंने अपने राज्य की सम्पूर्ण सत्ता मन्त्री काष्ठांगार के भरोसे छोड़ दी, जो एक विवेकी राजा के लिए उचित नहीं था। इस दोष के कारण वे स्वयं तो राजसत्ता और प्राणों से हाथ धो ही बैठे, अपनी प्रिय रानी विजया और गर्भस्थ शिशु जीवन्धरकुमार को भी संकट में डालने का कारण बन गए।

राजा सत्यन्धर के इस दोष की ओर संकेत करते हुए ग्रन्थकार ने पाठकों को यह सन्देश दिया है कि – विषयों में अधिक आसक्ति अनर्थ का कारण बनती है। वे कहते हैं –

विषयासक्तचित्तानां गुणः को वा न नश्यति।

न वैदुष्यं न मानुष्यं नाभिजात्यं न सत्यवाक् ॥१०॥

अर्थात् विषय-भोगों में लीन चित्तवाले मनुष्यों में ऐसा कौन-सा गुण है जो नष्ट नहीं हो जाता, सभी गुण नष्ट हो जाते हैं। उनमें विद्वत्ता, मानवता, कुलीनता, दूरदर्शिता, विवेक और सत्यवादिता आदि एक भी गुण नहीं रहता। कामुक मानव दीनता, निन्दा, तिरस्कार आदि की भी परवाह नहीं करता। उसे अपने भोजन-पान का विवेक और बड़प्पन की भी चिन्ता नहीं होती और तो ठीक – वह अपने जीवन की भी परवाह नहीं करता।^१

ग्रन्थकार ने स्थान-स्थान पर ऐसे अगणित मार्मिक हृदयस्पर्शी सन्देश देकर पाठकों को ऐसा अनुकरणीय एवं आचरणीय सन्मार्ग-दर्शन किया है जो सचमुच अभिनन्दनीय है, स्तुत्य है।

और भी देखें, जब राजा सत्यन्धर विजयारानी पर अत्यधिक मोहित होने के

कारण योग्य ईमानदार धर्मदत्त जैसे हितैषी मन्त्रियों के परामर्श की परवाह न करके काष्ठांगार को राजसत्ता सौंप ही देते हैं तो अवसर पाकर ग्रन्थकार ने सम्यक् राजनीति का सन्देश देते हुए, उन्हीं योग्य मन्त्रियों के माध्यम से राजा के कर्तव्यों का भी बोध करा दिया है।^१

इसी सन्दर्भ में ग्रन्थकार ने एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण सन्देश यह भी दिया है कि यदि भूल हो जाए तो आर्तध्यान का कारणभूत दुःख-शोक न करके इस सिद्धान्त का चिन्तन और विचार करना चाहिए कि बुद्धिः कर्मानुसारिणी अर्थात् जैसी होनहार होती है, तदनुसार ही बुद्धि हो जाती है। अन्यत्र भी यह कहा है —

तादृशी जायते बुद्धिः व्यवसायोऽपि तादृशः ।

सहायाः तादृशाः सन्ति यादृशी भवितव्यता ॥

विजयारानी के द्वारा देखे गए स्वप्न और राजा सत्यन्धर के द्वारा बताए गए उन स्वप्नों के फलों के रूप में की गई भविष्यवाणी द्वारा भी ग्रन्थकार ने एक आध्यात्मिक सन्देश दिया है। साहित्य में स्वप्नों के माध्यम से सन्देश देने की परम्परा नवीन नहीं है। पुराणों में तीर्थकरों की माताओं द्वारा देखे गए सोलह स्वप्न और भावी तीर्थकर बालक के पिता द्वारा उनके फलों की चर्चा तो प्रसिद्ध है ही, सम्राट चन्द्रगुप्त के स्वप्न भी इतिहासप्रसिद्ध हैं।

विजयारानी द्वारा देखा गया प्रथम स्वप्न, जिसमें दिखकर तत्काल नष्ट हुए अशोकवृक्ष को देखा था, उसकी चर्चा न करके महाराज सत्यन्धर ने शेष दो स्वप्नों के फल बताए; क्योंकि पहला स्वप्न उनके मरण का द्योतक था।

विजयारानी के द्वारा देखे गए स्वप्न और महाराजा सत्यन्धर द्वारा उनके फलों की, की गई भविष्यवाणी जैनदर्शन की त्रैकालिक सुनिश्चित वस्तुव्यवस्था एवं वस्तुस्वातन्त्र्य और सर्वज्ञ-अनुसार जानी हुई क्रमबद्धपर्याय के महान सिद्धान्त की ओर संकेत करती है।

स्पष्ट है कि पहले स्वप्न के फल के अनुसार राजा सत्यन्धर की विषया-सक्ति और उसके फलस्वरूप महाराज की मृत्यु की घटना अकारण नहीं थी,

बल्कि उनकी होनहार में वह घटना भी सम्मिलित थी, पूर्व निर्धारित थी। अतः होनी को कौन टाल सकता है – ऐसे विचार से पाठकों के हृदय में विषयासक्ति के कारण जो महाराज सत्यन्धर के प्रति घृणा और अभक्ति की भावना हो रही थी, वह कम होने लगती है तथा सहानुभूति का भाव जागृत होता है। साथ ही यह विचार भी दृढ़ होता है कि भूल का फल तो सबको भोगना ही पड़ता है। अतः पाठक को भूल से बचने की शिक्षा भी मिलती है।

जब काष्ठांगार के मन में राजा सत्यन्धर का वध करके स्वतन्त्र राजा बनने का खोटा भाव पैदा हो गया तो राजा सत्यन्धर ने अपनी भूल का अहसास करके रानी विजया और गर्भस्थ शिशु की सुरक्षा का उपाय करके पहले तो युद्ध किया; किन्तु युद्ध में हो रहे नरसंहार के कारण उन्होंने युद्ध से विरक्त होकर; युद्ध से संन्यास ले लिया और संयम तथा समाधिपूर्वक देहत्याग करके देवपर्याय प्राप्त की।

इस घटना से ग्रन्थकार ने यह सन्देश दिया है कि सुबह का भूला यदि शाम तक भी सही राह पर आ जाए तो वह भूला नहीं कहलाता। जीवन में कैसे भी भले-बुरे प्रसंग बने हों, परन्तु अन्त भला सो सब भला होता है। इसी नीति के अनुसार जिसप्रकार राजा सत्यन्धर ने अन्त में संसार से विरक्त होकर संयम और समाधि में ही अपने जीवन की सार्थकता और सफलता स्वीकार करके युद्ध से विराम लेकर आत्मसाधना पूर्वक देह त्यागी, उसीप्रकार हमें भी अपने शेष जीवन को सार्थक कर लेना चाहिए।

ग्रन्थकार ने खलनायक, कपटी काष्ठांगार द्वारा राजसत्ता हथियाने के पक्ष में अनेक कुयुक्तियाँ प्रस्तुत करके उसके चरित्र पर प्रकाश डाला है। जैसे कि – सिंह को जंगल का राजा किसने बनाया ? अरे ! वनराजा को जंगल के राज्य की सत्ता कौन सौंपता है ? कौन करता है उसका राजतिलक ? जैसे वह स्वयं ही अपने बल से, पराक्रम से वन का राजा वनराज बनता है, वैसे ही मैं भी अपने बल से ही राजा बनूँगा; पराधीन रहने की अपेक्षा तो मर जाना ही अच्छा है।

कहा भी है –

जीवतात्तु तु पराधीनात् जीवानां मरणं वरम्।

मृगेन्द्रस्य मृगेन्द्रत्वं वितीर्णं केन कानने ॥^१

यद्यपि धर्मदत्त मन्त्री ने काष्ठांगार को बहुत समझाया, पर जैसे पित्त-ज्वर वाले को दूध कड़वा ही लगता है, वैसे ही धर्मदत्त का सत्परामर्श भी सत्ता लोलुपी काष्ठांगार को नहीं सुहाया।

इधर राजा सत्यन्धर का विवेक जागृत तो हो गया था; किन्तु जैसे तरकस से छोड़ा गया तीर वापिस नहीं आता, वैसे ही घटित हुई दुर्घटना का परिणाम भी भोगना ही पड़ता है। यह विचार कर राजा सत्यन्धर ने रानी को मयूराकृति विमान में बिठाकर आकाशमार्ग से सुरक्षित स्थान पर पहुँचाने के पूर्व कुछ महत्त्वपूर्ण सन्देश दिया था, जो इसप्रकार है -

हे रानी, तुम शोक मत करो ! जिसका पुण्य क्षीण हो जाता है, उसको उदय में आए पापकर्म के फल में प्राप्त दुःख को तो भोगना ही पड़ता है। अब अपना ही पुण्य क्षीण हो गया है और पाप का उदय आ गया है; अतः हम पर दुःख और आपत्तियों का आना तो अनिवार्य ही है।

जिसप्रकार क्षणभंगुर जल का बुदबुदा देर तक नहीं टिक सकता, उसी-प्रकार यौवन, शरीर, धन-दौलत, राजशासन आदि अनुकूल संयोग भी क्षणभंगुर ही हैं। इसकारण इन अनुकूल संयोगों का वियोग होना अप्रत्याशित नहीं है, अतः तुम शोक मत करो। यद्यपि यह सब मेरे मोहासक्त होने का ही दुष्परिणाम है; पर मैं भी क्या करूँ ? जो होना था, वही तो हुआ है। तुम्हारे स्वप्नों ने पहले ही हमें इन सब घटनाओं से अवगत करा दिया था। स्वप्नों के फल यही तो दर्शाते हैं कि अब अपना पुण्य क्षीण हो गया है; अतः वस्तुस्वरूप का विचार कर धैर्य धारण करो।^२ इसप्रकार राजा ने रानी को समझाया।

प्रथम लम्ब के शेष श्लोकों में भी अत्यन्त मार्मिक धर्मोपदेश दिया गया है, जो मूलतः पठनीय है।

१. प्रथमलम्ब : श्लोक ४०

२. वही : श्लोक ५८, ५९, ६०

पुण्य-पाप के उदय में भी कैसी-कैसी चित्र-विचित्र परिस्थितियाँ बनती हैं ? कोई कल्पना भी नहीं कर सकता। एक ओर ऐसा पापोदय, जिसके उदय में भयंकर एवं दुःखद प्रतिकूल परिस्थितियों की भरमार और दूसरी ओर पुण्योदय भी ऐसा कि मानवों की बात ही क्या ? देवी-देवता भी सहायक हो जाते हैं, सेवा में उपस्थित हो जाते हैं।

यद्यपि पापोदय के कारण जीवन्धरकुमार का जन्म श्मशान (मरघट) में हुआ, जन्म के पूर्व ही पिता सत्यन्धर स्वर्गवासी हो गए, माँ विजया भी असहाय हो गई; परन्तु साथ ही पुण्योदय भी ऐसा कि सहयोग और सुरक्षा हेतु स्वर्ग से देवी भी दौड़ी-दौड़ी आ गई।

पुण्यवान जीव कहीं भी क्यों न हो, उसे वहीं अनुकूल संयोग स्वतः सहज ही मिल जाते हैं। विजयारानी के प्रसव होते ही तत्काल चम्पकमाला नामक देवी धाय के वेष में वहाँ श्मशान में जा पहुँची। उसने अपने अवधिज्ञान से यह जाना कि — इस बालक का लालन-पालन तो राजकुमार की भाँति शाही ठाट-बाट से होनेवाला है। अतः देवी ने विजयारानी को आश्वस्त किया कि आप इस बालक के पालन-पोषण की चिन्ता न करें। इस बालक का पालन-पोषण बड़े ही प्यार से किसी कुलीन खानदान में रहकर धर्मप्रेमी श्रीमन्त दम्पति द्वारा योग्य रीति से होगा। देवी द्वारा की गई भविष्यवाणी के अनुसार ही जीवन्धरकुमार सेठ गन्धोत्कट और उसकी सेठानी सुनन्दा के घर सुखपूर्वक रहते हुए शुक्ल पक्ष के चन्द्रमा की भाँति वृद्धिगत होने लगे। उधर विजयारानी भी वन में तपस्वियों के आश्रम में जाकर धर्म-आराधना करते हुए अपने मानवजीवन को सफल करने लगीं।

इस ग्रन्थ के दूसरे लम्ब (अध्याय) का आरम्भ पाँच वर्षीय बालक जीवन्धर के विद्या-अध्ययन से होता है। एकबार जीवन्धरकुमार के गुरु सर्वविद्या विशारद आर्यनन्दी ने अपने श्रुतशालिन महाभाग शिष्य जीवन्धरकुमार को एक प्रसिद्ध पुरुष राजा लोकपाल की कथा सुनाते हुए कहा —

न्यायप्रिय प्रजापालक राजा लोकपाल स्वयं तो धर्मात्मा थे ही, प्रजा को भी समय-समय पर धर्मोपदेश दिया करते थे। एकबार राजा लोकपाल ने धनादि

वैभव से उन्मत्त हुए अपने प्रजाजनों को उनके वैभव की मेघों की क्षणभंगुरता से तुलना करके अपने वैभव एवं ऐश्वर्य की क्षणभंगुरता का ज्ञान कराया तथा स्वयं राजा लोकपाल भी क्षणभंगुर मेघमाला देख दुःखद संसार से विरक्त होकर मुनि हो गए।

इस सन्दर्भ में ग्रन्थकार कहते हैं कि जब भव्यजीवों के आत्मकल्याण का समय आ जाता है, काललब्धि आ जाती है, तो उनमें सांसारिक विषयों से स्वतः सहज ही विरक्तता होने लगती है।^१

राजा लोकपाल ने दिगम्बर जैन मतानुसार समस्त परिग्रह त्याग कर साधुपद की दीक्षा तो ले ली; परन्तु असाता कर्मोदय के निमित्त से उन्हें भस्मक व्याधि हो गई। इस व्याधि में भूख बहुत अधिक लगती है। जो भी जितना भी वे खाते; वह क्षणभर में भस्म हो जाता। श्रेयांसि बहुविघ्नानि अर्थात् अच्छे कार्यों में बहुत विघ्न आते हैं — इस उक्ति के अनुसार मुनिराज लोकपाल की साधुचर्या भी निर्विघ्न नहीं रही। उस व्याधिजन्य क्षुधा को सहन नहीं कर पाने से उन्हें मुनिपद छोड़ना ही पड़ा; क्योंकि दिगम्बर मुनि की चर्या बहुत ही कठोर होती है। बार-बार भोजन करना मुनि की भूमिका में सम्भव नहीं है। अतः वे व्याधि के काल में भिक्षुक का वेष धारण कर भूख मिटाने का प्रयत्न करने लगे।

भस्मकरोरुग से पीड़ित होने से स्वयं मुनिपद से च्युत होकर भी सन्मार्ग-प्रदर्शक उपदेश द्वारा संसाररूप रोग को जड़ से उखाड़नेवाले भिक्षुकवेषधारी वही लोकपाल एक दिन भूख से व्याकुल होकर आहार के लिए दैवयोग से सेठ गन्धोत्कट के घर पहुँच गए। धर्मात्माओं के सहायक धर्मात्मा ही होते हैं, दुर्जन नहीं।

भिक्षुक लोकपाल की कथा को आगे बढ़ाते हुए आर्यनन्दी ने जीवन्धर-कुमार से कहा — भिक्षुक ने वहाँ तुम्हें देखा, तुमने भी भिक्षुक को देखकर उसकी भस्मक व्याधि से उत्पन्न भयंकर भूख को ताड़ लिया।

भिक्षुक को अत्यन्त भूखा जानकर तुमने अपने रसोइये को आज्ञा दी कि

भिक्षुक को भरपेट भोजन कराओ। जब घर में बना हुआ सम्पूर्ण भोजन खाने के बाद भी भिक्षुक की भूख शान्त नहीं हुई तो तुमने अपने भोजन में से भिक्षुक को भोजन दिया। तुम्हारे हाथ से एक ग्रास भोजन लेते ही भिक्षुक की भस्मक व्याधि तत्काल ठीक हो गई। तब उस भिक्षुक ने उस महान उपकार के बदले तुम्हें विद्या प्रदान करना ही सर्वोत्तम समझ तुम्हें उद्भट विद्वान बनाया। मुनि आर्यनन्दी ने जीवन्धरकुमार के समक्ष रहस्योद्घाटन करते हुए बताया कि – वह भिक्षुक अन्य कोई नहीं मैं मुनि आर्यनन्दी स्वयं ही हूँ। अपने गुरु का पुनीत परिचय प्राप्त कर जीवन्धरकुमार को भारी हर्ष हुआ।

तीसरे लम्ब (अध्याय) के प्रारम्भ में मानव के मनोविज्ञान को उजागर करते हुए ग्रन्थकार ने कहा है कि – मानव को ऐहिक सुखों को प्राप्त करने के लिए किसी शिक्षण-प्रशिक्षण की जरूरत नहीं पड़ती, उन्हें स्वयमेव ही उनका ज्ञान हो जाता है। कहा भी है –

‘सीख बिना नर सीख रहे, विषयादिक भोगन की सुघराई’

यद्यपि राजपुरी नगरी के सेठ श्रीदत्त के पास पिता द्वारा अर्जित बहुत धन था, तथापि उसे स्वयं के हाथ से धन कमाने की इच्छा हुई। अपनी इच्छा की पूर्ति के लिए उसके मन में अपने पक्ष की पुष्टि में निर्धनता के दोष और धनवान होने के लाभ दृष्टिगोचर हो रहे थे। एतदर्थ वह देशान्तर भी गया और शीघ्र स्वदेश लौट आया; किन्तु देशान्तर के लिए की गई समुद्रयात्रा के प्रसंग में उसे बहुत दुःखद अनुभव हुए। भारी वर्षा के कारण जब नौका डूबने लगी तो नौका ज्यों-ज्यों जलमग्न होती, त्यों-त्यों नौका पर बैठे व्यक्ति शोकमग्न होते जाते थे।

तब श्रीदत्त सेठ नौका पर बैठे हुए व्यक्तियों को समझाता है कि यदि आप लोग विपत्ति से डरते हो तो विपत्ति के कारणभूत शोक का परित्याग करो। हे विज्ञ पुरुषो ! शोक करने से विपत्ति नष्ट नहीं होती, बल्कि यह विपत्तियों का ही बुलावा है, विपत्ति से बचने का उपाय निर्भयता है और निर्भयता तत्त्व-ज्ञानियों के ही होती है, अतः तुमको तत्त्वज्ञान प्राप्त करके निर्भय होना चाहिए। तत्त्वज्ञान से ही मनुष्यों को इस लोक व परलोक में सुखों की

प्राप्ति होती है।^१

श्रीदत्त आगे कहता है कि — तत्त्वज्ञान अर्थात् वस्तुस्वरूप की यथार्थ समझ एवं स्व-पर भेदविज्ञान और आत्मानुभूति होने पर दुःखोत्पत्ति की हेतुभूत बाह्यवस्तु भी वैराग्योत्पत्ति का कारण बनकर सुखदायक हो जाती है। श्रीदत्त आत्मसम्बोधन करते हुए अपने आप से कहता है कि — हे आत्मन ! जिसप्रकार क्रोध लौकिक और पारलौकिक दोनों सुखों पर पानी फेर देता है, ठीक उसीप्रकार तृष्णारूपी अग्नि उभयलोक को नष्ट करनेवाली है।^२

यात्रा के दौरान सेठ श्रीदत्त गरुड़वेग राजा से मिला। राजा ने सेठ का समुचित सत्कार किया तथा अपनी गन्धर्वदत्ता पुत्री श्रीदत्त को सौंपते हुए कहा कि — इसके जन्मलग्न के समय ही ज्योतिषियों ने इसके विवाह की घोषणा की थी। अतः इसका योग मिलाने हेतु आप इसे राजपुरी ले जाएँ। इसप्रकार इस लम्ब में भी गन्धर्वदत्ता के वर के विषय में ज्योतिषी ने पहले ही घोषित कर दिया कि इस राजपुरी नगरी में जो कोई वीणा बजाने में इसे हराएगा, वही भूमिगोचरी इसका स्वामी होगा। वीणा बजाने में निपुण जीवन्धरकुमार ने वीणा बजाकर गन्धर्वदत्ता को जीत लिया, फलस्वरूप गन्धर्वदत्ता ने उनके गले में वरमाला डाल दी। इस पूर्व निर्धारित घटना से भी वस्तुस्वातन्त्र्य का सिद्धान्त फलित होता है।

धर्मपराङ्मुख, अधार्मिक, क्रूर व्यक्तियों की मानसिकता पर खेद प्रगट करते हुए ग्रन्थकार चौथै लम्ब (अध्याय) में यह कहते हैं कि — ऐसे व्यक्ति जब बिना कारण प्राणियों की हिंसा करने में नहीं हिचकते; यदि उन्हें झूठ-मूठ भी कोई कारण मिल जाए और मना करनेवाला कोई न हो, तब तो उनकी क्रूरता का कहना ही क्या है ? ऐसे ही कुछ क्रूर लोगों ने हवन सामग्री जूठी करने के कारण मात्र से कुत्ते को मार-मार कर अधमरा कर दिया।

वसन्तोत्सव की जलक्रीड़ा देखने नदी किनारे गए जीवन्धरकुमार ने वहाँ लोगों द्वारा उस मरणासन्न किए गए कुत्ते को देखा, उन्होंने उस मरणकालिक

१. तृतीयलम्ब : श्लोक १६, १७, १८

२. वही : श्लोक २१, २२, २३

पीड़ा से छटपटाते हुए घायल कुत्ते को, पहले तो बचाने के अनेक प्रयत्न किए; परन्तु जब बचने की आशा नहीं रही तो मरण सुधारने हेतु उसके कान में णमोकार महामन्त्र सुनाया। णमोकार महामन्त्र को सुनकर मन्दकषाय से मरण के कारण वह कुत्ता यक्षेन्द्र हुआ। यक्षेन्द्र ने जन्म लेते ही अवधिज्ञान से अपने पूर्व भव की सारी घटना जानकर ज्ञात कर लिया कि जीवन्धरकुमार द्वारा दिए गए णमोकार मन्त्र के पुण्य प्रताप से ही मैं यक्ष हुआ हूँ। न हि कृतमुपकारं साधवो विस्मरन्ति की उक्ति के अनुसार वह तत्काल जीवन्धरकुमार के पास आया और अपना सारा वृत्तान्त सुनाकर उनका परम उपकार मानते हुए बोला – जब भी आपको मेरी सहायता की जरूरत हो मुझे, अवश्य स्मरण कीजिए – बारम्बार यह निवेदन करके चला गया।

उपर्युक्त घटना से पाठकों को पहला सन्देश तो यह मिलता है कि क्रूर, दुष्ट और अधार्मिक व्यक्तियों से सदैव दूर से ही हाथ जोड़ लेना चाहिए। उनके सम्पर्क में भी कभी नहीं रहना चाहिए।

दूसरा सन्देश यह मिलता है कि दुःखी या सताए हुए जीवों की सुरक्षा एवं हर सम्भव सहायता करने में सदैव तत्पर रहना चाहिए। किया गया उपकार कभी निरर्थक नहीं जाता, भले ही हम निःस्वार्थ भाव से ही करें, तथापि बुरे काम का बुरा नतीजा एवं भले काम का भला नतीजा तो मिलता ही है।

जलक्रीड़ा का उत्सव देखने सुरमञ्जरी और गुणमाला भी नदी किनारे गई थीं। उन दोनों के पास स्नानोपयोगी भिन्न-भिन्न प्रकार के चूर्ण (पाउडर) थे। दोनों सखियों में अपने-अपने चूर्ण की उत्कृष्टता पर विवाद हो गया। विवाद में यह तय हुआ कि परीक्षण के बाद जिसका चूर्ण अनुपयोगी सिद्ध होगा, उसे नदी में स्नान किए बिना ही वापिस जाना होगा। चूर्ण परीक्षकों के पास भेजा गया, परीक्षोपरान्त जीवन्धरकुमार द्वारा किए गए निष्पक्ष और सप्रमाण परिणाम के अनुसार गुणमाला का चूर्ण श्रेष्ठ साबित हुआ।

गुणमाला नदी में स्नानकर कुटुम्बीजनों और नौकरों के साथ वापिस लौट रही थी कि रास्ते में काष्ठांगार के एक मदोन्मत्त हाथी ने उसे घेर लिया। इस मौके

पर कुटुम्बीजन तो डर कर भाग गए, पर जीवन्धरकुमार जलक्रीड़ा के पश्चात् उसी मार्ग से वापिस आते हुए अचानक वहाँ आ पहुँचे और उन्होंने हाथी को अपने कुण्डल से ताड़ित कर भगा दिया।

बस, फिर क्या था ? जीवन्धरकुमार के पराक्रम, साहस और बुद्धिबल से प्रभावित होकर गुणमाला के हृदय में उनके प्रति प्रेम उत्पन्न हो गया, फलस्वरूप कालान्तर में दोनों का विवाह हो गया।

कथानक को आगे बढ़ाते हुए **पाँचवे लम्ब (अध्याय)** में कहा गया है कि— गुणमाला की प्राणरक्षा के निमित्त जीवन्धरकुमार द्वारा परास्त और तिरस्कृत हुए हाथी ने खाना-पीना भी छोड़ दिया।

इस घटना से ग्रन्थकार पाठकों को यह सन्देश देना चाहते हैं कि तिरस्कार को जब पशु भी सहन नहीं कर पाते तो अकारण किया गया मानवों का तिरस्कार किसी भी सज्जन पुरुष को कैसे सहन हो सकता है ? अतः यदि हम स्वयं शान्ति से रहना चाहते हैं तो कम से कम अकारण तो किसी का भी तिरस्कार न करें।

देखो, हाथी ने तो मात्र खाना-पीना ही छोड़ा था, तिरस्कृत मानव तो कषायवश कुछ भी अनर्थ कर सकता है। और तो ठीक, अपने व दूसरों का प्राणघात भी कर सकता है।

जीवन्धरकुमार द्वारा हाथी को तिरस्कृत करने की बात ने हाथी के स्वामी काष्ठांगार के हृदय में अनंगमाला के वरण के कारण पहले से प्रज्वलित क्रोधाग्नि में घी डालने का काम किया। क्रुद्ध काष्ठांगार के द्वारा जीवन्धरकुमार को पकड़वाने के लिए आए सैनिकों से लड़ने के लिए तत्पर जीवन्धरकुमार को युद्ध करने से यदि सेठ गन्धोत्कट नहीं रोकते तो निश्चित ही काष्ठांगार और जीवन्धरकुमार के बीच घमासान युद्ध होता।

सेठ गन्धोत्कट ने जीवन्धरकुमार को मात्र युद्ध लड़ने से रोका ही नहीं; अपितु जीवन्धरकुमार के दोनों हाथों को पीठ की ओर पीछे करके कसकर बाँधकर उन्हें काष्ठांगार के समक्ष प्रस्तुत भी कर दिया। प्रतिकार करने में पूर्ण समर्थ

जीवन्धरकुमार अपने धर्मपिता की इच्छा के विरुद्ध कुछ भी करना नहीं चाहते थे, अतः उन्होंने कुछ भी प्रतिक्रिया या रोष तो प्रगट किया ही नहीं; प्रतिकार भी नहीं किया। इस संकटकाल में उन्हें अनायास ही उस यक्षेन्द्र का स्मरण आ गया, जिसने उनके द्वारा दिए णमोकार मन्त्र के प्रताप से ही यक्षेन्द्र पद प्राप्त किया था। उनके स्मरण करते ही वह तुरन्त आया और जीवन्धरकुमार को अपनी विक्रिया शक्ति से चन्द्रोदय पर्वत पर ले गया। वहाँ उसने क्षीरसागर के जल से जीवन्धरकुमार का अभिषेक कर उन्हें सम्मानित किया और तीन शक्तिशाली मन्त्र भी दिए। **प्रथम मन्त्र में** – इच्छानुकूल वेष बदलने की शक्ति थी, **दूसरे मन्त्र में** – मनमोहक गाना गाने की शक्ति थी तथा **तीसरे मन्त्र में** – हलाहल विष को दूर करने की शक्ति थी। साथ ही यह भविष्यवाणी भी की कि 'तुम एक वर्ष में ही राजा बन जाओगे और अन्त में मोक्ष पद प्राप्त करोगे।'

यह घटना यह सन्देश देती है कि – कैसा भी संकट क्यों न आए, अपने पूज्य माता-पिता और गुरुजन की इच्छा के विरुद्ध आचरण नहीं करना चाहिए तथा दीन-दुःखियों के प्रति करुणा, प्राणिमात्र की रक्षा और परोपकार की भावना रखनी चाहिए तथा शत्रु के प्रति साम्यभाव रखना चाहिए। अनुकूल-प्रतिकूल प्रसंगों में अपने पूर्वोपार्जित पुण्य-पाप का फल विचारकर दूसरों को दोष नहीं देना चाहिए।

कथानक को आगे बढ़ाते हुए ग्रन्थकार कहते हैं कि –

जीवन्धरकुमार चन्द्रोदय पर्वत से घूमते हुए एक वन में आए। वहाँ चारों ओर लगी हुई दावाग्नि से जलते हुए हाथियों को देख दयार्द्र हो उन्होंने सदय हृदय से हाथियों को बचाने की इच्छा की। तदनुसार मेघवृष्टि हुई और दावाग्नि बुझने से उन हाथियों की रक्षा हुई।

वहाँ से प्रस्थान कर अनेक तीर्थस्थानों की वन्दना करते हुए वे चन्द्राभा नगरी में पहुँचे। वहाँ के राजा धनमित्र की सुपुत्री पद्मा को साँप ने काट लिया था। जीवन्धरकुमार ने अपने दूसरे मन्त्र के प्रभाव से उसे तत्काल जीवित कर दिया। तब राजा ने बहुत सम्मान कर आधा राज्य देकर अपनी उस पद्मा नामक कन्या

का उनके साथ विवाह कर दिया।

इसप्रकार जीवन्धरकुमार ने यक्षेन्द्र से प्राप्त मन्त्र शक्तियों का सदुपयोग करके परोपकार का कार्य ही किया।

यह घटना हमें यह सन्देश देती है कि पुण्योदय से प्राप्त अन्तरंग-बहिरंग वैभव का अपने भोगों की प्राप्ति में दुरुपयोग न करके परोपकार में ही उसका सदुपयोग करना चाहिए।

छठवें लम्ब (अध्याय) में कथानक को आगे बढ़ाते हुए कहा गया है कि— जीवन्धरकुमार कुछ दिन चन्द्राभा नगरी में रहने के बाद वहाँ से प्रस्थान कर मार्ग में आए अनेक तीर्थस्थानों की वन्दना करते हुए एक तपस्वियों के आश्रम में पहुँचे। वहाँ उन्होंने तपस्वियों को मिथ्यातप करते देख उन्हें सत्पात्र जानकर जिनेन्द्रप्रणीत धर्मोपदेश द्वारा यथार्थ तप का स्वरूप समझाकर सन्मार्ग में लगाया।

इस कथानक द्वारा ग्रन्थकार यह सन्देश देना चाहते हैं कि— हम जहाँ भी जाए, अन्य विकथा करने की अपेक्षा धर्मचर्चा ही करें तथा उन्मार्ग में उलझे मानवों को सन्मार्ग में लगाने का सत्कार्य ही करें।

जीवन्धरकुमार उन तपस्वियों के आश्रम से प्रस्थानकर दक्षिण देश के उस सहस्रकूट चैत्यालय में पहुँचे, जिस चैत्यालय के किवाड़ बहुत समय से बन्द थे।

इन बन्द किवाड़ों के सम्बन्ध में वहाँ के ज्योतिषियों द्वारा की गई भविष्यवाणी के अनुसार यह दन्तकथा प्रचलित थी कि— जिस पुण्यात्मा पुरुष के निमित्त से ये बन्द किवाड़ खुलेंगे, वही सेठ सुभद्र की पुत्री क्षेमश्री का पति होगा। एतदर्थ वहाँ सेठ सुभद्र ने अपने गुणभद्र नामक नौकर को बैठा रखा था।

यह एक सुखद संयोग ही था कि वे बन्द किवाड़ जीवन्धरकुमार के आते ही खुल गए। ज्यों ही नौकर ने यह देखा कि जीवन्धरकुमार के निमित्त से किवाड़ खुल गए तो वह खुशी से नाच उठा और यह खुशखबरी अपने स्वामी को देने के लिए जाने को तत्पर हुआ ही था कि जीवन्धरकुमार ने उससे पूछा— तुम कौन हो और अचानक इतने हर्षित क्यों हो रहे हो? इस प्रश्न के उत्तर में गुणभद्र ने अपना पूरा परिचय देते हुए वह प्रचलित दन्तकथा विस्तार से जीवन्धरकुमार को सुना दी

और स्वामी के पास जाकर जीवन्धरकुमार के शुभागमन का सारा समाचार उनको सुनाया।

सेठ सुभद्र शीघ्र ही उस चैत्यालय में आया और जीवन्धरकुमार का भावभीना स्वागत कर अपने घर ले गया। कुछ समय बाद उसने शुभमुहूर्त में अपनी पुत्री क्षेमश्री का विवाह जीवन्धरकुमार से कर दिया।

इस प्रकरण से यह सन्देश मिलता है कि पुण्योदय के प्रभाव से लोक में कैसी-कैसी असम्भव-सी लगनेवाली वस्तुएँ भी सहज सुलभ हो जाती हैं। पर ध्यान रहे, ऐसा उत्कृष्ट पुण्य उन पुण्य के लोभियों को नहीं बँधता, जो उस पवित्र पुण्य को लौकिक भोगों को प्राप्त करने के लिए भुनाना चाहते हैं, बल्कि उन्हें बँधता है जो निष्काम धर्माराधना करते हैं।

सातवें लम्ब (अध्याय) में कहा गया है कि जब जीवन्धरकुमार क्षेमपुरी से प्रस्थान करके आगे बढ़े तो उन्हें मार्ग में एक कृषक मिला। उन्होंने उसे सत्पात्र जानकर तत्त्वज्ञान कराते हुए अष्ट मूलगुण समझाकर सच्चा श्रावक बनाया और आगे बढ़ गए।

ब्रह्म सुगन्ध-सुगन्ध ही क्या जो अपने चारों ओर के वातावरण को सुगन्धित न करे। धर्मप्राण जीवन्धरकुमार जहाँ भी जाते, अपने धार्मिक संस्कारों की सुगन्ध बिखेरते ही जाते।

जीवन्धरकुमार वनमार्ग से जाते हुए क्षणिक विश्राम हेतु एक पत्थर पर बैठे ही थे कि एक विद्याधरी ने उन्हें देखा। देखते ही वह उनके रूप लावण्य पर मोहित हो गई। वह जीवन्धरकुमार को अपना परिचय देते हुए बोली — मैं अनंगतिलका नामक एक अनाथ कन्या हूँ। मेरे छोटे भाई का साला पहले तो मुझे बलात् यहाँ ले आया और फिर अपनी पत्नी के भय से उसने मुझे यहाँ वन में अकेला ही छोड़ दिया है; अतः आप मेरी रक्षा करने की कृपा करें।

जीवन्धरकुमार को एकान्त में किसी परनारी से बात करना अभीष्ट नहीं था; क्योंकि वे जानते थे कि नीतिकारों ने जो स्त्रियों का अंगार के समान और पुरुष को नवनीत के समान बताया है, वह ठीक है। इसी ग्रन्थ के सातवें लम्ब में कहा भी है—

अङ्गारसदृशी नारी न्वनीतसमा नराः।

तत्तत्सान्निध्यमात्रेण द्रवेत्पुसां हि मानसम्॥४१॥

अतः वे बिना कुछ कहे-सुने वहाँ से प्रस्थान करने के लिए तैयार हुए ही थे कि उन्होंने पास से आती हुई यह आवाज सुनी कि - “हे प्राणप्यारी! मुझे छोड़कर तू कहाँ चली गई ? तेरे बिना तो मेरे प्राण ही निकले जा रहे हैं।” - यह विलाप उस औरत ने भी सुना। विलाप सुनते ही वह समझ गई कि यह तो मेरे पति की ही आवाज है; अतः झूठ का रहस्योद्घाटन होने के भय से वह स्त्री वहाँ से बहाना बनाकर अन्यत्र चली गई। इतने में ही वह विलाप करनेवाला व्यक्ति जीवन्धरकुमार के पास आया और बोला - मैं अपनी पत्नी को यहाँ बिठाकर जल लेने गया था, वापिस आकर देखता हूँ कि वह यहाँ नहीं है। उसके बिना मेरी विद्याएँ भी नष्टप्राय हो गई हैं। उसकी दयनीय दशा देखकर जीवन्धरकुमार ने उसे इस असार संसार के स्वरूप का बोध कराते हुए बहुत समझाया; परन्तु उस मोही प्राणी पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। सो ठीक ही है, मोही व्यक्ति मोह में विवेकशून्य हो ही जाता है। उसे हिताहित का विवेक नहीं रहता।

जीवन्धरकुमार उस वन से प्रस्थान कर हेमाभा नगरी के समीप पहुँचे। वहाँ एक बाग में राजा दृढमित्र के पुत्र सुमित्र आदि बहुत-से राजकुमार अपने-अपने बाणों द्वारा आम के फलों को तोड़ना चाहते थे; परन्तु धनुर्विद्या में निपुण न होने से असफल हो रहे थे। जीवन्धरकुमार ने एक ही बाण से आम्रफल को बेध कर नीचे गिरा दिया। तब राजकुमारों ने अपना परिचय देते हुए जीवन्धरकुमार से विनम्र निवेदन किया कि - हमें धनुर्विद्या में निपुण बनाने के लिए हमारे पिता आप जैसे ही किसी धनुर्विद्या में निपुण विद्वान की खोज में हैं, अतः आप उनसे मिलने की कृपा करें। उन्हें पात्र जानकर जीवन्धरकुमार राजा दृढमित्र से मिले और राजा के निवेदन करने पर जीवन्धरकुमार ने राजकुमारों को धनुर्विद्या में निपुण कर दिया।

राजा ने इस महान उपकार से उपकृत होकर एवं अपनी कनकमाला कन्या के योग्य वर जानकर उनके साथ कनकमाला का विवाह कर दिया।

इस बात से भी यही गन्देश मिलता है कि पुण्यवान और धर्मात्मा व्यक्ति जहाँ भी जाएगा, उसे सम्मान तो मिलेगा ही, लोग उसे अपनाने, अपना बनाने में भी गौरवान्वित होंगे।

आठवें लम्ब (अध्याय) का प्रारम्भ करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं कि जैसे समुद्र के तट पर बैठ तटस्थभाव से लहरों का आनन्द लेनेवाले विवेकी तो जीवित रहते हैं, सुखी रहते हैं; परन्तु समुद्र के बीच गहरे पानी में गोते लगानेवाले जीवित नहीं रहते; वैसे ही अल्पराग करनेवाले तो सुखी रहते हैं; किन्तु अधिक अनुराग करनेवाले सुखी नहीं रहते।

इस नीति का विचार करनेवाले विवेकी जीवन्धरकुमार कनकमाला से विवाह करके उसके मोह में अधिक आसक्त नहीं हुए; फिर भी अपने सालों के स्नेह विशेष के वश में वहाँ बहुत समय तक रहे।

एकबार एक स्त्री द्वारा उन्हें अपने छोटे भाई नन्दाद्वय को कनकमाला के पितृगृह आयुधशाला में आने का समाचार मिला तो वे वहाँ दौड़े-दौड़े गए और वहाँ नन्दाद्वय को पाकर प्रसन्न हुए तथा उससे वहाँ आने का कारण जानना चाहा। उत्तर में नन्दाद्वय ने बताया कि — ‘काष्ठांगार ने आपको मार डालने का निश्चय किया है।’ — यह ज्ञात होते ही मैं भाभी गन्धर्वदत्ता के पास गया। वहाँ भाभी को प्रसन्नचित्त देख मुझे इस बात का आश्चर्य हुआ कि — आपकी मृत्यु का समाचार जानकर भी भाभी प्रसन्न हैं! आखिर क्यों ? पूछने पर पता चला कि उन्होंने अपनी विद्या के बल से यह सब पहले ही ज्ञात कर लिया है कि आप यक्षेन्द्र द्वारा सुरक्षित हैं और सुख-शान्ति से रह रहे हैं। मेरी आपसे मिलने की इच्छा जानकर उन्होंने ही वहाँ मुझे विद्याबल से आपके पास भेज दिया है। इसप्रकार जीवन्धरकुमार की छोटे भाई से भेंट हो गई। इसीप्रकार धीरे-धीरे चोर बनकर आए मित्रों द्वारा आश्रम में रह रही माँ की कुशलता का समाचार भी जीवन्धरकुमार को मिल गया। यह सब प्रसंग बताते हुए ग्रन्थकार ने इस आठवें अध्याय के अन्त में सागरदत्त वैश्य की पुत्री विमला से हुए जीवन्धरकुमार के विवाह की चर्चा भी खुलकर की है।

इसके बाद नौंवे लम्ब (अध्याय) में - ग्रन्थकार कहते हैं कि -

एकबार जीवन्धरकुमार के मुँहबोले बुद्धिषेण विदूषक ने उनसे मनोविवाद करते हुए चुनौती की भाषा में कहा कि - पुरुषों में अन्तर्बाह्य व्यक्तित्व से प्रभावित एवं आकर्षित होनेवाली गुणानुरागिनी योग्य वर की अभिलाषी स्त्रियों के साथ विवाह करने में आपकी क्या विशेषता है ? हाँ, पुरुषवर्ग की छाया भी न सहनेवाली सुरमञ्जरी के साथ यदि आप विवाह करें तो ही आपका विशेष महत्त्व और सौभाग्य समझा जाएगा।

विदूषक की चुनौती को सहर्ष स्वीकार करते हुए जीवन्धरकुमार यक्ष द्वारा प्रदत्त मन्त्र के द्वारा वृद्ध ब्राह्मण का वेष धारण कर सुरमञ्जरी के पास पहुँच गए।

सुन्दरी ने उस वृद्ध ब्राह्मण को भूखा समझ कर भोजन कराया। भोजन कर चुकने पर कुछ आराम कर वृद्ध ने मन्त्र के प्रभाव से अति मधुर गाना गाया, जिसे सुनकर सुरमञ्जरी उसे अधिक शक्तिशाली समझ कर बोली कि आप गाने के समान अन्य बातें भी जानते हैं क्या ? उसने उत्तर दिया कि हाँ, तब उस सुरमञ्जरी ने अपने इच्छित वर की प्राप्ति का उपाय पूछा। वृद्ध ने कहा कि - कामदेव के मन्दिर में चलकर उसकी उपासना करो, तुम्हें इच्छित वर प्राप्त हो जाएगा।

तब सुरमञ्जरी उस वृद्ध की बात पर विश्वास कर कामदेव के मन्दिर में गई और प्रार्थना करने लगी कि हे देव ! आपके प्रसाद से मुझे पति के रूप में जीवन्धरकुमार की प्राप्ति हो। जीवन्धरकुमार का मित्र बुद्धिषेण नामक विदूषक पहले से ही कामदेव के मन्दिर में आकर छिप गया था। उस विदूषक ने कहा कि— तुझे वर प्राप्त हो चुका है, वे तेरे साथ ही हैं। भोली-भाली सुरमञ्जरी ने भी उस विदूषक के वचन को कामदेव का ही वचन मान लिया।

वृद्ध ने विदूषक का वचन सुनते ही अपना वेष बदल लिया। तब सुरमञ्जरी उसे जीवन्धरकुमार जानकर बहुत लज्जित हुई। इसके पश्चात् सुरमञ्जरी के पिता कुबेरदत्त ने शुभलग्न में अपनी सुपुत्री सुरमञ्जरी का जीवन्धरकुमार के साथ विवाह कर दिया।

दसवें लम्ब (अध्याय) में कहा गया है कि—सुरमञ्जरी के साथ विवाह

होने पर जीवन्धरकुमार अपने धर्म के माता-पिता सुनन्दा एवं गन्धोत्कट के पास गए। धर्मपिता से अपने राज्य को पुनः प्राप्त करने हेतु परामर्श करके उनकी सम्मति से अपने मामा गोविन्दराज के पास गए। गोविन्दराज पहले से ही इसके लिए चिन्तित और प्रयत्नशील थे। संयोग से इसी बीच काष्ठांगार का एक सन्देश गोविन्दराज के पास पहुँचा था, जिसे गोविन्दराज ने अपने मन्त्रियों को सुनाया। उस सन्देश में काष्ठांगार ने छल से यह झूठा समाचार लिखा कि महाराज सत्चन्द्र की मृत्यु एक मदोन्मत्त हाथी के द्वारा हुई है, किन्तु अशुभ कर्म के उदय से मैं उस अपयश का भागी बन गया हूँ। यदि आप मेरी बात पर विश्वास करें और यहाँ आकर मुझसे मिलने की कृपा करें तो मैं बिलकुल निःशल्य हो जाऊँगा।

काष्ठांगार के छल भरे सन्देश को सुन गोविन्दराज ने उसकी चालाकी भाँप ली। अतः अपने मन्त्रियों को सावधान किया कि नीच काष्ठांगार मीठी-मीठी बातें बनाकर हम लोगों को राजपुरी में बुलाकर किसी मायाचार के जाल में फँसाना चाहता है। इसलिए हम लोग वहाँ जाएँगे तो अवश्य; पर उसके चंगुल में फँसने के लिए नहीं; बल्कि उसको उसकी चालाकी का मजा चखाने के लिए जाएँगे। अतः सशस्त्र सेना की तैयारी करो। इसी रीति-नीति के अन्तर्गत गोविन्दराज ने यह ढिंढोरा भी पिटवा दिया कि – काष्ठांगार के साथ हमारी भी मित्रता हो गई है, अतः हम उससे मिलने जा रहे हैं। पश्चात् गोविन्दराज जीवन्धरकुमार को साथ लेकर सेना सहित राजपुरीनगरी के निकट पहुँचकर नगरी के बाहर ही ठहर गए। वहाँ गोविन्दराज ने ऐसा स्वयंवर मण्डप बनवाया, जिसमें एक चन्द्रकयन्त्र स्थापित किया और यह घोषणा कराई कि जो व्यक्ति इस मन्त्र का भेदन करेगा उसे मैं अपनी लक्ष्मणा नामक कन्या प्रदान करूँगा।

एतदर्थ अनेक धनुर्धारी राजा एवं राजकुमार पूरी तैयारी के साथ आए; परन्तु कोई भी उस चन्द्रकयन्त्र का भेदन नहीं कर सका। अन्त में जीवन्धरकुमार ने जब चुटकियों में ही अर्थात् बहुत जल्दी, सहज खेल ही खेल में उस यन्त्र को भेद दिया तो दर्शकों ने दाँतो तले अँगुली दबा ली अर्थात् दर्शक आश्चर्यचकित होकर पूछने लगे – अरे ! यह कौन है ? कहाँ का राजकुमार है ? तब गोविन्दराज

ने गौरव के साथ परिचय दिया — “यह राजपुरी के स्वर्गीय महाराजा सत्यन्धर के पुत्र और मेरा भानजा जीवन्धरकुमार हैं।” अनेक राजाओं के मुँह से निकला “हम भी इनके बल-विक्रम एवं उत्साहपूर्ण चेष्टाओं से यही अनुमान कर रहे थे।”

फिर क्या था ? यह सुनते ही काष्ठांगार की आँखों के आगे अँधेरा छा गया, वह पसीना-पसीना हो गया, उसके दिल की धड़कन बढ़ गई; वह सोचने लगा — यह तो मेरे साले मथन द्वारा मार दिया गया था, फिर यह जीवित कैसे हो गया ? मैंने इसके मामा को यहाँ बुलाकर अपने हाथों ही अपने पैर पर पत्थर पटक लिया। अपने मामा का बल पाकर यह मेरा अनर्थ अवश्य करेगा; इसप्रकार की चिन्ता से उसे दारुण दुःख हो गया।

इस कथानक से ग्रन्थकार ने पाठकों को यह सन्देश दिया है कि जिसके पाप का घड़ा भर जाता है, उसका विस्फोट एक न एक दिन तो होता ही है और उस भयंकर विस्फोट से वह पापी कभी बच नहीं सकता। अतः यदि पापी पाप करने से पहले उसके दुष्परिणाम पर थोड़ा भी सोचे तो फिर उससे कोई पाप होगा ही नहीं। इसीलिए तो कहा है —

भला-बुरा यदि कुछ काम कीजे, परन्तु पूर्वापर सोच लीजे।

बिना विचारे यदि काम होगा, अच्छा न उसका परिणाम होगा ॥

इधर जीवन्धरकुमार के मित्रों और हितैषियों ने यह परामर्श दिया कि अपने राज्य को वापिस हस्तगत करने और शत्रु को परास्त करने का यही सबसे अच्छा अवसर है। इस समय काष्ठांगार आपके बल-पराक्रम से आतंकित है, हतोत्साहित है। बस फिर क्या था ? युद्ध हुआ और काष्ठांगार अपने ही बुने जाल में बुरी तरह उलझकर मारा गया।

पूर्व घोषणा के अनुसार मामा गोविन्दराज की पुत्री लक्ष्मणा का जीवन्धर-कुमार के साथ विवाह हो गया। राजपुरीनगरी के राजसिंहासन पर राज्याभिषेक महोत्सव के साथ जीवन्धरकुमार महाराजा जीवन्धर बन गए। छोटे भाई नन्दाद्वय को युवराज पद पर आसीन किया गया। अन्य सहयोगियों को भी यथायोग्य पद प्रदान किए गए।

कथानक को समापन की ओर ले जाते हुए प्रस्तुत ग्यारहवें लम्ब (अध्याय) में ग्रन्थकार कहते हैं कि – जिस राज्य को पाकर काष्ठांगार ने अपने कुशासन से निन्दा ही निन्दा पाई, उसी राज्य में सर्वगुणसम्पन्न राजनीति विशारद जीवन्धरकुमार प्रशंसा के पात्र बन गए।

जब राजा जीवन्धर ने अपने पिता की खोई राजसत्ता भली-भाँति सम्भाल ली और दुष्ट काष्ठांगार को उसके किए कुकर्म की सजा देकर अपनी पूज्य माताजी को अपनी योग्यता का परिचय दे दिया तो रानी विजया अपने सर्वगुण-सम्पन्न सुपुत्र को पाकर गौरवान्वित हुई; पर साथ ही अपने पुत्र जीवन्धर के जन्म से राजसिंहासन प्राप्त करने तक के अनेक उतार-चढ़ावों के साथ हुई जीवनयात्रा में पुण्य-पाप की विचित्रता को प्रत्यक्ष अनुभव करके तथा इस स्वार्थी और भोगलोलुपी जगत की नीच वृत्तियों का प्रत्यक्ष अनुभव कर, वे संसार से उदास भी हो गईं। वे शास्त्रों में लिखी बारहभावना और वैराग्यभावना का एक-एक दृश्य आँखों के आगे प्रत्यक्ष देख विरक्त हुईं। रानी विजया ने सबसे मोह-ममता छोड़ गृह विरक्त होने का संकल्प कर लिया और भावना भायी कि – “संसार का सुख सचमुच सुखाभास है, इसमें कहीं भी सुख-शान्ति नहीं है। अतः अब इन सबके प्रति ममत्व का त्यागकर शेष सम्पूर्ण समय को देव-शास्त्र-गुरु की शरण में जाकर आत्महित में लगाना चाहिए। शुभाशुभ कर्मफल के चक्र में पड़ा रहना उचित नहीं है।”

विजयारानी के वैराग्य को देखकर जीवन्धरकुमार की धर्ममाता सुनन्दा भी संसार को असार जानकर विरक्त हो गईं और दोनों ने वन में जाकर पद्मा नामक प्रधान आर्यिका से आर्यिका के व्रत ग्रहण कर लिए।

इस कथन से पाठकों को यह सन्देश मिलता है कि विवेकीजनों को अपने उत्तरदायित्वों से निर्वृत्ति मिलने पर कम से कम अपने जीवन के उत्तरार्द्ध में तो आत्मकल्याण के मार्ग में लग जाना ही श्रेयस्कर है।

इधर राजनीति में निपुण महाराजा जीवन्धर के सुख-शान्तिपूर्वक राज करते हुए ३० वर्ष भी ३० दिन की भाँति बहुत शीघ्र व्यतीत हो गए। सुख का लम्बा

समय कब /कैसे बीत गया, पता तक नहीं चला। एक दिन की बात है – वसन्त ऋतु का सुहावना समय था, पुण्ययोग से सबप्रकार की अनुकूलता थी। अच्छा मौसम देख एक दिन महाराजा जीवन्धर ने अपनी आठों रानियों के साथ जलक्रीड़ा का महोत्सव मनाया। जब वे जलक्रीड़ा के श्रम से थक गए तो समीपवर्ती किसी लतामण्डपवाले बगीचे में जाकर बन्दरों की जो चेष्टाएँ देखीं, उससे उन्हें ऐसा लगा कि मनुष्यों की भाँति क्या पशुओं में भी ऐसी समझ, समर्पण तथा नैतिकता की अपेक्षाएँ होती हैं कि – जो बन्दर जिसको अपना ले, अपना बना ले; उसे उसके सिवाय अन्य से सम्बन्ध जोड़ना अनैतिकता है, नाराजी का कारण हो सकता है ?

वहाँ उस बगीचे में एक बन्दर ने ऐसी ही हरकत की, अपनी प्रेमिका के सामने अन्य वानरी से छेड़खानी की; उससे उसकी प्रेमिका नाराज हो गई तो उसे मृत होने का नाटक करके अपनी प्रेमिका को मनाना पड़ा, किन्तु बगीचे के मालिक ने वह कटहल का फल उसकी प्रेमिका से छीन लिया।

इस घटना को देखकर महाराजा जीवन्धर विचार करते हैं कि देखो ! यह कटहल राज्य के समान है, मैं इस वनपाल के समान हूँ और काष्ठांगार बंदर के समान है। यह राज्य किसी का न हुआ है, न हो सकता है। यह तो जिसकी लाठी उसकी भैंस कहावत को चरितार्थ कर रहा है। अतः मुझे भी इस राज्य का त्याग कर अपने आत्मा का कल्याण करना चाहिए। यह संसार ही क्षणभंगुर है, जगत स्वार्थी है और यह सब पुण्य-पाप की विडम्बना है। मोह के चक्र में उलझा रहकर अपना शेष अमूल्य मानव-जीवन बर्बाद नहीं करना चाहिए।

इसप्रकार उस वसन्त महोत्सव में वानर-वानरी और वनपाल की घटना से महाराजा जीवन्धर भी संसार, शरीर और भोगों से विरक्त हो गए। जिनवाणी के मर्मज्ञ वैराग्य को प्राप्त महाराजा जीवन्धर ने उस उपवन से लौटते हुए मार्ग में जिनमन्दिर में जाकर जिनेन्द्र अर्चना की तथा वहाँ विराज रहे चारणऋद्धिधारी मुनिराज से धर्मोपदेश सुना। मुनिराज ने अपने उपदेश में महाराजा जीवन्धर के वैराग्य को बढ़ाने में निमित्तभूत उनके ही पूर्वजन्म का वृत्तान्त भी सुनाया।

फलस्वरूप वे घर पहुँचकर अपने पुत्र मत्यन्धर का राजतिलक करके अपनी आठों पत्नियों सहित महावीर भगवान के समवशरण में पहुँचे। वहाँ स्तुति-वन्दना के उपरान्त वैरागी जीवन्धरकुमार ने बारह भावनाओं के चिन्तन द्वारा जो संसार के स्वरूप का और वस्तुस्वरूप का विचार किया वह विस्तृत रूप से तो ग्रन्थकार की भाषा में ही मूलतः पठनीय है; परन्तु पाठकों के लाभार्थ उसका संक्षिप्त सार यहाँ दे रहे हैं; जो इसप्रकार है —

अनित्यादि बारह भावनाओं का चिन्तन करते हुए जीवन्धरकुमार सोचते हैं—

जाताः पुष्टाः पुनर्नष्टाः इति प्राणभृतां प्रथाः।

न स्थिता इति तत्कुर्याः स्थायिन्यात्मन्पदे मतिम्॥

मनुष्य पैदा हुए, पुष्ट हुए, फिर नष्ट हो गए। यह संसारी प्राणियों की परिपाटी है। इसलिए हे आत्मन ! तू अपने ध्रुव आत्मा का आलम्बन ले, जिससे पुनः पुनः जन्म-मरण न करना पड़े।

पानी के बुलबुलेवत यह मनुष्य जीवन क्षणमात्र भी स्थिर नहीं है और प्राणियों की इच्छाएँ करोड़ों से भी अधिक हैं। ऐसी स्थिति में एक तो उनकी पूर्ति सम्भव नहीं है। कदाचित् पुण्योदय से थोड़ी बहुत पूर्ति हो भी जाए तो प्राप्त वस्तुएँ और वे इच्छाएँ भी स्थिर नहीं हैं, प्रतिक्षण पुण्य क्षीण होता है। फलतः वस्तुएँ भी नष्ट होती हैं, पुनः पुनः नई-नई इच्छाएँ उत्पन्न होती रहती हैं, जिनकी पूर्ति असम्भव है। अतः तत्त्वज्ञान के अवलम्बन से इन विषयों की इच्छाओं का त्यागकर इन पर विजय प्राप्त करना एवं ध्रुवधाम आत्मतत्त्व का अवलम्बन लेना ही श्रेयस्कर है।^१ अशरणभावना के माध्यम से वस्तुस्थिति का विचार करते हैं कि —

मन्त्रतन्त्रादयोऽप्यात्मन् स्वतन्त्र शरणं न ते।

किन्तु सत्येव पुण्ये हि नो चेत्के नाम तैः स्थिताः॥

हे आत्मन् ! मन्त्र और तन्त्र भी तेरे पुण्य बिना सम्यक् शरणभूत नहीं हो सकते। यदि पुण्य बिना ही ये शरणभूत होते तो कोई मरता ही क्यों ? मन्त्र-तन्त्र-वादियों की दुनिया में कहाँ कमी है; एक ढूँढो हजार मिलते हैं; पर पुण्य बिना सब

निरर्थक सिद्ध होते हैं।

जब मृत्यु का समय आ जाता है, तब कोई भी बचा नहीं रह सकता। अतः वस्तुतः तेरा आत्मा ही तेरे लिए शरणभूत है, उसी की शरण में जा।

संसारभावना से संसार की असारता का विचार करते हैं कि — हे आत्मन ! तू अपने कर्म से अनेक वेष धारण करके नट के समान पाप से तिर्यचगति एवं नरकगति में, पुण्य से देवगति में और पुण्य-पाप दोनों से मनुष्यगति में घूम रहा है।

हे आत्मन ! तू जिन सांसारिक भोगों को अनेक बार भोगकर भी तृप्त नहीं हुआ और जिसे जूठन की भाँति छोड़ चुका है, उसी जूठन को पुनः प्राप्त करने के लिए तू उत्सुक होता है और जिस अतीन्द्रिय आनन्दमय मोक्ष सुख को तूने आजतक नहीं भोगा, उसे पाने की चेष्टा नहीं करता। अतः संसार की असारता का विचार कर और सुखस्वरूपी आत्मा में उपयोग स्थिर कर।

एकत्वभावना का चिन्तन करते हुए जीवन्धरकुमार विचार करते हैं कि —

बन्धवो हि श्मशानान्ता गृह एव अर्जितधनम्।

भस्मने गात्रमेकं त्वां धर्म एवं न मुञ्चति॥

इस संसार में धर्म ही एकमात्र ऐसा है जो जीव को परलोक के सुख का साथी होता है। पुण्योदय से प्राप्त शेष सब संयोग यहीं रह जाते हैं। जैसे कि — बन्धुगण श्मशान तक ही साथ देते हैं, धन घर में ही पड़ा रह जाता है और शरीर चिता की भस्म बनकर रह जाता है।

हे आत्मन ! जब अकेला तू ही स्वयं कर्मों का भोक्ता और कर्मों का नाशक है तो स्वाधीनता से प्राप्त होनेवाली मुक्ति को या आत्मस्वभाव को प्राप्त करने का प्रयत्न क्यों नहीं करता ?

अन्यत्वभावना के स्वरूप का चिन्तन करते हुए महाराजा जीवन्धर सोचते हैं कि आत्मन ! तू शरीर में आत्मबुद्धि कभी भी मत कर; क्योंकि यद्यपि कर्मोदयवश देह और आत्मा एकमेक हो रहे हैं; तथापि जैसे तलवार म्यान से जुदी रहती है, वैसे ही शरीर में रहते हुए भी तू शरीर से अलग है।

इसीप्रकार **अशुचिभावना** के माध्यम से शरीर की अशुचिता का विचार

करते हैं कि — जिस शरीर के सम्पर्क से पवित्र वस्तुएँ भी अपवित्र हो जाती हैं तथा जो रज-वीर्य आदि मलों से उत्पन्न होता है, वह शरीर पवित्र कैसे हो सकता है ?

हे आत्मन ! मल-मूत्र और मांस का पिण्डरूप शरीर यद्यपि नश्वर है; तथापि इस नश्वर मनुष्यपर्याय में अविनाशी मोक्षप्राप्ति का साधन कर सकते हैं। अतएव जबतक यह नष्ट नहीं हो जाता, तबतक मोक्षमार्ग को प्राप्त करने का उपाय कर लेना चाहिए।

जिसप्रकार ईख (गन्ना) का रस निकाल लेने पर उसे जला देने से हमें दुःख नहीं होता, उसीप्रकार हे आत्मन ! तू भी इस मनुष्य शरीर से मुक्ति की साधना का सार प्राप्त कर इस शरीर को निस्सार बना दे, जिससे इसके जलाने में तुझे भी दुःख नहीं हो।

आस्रव और संवरभावना को भाते हुए महाराजा जीवन्धर आत्म-सम्बोधन करते हैं कि — हे आत्मन ! तू तत्त्वज्ञान के अभ्यास से आस्रव के कारणभूत विकथा और कषायों से रहित होकर, धन-धान्यादि बाह्य पदार्थों से ममता त्याग दे तो तुझे व्रत, समिति, गुप्ति और तप आदि स्वतः हो जाएँगे।

इसीप्रकार सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य की आराधना से तेरे सम्पूर्ण संचित कर्म भी निर्जरित हो जाएँगे और तू बन्धरहित होकर लोकान्त में जाकर विराजमान हो जाएगा।

धर्माधना करने से क्या-क्या नहीं मिलता। कहा भी है न —

जाँचे सुरतरु देय सुख, चिन्तत चिन्ता रैन।

बिन जाँचे बिन चिन्तये, धर्म सकल सुख देन ॥

इसीप्रकार आस्रव, संवर, निर्जरा, लोक, बोधिदुर्लभ और धर्म भावनाओं का चिन्तन-मनन करते हुए महाराज जीवन्धर का चित्त बोधिदुर्लभ एवं धर्मभावना में विशेष रम गया। वे सोचते हैं —

भव्यत्वं कर्मभूजन्म मानुष्यं स्वङ्गवंश्यता।

दुर्लभं ते क्रमादात्मन् समवायस्तु किम्पुनः ॥^१

हे आत्मन ! रत्नत्रय धर्म और साधना के साधनभूत भव्यपना, मनुष्यपर्याय, सुन्दर स्वस्थ शरीर और अच्छे कुल में उत्पत्ति – इनमें एक-एक का पाना अति दुर्लभ है और तेरे पुण्योदय से तुझे पाँचों सुलभ हो गए हैं, फिर भी यदि धर्म में रुचि नहीं हुई तो सब व्यर्थ ही हैं।

धर्मभावना में वीतराग धर्म के स्वरूप का चिन्तन करते हुए महाराजा जीवन्धर सोचते हैं कि – वस्तुतः तो वह निश्चय रत्नत्रय ही धर्म है, जिसमें 'वस्तु स्वातन्त्र्य' के सिद्धान्त के द्वारा कारण परमात्मा के रूप में भगवान आत्मा की अनन्त शक्तियों और अनन्तगुणों की स्वतन्त्र सत्ता का बोध कराया गया है तथा आत्मा का पर में एकत्व-ममत्व एवं पर के कर्तृत्व-भोक्तृत्व से भेदज्ञान कराया गया है। ऐसे धर्म के धारक और आराधक पशु भी अपनी पामर पर्याय छोड़कर स्वर्ग को प्राप्त करते हैं और जो ऐसे धर्म को नहीं जानते, ऐसे वीतराग धर्म की आराधना नहीं करते वे देवपर्याय से मरकर कुत्ते जैसी हीन पशु की पर्याय में चले जाते हैं। अतः हमें सदैव वीतराग धर्म की ही आराधना करना चाहिए।

इसप्रकार बारह भावनाओं का चिन्तन करने से जीवन्धरकुमार के वैराग्य में और भी अधिक वृद्धि हुई। फलस्वरूप वे भी गृहविरक्त होकर आत्मसाधना में तत्पर हो गए और कुछ काल बाद केवलज्ञान प्राप्तकर अजर-अमर सिद्धपद को प्राप्त हो गए। जो भी व्यक्ति इस 'जीवन्धर-चरित्र' का मन लगाकर अध्ययन-मनन-चिन्तन करेंगे, उनका लौकिक जीवन तो उज्वल होगा ही, पारलौकिक जीवन भी मंगलमय हो जाएगा। शुभमस्तु !

पाठक इस ग्रन्थ से अधिकाधिक लाभान्वित हों – इस आशा और अपेक्षा के साथ.....।



क्षत्रचूड़ामणि

ग्रन्थ के श्लोकों का विशिष्ट विभाजन

अ.क्र.	लम्ब	नीति-श्लोक	:	कथा-श्लोक	:	कुल-श्लोक
१.	पहला	७४	+	३८	=	११२
२.	दूसरा	५३	+	२३	=	७६
३.	तीसरा	४०	+	१३	=	५३
४.	चौथा	४१	+	६	=	४७
५.	पाँचवाँ	३८	+	११	=	४९
६.	छठवाँ	४०	+	११	=	५१
७.	सातवाँ	६८	+	१५	=	८३
८.	आठवाँ	४८	+	२५	=	७३
९.	नौवाँ	३३	+	३	=	३६
१०.	दसवाँ	४९	+	१२	=	६१
११.	ग्यारहवाँ	७२	+	३४	=	१०६
		५५६	+	१९१	=	७४७

इस क्षत्रचूड़ामणि ग्रन्थ में कुल ७४७ श्लोक हैं। उनमें ५५४ श्लोक में नीति बताई गई है और कथा तो मात्र १९३ श्लोक में है। इससे हमें यह विषय स्पष्ट होता है कि ग्रन्थकर्ता आचार्य श्री वादीभसिंह महाराज का नीति बताने का ही मुख्य उद्देश्य था; जीवन्धर-चरित्र का तो उन्होंने मात्र आधार लिया है।

अल्पावधि में ही यह ग्रन्थ मराठी भाषा में भी प्रकाशित हो रहा है।

ॐ श्री वीतरागाय नमः ॐ
आचार्य श्री वादीभसिंह विरचित

क्षत्रचूड़ामणि

अन्वयार्थ, सरलार्थ और विशेषार्थ सहित

मंगलाचरण

सिद्ध स्वभावी आत्मा, सिद्ध शिरोमणि जीव ।
वीतरागता से पगी, वन्दूँ सहज सदीव ॥१॥
पंच परमपद ही सदा, हैं वन्दन के योग्य ।
नित प्रति वन्दन मैं करूँ, बने सदा यह योग ॥२॥
जिनवाणी जिनवर वचन, श्रुत का मूल स्वरूप ।
अनुयोगों के द्वार से, समझूँ आत्मस्वरूप ॥३॥
अनुयोगों की निर्झरी, वीतरागता देय ।
चारों ही अनुयोग का, एकमात्र प्रमेय ॥४॥
नीति ग्रन्थ 'चूड़ामणी', है अमृत का योग ।
सूरि सिंह वादीभ की, रचना बड़ी मनोग ॥५॥
जम्बूद्वीप के मध्य में, भरतक्षेत्र सुप्रसिद्ध ।
'राजपुरी' नगरी जहाँ, यथा नाम गुण सिद्ध ॥६॥
राजा 'सत्यन्धर' वहाँ, रानी 'विजया' नाम ।
उनके सुत सुप्रसिद्ध हैं, 'जीवन्धर' गुणधाम ॥७॥
धर्म धुरन्धर धर्मधर, धर्मशील धीमान ।
कामदेव तेईसर्वे, रूप शिरोमणि जान ॥८॥
क्षेत्र 'सिद्धवरकूट' से, गए मुक्ति के धाम ।
जीवन्धरजी को सदा, बारम्बार प्रणाम ॥९॥
ग्रन्थ 'क्षत्रचूड़ामणि', है जीवन्धर चरित्र ।
अवगाहन कर ग्रन्थ का, जीवन बने पवित्र ॥१०॥

पहला लम्ब

जिनभक्ति की महिमायुक्त ग्रन्थकार का मंगलाचरण -

श्रीपतिर्भगवान्पुष्याद् भक्तानां वः समीहितम् ।

यद्भक्तिः शुल्कतामेति मुक्तिकन्याकरग्रहे ॥१॥

अन्वयार्थ - (श्रीपतिः) अन्तरंग-बहिरंग लक्ष्मी के स्वामी (भगवान्) श्री जिनेन्द्रदेव (वः) आप (भक्तानां) भक्तों के (समीहितं) इच्छित कार्य को (पुष्यात्) पूर्ण करें। (यद् भक्तिः) जिन जिनेन्द्रदेव की भक्ति (मुक्तिकन्या-करग्रहे) मुक्तिरूपी कन्या के पाणिग्रहण में (शुल्कतां) मूल्यपने को (एति) प्राप्त होती है/धन की तरह सहायक होती है।

सरलार्थ - जिसप्रकार लोक में किसी कन्या से विवाह करने में धन सहायक होता है, उसीप्रकार जिन जिनेन्द्रदेव की भक्ति, मुक्तिरूपी कन्या के वरण करने में धन का काम करती है, वे जिनेन्द्र अर्थात् तीर्थकर भगवान् अनन्त चतुष्टयस्वरूप अन्तरंग लक्ष्मी एवं समवशरणादिरूप बहिरंग लक्ष्मी के स्वामी हैं। यहाँ आचार्यश्री ऐसी भावना भाते हैं कि आप सभी भक्तों की मनोकामना वे जिनेन्द्र भगवान् पूर्ण करें।

विशेषार्थ - यह 'क्षत्रचूडामणि' नामक ग्रन्थ प्रथमानुयोग का शास्त्र है। इस ग्रन्थ में कुल ग्यारह लम्ब अर्थात् अधिकार हैं। प्रथमानुयोग का प्रयोजन धर्म से अनभिज्ञ एवं दुःखी प्राणियों को पाप से छुड़ाकर पुण्य-कार्यों के द्वारा मोक्षमार्ग में लगाना होता है।

यहाँ मंगलाचरण में आचार्यश्री भक्ति का महत्त्व बताकर जीवों को भक्ति में संलग्न कराना चाहते हैं। यह भक्ति दो प्रकार की है - एक निर्विकल्प, दूसरी सविकल्प। निर्विकल्प भक्ति ही परमार्थ से मुक्ति का कारण है। इस वीतरागभावमयी भक्ति की शीतल छाया में पनपनेवाली शुभभावरूप सविकल्प भक्ति अशुभभावों से बचानेवाली है और साक्षात् पुण्य बन्ध का कारण है, जिनागम में परम्परा से इसे भी मुक्ति का कारण कहा है।

साधक दशा ही ऐसी होती है कि वीतराग भावों के साथ कुछ सरागभाव भी चला ही करते हैं, जिनके विषय पंचपरमेष्ठी आदि होते हैं। साधक जीव मोक्षमार्गी सन्तों, मुक्तिप्राप्त जीवों तथा जिनवाणी का गुणानुवाद किया करते हैं। (विशेष स्पष्टीकरण के लिए प्रवचनसार ग्रन्थ की गाथा ५ की टीका, नियमसार ग्रन्थ का भक्ति अधिकार और समयसार ग्रन्थ की गाथा क्रमांक ३१ से ३३ भी देखिए।)

जैसे जगत में विवाह आदि लौकिक कार्यों के लिए धनादि की आवश्यकता होती है; वैसे ही लोकोत्तर मार्ग में मुक्तिकन्या के वरण के लिए भी द्विविध भक्तिरूपी धन की आवश्यकता होती है।

सच्चा भक्त तो मोक्षमार्ग के साधन से मोक्ष का ही अभिलाषी होता है। उसकी अन्य सभी इच्छाएँ विराम को प्राप्त हो जाती हैं। वह तो यही भावना भाता रहता है कि हे भगवान ! मेरी मुक्ति के लिए आप ही एकमेव असाधारण आश्रय हैं, कारण हैं। जिस मुक्तिमार्ग में मुक्ति की भी इच्छा नहीं है — ऐसी मुक्ति और मुक्तिमार्ग का यथार्थ उपदेशक आपके अतिरिक्त अन्य कोई नहीं है। अनन्त जीवों को शाश्वत शान्तिदाता आपका दिव्य-उपदेश निरन्तर बहता रहे; जिससे परमार्थ हित के इच्छुक भव्यजन उसकी सतत उपासना करके लौकिक सुख-साधनों के साथ-साथ ही लोकोत्तर सुख की प्राप्ति के लिए सतत प्रयत्नशील बने रहें।

ग्रन्थ लिखने की प्रतिज्ञा -

संक्षेपेण प्रवक्ष्यामि चरितं जीवकोद्भवम्।

पीयूषं न हि निःशेषं पिबन्नेव सुखायते ॥२॥

अन्वयार्थ - [अहं] मैं वादीभसिंहसूरि (जीवकोद्भवं) जीवन्धर-स्वामी से उत्पन्न (चरितं) चरित्र को (संक्षेपेण) संक्षेपरूप से (प्रवक्ष्यामि) कहूँगा।

[अत्र नीतिः] (हि) क्योंकि (निःशेषं) सम्पूर्ण (पीयूषं) अमृत को (पिबन्) पीनेवाला (एव) पुरुष ही (सुखायते) सुखी होता हो (इति न)

— ऐसा नहीं है; किन्तु [स्वल्पं अपि पिबन् सुखायते] थोड़ा अमृत पीनेवाला पुरुष भी सुखी होता है।

सरलार्थ — जैसे इस जगत में अधिक अमृत पीने से ही मनुष्य सुखी नहीं होता; अपितु अपनी योग्यता और शक्ति के अनुसार अल्प अमृत पीने से भी सुखी ही होता है। वैसे ही जीवन्धरकुमार का विस्तृत जीवन-चरित्र ही अधिक सुखदायी होगा, ऐसा नहीं है; अपितु उनका संक्षिप्त जीवन-चरित्र भी सुखदायी ही होगा। अतः मैं 'जीवन्धर-चरित्र' संक्षेप में कहता हूँ।

विशेषार्थ — भाषा समिति के धारक वीतरागी मुनिराजों का स्वभाव ही संक्षिप्त में बहुत कुछ कहने का होता है। गागर में सागर भर देनेवाली उक्ति को चरितार्थ करते हुए आचार्यश्री ने भी जीवन्धर-चरित्र को संक्षेप में कहा है।

जीवन्धर-चरित्र का मूल स्रोत -

श्रेणिकप्रश्नमुद्दिश्य सुधर्मो गणनायकः ।

यथोवाच मयाप्येतदुच्यते मोक्षलिप्सया ॥३॥

अन्वयार्थ — (सुधर्मः) सुधर्म नाम के (गणनायकः) गणधरदेव ने (श्रेणिकप्रश्नं) श्रेणिक राजा के प्रश्न का (उद्दिश्य) निमित्त पाकर (यथा) जैसा (उवाच) कहा है, (तथा मया अपि) वैसे मैं भी (मोक्षलिप्सया) मोक्ष की वांछा से इस चरित्र को (उच्यते) कहता हूँ।

सरलार्थ — जिसप्रकार श्रेणिक राजा के प्रश्न पूछने पर गणधराचार्य सुधर्मस्वामी ने राजा श्रेणिक को जीवन्धर-चरित्र सुनाया था; उसीप्रकार मैं वादीभसिंहसूरि भी उनके चरित्र को मोक्षप्राप्ति की इच्छा से कहता हूँ, हीनाधिक या काल्पनिक नहीं।

विशेषार्थ — अभी वर्तमान में भगवान महावीरस्वामी का तीर्थकाल वर्त रहा है। तीर्थकर भगवान महावीर के ग्यारह गणधर थे। उनमें एक

सुधर्मस्वामी भी थे। जब राजगृही नगरी में विपुलाचल पर्वत पर भगवान महावीर का समवशरण आया, उससमय राजा श्रेणिक ने भगवान से साठ हजार प्रश्न पूछे थे। उनमें एक प्रश्न जीवन्धरकुमार के चरित्र सम्बन्धी भी था, जिसका उत्तर सुधर्मस्वामी गणधरदेव ने दिया था। उसके उत्तरस्वरूप जो समाधान प्राप्त हुआ था, उसे ही आचार्य श्री वादीभसिंह भव्यजनों के हितार्थ कह रहे हैं।

चरित्रनायक श्री जीवन्धरकुमार के देश का परिचय -

इहास्ति भारते खण्डे जम्बूद्वीपस्य मण्डने ।

मण्डलं हेमकोशाभं हेमाङ्गदसमाह्वयम् ॥४॥

अन्वयार्थ - (इह) इस मध्यलोक में (जम्बूद्वीपस्य) जम्बूद्वीप के (मण्डने) भूषणस्वरूप (भारते) भरत (खण्डे) खण्ड में (हेमकोशाभं) स्वर्ण के खजाने के समान है आभा जिसकी ऐसा (हेमाङ्गदसमाह्वयं) हेमांगद नाम का (मण्डलं) देश (अस्ति) है।

सरलार्थ - इस मध्यलोक में जम्बूद्वीप के भूषणस्वरूप भरतक्षेत्र के अन्तर्गत आर्यखण्ड में स्वर्ण के भण्डार की कान्ति के समान हेमांगद नाम का एक देश है।

विशेषार्थ - अनादिकाल से आजतक मुक्ति को प्राप्त अनन्त अरहन्त भगवन्तों के परम ज्योतिस्वरूप केवलज्ञान में ज्ञात इस मध्यलोक में असंख्यात द्वीप-समुद्र हैं। उनके बीचों-बीच थाली के आकार समान एक गोलाकार जम्बूद्वीप है। जम्बूवृक्ष की मुख्यता से सार्थक नामवाले इस जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र के आर्यखण्ड में हेमांगद नामवाले का एक सुप्रसिद्ध देश है।

राजधानी का नाम एवं स्वरूप -

तत्र राजपुरी नाम राजधानी विराजते ।

राजराजपुरी-सृष्टौ स्रष्टुर्या मातृकायते ॥५॥

अन्वयार्थ - (तत्र) उस देश में (राजपुरी नाम) राजपुरी नाम की

(राजधानी) राजा की प्रधान नगरी (विराजते) सुशोभित है; (या) जो (स्रष्टुः) ब्रह्मा के (राजराजपुरीसृष्टौ) कुबेर की नगरी (अलकापुरी) की रचना में (मातृकायते) माता के सदृश आचरण करती है।

सरलार्थ – हेम समान कान्तियुक्त उस हेमांगद देश की राजपुरी नामक राजधानी है; जिसकी सुन्दरता को देखकर ऐसा लगता है कि मानो ब्रह्मा ने इसे देखकर ही कुबेर की नगरी अलकापुरी बनाई है।

विशेषार्थ – हिन्दू धर्म की मान्यता के अनुसार इस सृष्टि का कर्ता ब्रह्मा है – यह किम्बदन्ती जगप्रसिद्ध है। साहित्यकार को ऐसे प्रयोग करने की छूट होती है; अतः कहते हैं कि ब्रह्मा ने इस विश्व को उत्पन्न किया है। विश्व की रचना में सम्पूर्ण सुन्दरता से युक्त सर्वश्रेष्ठ नगरी कुबेर की अलकापुरी मानी जाती है। यहाँ आचार्यश्री ने ऐसी कल्पना की है कि उस अलकापुरी की रचना जब ब्रह्मा ने की होगी, तब इस राजपुरी नगरी को देखकर ही की होगी; अन्यथा अलकापुरी इतनी सुन्दर कैसे बन सकती थी ?

जबकि जैन मान्यतानुसार देखा जाए तो यह सम्पूर्ण विश्व या लोक अनादि-अनन्त एवं स्वयंसिद्ध है।

राजा सत्यन्धर का परिचय –

तस्यां सत्यन्धरो नाम राजाभूत्सत्यवाङ्मयः ।

वृद्धसेवी विशेषज्ञो नित्योद्योगी निराग्रहः ॥६॥

अन्वयार्थ – (तस्यां) उस नगरी में (सत्यवाङ्मयः) सच बोलनेवाले (वृद्धसेवी) वृद्धों की सेवा करनेवाले (विशेषज्ञः) विशेष कार्यों को जाननेवाले (नित्योद्योगी) निरन्तर उद्योग करनेवाले (निराग्रहः) हठ न करनेवाले (सत्यन्धरः नाम) सत्यन्धर नाम के (राजा) राजा (अभूत्) थे।

सरलार्थ – उस राजपुरी नामक राजधानी में सत्यभाषी, वृद्धसेवी, गूढ़-गम्भीर विषयों को जाननेवाले, सदा उद्यमशील और हठरहित – ऐसे अनेकानेक गुणों से सम्पन्न राजा सत्यन्धर राज्य करते थे।

विशेषार्थ – जिस युग में राजा को भगवान का रूप माना जाता हो, उस राजा में सत्यभाषी जैसे अलौकिक गुण न हों तो उसे अपना प्रभु कौन मानेगा ? सत्यभाषी मनुष्य जगत में श्रेष्ठ माना जाता है। वृद्धसेवी का अर्थ मात्र आयु में वृद्ध लोगों की सेवा-शुश्रूषा करना ही नहीं होता; परन्तु जो आयु में भले ही छोटे हों, पर ज्ञान-वैराग्य में वृद्ध अर्थात् विशिष्ट हों, उनकी सेवा करना और उनके बताए हुए मार्ग पर चलना भी वृद्धसेवा का अर्थ समझना चाहिए।

राजा हिताहित के विचारक, सत्-असत् के विवेकवान होने से सरलस्वभावी थे। हठवादिता से अत्यन्त दूर और अपने से विशिष्ट ज्ञानीजनों की उत्तम सलाह का आदर करते थे। ऐसे अनेकानेक अद्वितीय गुणों से सम्पन्न राजा सत्यन्धर थे।

पटरानी विजया का परिचय –

महिता महिषी तस्य विश्रुता विजयाख्यया ।

विजयाद्विश्वनारीणां पातिव्रत्यादिभिर्गुणैः॥७॥

अन्वयार्थ – (तस्य) उन सत्यन्धर राजा की (महिता) बड़ी (महिषी) प्रसिद्ध पटरानी (विश्वनारीणां) सम्पूर्ण स्त्रियों को (पातिव्रत्यादिभिः) पातिव्रत्यादि (गुणैः) गुणों के द्वारा (विजयात्) जीतने से (विजयाख्यया) विजया नाम से (विश्रुता) प्रसिद्ध [आसीत्] थी।

सरलार्थ – राजा सत्यन्धर की पटरानी विजया अत्यन्त रूपवती, विवेकशील और पतिव्रता आदि अनेक गुणों के कारण तत्कालीन अन्य सब स्त्रियों को जीतने में समर्थ होने से अपने विजया नाम को सार्थक करती थी।

विशेषार्थ – राजा सत्यन्धर के समान ही विजया रानी अन्य नारियों की अपेक्षा असाधारण गुणों की धारक थी।

सद्भाग्य की दुर्लभता –

सत्यप्यन्तःपुरस्त्रीणां समाजे राजवल्लभा ।

सैवासीन्नापरा काचित् सौभाग्यं हि सुदुर्लभम्॥८॥

अन्वयार्थ – (अन्तःपुरस्त्रीणां) अन्तःपुर की स्त्रियों के (समाजे) समुदाय में अनेक रानियाँ (सति) होने पर (अपि) भी (सा) वह (एव) ही (राजवल्लभा) राजा की प्यारी (आसीत्) थी [अपरा] दूसरी (काचित्) कोई [न] नहीं।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (सौभाग्यं) अच्छा भाग्य अर्थात् पतिप्रियत्व (सुदुर्लभं) बड़ा दुर्लभ है।

सरलार्थ – राजा सत्यन्धर के अन्तःपुर में यद्यपि अनेक रानियाँ थीं; तथापि नारी योग्य सर्वगुणसम्पन्न विजया रानी ही थी, जिसके कारण वह राजा के प्रेम की एकमात्र अधिकारिणी थी। ऐसा सद्भाग्य/पति-प्रेम प्राप्त होना दुर्लभ ही होता है।

विशेषार्थ – रानी विजया सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा, उनकी नित्य उपासना, जिनवाणी का अति बहुमानपूर्वक पठन-पाठन, चिन्तन-मननादि एवं श्रीगुरु द्वारा दिए गए शुद्धात्मा के उपदेश का श्रवण-मनन-चिन्तन, सत्पात्रों को दान – इत्यादि सत्कार्यों में सदैव तत्पर रहती थी। – ऐसे शुभकार्यों से पुण्य का विशेष बन्ध होता है और उसके फलस्वरूप साक्षात् लौकिक सुख के साधन एवं परम्परा से निःश्रेयस सुख की प्राप्ति भी होती है। पूर्व पुण्य से विजया रानी को सर्वप्रकार के इन्द्रियसुख के साधन विपुल मात्रा में प्राप्त थे। सांसारिक सुख के बाह्य साधनों के संयोगों में पूर्वकालीन पुण्य का उदय ही मुख्य कारण होता है।

भोगासक्त राजा सत्यन्धर की दुर्दशा –

निष्कंटकाधिराज्योऽयं राजा राज्ञीमनारतम् ।

रमयन्नान्यदज्ञासीत्प्राज्ञप्राग्रहरोऽपि सन् ॥१॥

अन्वयार्थ – (निष्कंटकाधिराज्यः) निष्कंटक है राज्य जिनका ऐसे (अयं राजा) यह राजा (प्राज्ञप्राग्रहरः) विद्वानों में अग्रसर (सन् अपि) होते हुए भी (अनारतं) निरन्तर (राज्ञीं) रानी के साथ (रमयन्) रमण करते हुए (अन्यत्) अन्य कुछ (न) नहीं (अज्ञासीत्) जानते थे।

सरलार्थ – राजा सत्यन्धर शत्रु-भय आदि आपत्तियों से पूर्ण रहित और विद्वानों में सर्वश्रेष्ठ हैं; किन्तु विषयों की आसक्ति में उलझ गए। इसकारण वे विजया रानी के साथ विषय-भोग में अपना बहुमूल्य समय खोते हुए भोगासक्ति के कारण राज्य-व्यवस्था के सम्बन्ध में भी किंकर्तव्यविमूढ़ हो गए।

विशेषार्थ – यद्यपि पंचेन्द्रियों की भोगसामग्री, रूपसम्पदा, राजवैभव, ऐश्वर्य, कुलवन्ती नारी, आज्ञाकारी पुत्र एवं सेवकादि अन्य सर्व अनुकूल बाह्य सामग्री पूर्वपुण्योदय से ही प्राप्त होती है; परन्तु इनके भोगने का भाव पापभाव ही है।

‘गुड़ पर मक्खी की तरह’ राजा सत्यन्धर के भोगों में सतत आसक्त रहने से उनके पूर्वकृत पुण्य का निरन्तर क्षय होने से आयरहित धन के व्यय होने के समान पुण्य भी अस्ताचल की ओर गतिमान हो गया और पाप ‘दिन दूना रात चौगुना’ वृद्धिगत होता गया।

विषयानुराग किसी भी इन्द्रिय का क्यों न हो, उसका भोग वर्तमान काल में पाप एवं दुःखरूप ही है और भविष्यकाल के दुःख का कारण है। इसलिए पुण्योदय के काल में विषयों से विरक्त रहकर सच्चे देव-शास्त्र-गुरु के आश्रय से जीवन को धर्ममय बनाना चाहिए। यही मनुष्यभव एवं पुण्य-फलप्राप्ति की सार्थकता है।

विषयासक्ति सद्गुणों की नाशक –

विषयासक्तचित्तानां गुणः को वा न नश्यति ।

न वैदुष्यं न मानुष्यं नाभिजात्यं न सत्यवाक् ॥१०॥

अन्वयार्थ – [अत्र नीतिः] (विषयासक्तचित्तानां) विषयों में है आसक्त चित्त जिनका ऐसे पुरुषों के (को वा) कौन से (गुणः) गुण (न) नहीं (नश्यति) नष्ट होते हैं ? (तेषु) उनमें (न वैदुष्यं) न पण्डितपना (न मानुष्यं) न मनुष्यपना (न अभिजात्यं) न कुलीनता (न सत्यवाक्) न सच्चाई रहती है।

सरलार्थ – पंचेन्द्रियों के विषय में आसक्त मनुष्य का कौन-सा

सद्गुण नष्ट नहीं होता है ? अर्थात् उसके सभी सद्गुण नष्ट हो जाते हैं। विषयों की आसक्ति और सद्गुणों में परस्पर सदा से ही वैर रहा है। अतः विषयासक्त मनुष्य में विद्वत्ता, मानवता, कुलीनता, सत्यनिष्ठा, विवेक आदि कोई भी गुण नहीं रहता।

विशेषार्थ – विषयान्ध पामर प्राणियों को पंचेन्द्रियों के विषयों में से स्पर्शनिन्द्रिय को जीतना अत्यधिक कठिन होता है। कामासक्त व्यक्ति को तो तीन लोक में स्त्री-भोग ही सर्वश्रेष्ठ भासित होता है। उसके बिना जिसे अपनी जीवनलीला ही समाप्त होती हुई भासित हो, उसे स्पर्शनिन्द्रिय पर विजय प्राप्त करना अशक्य ही है।

रानी विजया पर विशेष लुब्ध होने से राजा सत्यन्धर ने मानो सभी सद्गुणों को तिलाञ्जलि ही दे दी हो। उन्होंने विवेकरूपी नेत्र को फोड़ ही डाला हो। मानो विवेक तो उनमें नाम मात्र को भी न रहा हो।

कामासक्त मनुष्य की अदूरदृष्टि –

पराराधनजाद् दैन्यात्पैशून्यात्परिवादतः।

पराभवात्किमन्येभ्यो न विभेति हि कामुकः ॥११॥

अन्वयार्थ – [अत्र नीतिः] (कामुकः) कामी पुरुष (पराराधनजात्) दूसरों की सेवा से उत्पन्न (दैन्यात्) दीनता से (पैशून्यात्) चुगलीपन से (परिवादतः) निन्दा से और (पराभवात्) तिरस्कार से (न) नहीं (विभेति) डरता है। (अन्येभ्यः) वह और कामों से (किं) क्या [भेष्यति] डरेगा ?

सरलार्थ – कामासक्त मनुष्य दूसरों की सेवा करने से उत्पन्न दीनता, चुगली, निन्दा और तिरस्कार से भी नहीं डरते हैं। फिर अन्य सामान्य दुःखद स्थितियों से वे कैसे डर सकते हैं ?

विशेषार्थ – जैसे सुगन्ध में मग्न हुआ मतवाला भौरा फूल का पराग चूसने में इतना तल्लीन हो जाता है कि उसे यह ध्यान ही नहीं रहता कि अब सन्ध्या होनेवाली है और पुष्प की पंखुड़ियाँ संकुचित होकर बन्द हो जाएँगी।

बस ! उसे तो अपनी घ्राणेन्द्रिय के विषय सुगन्ध का वियोग नहीं होना चाहिए; फिर भले ही पुष्प बन्द हो जाए और अपने प्राण ही संकट में क्यों न पड़ जाएँ ! उसको इसकी कुछ चिन्ता नहीं रहती ।

यही दशा राजा सत्यन्धर की हो गई है। वे विजया रानी के साथ विषय-भोगों में इतना मग्न हो गए हैं कि भले ही जगत उनकी निन्दा करे, अपमान करे, लेकिन उनके जीवन पर इसका कोई प्रभाव ही नहीं पड़ता है। मन्त्री आदि हितैषी जन उन्हें समझाते हैं कि — 'यह विषयान्धता वर्तमान में तो दाहज्वर का कारण होती ही है, भविष्य में नरक-निगोदादि के अनन्त दुःखों का भी कारण बनती है। कामान्ध पुरुष निर्धन हो जाते हैं। शत्रुजन उनका राज्य छीन लेते हैं।' इसप्रकार समझाने पर भी राजा सत्यन्धर के जीवन पर कुछ भी प्रभाव नहीं हुआ। वे तो निर्भय होकर विषयों में ही प्रवर्तते रहे।

कामासक्त पुरुष मृत्यु से भी नहीं डरते -

पाकं त्यागं विवेकं च वैभवं मानितामपि ।

कामार्ताः खलु मुञ्चन्ति किमन्यैः स्वञ्च जीवितम् ॥१२॥

अन्वयार्थ - [अत्र नीतिः] (कामार्ताः) काम से पीड़ित पुरुष (पाकं) भोजन (त्यागं) दान (विवेकं) विवेक (वैभवं) सम्पत्ति (च) और (मानितां) पूज्यता (अपि) भी (खलु) निश्चय से (मुञ्चन्ति) छोड़ देते हैं (च अन्यैः किं) और तो क्या (स्वं जीवितं) अपने जीवन को (अपि) भी (मुञ्चन्ति) छोड़ देते हैं।

सरलार्थ - विषय-भोगों की इच्छा से पीड़ित पुरुष भोजन, त्याग (व्रत-नियम), मान-सम्मान, वैभव और विवेक को भी छोड़ देते हैं। अन्य विषयों की तो बात ही क्या ? काम से पीड़ित मनुष्य अपनी इच्छा पूर्ति के लिए दुर्लभ और अमूल्य मनुष्य जीवन को भी नष्ट कर देते हैं।

विशेषार्थ - आचार्य शुभचन्द्र ने ज्ञानार्णव ग्रन्थ में काम के दस वेग

बताए हैं; उनमें दसवाँ वेग मरण कहा है अर्थात् कामार्त मनुष्य को यदि स्त्री का संयोग न मिले तो उसका मरण भी हो जाता है। विषयासक्त जीवों को मरण से भी अधिक दुःख विषय-वियोग का होता है। वे मरण की कीमत पर भी विषयों को नहीं छोड़ना चाहते हैं।

आचार्य योगीन्द्रदेव 'योगसार' ग्रन्थ में लिखते हैं कि - "जैसा मन विषयों में रमता है, यदि वैसा ही मन आत्मा में रमे तो पुनः नया शरीर धारण नहीं करना पड़े अर्थात् वह विषयों से विरक्त होकर एवं आत्मा में तल्लीन रहकर अशरीरी/सिद्धदशा को शीघ्र प्राप्त कर ले।"

राजा सत्यन्धर की विवेकहीनता -

पुनरैच्छदयं दातुं काष्ठाङ्गाराय काश्यपीम् ।

अविचारितरम्यं हि रागान्धानां विचेष्टितम् ॥१३॥

अन्वयार्थ - (पुनः) पश्चात् (अयं) राजा सत्यन्धर ने (काष्ठाङ्गाराय) काष्ठांगार के लिए (काश्यपीं) राज्य (दातुं) देने की (ऐच्छत्) इच्छा की।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (रागान्धानां) राग से अन्धे पुरुषों की (विचेष्टितं) चेष्टाएँ (अविचारितरम्यं) बिना विचार के ही सुन्दर लगती हैं।

सरलार्थ - कुछ समय बीत जाने पर राजा सत्यन्धर ने अपना राज्याधिकार काष्ठांगार नामक मन्त्री को सौंपने का विचार किया; क्योंकि विषयासक्त जीवों का आचरण और विचार उन्हें तबतक ही आनन्ददायक लगते हैं, जबतक वे अपने विवेक का उपयोग नहीं करते।

विशेषार्थ - विषयान्ध जीवों को अपना विवेकशून्य कार्य सुखदायक न लगे तो उसे वे करें ही क्यों ? रागान्ध जीवों का प्रत्येक कार्य विचार किए बिना ही होता है। उन्हें योग्य-अयोग्य, हित-अहित का कुछ विवेक ही नहीं रहता। विषयों के भूत ने राजा सत्यन्धर पर अपना पूर्ण अधिकार अत्यन्त दृढ़ता के साथ जमा लिया था। यही कारण है कि उन्हें राज्य की व्यवस्था देखना भी भारभूत भासित हो रहा था। इसलिए उन्होंने राज्य का कार्यभार काष्ठांगार को

सौंपकर, स्वयं निश्चिन्त होकर निरन्तर विषय-भोगों में संलग्न होने का पक्का निश्चय किया।

प्रधानमन्त्री का राजा को परामर्श -

तावता तं समभ्येत्य मन्त्रिमुख्या अबूबुधन् ।

देव देवैरपि ज्ञातं विज्ञाप्यं श्रूयतामिदम् ॥१४॥

अन्वयार्थ - (तावता) उसीसमय (मन्त्रिमुख्याः) प्रधानमन्त्री ने (तं) उन राजा के (समभ्येत्य) समीप आकर (अबूबुधन्) समझाते हुए कहा - (देव) हे राजन ! (देवैः) यद्यपि आपके द्वारा (ज्ञातं) जानी हुई (अपि) भी (इदं विज्ञाप्यं) इस जानने योग्य विज्ञप्ति को (श्रूयतां) आप ध्यान से सुनें।

सरलार्थ - राज्य का अधिकार काष्ठांगार को सौंपने का राजा का निश्चय सुनते ही राजा के अनेक बुद्धिमान मन्त्रियों ने उसीसमय राजा के समीप जाकर अत्यन्त प्रीति और बहुमानपूर्वक राजा से सविनय निवेदन किया कि - “हे राजन ! आप तो राज्य-विषयक हिताहित तथा योग्यायोग्य सब बातों को जानते ही हैं। हम आपसे विशेष क्या कह सकते हैं ? फिर भी आपसे नम्र निवेदन है कि काष्ठांगार को राज्यभार सौंपने के पहले हमारे कुछ विचार सुनिए।”

विशेषार्थ - बुद्धिमान एवं हितचिन्तक मन्त्रियों को राजा का भविष्य अति संकटमय भासित हो रहा था। वे यह भी जानते थे कि राजा की इच्छा के विरुद्ध कुछ भी कहना खतरे से खाली नहीं है, फिर भी मन्त्री होने के नाते योग्य मार्गदर्शन करना हमारा कर्तव्य है - ऐसा विचार कर मन्त्रियों ने विनयपूर्वक मधुर शब्दों में स्पष्ट सलाह दी।

इससे यह शिक्षा मिलती है कि बड़े लोग भी यदि अज्ञानवश संकट का वरण कर रहे हों तो उनके हितचिन्तकों को योग्य मार्गदर्शन देने से नहीं चूकना चाहिए; परन्तु विनय और मधुर शब्दों के प्रयोग से ही स्थिति स्पष्ट करना योग्य होता है। लोक में कहा भी जाता है कि प्रीतिपूर्वक व्यवहार से बड़े से बड़े शत्रु को भी वश में कर लिया जाता है।

राजनीति का स्वरूप -

हृदयं च न विश्वास्यं राजभिः किं परो नरः ।

किन्तु विश्वस्तवद्दृश्यो नटायन्ते हि भूभुजः ॥१५॥

अन्वयार्थ - (राजभिः) राजा लोग (हृदयं) अपने हृदय का (च) भी (न विश्वास्यं) विश्वास नहीं करते हैं (परः नरः किं विश्वास्यः) दूसरे मनुष्य का तो क्या विश्वास करेंगे; (किन्तु) किन्तु (परः नरः) दूसरे मनुष्य को (विश्वस्तवत्) विश्वस्त की तरह (दृश्यः) दिखते हैं।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (भूभुजः) राजा लोग (नटायन्ते) नट के समान आचरण करते हैं।

सरलार्थ - मन्त्री राजा को परामर्श दे रहे हैं - “राजा को जब अपने मन पर भी विश्वास नहीं करना चाहिए, तब फिर अन्य मनुष्यों पर भला कैसे विश्वास किया जा सकता है ? भले ही वे अपने परिवार के क्यों न हों।” राजनीति का यह सिद्धान्त है कि राजा विश्वास तो किसी का न करे और प्रदर्शन ऐसा करे कि मानो राजा हम पर पूरा विश्वास करते हैं। सही देखा जाए तो राजा नट के समान आचरण करते हैं।

विशेषार्थ - राज्य का सुव्यवस्थित संचालन करनेवाले बुद्धिमान मन्त्री राजा से कहते हैं - हे राजन ! आप राजा हो। आप प्रजा के प्रतिपालक हो, उनके प्राण हो। राजा को जब अपने मन का भी विश्वास नहीं करना चाहिए, तब फिर राजकिंकर काष्ठांगार सेनापति का विश्वास करना कहाँ तक उचित है ? सर्वशक्ति सम्पन्न राजा द्वारा एक साधारण व्यक्ति को राज्य का पूर्ण अधिकार सौंपना महा-अविवेक का कार्य होगा। काष्ठांगार को राज्य सौंपकर आप स्वयं ही संकट को निमन्त्रण दे रहे हैं। इसलिए हे महाप्रज्ञ ! कुछ विचार कीजिए - यह हमारा नम्र निवेदन है।

त्रिवर्ग साधन की सार्थकता -

परस्पराविरोधेन त्रिवर्गो यदि सेव्यते।

अनर्गलमतः सौख्यं अपवर्गोप्यनुक्रमात् ॥१६॥

अन्वयार्थ – [अत्र नीतिः] (यदि) अगर (परस्पराविरोधेन) एक-दूसरे के विरोध के बिना (त्रिवर्गः) धर्म, अर्थ, काम – इन तीन वर्गों का (सेव्यते) सेवन किया जाए (अतः) तो (अनर्गलं) बिना रुकावट के (सौख्यं) सुख और (अनक्रमात्) अनुक्रम से (अपवर्गः) मोक्ष (अपि) भी [भवति] होता है।

सरलार्थ – यदि एक-दूसरे के साथ अविरोधपूर्वक धर्म, अर्थ और काम – इन तीनों पुरुषार्थों का सेवन किया जाए तो इहलोक में तो सांसारिक सुख की प्राप्ति होती ही है और परम्परा से मोक्ष भी प्राप्त होता है।

विशेषार्थ – धर्म, अर्थ और काम – इन तीनों पुरुषार्थों को त्रिवर्ग और चौथे मोक्ष पुरुषार्थ को अपवर्ग कहते हैं; इसप्रकार पुरुषार्थ चार हैं। आध्यात्मिक दृष्टि से चारों पुरुषार्थों के सम्बन्ध में 'नाटक-समयसार' के बन्ध-अधिकार में निम्नानुसार तुलनात्मक कथन किया गया है – “अज्ञानी लोग कुलाचार को धर्म-पुरुषार्थ कहते हैं और पण्डित लोग वस्तु-स्वभाव साधने को धर्म-पुरुषार्थ कहते हैं। अज्ञानी लोग मिट्टी के ढेर सोना-चाँदी आदि के अर्जन को द्रव्य (अर्थ) पुरुषार्थ कहते हैं और ज्ञानी लोग तत्त्व-अवलोकन को अर्थ-पुरुषार्थ कहते हैं। अज्ञानी लोग स्त्री-पुरुष के विषयभोग को काम-पुरुषार्थ कहते हैं और ज्ञानी आत्मा की निस्पृहता को काम-पुरुषार्थ कहते हैं। अज्ञानी लोग स्वर्गलोक/वैकुण्ठ की प्राप्ति को मोक्ष-पुरुषार्थ कहते हैं और ज्ञानी लोग कर्मबन्धन से छूटने को मोक्ष-पुरुषार्थ कहते हैं।”

तात्पर्य यह है कि वस्तुस्वभाव को यथार्थ जानना धर्म-पुरुषार्थ है। द्रव्यों के स्वरूप को भिन्न-भिन्न जानना अर्थ-पुरुषार्थ है। निस्पृहता का ग्रहण करना काम-पुरुषार्थ है और आत्म-स्वरूप के आश्रय से पूर्ण शुद्धता प्रगट करना मोक्ष-पुरुषार्थ है।

धर्म और अर्थ पुरुषार्थों का त्याग अनुचित –

ततस्त्याज्यौ न धर्मार्थौ राजभिः सुखकाम्यया ।

अदः काम्यति देवश्चेदमूलस्य कुतः सुखम् ॥१७॥

अन्वयार्थ – (ततः) इसलिए (राजभिः) राजाओं को (सुख-काम्यया) सुख प्राप्त करने की वांछा से (धर्मार्थौ) धर्म और अर्थ को (न) नहीं (त्याज्यौ) छोड़ना चाहिए। (चेत् देवः) यदि आप (अदः) काम/सुख की (काम्यति) इच्छा करते हैं तो आपको भी धर्म व अर्थ को नहीं छोड़ना चाहिए।

[अत्र नीतिः] (अमूलस्य कुतः सुखं) बिना कारण के सुख कैसे हो सकता है ?

सरलार्थ – हे राजन ! यदि आप सुख चाहते हैं तो धर्म और अर्थ दोनों पुरुषार्थों को मत छोड़िए। सुखप्राप्ति के मूलकारण तो धर्म और अर्थ पुरुषार्थ ही हैं। धर्म और अर्थ पुरुषार्थरूप कारण के बिना सुखरूपी कार्य कैसे हो सकता है ?

विशेषार्थ – धर्म अर्थात् पुण्य और अर्थ अर्थात् धन। 'धन के निमित्त से सुखदायक पदार्थों का संयोग होता है। सांसारिक सुख अर्थात् पंचेन्द्रियों से प्राप्त सुख। सर्वप्रकार से प्रजा का हित हो; प्रजा सुखी रहे – इसप्रकार अखण्ड प्रयत्न करते रहना ही राजा का पुण्य कार्य है। एक अपेक्षा से प्रजा के हित का प्रामाणिक प्रयत्न ही राजा के लिए धर्म-पुरुषार्थ है।

राज्य में आर्थिक सम्पन्नता हो, कोई भूखा न रहे, राज-भण्डार समृद्ध बनाते रहना ही राजा का अर्थ-पुरुषार्थ है।

अपने व्यक्तिगत जीवन में स्वयं सन्तुष्ट रहना और अपने निमित्त से प्रजा के प्रत्येक व्यक्ति को समुचित समाधान मिलता रहे, ऐसा प्रयास करना ही राजा का काम-पुरुषार्थ है। अतः हे राजन् ! सुख के लिए धर्म और अर्थ पुरुषार्थ तो वृक्ष के लिए जड़ के समान मूलकारण हैं। इसलिए काष्ठांगार को राज्यभार सौंपने में धर्म और अर्थ पुरुषार्थों का नियम से नाश होगा। इस कारण आप राज्य के सर्वेसर्वा बने रहें – यह हमारा आपसे पुनः पुनः करबद्ध नम्र निवेदन है।

कार्यारम्भ के पूर्व अति-आवश्यक विचार -

नाशिनं भाविनं प्राप्यं प्राप्ते च फलसन्ततिम् ।

विचार्यैव विधातव्यमनुतापोऽन्यथा भवेत् ॥१८॥

अन्वयार्थ - [अत्र नीतिः] (प्राप्यं) प्राप्त करने योग्य वस्तु (नाशिनं) नाश होनेवाली है अथवा (भाविनं) उपलब्ध रहनेवाली है (च) और (प्राप्ते) प्राप्त होने पर (फलसन्ततिं) फलों की परम्परा का (विचार्यैव) विचार करके (एव) ही (विधातव्यं) कोई काम करना चाहिए, (अन्यथा) इसके विपरीत करने से (अनुतापः) पश्चात्ताप (भवेत्) करना पड़ता है।

सरलार्थ - प्राप्त करने योग्य नया पदार्थ विनाशी है या अविनाशी? वह पदार्थ भविष्य में मिलेगा अथवा नहीं मिलेगा? इसप्रकार हिताहित और योग्यायोग्य का पूर्ण विचार करके ही कोई भी नया कार्य करना चाहिए। पूर्वोक्त प्रकार से विचार किए बिना कोई मनुष्य नया कार्य करता है तो उसे पछताना ही पड़ता है।

विशेषार्थ - काष्ठांगार को राज्य का अधिकार न दिया जाए, इस विषय पर ही मन्त्रीगण राजा सत्यन्धर को पुनः पुनः समझाने का प्रयास कर रहे हैं। काष्ठांगार पर विश्वास करने से अर्थात् उसे मन्त्री एवं सेनापति बना देने से अपना कार्य निर्विरोध-रीति से सधेगा या कार्य का नाश होगा? राज्य के महत्त्वपूर्ण अधिकार उसे दे देंगे तो अधिकार/सत्ता हमें वापिस मिलेगी या काष्ठांगार स्वयं ही सत्ताधीश बन बैठेगा? उसका हमारे जीवन पर क्या प्रभाव पड़ेगा? अभी तो आपकी आज्ञानुसार उसे नाचना पड़ता है। यदि उसकी आज्ञा ही प्रमुख हो जाएगी तो सुख की नींद भी दुर्लभ हो जाएगी।

इसलिए हे राजन्! दूरदृष्टि से अत्यन्त सावधानीपूर्वक हिताहित का पूर्ण विचार करके ही काष्ठांगार को राज्य सौंपना या नहीं सौंपना - इसका निर्णय करना योग्य है।

बुद्धि होनहार का अनुसरण करती है -

इति प्रबोधितोऽप्येष धुरि राज्ञां न्यवेशयत् ।

काष्ठाङ्गारमहोमोहात् बुद्धिः कर्मानुसारिणी ॥१९॥

अन्वयार्थ - (इति) इसप्रकार (प्रबोधितः) उपदेशित (अपि) भी (एषः) इस राजाने (अहो) खेद है कि (मोहात्) मोह से (काष्ठाङ्गारं) काष्ठांगार को (राज्ञां धुरि) राज्य के प्रमुख पद पर (न्यवेशयत्) बिठाया है।

[अत्र नीतिः] (बुद्धिः) बुद्धि (कर्मानुसारिणी) कर्म के अनुसार [भवति] होती है।

सरलार्थ - अत्यन्त खेद की बात है कि मन्त्रीगण द्वारा पूर्वोक्त प्रकार से राजा सत्यन्धर को हार्दिक हितबुद्धि से एवं अतिशय अनुनय-विनयपूर्वक समझाने पर भी मोह के वशीभूत होकर राजा ने काष्ठांगार को राज्य के सर्वोत्कृष्ट अधिकारी के पद पर नियुक्त कर ही दिया। कहा भी है कि मनुष्य की बुद्धि कर्म के अनुसार ही होती है।

विशेषार्थ - अनादि-निधन प्रकृति का स्वाभाविक नियम है कि जीव के मोह-राग-द्वेषादि परिणामों के निमित्त से नया कर्मबन्ध होता है। तदनन्तर कर्म के उदय के निमित्त से जीव के मोहादि परिणाम होते हैं। इस प्रक्रिया को संक्षेप में निम्नप्रकार से भी कह सकते हैं -- मोहादि परिणाम के अनुसार मति अर्थात् कर्मबन्ध होता है; जिससे भविष्य की घटनाएँ निश्चित होती हैं और एकबार मति के अनुसार कर्मबन्ध या भवितव्य निश्चित हुआ तो बाद में गति के अनुसार मति अर्थात् विचार/बुद्धि हो जाती है।

जैसे राजा श्रेणिक ने दिगम्बर मुनिराज श्री यशोधरस्वामी के गले में मरा हुआ सर्प डालने की पापबुद्धि की; फलस्वरूप नरक-आयु का बन्ध हुआ। फिर भावी गति के अनुसार मरते समय नरक जाने योग्य परिणाम हुए।

यहाँ पूर्वबद्ध कर्म के अनुसार राजा सत्यन्धर का भावी मनुष्य जीवन

दुःखमय निश्चित हुआ है। अतः भवितव्य के अनुसार उनकी विपरीत बुद्धि हुई। लोक में कहावत प्रसिद्ध है – विनाशकाले विपरीतबुद्धिः ।

विरागी और रागी जीवों की जीवन-पद्धति –

विषयान्धविचारेण विरक्तानां नृपस्य तु ।

प्रकृष्यमाणरागेण कालो विलयमीयिवान् ॥२०॥

अन्वयार्थ – (विरक्तानां) विषयों से विरक्त पुरुषों का (कालः) समय (विषयान्धविचारेण) विषयान्धता से अर्थात् विषयों से विरक्त रहकर (विलयं) व्यतीत (ईयिवान्) होता था (तु) और (नृपस्य) राजा का (कालः) समय (प्रकृष्यमाणरागेण) विषयों में बढ़ते हुए राग से (विलयं ईयिवान्) बीतता था।

सरलार्थ – विषयों से विरक्त सातिशय पुण्यवान जीव सदैव विषय-कषाय के परित्याग के उपायों की खोज में अपना समय लगाते हैं और आत्मिक-आनन्द का रसपान करते हैं; किन्तु विषयासक्त प्राणी सतत विषयों की चाह और विषय-प्राप्ति के उपायों में ही अपने दुर्लभ जीवन का अमूल्य समय नष्ट करते हैं। विषयासक्त राजा सत्यन्धर का जीवन बढ़ते हुए राग में ही व्यतीत हो रहा है।

विशेषार्थ – ‘रुचि/श्रद्धा के अनुसार वीर्य काम करता है’ – यह वस्तु का स्वभाव है। जिसकी श्रद्धा में त्रिकाली भगवान आत्मा ही उपादेयरूप से है, उसका जीवन शुद्ध रत्नत्रयमय स्वयमेव ही बनता है। उसके जीवन का प्रत्येक कार्य आत्म-साधना का पोषक ही होता है। उसकी बुद्धि सत्य-शोधक बनती है। उसका आचरण मिथ्यात्व, अन्याय, अनीति और अभक्ष्य से रहित एवं स्व-पर का हितकारक ही होता है। उसकी वाणी भी वीतरागता की पोषक होती है। वीतरागता के प्रति श्रद्धा रखनेवाले जीव का जीवन धर्मवर्धक होता है।

रागी जीव का मन विषयों का आनन्द प्राप्त करने में लगा रहता है। अतः

उसके पुरुषार्थ की गति पतन की ओर अग्रसर रहती हुई सदा निराशा को ही प्राप्त होती है। विषयासक्त पुरुष के परिणाम सदा दुर्वासना से दूषित होने से पापयुक्त ही रहते हैं।

राजा सत्यन्धर विषय-कषायों में अनुरक्त होकर अपना मनुष्यभव व्यर्थ ही नष्ट कर रहे हैं। उनकी विषयासक्ति दिन दूनी रात चौगुनी बढ़ रही है। विरागी और रागी जीवों के जीवन का स्वरूप ही ऐसा होता है।

रानी विजया का स्वप्न देखना -

सा तु निद्रावती स्वप्नमद्राक्षीत्क्षणदाक्षये ।

अस्वप्नपूर्वहि जीवानां न हि जातु शुभाशुभम् ॥२१॥

अन्वयार्थ - (तु) इसके अनन्तर (निद्रावती सा) नींद में सोई हुई उस विजया रानी ने (क्षणदाक्षये) रात्रि के अन्तिम समय में (स्वप्नं) स्वप्न (अद्राक्षीत्) देखा।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (जीवानां) मनुष्यों के (अस्वप्नपूर्व) बिना स्वप्न के (जातु) कभी भी (शुभाशुभं) शुभ और अशुभ कार्यों का प्रादुर्भाव (न) नहीं [भवति] होता है।



सरलार्थ – कुछ समय पश्चात् एक दिन रानी विजया ने सोते हुए रात्रि के अन्तिम प्रहर में कुछ स्वप्न देखे। यह सामान्य धारणा है कि मनुष्यों के स्वप्न बिना, कभी भी शुभ और अशुभकार्यों का प्रादुर्भाव नहीं होता है।

रानी विजया का स्वप्नों का फल पूछना –

वैभातिकविधेरन्ते विभोरन्तिकमीयुषी ।

अर्धासननिविष्टेयमभाषिष्ट च भूभुजः ॥२२॥

अन्वयार्थ – (वैभातिकविधेः) प्रातःकाल सम्बन्धी शौचादि कार्य के (अन्ते) अनन्तर (इयं) यह रानी (विभोः) अपने पति के (अन्तिकं) समीप (ईयुषी) आकर (अर्धासननिविष्टा) आधे आसन पर बैठकर (भूभुजः) राजा से अपने देखे हुए स्वप्नों के बारे में (अभाषिष्ट) बोली।

सरलार्थ – रानी प्रातःकाल सम्बन्धी शौचादि नित्यकर्मों से निवृत्त होकर राजदरबार में अपने पति के पास गई तथा सिंहासन के अर्धभाग पर बैठकर राजा से स्वप्नों का फल पूछने लगी।

स्वप्नों का फल –

श्रुत्वा स्वप्नत्रयं राजा ज्ञात्वा च फलमक्रमात् ।

प्रतिवक्तुमुपादत्त किञ्चिन्न्यञ्चन्मना भवन् ॥२३॥

अन्वयार्थ – (राजा) राजा सत्यन्धर (स्वप्नत्रयं) तीनों स्वप्नों को (श्रुत्वा) सुनकर (च) और (फलं) फल को (ज्ञात्वा) जानकर (अक्रमात्) क्रम भंग करके (किञ्चिन्न्यञ्चन्मना भवन्) दुःखित मन से (प्रतिवक्तुं) उत्तर (उपादत्त) देते हैं।

सरलार्थ – राजा, रानी के तीनों स्वप्नों को सुनकर और उनके फल को जानकर दुःखित मन से स्वप्नों का क्रम भंग करके कहने लगे।

अज्ञानी को अनिष्ट की आकुलता निरन्तर –

पुत्रमित्रकलत्रादौ सत्यामपि च सम्पदि ।

आत्मीयापायशङ्का हि शङ्कु प्राणभृतां हृदि ॥२४॥

अन्वयार्थ - [अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (पुत्रमित्रकलत्रादौ) पुत्र, मित्र, स्त्री आदिक (च) और (सम्पदि) धनादिक सम्पत्ति के (सत्यां) रहने पर (अपि) भी (आत्मीयापायेशङ्का) अपने विनाश की शंका (प्राणभृतां) प्राणधारियों के (हृदि) हृदय में (शङ्कु) कील की तरह सदा [दुःखं ददाति] दुःख देती है।

सरलार्थ - मनुष्य को पुत्र, मित्र, स्त्री आदि सचेतन इष्टजनों का संयोग और धन-सम्पत्ति, हवा-पानी, आरोग्य इत्यादि बाह्य अचेतन सुख-निमित्तक पदार्थों का संयोग उपलब्ध होने पर भी अपने अनिष्ट का भय सदा लगा ही रहता है; जो मनुष्य के हृदय में नुकीले काँटे के सदृश निरन्तर सालता/चुभता ही रहता है।

विशेषार्थ - मैं अनादि-अनन्त, शुद्ध, बुद्ध, अतीन्द्रिय आनन्दमय हूँ। ऐसे निज आत्मा का श्रद्धान न होने से, उसका स्वसंवेदनरूप ज्ञान एवं अनुभव न करने से अज्ञानी प्राणी अपनी अज्ञानता के कारण निरन्तर भयाक्रान्त रहता है।

भय तो अनेक प्रकार के हैं; पर उन्हें आचार्यों ने स्थूलरूप से सप्तभयों के नाम से अभिहित किया है। उनके नाम हैं - इहलोकभय, परलोकभय, मरणभय, वेदनाभय, अरक्षाभय, अगुप्तिभय और अकस्मात्भय। वर्तमान में राजा सत्यन्धर यद्यपि सभी भयों से ग्रसित हैं, फिर भी उन्हें अपने मरण का भय सबसे अधिक है।

इस मनुष्य भव में मनुष्य का मरण तो एकबार ही होता है; परन्तु मनुष्य अपने मरण के भय से निरन्तर दुःखी बना रहता है।

राजा सत्यन्धर भी प्रथम स्वप्न के निमित्त से अपना मरण जानकर, बाह्य सुख सामग्री की प्रचुरता के मध्य में भी अत्यन्त भयभीत हुए हैं। संयोग का स्वभाव ही वियोग में परिवर्तित होना है। संयोग कभी भी शाश्वत नहीं रहते। वे अपने पुण्य की मर्यादा पूर्ण होते ही वियोग को प्राप्त हो जाते हैं।

ज्ञानी तो संयोग-वियोगरूप नाटक के ज्ञाता ही रहते हैं; इसलिए सदा सुखी रहते हैं। अज्ञानी संयोगरूप पदार्थों को अपना मानते हैं और उन्हें सदैव

अपने पास रखना चाहते हैं। अतः उनके वियोग में और वियोग की शंका से सदैव दुःखी ही रहते हैं।

राजा द्वारा स्वप्नों के फल का अक्रम से कथन -

देवि ! दृष्टस्त्वया स्वप्ने बालाशोकः समौलिकः ।

आचष्टे सोदयं सूनुमष्टमालास्तु तद्वधूः ॥२५॥

अन्वयार्थ - (देवि) हे देवी ! (त्वया) तुम्हारे द्वारा (स्वप्ने) स्वप्न में (दृष्टः) देखा हुआ (समौलिकः) मुकुट सहित (बालाशोकः) छोटा अशोक वृक्ष (सोदयं) पुण्यशाली (सूनुं) पुत्र को (आचष्टे) कहता है (तु) और (अष्टमालाः) स्वप्न में देखी हुई आठ मालाएँ (तद्वधूः) पुत्र की आठ स्त्रियाँ होंगी - ऐसा कथन करती हैं।

सरलार्थ - हे रानी, स्वप्नों का फल सुनो ! आपने जो स्वप्न में मुकुट सहित छोटा, पर मनोहर अशोक वृक्ष देखा है, उसके फल में आपको एक भाग्यशाली पुत्ररत्न की प्राप्ति होगी एवं स्वप्न में जो आठ सुन्दर और सुगन्धित पुष्पमालाएँ देखी हैं, उसके फलस्वरूप आपका भाग्यशाली पुत्र आठ सुन्दर और सुशील कन्याओं का स्वामी होगा।

विशेषार्थ - रानी ने जो तीन स्वप्न देखे थे, उनमें प्रथम स्वप्न का फल अनिष्टकारक जानकर राजा ने क्रम भंग कर अगले दो स्वप्नों का फल तो रानी को स्पष्टरूप से समझा दिया; परन्तु प्रथम स्वप्न का फल जानबूझकर नहीं बताया।

रानी द्वारा राजा से प्रथम स्वप्न का फल पूछना -

आर्यपुत्र ततः पूर्वं दृष्टनष्टस्य किं फलम् ।

कङ्कलेरिति चेद्देवि कथयत्येष किञ्चन ॥२६॥

अन्वयार्थ - (आर्यपुत्र) हे आर्यपुत्र ! (ततः पूर्वं) इससे पहले (दृष्टनष्टस्य) दिखा और फिर नष्ट हो गया - ऐसे (कङ्कलेः) अशोक वृक्ष का (किं) क्या (फलं) फल है ? (देवि) हे देवी ! (इति चेत्) यदि ऐसा पूछती

हो तो (एषः) यह स्वप्न भी (किञ्चन) इसका ही कुछ (कथयति) कहता है, ऐसा समझो।

सरलार्थ – रानी विजया अत्यन्त विनय और विशेष जिज्ञासापूर्वक तथा कुछ भयाक्रान्त होकर राजा से पूछती है – “हे स्वामिन ! हे प्राणनाथ !! इन दो स्वप्नों के पहले जो स्वप्न आया था कि – ‘एक बड़ा अशोक वृक्ष दिखा और तत्काल नष्ट हो गया, उसका क्या फल होगा ? कृपा कर बताइए।’ उत्तर टालने की भावना से राजा अनिच्छापूर्वक कहते हैं कि “हे प्रिय ! आपका यह स्वप्न भी राजपुत्र और रानियों के विषय में ही कुछ कहता है, ऐसा समझो।”

विशेषार्थ – इस स्वप्न का फल राजा अपना मरण जानकर भी अपनी रानी को नहीं बताना चाहता था; परन्तु स्वप्नों का फल अक्रम से बताना एवं प्रथम स्वप्न का फल स्पष्ट न बताने के कारण रानी के मन में शंका उत्पन्न होना स्वाभाविक थी। रानी के प्रश्न का उत्तर देते समय राजा का मुख मलिन हो गया था, शब्दों में कुछ कम्पन भी उत्पन्न हुआ था।

रानी का मूर्च्छित होना –

इतीशवाक्यं शुश्रूषी महिषी भुवि पेतुषी ।

मूर्च्छिता तन्मुखग्लानेर्वक्त्रं वक्ति हि मानसम् ॥२७॥

अन्वयार्थ – (इति) इसप्रकार (ईशवाक्यं) स्वामी का वाक्य (शुश्रूषी) सुनकर (महिषी) पटरानी (तन्मुखग्लानेः) उनके मुख की मलिनता देखने से (भुवि) पृथ्वी पर (पेतुषी) गिरकर (मूर्च्छिता) मूर्च्छित [आसीत्] हो गई।

[अत्र नीतिः]

(हि) निश्चय से
(वक्त्रं) मुख
(मानसं) मन के
भावों को (वक्ति)
कह देता है।



सरलार्थ – इसप्रकार राजा के वचन सुनकर रानी विजया, राजा के मुख की मलिनता देख भयाक्रान्त हो मूर्च्छित होती हुई पृथ्वी पर गिर पड़ी। यह सच है कि मुख की आकृति मन के भावों को प्रगट कर देती है।

संकटकाल में महापुरुषों की मनःस्थिति –

तन्मोहान्मोहितो राजा तामेवायमबूबुधत् ।
सत्यामप्यभिषङ्गाती जागर्त्येव हि पौरुषम् ॥२८॥

अन्वयार्थ – (तन्मोहात्) रानी के मोह से (मोहितः) मोहित (अयं) राजा (तां एव) उसको ही (अबूबुधत्) सचेत करता है।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (अभिषङ्गाती) अकस्मात् दैवादिजन्य पीड़ा (सत्यां अपि) होने पर भी (पौरुषं) पुरुषार्थ (जागर्ति) जागता (एव) ही है।

सरलार्थ – विजया रानी के मोह से मोहित होने पर भी राजा सत्यन्धर अपनी रानी को शान्तिपूर्वक समझाते ही हैं, धैर्य नहीं छोड़ते; क्योंकि अकस्मात् अनिष्ट संयोगजन्य पीड़ा एवं दैवी संकट आने पर भी महापुरुषों का पुरुषार्थ जागृत ही रहता है।

विशेषार्थ – अनेक संकटों के साम्राज्य को ही संसार कहते हैं। विपत्ति के काल में भी सहज और शान्त रहना ही महापुरुषों का लक्षण है। राजा सत्यन्धर ने भी इससमय धैर्य का ही परिचय दिया तथा रानी को समझाने का प्रयास किया।

राजा का रानी को सम्बोधन –

स्वप्नदृष्टकृते सद्यो नष्टासुं किं तनोषि माम् ।
न हि रक्षितुमिच्छन्तो निर्दहन्ति फलद्रुमम् ॥२९॥

अन्वयार्थ – हे देवी ! (स्वप्नदृष्टकृते) स्वप्न देखने से (किं) क्यों (माम्) मुझको (सद्यः) तत्काल (नष्टासुं) मरा हुआ (तनोषि) समझती हो?

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (फलद्रुमं) फलवाले वृक्ष की (रक्षितुं इच्छन्तः) रक्षा करने की इच्छावाले पुरुष (तं) उसको (न निर्दहन्ति) नहीं जलाते हैं।

सरलार्थ – हे रानी ! स्वप्न देखने मात्र से तुम मुझे तत्काल मरा हुआ क्यों समझती हो ? फल सहित वृक्ष की रक्षा करने की भावना रखनेवाले लोग उस वृक्ष को जलाते नहीं हैं।

विशेषार्थ – रानी कुछ बोली नहीं, तब भी राजा ने रानी के मूर्छित होने का कारण तथा उसकी मनोदशा को जान लिया। अतः वे रानी को समझाते हैं कि – “हे देवी ! मात्र स्वप्न से ही मुझे मरा हुआ मत जानो। फल सहित वृक्ष दीर्घकाल तक बना रहे, चतुर लोग ऐसा ही प्रयास करते हैं। वैसे भी तुम रानी हो, मेरा जीवन दीर्घकाल तक बना रहे – ऐसा प्रयास करना ही तुम्हारा कर्तव्य है। बुद्धिमान लोग वर्तमान काल को सुखमय बनाने का प्रयत्न करते हैं। भविष्य की चिन्ता से वर्तमान को बिगाड़ना मूर्खता ही है। उठो ! सावधान हो जाओ।”

संकट परिहार के लिए शोक असमर्थ –

विपदः परिहाराय शोकः किं कल्पते नृणाम् ।

पावके न हि पातः स्यादातपक्लेशशान्तये ॥३०॥

अन्वयार्थ – [अत्र नीतिः] (विपदः) विपत्तियों को (परिहाराय) दूर करने के लिए (नृणां) मनुष्यों का (शोकः) शोक (किं) क्या (कल्पते) उचित है ? (हि) निश्चय से (आतपक्लेशशान्तये) गर्मी के क्लेश की शान्ति के लिए (किं) क्या (पावके) अग्नि में (पातः स्यात्) गिरा जाता है ? [अपि तु न स्यात्] नहीं, ऐसा नहीं किया जाता।

सरलार्थ – विपदाओं को दूर करने के लिए क्या मनुष्य का शोक समर्थ है ? बिलकुल नहीं है। शोक करने से संकट का परिहार नहीं होता। गर्मी से होनेवाले दुःख को दूर करने के लिए अग्नि में कूदना/ प्रवेश करना उचित उपाय नहीं है।

विशेषार्थ – संकट के समय प्रायः अज्ञानी मनुष्य शोक करने लगते हैं, जो व्यर्थ है; क्योंकि शोक करना संकट से मुक्ति का उपाय नहीं है। शोक तो स्वयं दुःखरूप है। शोक धैर्य प्रदान नहीं करता; अपितु मनोबल को गिराता है। शोक तो वर्तमान में दुःख दाता है ही और भविष्य में भी असातारूप कर्म बन्ध के फलस्वरूप दुःख ही देता है। वास्तव में देखा जाए तो अपने आत्मस्वरूप का विस्मरण ही संकट एवं विपत्तियों का मूलकारण है।

संकट परिहार का सही उपाय –

**ततो व्यापत्प्रतीकारं धर्ममेव विनिश्चिनु ।
प्रदीपैर्दीपिते देशे न हास्ति तमसो गतिः ॥३१॥**

अन्वयार्थ – [अत्र नीतिः] (किं) क्या (ततः) इसलिए निश्चय से (व्यापत्प्रतीकारं) आपत्ति के नाश का उपाय (धर्म एव) धर्म ही है (विनिश्चिनु) तू ऐसा निश्चय कर; (हि) क्योंकि (प्रदीपैः दीपिते) दीपकों से प्रकाशित (देशे) देश में (तमसः) अन्धकार की (गतिः) स्थिति (न अस्ति) नहीं होता।

सरलार्थ – वास्तव में समस्त आपत्तियों का नाशक एकमात्र धर्म ही है अर्थात् वस्तुस्वरूप का यथार्थ ज्ञान ही समस्त आपत्तियों का विनाशक है। जिसतरह दीपकों से प्रकाशित स्थान पर अन्धकार का प्रवेश ही नहीं होता है; उसीतरह धर्मरूपी दीपक के रहते हुए विपत्तिरूप अन्धकार नहीं रह सकता।

विशेषार्थ – ज्ञाता-ज्ञेय के परिप्रेक्ष्य में सोचा जाए तो सर्व द्रव्य मात्र ज्ञेय हैं। जैसे मुनिराज को उपसर्गादि ज्ञेय ही होते हैं अथवा जिसप्रकार सुदर्शन सेठ श्रावक को भी कामासक्त रानी मात्र ज्ञेय ही थी; उसीप्रकार ज्ञानी आपत्तियों को ज्ञेय की कोटि में डाल देते हैं, उनसे प्रभावित नहीं होते।

द्रव्य-गुण-पर्यायरूप वस्तु का यथार्थ चिन्तन ही दुःखों को दूर करने का सही उपाय है। मोहवशात् जब कोई अवस्था इष्टानिष्ट प्रतिभासित हो तो

विचार करो कि यह अवस्था तो नित्य रहनेवाली नहीं है – ऐसा चिन्तन ही जीवों के दुःखों को दूर कर देता है।

अनिष्ट प्रतिभासित होनेवाली अवस्था को इष्टरूप में परिवर्तित करने का विचार आपत्ति का सही प्रतिकार नहीं है; अपितु अपना दृष्टिकोण बदलना ही सच्चा उपाय है।

धर्म का अर्थ वीतरागता, शुद्धि, रत्नत्रय, समताभाव आदि करना उचित है। प्रशस्त रागभाव भी धर्म नहीं है, वह बन्ध का ही कारण है।

अज्ञानी की दुःख सम्बन्धी मान्यता –

इत्यादि स्वामिवाक्येन लब्धाश्वासा यथापुरम्।

पत्या साकमसौ रेमे दुःखचिन्ता हि तत्क्षणे ॥३२॥

अन्वयार्थ – (इत्यादिस्वामिवाक्येन) इसप्रकार स्वामी के वचनों से (लब्धाश्वासा) प्राप्त हुआ है विश्वास जिसको ऐसी (असौ) यह रानी (पत्या साकं) पति के साथ (यथापुरं) पहले की तरह (रेमे) रमण करने लगी।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (तत्क्षणे) दुःख के समय ही (दुःखचिन्ता) दुःख की चिन्ता [भवति] होती है।

सरलार्थ – राजा सत्यन्धर का उपर्युक्त प्रकार से उपदेश सुनकर रानी विजया सन्तोष को प्राप्त हुई तथा पूर्ववत् अपने पति के साथ आनन्द से जीवन बिताने लगी; क्योंकि अज्ञानियों को दुःख की चिन्ता दुःख के समय ही होती है।

विशेषार्थ – अज्ञानी को सचेत करने के लिए ही मानो उसके जीवन में संकट आते हैं; जिनसे कुछ अज्ञानी तो सचेत होकर अपना जीवन बदल लेते हैं एवं ज्ञानी बन जाते हैं और कुछ अज्ञानी रानी विजया जैसे अचेत ही बने रहते हैं, कुछ विचार ही नहीं करते; फलस्वरूप दुःखी हो जाते हैं।

संकट की सत्यता का प्रमाण -

अथ प्रबोधितं स्वप्नादप्रबुद्धममुं पुनः ।

बोधयन्तीव पत्नीयमन्तर्वत्नीधुरां दधौ ॥३३॥

अन्वयार्थ - (अथ) इसके पश्चात् (स्वप्नात्) स्वप्न से (प्रबोधितं) सचेत किया हुआ (पुनः अप्रबुद्धं) और फिर अचेत (अमुं) इस राजा को (बोधयन्ती) ज्ञान कराने के लिए ही (इव) मानो (इयं पत्नी) रानी विजया (अन्तर्वत्नीधुरां) गर्भ के भार को (दधौ) धारण करती है।

सरलार्थ - अशुभ स्वप्नों के विचार द्वारा रानी विजया ने राजा सत्यन्धर को मरण के संकट का प्रतिभास कराकर सचेत किया था; तथापि सत्यन्धर विषयानुराग में सब भूल गए। उन्हें पुनः बोध देने के लिए ही मानो विजया रानी ने गर्भ धारण किया।

विशेषार्थ - अपने मरण का निर्णय होने पर भी राजा सत्यन्धर उतने सचेत नहीं हुए, जितना कि होना चाहिए था। इसलिए ही मानो रानी के गर्भ ने मौत के नगाड़े बजाकर पुनः सचेत किया कि हे राजन ! चेत जाओ, सावधान हो जाओ, मृत्यु का समय अत्यन्त निकट आ गया है।

गर्भधारण से राजा को पश्चात्ताप -

सदोहलामिमां वीक्ष्य दुःस्वप्नफलनिश्चयात् ।

अनुशेते स्म राजायमात्मरक्षापरायणः ॥३४॥

अन्वयार्थ - (आत्मरक्षापरायणः) अपनी रक्षा में तत्पर (अयं राजा) यह राजा (सदोहलां) गर्भ के लक्षणों सहित (इमां) रानी को (वीक्ष्य) देखकर (दुःस्वप्नफलनिश्चयात्) खोटे स्वप्नों के फल के निश्चय से (अनुशेते स्म) पश्चात्ताप करने लगे।

सरलार्थ - प्रिय रानी विजया को गर्भवती जानकर राजा सत्यन्धर सावधान हुए और विचार करने लगे कि अशुभ स्वप्न का फल मेरा मरण ही है; ऐसा पक्का निर्णय करके वे अपनी रक्षा के लिए तत्पर हो गए और पश्चात्ताप भी करने लगे।

विशेषार्थ – भविष्य में घटनेवाली दुःखद घटना का मानो रानी के गर्भ ने वर्तमान में ही प्रतिभास करा दिया हो। अतः राजा सत्यन्धर अपना मरण निकट जानकर पश्चात्ताप के सागर में डूब गए।

राजा का पश्चात्ताप –

मन्त्रिणां लङ्घितं वाक्यमभाग्येन मया मुधा ।

विपाके हि सतां वाक्यं विश्वसन्त्यविवेकिनः ॥३५॥

अन्वयार्थ – (अभाग्येन) अभाग्य से (मया) मैंने (मन्त्रिणां) मन्त्रियों के (वाक्यं) वचनों का (मुधा) वृथा (लङ्घितं) उल्लंघन किया।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (अविवेकिनः) विवेकरहित पुरुष (विपाके) अन्त समय में अर्थात् दुःख मिलने पर (सतां) सज्जनों के (वाक्यं) वाक्यों का (विश्वसन्ति) विश्वास करते हैं।

सरलार्थ – अरे रे ! मुझ भाग्यहीन ने मेरे शुभचिन्तक मन्त्रियों के सर्वोत्तम शुभ विचारों का बिना कारण/व्यर्थ ही उल्लंघन किया। यह सच है कि संकट सामने आने पर विवेकशून्य व्यक्ति भी सज्जनों के विचारों का विश्वास करने लगते हैं।

विशेषार्थ – सज्जनों की अत्यन्त हितकारी मन्त्रणा को समय पर सहर्ष स्वीकार नहीं करना ही विवेकहीन मनुष्यों का लक्षण है। इसका साक्षात् उदाहरण राजा सत्यन्धर है। मित्रों की मन्त्रणा को समय पर न मानना, और सुअवसर खो देना पश्चात्ताप के कारण बनते हैं। 'अब पछताए होत क्या, जब चिड़ियाँ चुग गईं खेत'। समय चूकने पर किया गया पश्चात्ताप समस्या का समाधान नहीं है। वास्तव में देखा जाए तो कार्य बिगड़ जाने के बाद पश्चात्ताप करने के बदले पूर्व में ही, समय रहते सावधान हो जाना ही श्रेयस्कर है।

पश्चात्ताप की निरर्थकता –

न ह्यकालकृता वाञ्छा सम्पुष्पाति समीहितम् ।

किं पुष्पावचयः शक्यः फलकाले समागते ॥३६॥

अन्वयार्थ - [अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (अकालकृता) असमय में की गई (वाञ्छा) इच्छा (समीहितं) इच्छित कार्य को (न सम्पुष्पाति) पूर्ण नहीं करती है। जैसे (फलकाले समागते) फल लगने का समय आ जाने पर (किं) क्या (पुष्पावचयः शक्यः) फूलों का ढेर इकट्ठा किया जा सकता है ? [अपि तु न शक्यः] बिलकुल नहीं किया जा सकता।

सरलार्थ - जैसे वृक्ष में फल लग जाने पर फूलों का संग्रह सम्भव नहीं है; उसीप्रकार असमय में की गई इच्छा, वांछित/अपेक्षित कार्य को सिद्ध करने में समर्थ नहीं है।

विशेषार्थ - प्रकृति का यह शाश्वत एवं स्वाभाविक नियम है कि वृक्ष में फल लगने के पूर्व ही पुष्प लगते हैं। जब फल लगते हैं तब पुष्प नहीं होते हैं। फल लग जाने पर पुष्पों का संग्रह करना कैसे सम्भव है ? राजा सत्यन्धर भी फल के समय पर पुष्पों की अपेक्षा कर रहे हैं। असमय पर हुआ अपराध-बोध सर्वथा निरर्थक/निष्फल है।

राजा सत्यन्धर का वंश-रक्षार्थ प्रयास -

इत्यातो वंशरक्षार्थं केकियन्त्रमचीकरत् ।

आस्था सतां यशःकाये न ह्यस्थायिशरीरके ॥३७॥

अन्वयार्थ - [अत्र नीतिः] (इति) इसप्रकार (आर्तः) दुःख से पीड़ित राजा ने (वंशरक्षार्थं) वंश की रक्षा के लिए (केकियन्त्रं) मयूराकृति यन्त्र (अचीकरत्) बनाया।

(हि) निश्चय से (सतां आस्था) सज्जनों की आस्था (यशःकाये) यशरूपी शरीर में ही [भवति] होती है। (अस्थायिशरीरके) नाशवान पुरुषाकार जड़ शरीर में [न भवति] नहीं होती।

सरलार्थ - पूर्वोक्त प्रकार से दुःख से पीड़ित होकर राजा सत्यन्धर ने अपने वंश की रक्षा के लिए मयूराकृति यन्त्र (विमान) बनाया; क्योंकि सज्जन पुरुषों की श्रद्धा यशरूपी शरीर में ही होती है, नश्वर शरीर में नहीं।

विशेषार्थ – सज्जन पुरुष अपने नश्वर शरीर से भी अधिक महत्त्व अपने जीवन की स्थायी सफलता को देते हैं अर्थात् उनकी वांछा रहती है कि मृत्यु के बाद भी मेरा काम और नाम बना रहे। युद्धभूमि में यह प्रत्यक्ष देखा जाता है कि वीर योद्धा अपने नश्वर शरीर की सदा उपेक्षा ही करते हैं।

इससमय राजा सत्यन्धर ने भी अपने मरण की चिन्ता न करते हुए अपनी गर्भवती रानी और उससे उत्पन्न होनेवाली सन्तान की सुरक्षा कैसे की जाए, इसकी विशेष चिन्ता की; क्योंकि रानी की रक्षा से ही उसके वंश की रक्षा होगी; इसका राजा को पूर्ण विश्वास था।

रानी की दोहलक्रीड़ा -

आक्रीडे दोहदक्रीडामनुभोक्तुं विशाम्पतिः।

व्यजीहरच्च यन्त्रस्थां पत्नीं वर्त्मनि वार्मुचाम् ॥३८॥

अन्वयार्थ – (च) फिर (विशाम्पतिः) राजा (दोहदक्रीडां) दोहल क्रीडाओं का (अनुभोक्तुं) अनुभव कराने के लिए (आक्रीडे) क्रीड़ोद्याने में (यन्त्रस्थां) मयूर यन्त्र में बैठी हुई (पत्नीं) विजया रानी को (वार्मुचां) मेघों के (वर्त्मनि) मार्ग अर्थात् आकाश में (व्यजीहरत्) विहार कराने लगे।

सरलार्थ – मनोवांछित क्रीड़ा का आनन्द लेने हेतु गर्भवती रानी विजया को राजा सत्यन्धर राजोद्यान में ले गए और वहाँ रानी की इच्छानुसार अनेक क्रीड़ाएँ करने के पश्चात् रानी को नवनिर्मित मयूराकृति यन्त्र (एक प्रकार का विमान) में बिठा कर आकाश में उड़ने का अभ्यास कराया।



विशेषार्थ –
सामान्यतः यह
प्रत्यक्ष जाना जाता

है कि गर्भवती महिलाओं के कुछ न कुछ दोहले/विशेष इच्छाएँ हुआ करती हैं; यह स्वाभाविक नियम है। यह दोहले किसी न किसी हिताहित के सूचक माने जाते हैं। गर्भवती विजया रानी को भी आकाश में विचरण/विहार करने का दोहला उत्पन्न हुआ। अतः राजा ने यथोचित व्यवस्था की। पत्नी की इच्छाओं की पूर्ति करना पति का कर्तव्य है, तभी तो उन्हें नाथ कहा जाता है।

कृतघ्नी काष्ठांगार का कुविचार -

तावतैव कृतघ्नाख्यां राजघाख्यां च साधयन् ।

स्वविधेयां भुवं चेति काष्ठाङ्गारो व्यचीचरत् ॥३९॥

अन्वयार्थ - (तावता एव) उससमय ही (कृतघ्नाख्यां) कृतघ्नता (च) और (राजघाख्यां) 'राज-घातक' की संज्ञा को (साधयन्) सिद्ध करता हुआ (च) और (भुवं) पृथ्वी को (स्वविधेयां) अपने आधीन करने की (इच्छन्) इच्छा से (काष्ठाङ्गारः) काष्ठांगार ने (इति) यह (व्यचीचरत्) विचार किया।

सरलार्थ - जिससमय राजा सत्यन्धर रानी को आकाश में भ्रमण/विहार करा रहा था, उसी समय कृतघ्न तथा राज-घातक नाम को सत्य सिद्ध करनेवाला एवं राज्यसत्ता का निरंकुश इच्छुक काष्ठांगार विचार करने लगा।

विशेषार्थ - पाप या पुण्यरूप विचार पहले मन में उत्पन्न होते हैं और तत्पश्चात् आचरण में उतरने लगते हैं। अब कृतघ्न काष्ठांगार का मन बिगड़ने लगा।

पराधीन जीवन से मरण श्रेष्ठ -

जीवितात्तु पराधीनाज्जीवानां मरणं वरम् ।

मृगेन्द्रस्य मृगेन्द्रत्वं वितीर्णं केन कानने ॥४०॥

अन्वयार्थ - [अत्र नीतिः] (पराधीनात्) पराधीन (जीवितात् तु) जीवन से तो (जीवानां) प्राणियों का (मरणं) मरण (वरं) श्रेष्ठ है।

(कानने) वन में (मृगेन्द्रस्य) सिंह को (मृगेन्द्रत्वं) सिंहपना (वन के पशुओं का स्वामित्व) (केन) किसने (वितीर्ण) दिया है ? [स्वपुरुषार्थेन एव सम्पादितं] अपने पुरुषार्थ से ही उसने प्राप्त किया है।

सरलार्थ – पराधीन रहकर जीवन जीने की अपेक्षा जीवों को मरण ही श्रेष्ठ लगता है; वन में सिंह को वनचरों का स्वामी किसने बनाया ? किसी ने नहीं। सिंह तो स्वयमेव अपने पुरुषार्थ से ही स्वामी बन जाता है।

विशेषार्थ – वैसे तो काष्ठांगार अनेक वर्षों से राज्य शासन का संचालन कर ही रहा था; किन्तु राजा सत्यन्धर का अंकुश उसे काँटे की तरह सतत सालता ही रहता था। पराधीन सपने सुख नहीं का प्रत्यक्ष अनुभव उसे अत्यन्त दुःखदायी लग रहा था। वह सोचता है कि पराधीन जीवन से तो मरण ही श्रेष्ठ है। अतएव क्यों न राजा सत्यन्धर की जीवन-लीला ही समाप्त कर दी जाए और स्वयं निष्कण्टक राज्य प्राप्त कर लिया जाए ? सिंह को जंगल का राजा किसने बनाया, वह स्वयं ही बना है न ! फिर मैं किसी की कृपा से सत्ता क्यों सँभालूँ ? इसतरह उसके मन में नाना प्रकार के कुटिल विचार उत्पन्न होने लगे।

काष्ठांगार की कुटिलता –

अचीकथच्च मन्त्रिभ्यो राजद्रोहो विधीयताम् ।

इति राजद्रुहा नित्यं दैवतेनाभिधीयते ॥४१॥

अन्वयार्थ – (राजद्रोहः विधीयतां) राजा के साथ द्रोह करो, ऐसा (राजद्रुहा) राजा से द्रोह करनेवाला (दैवतेन) देवता (नित्यं) नित्य ही मुझसे (अभिधीयते) कहता है। (इति) इसप्रकार (सः) उसने (मन्त्रिभ्यः) मन्त्रियों से (अचीकथत्) कहा।

सरलार्थ – एक दिन राजदरबार में काष्ठांगार ने मन्त्रियों से कहा कि – राजद्रोही देव मुझसे नित्य ही कहता रहता है कि तुम राजा सत्यन्धर के साथ द्रोह करो। आप लोग ही बताइए मैं क्या करूँ ?

विशेषार्थ – संसार में सज्जन को ही देव या धर्म का आश्रय आवश्यक नहीं रहता; अपितु दुर्जन मनुष्य भी देव और धर्म का आश्रय लेकर अपना मनोरथ सिद्ध करना चाहते हैं; क्योंकि देव या धर्म के आश्रय बिना उनको अपना दुष्ट अभिप्राय सफल बनाने में यश नहीं मिल पाता है। अतः काष्ठांगार ने भी एक 'राजद्रोही' देव की परिकल्पना कर ली।

राजद्रोही देव के कथन पर विचार –

स्वन्तं किं नु दुरन्तं वा किमुदर्कं वितर्क्यताम् ।

अतर्कितमिदं वृत्तं तर्करूढं हि निश्चलम् ॥४२॥

अन्वयार्थ – (स्वन्तं) इसका अन्त अच्छा है (किं नु) अथवा (दुरन्तं) बुरा है ? (किं उदर्कं) इसका क्या परिणाम होगा ? (वितर्क्यतां) इस विषय का तुम विचार करो। (इदं वृत्तं) यह वृत्तान्त अभी तक (अतर्कितं) बिना विचार किया हुआ है।

[अत्र नीतिः] जब यह विचार (हि) निश्चय से (तर्करूढं) तर्क पर चढ़ेगा, तब ही (निश्चलं) स्थिर/निश्चित (भवेत्) हो जाएगा।

सरलार्थ – काष्ठांगार ने कहा – हे मन्त्रीगण ! मुझे जो 'राजद्रोही देवता' राजा सत्यन्धर के साथ द्रोह करने की प्रेरणा दे रहा है; उसका अच्छा-बुरा क्या परिणाम होगा ? उस पर आप विचार कीजिए; क्योंकि इस बात पर अभी तक मैंने विचार नहीं किया है। तर्क के आधार से हिताहित का विचार करने पर ही कोई भी नई योजना निश्चित होती है।

विशेषार्थ – मायाचारी मनुष्य अपने कुकृत्यों की पुष्टि दूसरों से कराना चाहता है और स्वयं को निर्दोष सिद्ध करना चाहता है। मायाचारी का प्रत्येक कार्य कपट से भरा हुआ ही रहता है।

काष्ठांगार की और कुटिलता –

जिहेमि वक्तुमप्येतदुक्तिर्देवभयादिति ।

मनस्यन्यद्वचस्यन्यत्कर्मण्यन्यद्धि पापिनाम् ॥४३॥

अन्वयार्थ – काष्ठांगार कहता है कि (अहं) मैं तो (एतत् वक्तुं अपि) यह कहते हुए भी (जिह्मेमि) लज्जित हूँ; किन्तु (दैवभयात् इति उक्तिः) देवता के भय से मैंने यह कहा है।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (पापिनां) पापियों के (मनसि) मन में (अन्यत्) कुछ होता है और (वचसि अन्यत्) वचन में कुछ होता है और (कर्मणि अन्यत्) कृति में कुछ अन्य ही होता है।

सरलार्थ – काष्ठांगार पुनः कहने लगा – “राजद्रोह के इस विचार को कहते हुए मैं स्वयं अत्यन्त लज्जा का अनुभव कर रहा हूँ; तथापि राजद्रोही देवता के भय से आपके समक्ष कहने को मजबूर होना पड़ रहा है।” कुटिलाचारियों के मन में कुछ होता है, वे वचन से कुछ अन्य कहते हैं और शरीर से कुछ दूसरा ही कार्य करते हैं।

विशेषार्थ – दुष्ट काष्ठांगार के सभी क्रिया-कलाप मायाचारी के सर्वोत्कृष्ट प्रतीक हैं। दृढ़ मिथ्यात्व के सान्निध्य में विद्यमान अनन्तानुबन्धी के तीव्र कषायोदय के कारण ऐसे ही परिणाम होते हैं।

काष्ठांगार के कथन का परिणाम –

तद्वाक्याद्वाच्यतो वंश्या यमिनः प्राणिहिंसनात् ।

क्षुद्रा दुर्भिक्षतश्चैवं सभ्याः सर्वे हि तत्रसुः ॥४४॥

अन्वयार्थ – (तद् वाक्यात्) काष्ठांगार के इन वचनों से (वंश्यां) कुलीन पुरुष तो (वाच्यतः) निन्दा से (यमिनः) संयमी पुरुष (प्राणीहिंसनात्) जीवों की हिंसा से (क्षुद्राः) सामान्यजन (दुर्भिक्षतः) अकाल से (तत्रसुः) डर गए। (एवं) इसप्रकार काष्ठांगार के इस कुटिल व्यवहार से (सर्वे सभ्याः तत्रसुः) सम्पूर्ण सभ्य पुरुष भययुक्त हो गए।

सरलार्थ – काष्ठांगार के इन राजद्रोही वचनों को सुनकर कुलीन पुरुष तो भविष्य में होनेवाली निन्दा से, संयमी पुरुष हिंसा से और सामान्य पुरुष अकाल की शंका से अतिशय भयभीत हो गए। इसप्रकार सम्पूर्ण प्रजा भयाक्रान्त हो गई।

विशेषार्थ – यहाँ कारण तो एक 'राजद्रोही' का वचन है और उसका परिणाम भिन्न-भिन्न लोगों पर उनकी मनोदशा के अनुसार भिन्न-भिन्न ही हुआ।

यह घटना सिद्ध करती है कि किसी भी कार्य में निमित्त कुछ भी नहीं करता है। यदि निमित्त में अपनी ओर से कुछ करके दिखाने की शक्ति होती तो एक ही 'राजद्रोह' के विचार से अनेक व्यक्तियों के अलग-अलग विचार क्यों होते ? सब के एक जैसे समान परिणाम होने चाहिए थे।

प्रत्येक द्रव्य अपनी-अपनी योग्यता से स्वयं को जैसा परिणमना है, वैसा ही परिणमता है और उससमय उस परिणमन/कार्य के लिए जो अनुकूल होता है, उसे निमित्त कहने का व्यवहार जगत में सदा से ही चला आया है।

समवशरण में एक ही तीर्थकर भगवान विराजमान रहते हैं। उनके दर्शन और उपदेश का निमित्त पाकर कोई मुनि, कोई ब्रती श्रावक, कोई सम्यग्दृष्टि अथवा कोई स्वयं अरहन्त भगवान भी हो जाते हैं तो उन्हें किसने बनाया ? तीर्थकर भगवान यदि किसी को बनाते अथवा किसी का परिवर्तन कराने में समर्थ होते तो सबको अरहन्त भगवान ही बनाते।

प्रत्येक जीव अपनी पात्रता और पुरुषार्थ से जो बनना शक्य है, बन जाता है/हो जाता है। भगवान तो निमित्त मात्र हैं, वे किसी को नहीं परिणमाते। ऐसा वस्तु का यथार्थ स्वरूप जानकर बाह्य वस्तु से अपना लक्ष्य हटाकर हमें निज शुद्धात्मा के सन्मुख होना चाहिए।

स्वामीभक्त सेवक का स्वरूप –

आत्मघ्नीं धर्मदत्ताख्यः सचिवो वाचमूचिवान् ।

गाढा हि स्वामिभक्तिः स्यादात्मप्राणानपेक्षिणी ॥४५॥

अन्वयार्थ – उससमय (धर्मदत्त आख्यः) धर्मदत्त नाम के (सचिवः) मन्त्री ने (आत्मघ्नीं) अपनी जान को जोखिम में डालनेवाली (वाचं) वाणी (ऊचिवान्) कही।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (गाढा स्वामिभक्तिः) स्वामी की अतिशय भक्ति (आत्मप्राणानपेक्षिणी) अपने प्राणों की परवाह नहीं करनेवाली (स्यात्) होती है।

सरलार्थ – तब धर्मदत्त नामक मन्त्री ने अपने प्राणों की चिन्ता न करते हुए निम्नप्रकार वचन कहे; क्योंकि स्वामीभक्त व्यक्ति अपने स्वामी की रक्षा के लिए अपने प्राणों की भी परवाह नहीं करता।

विशेषार्थ – राग अन्धा होता है, वह भले ही किसी के भी सम्बन्ध में क्यों न हो। अतः भावी संकट का विचार किए बिना ही धर्मदत्त मन्त्री ने राजा सत्यन्धर के प्रति श्रद्धा व्यक्त करते हुए अपने विचार व्यक्त किए।

राजा, प्रजा का प्राण होता है –

राजानः प्राणिनां प्राणास्तेषु सत्स्वेव जीवनात्।

तत्तत्र सदसत्कृत्यं लोक एव कृतं भवेत् ॥४६॥

अन्वयार्थ – [अत्र नीतिः] उसने कहा – (राजानः) राजा लोग (प्राणिनां) प्राणियों के (प्राणाः) प्राण हैं; क्योंकि (तेषु सत्सु एव) उनके रहने पर ही (जीवनात्) प्राणियों का जीवन है। (तत्) इसलिए (तत्र) राजा पर किया हुआ (सदसत्कृत्यं) अच्छा-बुरा कर्म (लोकः एव कृतं भवेत्) प्रजा पर ही किया हुआ होता है।

सरलार्थ – धर्मदत्त मन्त्री ने काष्ठांगार को समझाते हुए कहा – ‘राजा प्रजा के प्राण होते हैं। राजा के सकुशल होने पर ही प्रजा का जीवन सुखमय रहता है; अतएव राजा के सम्बन्ध में किया हुआ कोई अच्छा अथवा बुरा कार्य जनता-जनार्दन के प्रति ही किया हुआ होता है।’

विशेषार्थ – राजा के निमित्त से प्रजा का दैनिक जीवन शान्तिमय/सुखमय रहता है। राजा का निमित्त न हो तो नैमित्तिक कार्य-प्रजा के शान्तिमय/सुखमय जीवन का अभाव रहता है। इसप्रकार निमित्त की मुख्यता से राजाओं पर किया गया अच्छा-बुरा व्यवहार जनता के प्रति ही किया हुआ समझना चाहिए।

राजद्रोह में पाँचों पाप समाहित -

एवं राजद्रुहां हन्त सर्वद्रोहित्व-सम्भवे ।

राजधुगेव किं न स्यात् पञ्चपातकभाजनम् ॥४७॥

अन्वयार्थ - [अत्र नीतिः] (एवं) इसप्रकार (राजद्रुहां) राजद्रोही पुरुषों के द्रोह में (सर्वद्रोहित्वसम्भवे) सम्पूर्ण पुरुषों का द्रोहपना सम्भव होने पर (हन्त) खेद है (किं) क्या (राजधुग् एव) राजद्रोही ही (पञ्चपातक-भाजनं) पाँच महापापों का करनेवाला (न स्यात्) नहीं होता है ? [किन्तु स्यादेव] किन्तु अवश्य ही होता है ।

सरलार्थ - पूर्व श्लोक में युक्तिपूर्वक कहे गए 'राजद्रोह' रूप एक पाप में समस्त जनता के साथ द्रोह करना समाहित है; अतएव एक राजद्रोही पापी समस्त हिंसादि पाँच पापों को करनेवाला सिद्ध होता है ।

विशेषार्थ - राजद्रोह में राजा को मारना आ गया, इसका अर्थ 'हिंसा' पाप तो हो ही गया । जैसे पुद्गल के स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण - इन चार विशेष गुणों में से कोई भी एक गुण जहाँ हो, वहाँ अन्य तीन गुण कदाचित् अज्ञानियों के ज्ञान में स्पष्ट भासित न होते हों तो भी वहाँ शेष तीन गुण अवश्य होते हैं; जैसे ही जहाँ पाँच पापों में से एक ही पाप हो रहा हो तो भी वहाँ अन्य चार पाप नियम से होते ही हैं ।

राजा परम देव है -

रक्षन्त्येवात्र राजानो देवान्देहभृतोऽपि च ।

देवास्तु नात्मनोऽप्येवं राजा हि परदेवता ॥४८॥

अन्वयार्थ - [अत्र नीतिः] (अत्र) इस लोक में (राजानः) राजा लोग (एव) ही (देवान्) देव (च) और (देहभृतोऽपि) अन्य प्राणियों की भी (रक्षन्ति) रक्षा करते हैं; परन्तु (देवाः) देवता (आत्मनोऽपि) अपनी भी (न रक्षन्ति) रक्षा नहीं करते हैं । (एवं) इसलिए (राजा हि परदेवता) राजा ही निश्चय से उत्कृष्ट देवता है ।

सरलार्थ – स्वामीभक्त धर्मदत्त राज्यसभा में ही काष्ठांगार को सत्यस्वरूप समझाने का प्रयास कर रहे हैं – ‘इस जगत में राजा लोग ही देवों और प्राणियों की रक्षा करते हैं; किन्तु देव स्वयं की भी रक्षा नहीं करते हैं। इसप्रकार राजा ही परम देव है। अतः आप राजा सत्यन्धर के विषय में अन्यथा मत सोचिए।’

विशेषार्थ – ‘राजा देवों की रक्षा करते हैं’ – इसका अर्थ वीतराग देव की मूर्तियाँ धर्म-साधन के प्रमुख अंग हैं, जिनका निर्माण और सुरक्षा करना राजा का उत्तरदायित्व है। अतः जिन देवताओं की मूर्तियों में प्राण-प्रतिष्ठा की जाती है – ऐसी मूर्तियों की रक्षा का उत्तरदायित्व भी राजाओं का होता है तथा ‘राजा प्राणियों की रक्षा करते हैं’ – यह तो स्पष्ट ही है; क्योंकि सुचारु राज्य व्यवस्था में ही मनुष्य और पशुओं का जीवन सुरक्षित रहता है; क्योंकि उनके माता-पिता राजा ही हैं।

‘देव अपनी स्वयं की भी रक्षा नहीं करते’ अर्थात् मन्दिरों में प्रतिष्ठित धातु-पाषाण की देव-मूर्तियाँ स्वयं की रक्षा कहाँ करती हैं ? दुष्टों और चोरों से उनकी सुरक्षा राजा लोग ही करते हैं; अतः राजा ही परम देव है।

राजद्रोह महा-अनर्थकारी –

किञ्चात्र दैवतं हन्ति दैवतद्रोहिणं जनम् ।

राजा राजद्रुहां वंशं वंश्यानन्यच्च तत्क्षणे ॥४९॥

अन्वयार्थ – [अत्र नीतिः] (किञ्च अत्र) और इस लोक में (दैवतं) देवता (दैवतद्रोहिणं जनं) अपने से द्रोह करनेवाले मनुष्य को (हन्ति) मारते हैं; परन्तु (राजा) राजा (राजद्रुहां) राजद्रोहियों के (वंशं) कुल और (वंश्यान्) वंश के मनुष्यों को (च) भी (अन्यत्) एवं उनकी धन सम्पत्ति आदि को भी (तत्क्षणे) उसी समय (हन्ति) नाश कर देता है।

सरलार्थ – धर्मदत्त पुनः समझाते हैं – इतना ही नहीं, और भी सुनो ! इस दुनिया में व्यन्तरादि देव तो मात्र अपने से द्रोह करनेवाले लोगों को ही

दुःख देते हैं; किन्तु राजा तो राजद्रोही के साथ ही उसके वंशजों और सम्बन्धियों एवं उनके धन-सम्पत्ति आदि सबका भी नाश कर देता है।'

विशेषार्थ – “देव, देवद्रोही को दुःख देते हैं, उनका नाश कर देते हैं”

– इसका भावार्थ यहाँ देव का अर्थ भवनवासी और व्यन्तरवासी हीन-पुण्यवान् देवों से है, देवाधिदेव अरहन्त एवं सिद्ध भगवन्तों से नहीं। ये देवगति के देव रागी-द्वेषी ही होते हैं। उनके मन में पूर्व जन्म के सम्बन्ध के कारण किसी मनुष्य से राग-द्वेष रह सकता है। अवधिज्ञान से वे देव जिसे शत्रु मानते हैं, उसके पाप कर्म का उदय हो और देव विशेष सामर्थ्यवान् हो तथा उसे पूर्व-शत्रुता का स्मरण आ जाए तो कदाचित् किसी का बुरा करने में निमित्त हो सकते हैं।

निमित्त होते हैं इसका अर्थ – जब किसी मनुष्य को अपने पाप कर्म के उदय से मोहवश दुःख होता रहता है, उससमय देव भी वहाँ पास में उपस्थित रहते हैं, दुःख में निमित्त कुछ कार्य करते हैं, ऐसा स्थूलदृष्टि से अर्थात् संयोग के कारण लगता है, इसे ही निमित्त है – ऐसा कहते हैं। वस्तुस्थिति देखी जाए तो देव कुछ दुःख देते नहीं। कोई किसी का अच्छा-बुरा कर ही नहीं सकता। यह जिनेन्द्र कथित धर्म का मूल मर्म है।

राजा राजद्रोह करनेवाले मनुष्य का, उसके वंश के सभी लोगों और उसके धनादि का भी तत्काल ही नाश करने में निमित्त हो सकते हैं। अतः देवद्रोह से राजद्रोह भ्रमा-अनर्थकारी है; अतएव राजद्रोह करने का आपका विचार विनाशकारी है। इसलिए आप ऐसा मत कीजिए। इसप्रकार स्वामीभक्त मन्त्री धर्मदत्त कृतघ्न काष्ठांगार को समझाते हैं।

राजा का अग्नि के समान उपयोग करें –

अर्थिनां जीवनोपायमपायं चाभिभाविनाम् ।

कुर्वन्तः खलु राजानः सेव्या हव्यवहा यथा ॥५०॥

अन्वयार्थ – [अत्र नीतिः] (अर्थिनां) अर्थीजनों के (जीवनोपायं) जीवन की रक्षा (च) और (अभिभाविनां) प्रजा को दुःख देनेवाले शत्रुओं

कां (अपायं) नाश (कुर्वन्तः) करनेवाले (राजानः) राजा लोग (खलु) निश्चय से (हव्यवहा यथा) हवन की अग्नि की तरह (सेव्याः) आदर से सेवा करने योग्य हैं।

सरत्नार्थ – धन-सम्पत्ति एवं सुख-सुविधा की अपेक्षा रखनेवालों के लिए राजा का अनुग्रह जीवन जीने के लिए सर्वोत्तम उपाय है। राजा का तिरस्कार करनेवालों के नाश करने में भी वह समर्थ है। वास्तव में देखा जाए तो राजा हवन की अग्नि के समान सेवन करने योग्य है।

विशेषार्थ – दुष्ट काष्ठांगार को नीतिवान धर्मदत्त बारम्बार समझा रहे हैं— जैसे जो लोग अग्नि के अधिक निकट जाते हैं, वे जल जाते हैं और जो अग्नि से अति दूर रहते हैं, वे उसका उपयोग नहीं कर पाते हैं अर्थात् अग्नि से मिलनेवाले रसोई बनाना आदि लाभों से वंचित रहते हैं।

उसीप्रकार जो राजा के अत्यधिक निकट जाते हैं अथवा उनका तिरस्कार करते हैं, उनका नाश सुनिश्चित है। यदि हम राजा का विशिष्ट सान्निध्य प्राप्त नहीं करेंगे तो राजा से सत्ता, सम्पत्ति, सत्कारादि प्राप्त नहीं कर पाएँगे। अतः आपके लिए भी राजा हवन की अग्नि के समान सेवन योग्य है; अतएव आप राजद्रोह न करें – यह हमारी सुखदायक सलाह है।

कृतघ्न काष्ठांगार पर हितोपदेश का विपरीत प्रभाव –

इति धर्म वचोऽप्यासीन्मर्मभित्तीव्रकर्मणः ।

पित्तज्वरवतः क्षीरं तिक्तमेव हि भासते ॥५१॥

अन्वयार्थ – (तीव्रकर्मणः) दुष्टकर्मवाले काष्ठांगार को (इति) इसप्रकार (धर्म वचः अपि) धर्मयुक्त वचन भी (मर्मभित्) मर्मछेदी/हृदयविदारक (आसीत्) लगे।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (पित्तज्वरवतः) पित्तज्वरवाले मनुष्य को (क्षीरं) मधुर दुग्ध (तिक्तं) कड़वा (एव) ही (भासते) लगता है।

सरलार्थ – जिसप्रकार मीठा दूध भी पित्तज्वरवाले मनुष्य को नियम से कड़वा ही लगता है; उसीप्रकार धर्मदत्त मन्त्री की उपर्युक्त शिक्षा भी पापी काष्ठांगार को हितकर प्रतीत नहीं हुई।

विशेषार्थ – जिनका भविष्य में अनिष्ट होना है, उन्हें हितकर उपदेश भी दुःखद लगता है, यह स्वाभाविक है। भविष्य में काष्ठांगार की हत्या होनेवाली है; अतः उसके लिए हित की बात भी अनुकूल कैसे लग सकती है ? अतः धर्मदत्त का हितोपदेश भी काष्ठांगार को हृदयविदारक लगा।

आध्यात्मिक दृष्टि से देखा जाए तो निमित्त की मुख्यता से कथन करते समय ज्ञानी भी यही कहेगा कि ज्वर के कारण मीठा दूध कड़वा लगता है। ऐसा कहने और जानने में कुछ दोष नहीं है; क्योंकि निमित्त की मुख्यता से वस्तुस्वरूप भी ऐसा ही है। परन्तु वस्तुस्वरूप के निकट जाकर देखें तो यह कहा जाएगा कि उस द्रव्य की ही पर्यायगत योग्यता वैसी है, पर के कारण कुछ भी नहीं हुआ। अतः जो ज्वर के कारण ही दूध में कड़वेपन की मान्यता रखता है और 'ज्ञान गुण' की पर्यायगत योग्यता के कारणपने को देखता-जानता ही नहीं है, वह ज्वर को ही कड़वेपन के ज्ञान का कर्ता मानेगा तो उसकी श्रद्धा भी मिथ्या होगी और ज्ञान भी मिथ्या हो जाएगा।

स्वभावदृष्टि अर्थात् उपादान/मूल वस्तुस्वरूप की अपेक्षा से जैसा वस्तु का स्वरूप है, वैसा ही जानना आवश्यक है। ज्ञान में भी जो दूध को कड़वारूप जानने की अवस्था/पर्याय हुई, वह वास्तव में ज्ञान गुण की ही है। उस ज्ञानपर्याय का कर्तापना ज्वर में नहीं, ज्वर तो निमित्त मात्र है। वास्तव में देखा जाए तो जो जीवद्रव्य के ज्ञान गुण में कड़वा जाननेरूप पर्याय/अवस्था प्रगट हुई, वह ज्ञान गुण की स्वयं की योग्यता है; उससमय ज्वर तो बाह्य में निमित्त है। कड़वा जानने की जो ज्ञान की अवस्था है, उसका कर्ता तो ज्ञान गुण अथवा जीवद्रव्य है, ज्वर ने वहाँ (ज्ञान की पर्याय में) कुछ भी नहीं किया, ज्वर वहाँ निमित्त अवश्य है।

केवल निमित्तदृष्टि सत्य है अथवा निमित्त बलवान होता है या निमित्त से ही कार्य होता है — ऐसा जानना-मानना संसारमार्ग है। उपादानदृष्टि से/स्वभावदृष्टि से सोचते रहने से मोक्षमार्ग प्रगट होता है — ऐसा समझना आवश्यक है।

स्वार्थी दोषों को भी नहीं देखता —

स कार्तघ्न्यादिदोषं च गुरुद्रोहं च किं परैः ।

परिवादं च नाद्राक्षीत् दोषं नार्थी हि पश्यति ॥५२॥

अन्वयार्थ — (सः) उसने (कार्तघ्न्यादिदोषं) कृतघ्नतादि दोषों को (च) और (गुरुद्रोहं) गुरुद्रोह को (न अद्राक्षीत्) नहीं देखा। (परैः किं) और तो क्या ? (परिवादं च न अद्राक्षीत्) अपनी निन्दा का भी विचार नहीं किया।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (अर्थी) स्वार्थी मनुष्य (दोषं) दोष को (न पश्यति) नहीं देखता।

सरलार्थ — जब मनुष्य अपना स्वार्थ सिद्ध करने-कराने की धुन में मस्त हो जाता है; तब वह दोषों की ओर देख ही नहीं पाता। इसकारण स्वार्थी काष्ठांगार पर तो राजा को मारकर स्वयं राजा बनने की धुन सवार होगई है; अतएव वह इस बात की चिन्ता ही नहीं करता कि लोग मुझे कृतघ्न, दुष्ट, राजद्रोही आदि कहेंगे। उसे अपनी निन्दा का भी कोई विचार नहीं रहा।

काष्ठांगार के साले द्वारा राजद्रोह की अनुमोदना —

मथनो नाम तत्स्यालस्तद्वाचं बहुमन्यत ।

तद्धि पाणौ कृतं दात्रं परिपन्थिविधायिनः ॥५३॥

अन्वयार्थ — (मथनः नाम) मथन नाम के (तत्स्यालः) उसके साले ने (तद्वाचं) काष्ठांगार के वचनों की (बहु अमन्यत) अनुमोदना की। (हि) निश्चय से (तत्) मथन के वचन (परिपन्थिविधायिनः) शत्रुता करनेवाले काष्ठांगार के (पाणौकृतं) हाथ में आए हुए (दात्रं इव) दाँती की तरह (अभवत्) हुए।

सरलार्थ – मथन नामक काष्ठांगार के साले ने काष्ठांगार के राजद्रोह के विचारों को अति सम्मान देते हुए उसकी अनुमोदना की। वास्तव में देखा जाए तो मथन की अनुमोदना छोटे कार्य करनेवाले काष्ठांगार के हाथ में हथियार देने के समान हुई। इसकारण उसका उत्साह और भी बढ़ गया।

विशेषार्थ – जैसे बन्दर स्वभाव से ही चंचल होता है, उस पर भी उसे किसी ने शराब पिला दी तथा उसकी पूँछ में जलती हुई मशाल बाँध दी और टीन के छप्पर पर छोड़ दिया तो फिर उसकी चंचलता का क्या कहना ! वैसे ही काष्ठांगार को राजा सत्यन्धर की हत्या करने का तीव्र पापभाव तो था ही, इस पर नीच मथन ने उस पापभाव का समर्थन भरी सभा में कर दिया। इसकारण काष्ठांगार का राजद्रोह का विचार अतिदृढ़ हो गया।

राजा को मारने हेतु काष्ठांगार का सेना को आदेश –

प्राहैषीच्च बलं हन्तुं राजानं हन्त पापधीः।

पयोह्यास्यगतं शक्यं पाननिष्ठीवनद्वये ॥५४॥

अन्वयार्थ – (हन्त) खेद है ! (पापधीः) उस पापबुद्धिवाले काष्ठांगार ने (राजानं) राजा को (हन्तुं) मारने के लिए (बलं) सेना (प्राहैषीत्) भेजी।

[**अत्र नीतिः**:] (हि) निश्चय से (आस्यगतं) मुख में गया हुआ (पयः) दुग्ध (पाननिष्ठीवनद्वये) पान और वमन – इन दोनों क्रियाओं में (शक्यं) समर्थ [भवति] होता है।

सरलार्थ – महान खेद का विषय है कि पापबुद्धि काष्ठांगार ने राजा सत्यन्धर को मारने के लिए सेना को आदेश देकर भेज ही दिया; क्योंकि मुख में रखे हुए दूध अथवा जल की परिणति थूकने या पीने के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं हो सकती।

विशेषार्थ – सेना का उपयोग एक तो रक्षा के लिए होता है या हत्या के लिए होता है। काष्ठांगार के मन में राजा को मारकर पूर्ण स्वतन्त्ररूप से स्वेच्छापूर्वक राज्य शासन करने का विचार तो समाया हुआ था ही। अब उस विचार के लिए दो ही मार्ग हैं – एक तो राजहत्या का विचार छोड़ देना और

दूसरा राजहत्या का पाप प्रत्यक्ष करना। स्वार्थ के वशीभूत होकर दुष्टचित्त और कृतघ्न काष्ठांगार ने राजा सत्यन्धर की हत्या के उद्देश्य से सेना को भेज ही दिया।

राजा सत्यन्धर भी युद्ध के लिए तैयार -

दौवारिकमुखादेतदुपलभ्य रुषा नृपः।

उदतिष्ठत संग्रामे न हि तिष्ठति राजसम् ॥५५॥

अन्वयार्थ - (नृपः) राजा (दौवारिकमुखात्) द्वारपाल के मुख से (एतत्) यह (उपलभ्य) जानकर (रुषा) क्रोध से (संग्रामे उदतिष्ठत) युद्ध के लिए उठा।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (राजसं न तिष्ठति) क्षत्रिय तेज शान्त नहीं रहता। (वह प्रगट हो ही जाता है।)

सरलार्थ - द्वारपाल के द्वारा यह समाचार सुनकर कि काष्ठांगार के आदेश से सेना मुझे मारने के लिए आ रही है, राजा सत्यन्धर का क्रोध एवं क्षत्रियत्व जागृत हो गया। वे भी सेना के साथ युद्ध करने के लिए तत्पर हो गए। यह सत्य ही है कि समय आने पर क्षत्रिय तेज शान्त नहीं रह पाता।

विशेषार्थ - द्वारपाल के द्वारा कृतघ्न काष्ठांगार के राजद्रोह के समाचार सुनकर राजा का क्रोधित होना स्वाभाविक ही है। उनका क्षत्रियत्व जागृत हुआ। वे सेना का सामना करने के लिए उद्यत हो गए। सत्य ही है, शत्रु की ललकार को कोई भी क्षत्रिय सहन नहीं कर सकता। राजा सत्यन्धर भी तुरन्त सेना का सामना करने के लिए तैयार हो गए।

रानी विजया का मूर्छित होना -

तावतार्धासनाद्भ्रष्टां नष्टासुं गर्भिणीं प्रियाम्।

दृष्ट्वा पुनर्न्यवर्तिष्ठ स्त्रीष्ववज्ञा हि दुःसहा ॥५६॥

अन्वयार्थ - परन्तु (तावता) उसी समय राजा के (अर्धासनात्) अर्धासन

से (भ्रष्टां) गिरी हुई अतएव (नष्टासुं) गतप्राण की तरह (गर्भिणीं प्रियां) गर्भवती अपनी प्यारी स्त्री को (दृष्ट्वा) देखकर राजा (पुनः) फिर (न्यवर्तिष्ठ) लौट आए।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (स्त्रीषु) स्त्रियों के विषय में (अवज्ञा) अनादर वा अपमान (दुःसहा) सहा नहीं जा सकता/दुःसह होता है।

सरलार्थ – अपने प्राणप्रिय पतिदेव राजा सत्यन्धर को युद्ध के लिए प्रस्थान करते देख, गर्भवती रानी विजया मूर्छित होकर राजसिंहासन से गिर पड़ी और अचेत हो गई। राजा सत्यन्धर रानी की अचेत अवस्था को देखते ही सहसा युद्ध हेतु प्रस्थान करने से रुक गए; क्योंकि स्त्रियों की अवज्ञा पुरुषों के लिए असह्य होती है।

विशेषार्थ – स्त्री को अपमानित, दुःखी अथवा संकट में देखकर कोई भी विचारशील पुरुष उसकी अवज्ञा नहीं कर सकता। अतः राजा सत्यन्धर ने भी रानी की अचेत अवस्था देखकर युद्ध में जाने का विचार छोड़ दिया। गृहस्थ जीवन का स्वरूप ही ऐसा है। राजा सत्यन्धर भी इसी परिस्थिति के शिकार हुए।

राजा सत्यन्धर का तत्त्वज्ञान जागृत –

अबोधयच्च तां पत्नीं लब्धबोधो महीपतिः ।

तत्त्वज्ञानं हि जागर्ति विदुषामार्तिसम्भवे ॥५७॥

अन्वयार्थ – (च लब्धबोधः) स्वयं सचेत होकर (महीपतिः) राजाने (तां पत्नीं) अपनी पत्नी को (अबोधयत्) उपदेश दिया।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (आर्तिसम्भवे) पीड़ा के होने पर/ विपत्ति काल में (विदुषां) विद्वानों का (तत्त्वज्ञानं जागर्ति) तत्त्वज्ञान जागता ही है।

सरलार्थ – तत्त्वज्ञ राजा सत्यन्धर ने रानी विजया को होश में लाकर उसे समझाने का प्रयास किया; क्योंकि आपत्ति/दुःखद प्रसंग आने पर विद्वानों का तत्त्वज्ञान जागृत होता है।

विशेषार्थ – जीवन में विषम परिस्थितियाँ उपस्थित होने पर भी जिनका तत्त्वज्ञान जागृत रहता है, उन्हें ही विद्वान समझना चाहिए।

जिसप्रकार अत्यधिक आपत्ति आने पर भी जो व्यक्ति हमेशा की तरह सहयोग करके अपना कर्तव्य निर्वाह करता है, वही सच्चा बन्धु अथवा मित्र है; उसीप्रकार सुखी जीवन में प्राप्त किया हुआ तत्त्वज्ञान आपत्ति के समय में भी जिसे स्मरण में रहता है, वही सच्चा तत्त्वज्ञानी है। राजा सत्यन्धर भी सच्चे तत्त्वज्ञों में से एक हैं।

पुण्य समाप्त होने पर पाप का उदय –

शोकेनालमपुण्यानां पापं किं न फलप्रदम्।

दीपनाशे तमोराशिः किमाह्वानमपेक्षते ॥५८॥

अन्वयार्थ – राजा कहने लगे कि (शोकेन अलं) शोक नहीं करना चाहिए। (अपुण्यानां) पुण्य रहित पापी पुरुषों का (पापं) पाप (किं) क्या (फलप्रदं न) फल देनेवाला नहीं होता ? फलदायी [स्यात् एव] होता ही है।

[अत्र नीतिः] (किं) क्या (दीपनाशे) दीपक के बुझ जाने पर (तमोराशिः) अन्धकार का समूह (आह्वानं) आमन्त्रण की (अपेक्षते) अपेक्षा करता है ? [न अपेक्षते] अपेक्षा नहीं करता, स्वयं आ जाता है।

सरलार्थ – राजा सत्यन्धर गर्भवती एवं अत्यन्त भयभीत रानी विजया को समझाते हैं – “हे प्राणप्रिया विजया ! अब शोक से बस होओ। शोक करना तुम्हें शोभा नहीं देता है। पुण्यहीन मनुष्य का पापोदय क्या उसे फल नहीं देगा ? अवश्य देगा। दीपक बुझ जाने पर अन्धकार का समूह कमरे में आने के लिए क्या निमन्त्रण की अपेक्षा रखता है ? नहीं, वह स्वयमेव ही कमरे में फैल जाता है।”

विशेषार्थ – सत्यन्धर राजा, रानी विजया को समझाते हैं – हमने अबतक इस जीवन में पूर्व जन्मकृत पुण्य का फल भोगते हुए पापार्जन ही तो किया है। अतः पुण्य का नाश होना और पाप का उदय आना स्वाभाविक ही है। हम पाप

के उदय से आनेवाली प्रतिकूलताओं को पुण्य के सद्भाव बिना कैसे टाल सकते हैं ? इसलिए शोक करना निष्फल है। इतना ही नहीं, शोक आगामी पापबन्ध का कारण है, अतः शोक छोड़ना ही हितकारक है।

धनादि भोग्य-वस्तुओं की स्वाभाविक क्षणभंगुरता -

यौवनं च शरीरं च सम्पच्च व्येति नाद्भुतम् ।

जलबुदबुदनित्यत्वे चित्रीया न हि तत्क्षये ॥५६॥

अन्वयार्थ - [अत्र नीतिः] (यौवनं) यौवन (च) और (शरीरं) शरीर (च) और (सम्पत्) धन - ये सब (व्येति) नाश को प्राप्त होते हैं; (अत्र अद्भुतं न) इसमें आश्चर्य नहीं। (जलबुदबुदनित्यत्वे) पानी के बुलबुले के बहुत देर तक ठहरने में (चित्रीया) आश्चर्य है। (हि) निश्चय से (तत्क्षये चित्रीया न) उसके नाश होने में कोई आश्चर्य नहीं है।

सरलार्थ - यौवन, शरीर, धन-सम्पत्ति आदि संयोगी वस्तुएँ सब नष्ट हो जानेवाली हैं; इसमें कोई आश्चर्य नहीं है। क्या पानी में उठनेवाला बुलबुला दीर्घकाल तक स्थायी रह सकता है ? बुलबुले का स्वभाव उत्पन्न होते ही नष्ट होना है। वैसे ही यौवन, धनादिक संयोगों को क्षणभंगुर ही समझना चाहिए।

विशेषार्थ - यह राज्य और मनुष्य पर्याय तो नष्ट होनेवाली ही है; इसमें कुछ भी आश्चर्य नहीं है। आश्चर्य तो यह है कि इतने वर्षों तक राज्य और मनुष्य पर्याय स्थिर कैसे है ? इसप्रकार राजा रानी को समझा रहे हैं कि यौवन, शरीर और धनादि वैभव - ये सब पुद्गल द्रव्य की पर्यायें हैं। पर्याय कोई भी हो, वह तो नियम से नष्ट होती ही है - ऐसा प्रकृति का सार्वकालिक और सार्वभौमिक नियम है।

संयोग का वियोग सुनिश्चित -

संयुक्तानां वियोगश्च भविता हि नियोगतः ।

किमन्यैरङ्गतोऽप्यङ्गी निःसङ्गे हि निवर्तते ॥६०॥

अन्वयार्थ - [अत्र नीतिः] (संयुक्तानां) संयोगी पदार्थों का

(नियोगतः) अवश्य ही (वियोगः) वियोग (भविता) होता है। (अन्यैः किं) और तो क्या ? (अद्भुतः) इस शरीर से (अद्भू अपि) आत्मा भी (निःसङ्गः हि निवर्तते) निःसंग होकर/छोड़कर चला जाता है।

सरलार्थ – जीव के साथ जिन-जिन पदार्थों का संयोग होता है, उन-उन पदार्थों का वियोग नियम से होता है। धनादि संयोगी पदार्थों के वियोग की तो बात ही क्या ? जबकि शरीर का संयोग जीव के जन्मकाल से ही रहता है, उसे भी छोड़कर जीव अन्य भव में जाता हुआ प्रत्यक्ष देखने में आता है।

विशेषार्थ – जन्म के समय से प्राप्त इस शरीर को भी आत्मा छोड़ देता है। आत्मा इस शरीर को अपने साथ अगले भव में नहीं ले जा सकता अथवा इस शरीर के साथ स्वयं नहीं रह सकता – ऐसा ही प्रकृति का सहज/स्वाभाविक नियम है। इस वस्तुस्थिति पर विचार करें तो जब शरीर का वियोग होना निश्चित है तो उसके वियोग का दुःख कैसा ?

आपका और मेरा संयोग तो इस मनुष्यभ्रम की यौवनावस्था में हुआ है; अतः आपका और मेरा वियोग तो होगा ही। परस्पर वियोग न हो – यह विचार ही वस्तु-व्यवस्था के विपरीत है; इस अज्ञानमय विचार का त्याग करने में ही शान्ति है। इसप्रकार राजा सत्यन्धर विजया रानी को समझा रहे हैं।

शत्रु-मित्रता केवल कल्पना –

अनादौ सति संसारे केन कस्य न बन्धुता ।

सर्वथा शत्रुभावश्च सर्वमेतद्धि कल्पना ॥६१॥

अन्वयार्थ – [अत्र नीतिः] (संसारे) संसार के (अनादौ सति) अनादि होने पर (कस्य) किसी की (केन) किसी के साथ (सर्वथा) सर्वप्रकार से (बन्धुता शत्रुभावः च न) मित्रता और शत्रुता नहीं होती। (हि) निश्चय से (एतत् सर्वं कल्पना) यह सब कल्पना मात्र है।

सरलार्थ – यह संसार तो अनादि का है, अतः किसी की किसी के

साथ सर्वथा ही मित्रता या शत्रुता नहीं होती। मित्रता और शत्रुता के ये सर्वभाव निश्चय से मात्र कल्पना हैं, सत्य नहीं।

विशेषार्थ – रानी विजया काष्ठांगार के प्रति विशेष शत्रुता का भाव व्यक्त कर रही है; तब राजा सत्यन्धर रानी को समझा रहे हैं – इस षट्द्रव्यात्मक लोक का न तो कभी प्रारम्भ हुआ है और न कभी अन्त होगा। यह तो अनादि-अनन्त है और रहेगा। इस अनादि विश्व का अनन्त वर्षों का भूतकाल व्यतीत हो चुका है और भविष्यकाल भूतकाल से सदैव अनन्त गुणा रहेगा; ऐसा यह शाश्वत सत्य है।

इस संसार में भ्रमण करते हुए प्रत्येक जीव के अन्य अनेक जीवों के साथ माता-पिता, बहिन-भाई, पति-पत्नी आदि अनेक सम्बन्ध हो चुके हैं। जो भाई है, वह उसी भव में कुछ निमित्त पाकर शत्रु हो जाता है। जैसे – रावण का भाई विभीषण रावण का शत्रु बना। इसीप्रकार अन्य-अन्य प्रकार के सम्बन्ध बनते हैं। जैसे भविष्य में जब रावण का जीव तीर्थकर बनेगा, तब सीता का जीव रावण का गणधर बनेगा। राजा श्रेणिक का पुत्र कुणिक उसी भव में श्रेणिक का महान शत्रु बना था। इत्यादि अनेक उदाहरणों से पुराण भरे हुए हैं और प्रत्यक्ष में भी हम देखते हैं। वास्तव में न कोई किसी का शत्रु है न मित्र, सब परिस्थितियों के संयोग हैं – ऐसा समझकर काष्ठांगार के सम्बन्ध में आपको समताभाव रखना ही उचित है।

अपात्र जीव को धर्मोपदेश व्यर्थ –

इति धर्म्यं वचस्तस्या लेभे नैव पदं हृदि ।

दग्धभूम्युप्तबीजस्य न ह्यङ्कुरसमर्थता ॥६२॥

अन्वयार्थ – (इति) इसप्रकार (धर्म्यं वचः) नीतियुक्त वचनों ने (तस्याः) उस विजया रानी के (हृदि) हृदय में (पदं) स्थान (न एव) नहीं (लेभे) प्राप्त किया।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (दग्धभूमि-उप्तबीजस्य) जली हुई

पृथ्वी में बोए हुए बीज के अन्दर (अंकुरसमर्थता न भवति) अंकुर पैदा होने की शक्ति नहीं होती।

सरलार्थ – वस्तुस्वरूप का यथार्थ ज्ञान करानेवाला उपदेश भी रानी विजया को हृदयंगम नहीं हुआ; क्योंकि जली हुई भूमि में बोया गया बीज व्यर्थ ही जाता है।

विशेषार्थ – भगवान महावीर के जीव मारीच को समवशरण में दिव्यध्वनि से सर्वोत्तम उपदेश मिला और उपदेशक भी तीर्थकर भगवान आदिनाथ जैसे सर्वोत्कृष्ट वक्ता थे, तो भी उपदेश और उपदेशक दोनों व्यर्थ सिद्ध हुए। रानी विजया को सत्यन्धर का उपदेश व्यर्थ सिद्ध हुआ। मारीच के समान यह रानी विजया भी अपात्रता का ज्वलन्त उदाहरण है। अतः रानी शोक ही करती रही। इस घटना से यह बात स्पष्ट होती है कि समझानेवाले के प्रयास तथा उपदेश से कोई समझता ही नहीं है; किन्तु समझनेवाला अपनी पात्रता/पुरुषार्थ से स्वयं समझना चाहे तो समझ सकता है, उपदेश और उपदेशक को तो निमित्त कहा जाता है।

वंशरक्षार्थ राजा सत्यन्धर का प्रयत्न –

अयं त्वापन्नसत्त्वां तामारोप्य शिखियन्त्रकम् ।

स्वयं तद्भ्रामयामास हन्त क्रूरतमो विधिः ॥६३॥

अन्वयार्थ – (तु) तदनन्तर (अयं) राजा ने (आपन्नसत्त्वां तां) गर्भवती उस रानी को (शिखियन्त्रकं) मयूर यन्त्र में (आरोप्य) बिठा करके (स्वयं) अपने हाथ से (तद्) उसको (भ्रामयामास) घुमाया।

[अत्र नीतिः] (हन्त) खेद है कि (विधिः क्रूरतमः) पूर्वोपार्जित कर्म अत्यन्त कठोर होते हैं।

सरलार्थ – राजा सत्यन्धर को अपने वंश की रक्षा का अन्य कोई उपाय दृष्टिगत नहीं हुआ, अतः उन्होंने गर्भवती एवं दुःखी रानी को केकी यन्त्र (एक

प्रकार का हवाई जहाज) पर बिठाकर आकाशमार्ग से अन्यत्र भेज दिया। यह बात सत्य है कि भवितव्य बलवान होता है।

विशेषार्थ – गर्भवती स्त्री का सभी व्यक्ति विशेष ध्यान रखते हैं; उसके लिए अधिक से अधिक सुख-सुविधा जुटाने का प्रयत्न करते हैं। पर यहाँ विधि की विडम्बना देखिए कि राजा सत्यन्धर को अपनी गर्भवती पटरानी विजया को अकेले ही अपरिचित स्थान पर भेजने को बाध्य होना पड़ा। होनहार को कौन टाल सकता है ?



राजा सत्यन्धर युद्ध को उद्यत -

वियतास्मिन्गते योद्धुं स मोहादुपचक्रमे।

न ह्यङ्गुलिरसाहाय्या स्वयं शब्दायतेतराम् ॥६४॥

अन्वयार्थ – (अस्मिन्) इस यन्त्र के (वियता गते) आकाशमार्ग से ऊपर चले जाने पर (सः) उस राजा ने (मोहात्) मोह के वश से (योद्धुं) लड़ना (उपचक्रमे) प्रारम्भ किया।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (असाहाय्याङ्गुलिः स्वयं) अकेली उँगुली अपने आप (न शब्दायतेतरां) शब्द को नहीं करती है अर्थात् दो के बिना अकेले से लड़ाई नहीं होती है।

सरलार्थ – रानी को आकाशमार्ग से अन्यत्र भेजने के पश्चात् राजा सत्यन्धर भी अपनी प्रतिष्ठा के रक्षार्थ मोहवश युद्ध को उद्यत हुए। यह सत्य है कि एक उँगली से चुटकी नहीं बजती।

विशेषार्थ – रानी के आकाशमार्ग से चले जाने के पश्चात् राजा सत्यन्धर राज्यलोभ और अपनी प्रतिष्ठा तथा मान के रक्षार्थ मोहवश काष्ठांगार के द्वारा भेजी गई अपनी ही सेना से युद्ध करने लगे। यदि राजा युद्ध करने को उद्यत नहीं होते तो युद्ध नहीं होता। परन्तु अब क्या था ? दोनों ओर से भयंकर युद्ध प्रारम्भ हो गया।

राजा को युद्धभूमि में ही वैराग्य –

अथ युद्ध्वा चिरं योद्धा मुधा प्राणिवधेन किम् ।

इत्यूहेन विरक्तोऽभूद् गत्यधीनं हि मानसम् ॥६५॥

अन्वयार्थ – (अथ) तदनन्तर (योद्धा) योद्धा राजा (चिरं युद्ध्वा) बहुत कालपर्यन्त युद्ध करके (मुधा) निष्प्रयोजन (प्राणिवधेन) प्राणियों की हिंसा से (किं) क्या फल है ? (इति ऊहेन) ऐसा विचार करके (विरक्तः अभूत्) लड़ाई से उदासीन हो गए।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (गत्यधीनं मानसं) गति के अनुकूल ही मन के भाव होते हैं, अर्थात् जिसको जिस गति में जाना होता है, उसके मृत्यु के समय वैसे ही भाव हो जाते हैं।

सरलार्थ – बहुत समय तक युद्ध करने के बाद राजा सत्यन्धर का विवेक जागृत हुआ। वे विचार करने लगे कि मैं अकेला सेना पर तो विजय प्राप्त नहीं कर सकूँगा, व्यर्थ ही मनुष्यों की हिंसा से क्या लाभ ? क्योंकि मन के विचार भविष्य में होनेवाली गति के अनुसार ही होते हैं।

विशेषार्थ – राजा सत्यन्धर की शुभ गति होनेवाली थी; अतः उनके वैसे ही परिणाम होना भी स्वाभाविक था। जैसी गति वैसी मति की उक्ति को चरितार्थ करते हुए, उन्हें युद्ध करते-करते ही वैराग्यभाव जागृत हुआ और उन्होंने युद्ध से विराम ले लिया।

राजा सत्यन्धर को पुनः पश्चात्ताप -

विषयासङ्गदोषोऽयं त्वयैव विषयीकृतः।

साम्प्रतं वा विषप्रख्ये मुञ्चात्मन्विषये स्पृहाम् ॥६६॥

अन्वयार्थ - (आत्मन) हे आत्मा ! (अयं) इस (विषयासङ्गदोषः) विषयासक्ति दोष को (त्वया एव) तूने ही (विषयीकृतः) प्रत्यक्ष कर लिया है। अतएव (साम्प्रतं वा) अब तो (विषप्रख्ये) विष के समान (विषये) इन्द्रियों के विषय में (स्पृहां) इच्छा को (मुञ्च) छोड़ दो।

सरलार्थ - राजा सत्यन्धर स्वयं सोच रहे हैं - भो आत्मन ! हे राजा सत्यन्धर ! पंचेन्द्रियों के विषयों में अति आसक्त रहकर अनेक प्रकार के दोष तुमने स्वयं किए हैं, जिनका परिणाम सामने प्रत्यक्ष है; अतएव विष के समान पंचेन्द्रियों के विषयों को अब तो छोड़ो।

विशेषार्थ - दृष्टि के स्वसन्मुख हो जाने से सृष्टि स्वयमेव बदल जाती है। अतः रणभूमि में वैराग्यमय विचार करते समय राजा सत्यन्धर को काष्ठांगार पर क्रोध नहीं आया। उसके प्रति वैरभाव पुष्ट करने की बात तो बहुत दूर रह गई। रानी विजया ने मुझे विषयासक्त बनाया, नहीं तो मैं विषयासक्त नहीं होता - ऐसा भाव भी राजा के मन में नहीं आया। वे स्वयं अपनी ही भूल पर विचार कर रहे हैं।

जिसके मन में आत्मकल्याण की सच्ची भावना जागृत होती है, उसके विचार नियम से अपने दोष देखने के होते हैं। आत्मार्थी जीव देश, काल, वातावरण, पड़ोसी अथवा कर्म पर अपने अपराध का दोष थोपता ही नहीं; अतएव राजा सत्यन्धर के अन्तःकरण में वीतरागता की अभिवृद्धि होना प्रारम्भ हो गई। दूसरों के दोषों को देखने की प्रवृत्ति तो तीव्रकषाय से ही होती है।

राज्यादि समस्त भोग्यवस्तु उच्छिष्ट -

भुक्तपूर्वमिदं सर्वं त्वयात्मन्भुज्यते ततः।

उच्छिष्टं त्यज्यतां राज्यमनन्ता ह्यसुभृद्भवाः ॥६७॥

अन्वयार्थ - [अत्र नीतिः] (आत्मन) हे आत्मन ! (इदं सर्वं) इन सब (भुक्तपूर्व) पूर्वजन्म में भोगे हुए को (त्वया) तू (भुज्यते) भोगता है। (अतः) इसलिए (उच्छिष्टं राज्यं) उच्छिष्ट राज्य को (त्यज्यतां) त्याग दे।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (असुभृद्भवाः) जीवों के भव (अनन्ताः) अनन्त [सन्ति] होते हैं।

सरलार्थ - राजा सत्यन्धर का पश्चात्ताप चल ही रहा है - भो आत्मन! हे राजन ! राज्यवैभव, पंचेन्द्रिय के मधुर विषय, स्त्री आदि सब इसके पहले अनन्त भवों में भोगी हुई है। उन्हीं सर्व वस्तुओं को तू भोग रहा है; अतएव उच्छिष्टस्वरूप राज्यादिक का त्याग कर देना ही श्रेष्ठ है। वास्तव में प्रत्येक जीव के अनन्त भव व्यर्थ ही भोग-लालसा में व्यतीत हो जाते हैं।

विशेषार्थ - राजा सत्यन्धर का वैराग्यभाव पुष्ट हो रहा है। चिन्तन चल ही रहा है - भूतकाल के अनन्त भवों को गौण करते हुए वर्तमानकालीन इस एक ही भव सम्बन्धी कृत्यों पर विचार करें तो भी किसी भी इन्द्रिय के विषयों से जीव को तृप्ति नहीं होती है। जीव की तृष्णा और बलवती ही होती रहती है। अतः यह निर्णय करना आवश्यक है कि - न विषयभोगेषु भाग्यं भाग्यं विषयेषु वैराग्यं - विषयों को भोगना भाग्य नहीं है, किन्तु विषयों से विरक्त होना ही भाग्य है। (कार्तिकेयानुप्रेक्षा ग्रन्थ की गाथा क्रमांक ६४-६५ की टीका में एक ही भव में एक ही जीव के अठारह नाते/सम्बन्ध होने की कथा आई है, उसे अवश्य पढ़ना चाहिए।)

भोग से संसार और त्याग से मोक्ष -

अवश्यं यदि नश्यन्ति स्थित्वापि विषयाश्चिरम् ।

स्वयं त्याज्यास्तथा हि स्यान्मुक्तिः संसृतिरन्यथा ॥६८॥

अन्वयार्थ - [अत्र नीतिः] (यदि) अगर (विषयाः) इन्द्रियों के विषय (चिरं) बहुतकाल तक (स्थित्वा अपि) स्थिर रहकर भी (अवश्यं) अवश्य (नश्यन्ति) नाश को प्राप्त हो जाते हैं तो (स्वयं) स्वयं ही (त्याज्याः) छोड़

देना चाहिए। (तथा हि) ऐसा करने पर (मुक्तिः स्यात्) आत्मा कर्मबन्धन से मुक्त होता है। (अन्यथा) इसके विपरीत करने से (संसृतिः एव स्यात्) संसार ही होता है।

सरलार्थ – पंचेन्द्रिय के स्पर्शादि भोग्य-विषय दीर्घकाल पर्यन्त स्थिर रहकर भी नियम से नष्ट होते ही हैं। हमें स्वयं ही उन विषयों का त्याग करना उचित है। यदि हम विषयों का स्वयं ही त्याग कर देते हैं तो वे मुक्ति का कारण बनते हैं और यदि विषय ही हमको छोड़कर चले जाते हैं तो हमें संसार में दीर्घकाल पर्यन्त रुलना पड़ता है।

विशेषार्थ – पंचेन्द्रिय के विषयों को छोड़ना ही अपने निज शुद्धात्मा को ग्रहण करना है; क्योंकि त्याग नियम से ग्रहणपूर्वक ही होता है। निज शुद्धात्मा का ग्रहण करना अर्थात् सम्यग्दर्शनादि मोक्षमार्ग का प्रगट करना ही है। मोक्षमार्ग से अवश्य ही मोक्ष प्राप्त होता है। जो जीव मोक्षमार्ग प्रगट नहीं करता, वह जीव विषय-कषायों में मग्न रहकर अपना संसार बढ़ाता हुआ दुःखी होता है।

त्याग की महिमा –

त्यज्यते रज्यमानेन राज्येनान्येन वा जनः।

भज्यते त्यज्यमानेन तत्त्यागोऽस्तु विवेकिनाम् ॥६६॥

अन्वयार्थ – [अत्र नीतिः] (रज्यमानेन राज्येन अन्येन वा जनः) मनुष्य जिस राज्य या अन्य वस्तु पर रीझता है, वह वस्तु (त्यज्यते) उसे छोड़ देती है। (त्यज्यमानेन) तथा जिस वस्तु को त्यागता है, वह वस्तु (जनः) उस मनुष्य को (भज्यते) उपलब्ध होती है (ततः) इसलिए (विवेकिनां) विचारवान पुरुषों को जिसे उपलब्ध/प्राप्त करना हो (तत् त्यागः अस्तु) उससे राग कम करना चाहिए।

सरलार्थ – राज्य, वैभव, स्त्री-पुत्रादि इष्ट पदार्थ मनुष्य को चाहने मात्र से प्राप्त नहीं होते। जो इन इष्ट पदार्थों का त्याग करे, उनके प्रति रागभाव छोड़े तो वे ही अपेक्षित वस्तुएँ त्याग करनेवाले को सहज प्राप्त

होती हैं। अतः भेदविज्ञानियों को त्यागभाव स्वीकार करना चाहिए।

विशेषार्थ – जैसे कोई मनुष्य अपनी छाया को पकड़ने का प्रयास करे तो उसे अपनी ही छाया पकड़ने में नहीं आती। वह छाया आगे-आगे भागती जाती है। जब मनुष्य छाया को पीठ देकर चलने लगता है तो वही छाया उसके पीछे दौड़ने लगती है।

उसीप्रकार से राज्य, वैभव, स्त्री-पुत्रादि जड़-चेतन वस्तुओं का स्वरूप है। इसका कारण यह है कि जिस वस्तु से जीव राग करता है, वह वस्तु उसे नहीं मिलती; क्योंकि परद्रव्य से राग करने से पाप का बन्ध होता है और उस पापकर्म के उदय के काल में इष्ट वस्तुओं का सहज ही वियोग रहता है।

परवस्तु विषयक त्याग परिणाम से पुण्यकर्म का बन्ध होता है और उस पुण्यकर्म के उदयकाल में इष्ट वस्तुओं का स्वयमेव संयोग होता है। ऐसा कारण-कार्य सम्बन्ध जानकर विवेकी जीवों को त्यागभाव का अंगीकार करना चाहिए।

जिनदीक्षा से स्वर्ग प्राप्ति -

इति भावनया राजा वैराग्यं परमीयिवान्।

त्यक्त्वा सङ्गं निजाङ्गं च दिव्यां सम्पदमासदत् ॥७०॥

अन्वयार्थ – (राजा) राजा ने (इति भावनया) इसप्रकार की भावना से (परं) उत्कृष्ट (वैराग्यं) वैराग्य (ईयिवान्) प्राप्त किया और फिर अन्त में (सङ्गं) परिग्रह (निजाङ्गं च) और अपने शरीर को (त्यक्त्वा) छोड़कर (दिव्यां सम्पदं) स्वर्गसम्बन्धी ऐश्वर्य को (आसदत्) पाया।

सरलार्थ – युद्ध से विराम लेकर राजा सत्यन्धर संसार, शरीर और भोगों से पूर्वोक्त प्रकार विचार करते हुए अत्यन्त विरक्त हुए। अन्तरंग एवं बहिरंग परिग्रह का त्याग कर उसीसमय देह का साथ छोड़कर स्वर्ग सम्बन्धी ऐश्वर्य को प्राप्त किया अर्थात् स्वर्ग में देव हुए।

विशेषार्थ - वस्तुस्वरूप के यथार्थ चिन्तन से ही जीव को विरक्तता आती है। तत्त्वज्ञान के बिना होनेवाला वैराग्य तो रूंधी हुई कषाय ही है। सच्ची विरक्ति से स्वयमेव ही अन्तरंग और बहिरंग परिग्रह का त्याग हो जाता है। अतः राजा ने मुनि अवस्था को अंगीकार किया। मुनि अवस्था में शरीर की उपेक्षा होना तो स्वाभाविक है। यह सब रणभूमि में ही हो रहा है।

काष्ठांगार की आज्ञा से सेना तो राजा की हत्या के लिए आ ही गई थी। सेना ने अपना काम किया अर्थात् राजा सत्यन्धर की हत्या कर दी। राजा सत्यन्धर का जीव सहज ही अपने परिणामों से स्वर्ग में चला गया। संयमी तो स्वर्ग में जाते ही हैं। सम्यक्त्वी जीव का भी स्वर्ग में जाने का नियम है।

नागरिकों का वैराग्य-विचार -

पौराः जानपदाः सर्वे निर्वेदं प्रतिपेदिरे।

पीडा ह्याभिनवा नृणां प्रायो वैराग्यकारणम् ॥७१॥

अन्वयार्थ - उससमय (सर्वे पौराः) सारे पुरवासी (च) और (जानपदाः) देशवासी (निर्वेदं) उदास और विरक्तिपने को (प्रतिपेदिरे) प्राप्त हुए।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (अभिनवा) वर्तमान की नई (पीडा) पीडा (नृणां) मनुष्यों को (प्रायः वैराग्यकारणं) प्रायः वैराग्य का कारण बनती है।

सरलार्थ - उसीसमय नगरवासी और देशवासी मनुष्य वैराग्य को प्राप्त हुए; क्योंकि नवीन-तत्कालीन दुःखद घटनाओं को देखकर मनुष्यों को प्रायः वैराग्य होता ही है।

विशेषार्थ - सामान्य घटनाओं के अतिरिक्त जब कोई विशेष नई दुःखद घटनाएँ देखने और सुनने में आती हैं तो मनुष्यों का मन आन्दोलित होता ही है। अतः राजा के अकस्मात् मरण का समाचार सुनते ही नगरवासियों के हृदय पर आघात हुआ और उन्हें भी संसार की स्थिति देख 'वैराग्यभावना' जागृत हो ही गई।

नारी सम्बन्धी राग की क्रूरता -

अधिस्त्रिरागः क्रूरोऽयं राज्यं प्राज्यमसूनपि ।

तद्वञ्चिता हि मुञ्चन्ति किं न मुञ्चन्ति रागिणः ॥७२॥

अन्वयार्थ - [अत्र नीतिः] (अयं) यह (अधिस्त्रिरागः) स्त्री विषयक प्रेम (क्रूरः) बड़ा कठोर है (तद्वञ्चिताः) उससे ठगाए हुए मनुष्य (प्राज्यं राज्यं) बड़े भारी राज्य को और (असून) प्राणों को (अपि) भी (मुञ्चन्ति) छोड़ देते हैं। सच है (रागिणः) रागी पुरुष (किं न) क्या-क्या नहीं (मुञ्चन्ति) छोड़ देते ? मूल्यवान से मूल्यवान वस्तु भी छोड़ देते हैं।

सरलार्थ - स्त्रीविषयक रागभाव अत्यन्त क्रूर होता है। स्त्री के राग में आसक्त मनुष्य राजवैभव तो क्या अपने प्राणों का भी त्याग करने को उद्यत हो जाता है। विषयासक्त मनुष्य किस पदार्थ का त्याग नहीं कर देता ? अर्थात् सब कुछ छोड़ने को तैयार हो जाता है।

विशेषार्थ - राजा सत्यन्धर का मरण रानी से विशेष आसक्ति के कारण ही हुआ है; अतः नगरवासियों का स्त्रियों के राग-परिणाम की मुख्यता से विचार करना स्वाभाविक ही है। यदि राजा सत्यन्धर स्त्री के राग में उन्मत्त नहीं होते तो उनका मरण क्यों होता ? गर्भवती रानी असहाय क्यों बनती ? अपात्र, कृतघ्न और अविचारी काष्ठांगार भी राजा कैसे बनता ? तथा सज्जन मनुष्य सन्त्रस्त कैसे होते ? इन सभी अनर्थों का मूल कारण स्त्रीविषयक राग ही है; अतः स्त्री सम्बन्धी राग को क्रूर कहा है।

प्रश्न - राग परिणाम को शास्त्रों में प्रेम, अपनापन, ममता आदि कहा जाता है। राग शब्द तो वात्सल्यभाव तथा मृदुता को व्यक्त करनेवाला है, फिर भी उसे क्रूर क्यों कहा ?

उत्तर - स्त्रीविषयक राग के वशीभूत अज्ञानी तथा पापी मनुष्य अति कठोर, भयंकर, अमानवीय और क्रूरतम कार्यों को करने के लिए भी सदा तत्पर रहते हैं। वे विवेकशून्य होकर कुकृत्य करते हुए सर्वत्र और सदाकाल

सबको दिखाई देते हैं। इस अभिप्राय से ही स्त्री सम्बन्धी राग को क्रूर कहा है; जो यथार्थ है।

स्त्री के भोग में आसक्त मनुष्य सूकर के समान -

नारीजघनरन्ध्रस्थ - विण्मूत्रमयचर्मणा ।

वराह इव विड्भक्षी हन्त मूढः सुखायते ॥७३॥

अन्वयार्थ - [अत्र नीतिः] (हन्त) खेद है ! (मूढः) मूर्ख जन (नारीजघनरन्ध्रस्थविण्मूत्रमयचर्मणा) स्त्रियों की जंघाओं के छिद्र में स्थित मलमूत्र से भरे हुए चमड़े से (विड्भक्षी) विष्टा खानेवाले (वराह इव) सूकर की तरह (सुखायते) सुखी होते हैं।

सरलार्थ - विवेकीजन अर्थात् विरक्त महापुरुष स्त्री-लम्पटी लोगों के सम्बन्ध में अतिशय खेद व्यक्त करते हैं। मूर्ख मनुष्य मल-मूत्रादि से भरे हुए स्त्री के गुप्तांग में विलासकर विष्टा खानेवाले सूकर के समान अपने को सुखी मानते हैं।

विशेषार्थ - यहाँ कोई शंका कर सकता है कि आचार्यों ने नारी के प्रति ऐसे बीभत्स और लज्जास्पद शब्दों का प्रयोग क्यों किया ?

समाधान - आचार्यों ने तो जैसा सत्यस्वरूप है, वैसा ही तो कहा है; कुछ बढ़ा-चढ़ाकर नहीं कहा है। वस्तुस्थिति का सही निरूपण किया है। रागी जीव को यथार्थ निरूपण अच्छा नहीं लगे तो आचार्यश्री क्या करें ? वे तो करुणाबुद्धि से अज्ञानी का कुस्थान से जुड़ा हुआ अनुचित राग नष्ट हो, सब जीवों का कल्याण हो - इस मंगलमय भावना से लिखते हैं। हमें ग्रन्थकार के अभिप्राय को समझने का प्रयास करना चाहिए। राजा सत्यन्धर जैसे कामान्ध लोग आज भी कुछ कम नहीं हैं।

स्त्री-सेवन से उत्पन्न सुख अविचारितरम्य -

किं कीदृशं कियत्क्वेति विचारे सति दुःसहम् ।

अविचारितरम्यं हि रामासम्पर्कजं सुखम् ॥७४॥

अन्वयार्थ - [अत्र नीतिः] (रामासम्पर्कजं) स्त्री के संग से उत्पन्न (सुखं) सुख (किं) क्या है (कीदृशं) कैसा है (कियत्) कितना है (क्व) कहाँ है (इति विचारे सति) ऐसा विचार करने पर (दुःसहं) दुस्सह हो जाता है; वह सुख (हि) निश्चय से (अविचारितरम्यं) बिना विचार के ही सुन्दर प्रतीत होता है।

सरलार्थ - स्त्री सेवन से उत्पन्न/प्राप्त होनेवाला सुख क्या है ? कैसा है ? कितना है ? कितने काल तक टिकनेवाला है ? कहाँ अर्थात् किस जगह है ? - इसप्रकार सोचने पर विचार करना दुस्सह हो जाता है। अतः स्त्रीजन्य सुख वास्तविक विचार न करने पर ही सुखद भासित होता है।

विशेषार्थ - मनुष्य स्त्री से विरक्त हो - इस पवित्र भावना से यहाँ आचार्यश्री ने स्त्री में आसक्त मनुष्य से प्रश्न पूछे हैं। उन प्रश्नों पर मन ही मन में विचार करें तो स्त्री विषयक राग स्वयमेव ही घटे बिना नहीं रहेगा। ये विचार वास्तव में ही असह्य हैं।

जिज्ञासु का गुरु से प्रश्न -

निवारिताप्यकृत्ये स्यान्निष्फला दुष्फला च धीः ।

कृत्ये तु नापि यत्नेन कोऽत्र हेतुर्निरूप्यताम् ॥७५॥

अन्वयार्थ - [अत्र नीतिः] (अकृत्ये) बुरे काम में (निवारिता) निवारण किए जाने पर (अपि) भी (धीः) बुद्धि (निष्फला) फलरहित (च) और (दुष्फला) बुरे फलवाली (स्यात्) होती है; (तु) किन्तु (कृत्ये) अच्छे काम में (प्रयत्नेन अपि) प्रयत्न से भी (न प्रवर्तते) प्रवृत्त नहीं होती है। (अत्र कः हेतुः निरूप्यतां) कहो, इसमें क्या हेतु है ?

सरलार्थ - किसी पापकार्य में मेरी बुद्धि न लगे; मन में ऐसा विचार करने पर भी बुद्धि असफल होती है अर्थात् पापकार्यों में बुद्धि लग ही जाती है। इतना ही नहीं बुद्धि विषरीत फलदात्री भी होती है; परन्तु पुण्य कार्यों में प्रयत्न करने पर भी बुद्धि प्रवृत्त नहीं होती; इसमें क्या कारण है ? स्पष्ट समझाइए।

जिज्ञासु अपनी बात को और स्पष्ट करता है -

निश्चित्याप्यघहेतुत्वं दुश्चित्तानां निवारणे ।
येनात्मन्निपुणो नासि तद्धि दुष्कर्मवैभवम् ॥७६॥

अन्वयार्थ - [अत्र नीतिः] (आत्मन्) हे आत्मन् ! (दुश्चित्तानां) बुरे मानसिक विचारों को (अघहेतुत्वं) पाप का कारण (निश्चित्य) निश्चित करके (अपि) भी (येन) जिस कारण से (त्वं) तू (निवारणे) निवारण करने में (निपुणः) समर्थ (न) नहीं (असि) होता है (हि) निश्चय से (तत् दुष्कर्मवैभवम्) यह बुरे कर्मों का ही प्रभाव है।

सरलार्थ - हे भगवान ! मन में बुरे विचार उत्पन्न होना पाप का कारण है - ऐसा निर्णय होने पर भी जीव उनका/निवारण/निराकरण करने में समर्थ नहीं होता; मैं तो निश्चय से इसका कारण दुष्कर्मों का प्रभाव ही मानता हूँ अर्थात् कर्म ही बलवान है।

जिज्ञासु का तर्क -

हेये स्वयं सती बुद्धिर्यत्नेनाप्यसती शुभे ।
तद्धेतुकर्म तद्वन्तमात्मानमपि साधयेत् ॥७७॥

अन्वयार्थ - [अत्र नीतिः] (बुद्धिः) बुद्धि (हेये) बुरे कार्य में (स्वयं सती) अपने आप ही लग जाती है; किन्तु (शुभे यत्नेन अपि असती) अच्छे कार्यों में प्रयत्न करने पर भी प्रवृत्त नहीं होती; (तद् हेतुकर्म) इस प्रवृत्ति का कारण कर्म ही है जो (आत्मानं अपि) आत्मा को भी (तद्वन्तं साधयेत्) अपने समान ही कर देता है।

सरलार्थ - मनुष्य की बुद्धि सप्त व्यसन, पंच पापादि आस्रव-बन्ध के पाप परिणामों एवं पापकार्यों में बिना सिखाए ही लग जाती है। पुण्यरूप परिणामों, पुण्यरूप कार्यों तथा धर्ममय संवर-निर्जरारूप भावों में प्रयत्न करने पर भी प्रवृत्त नहीं होती। इससे सिद्ध होता है कि कर्म ही जीव को पापरूप प्रवृत्ति कराते हैं।

विशेषार्थ – जिज्ञासु अत्यन्त आत्मार्थी जीव है। अतः वह स्वयं को सम्बोधते हुए अपने परिणामों का उदाहरण देकर शंका प्रस्तुत कर रहा है। यह शंका शास्त्र पढ़कर उत्पन्न नहीं हुई है; अपितु जीवन में पापकर्मों से निवृत्त होने के लिए जीवन में धर्म प्रगट करने का प्रयास करते समय प्रत्यक्ष जिन विषयों का सामना करना पड़ता है; उनको ही गुरु के समक्ष जिज्ञासु कह रहा है। क्रमांक ७५, ७६ और ७७ इन तीन श्लोकों में जो शंकाएँ प्रस्तुत की हैं, उनका समग्र विवरण निम्नप्रकार है –

पापकार्य करने की हमारी भावना बिलकुल नहीं है। पापकार्यों में हमारी बुद्धि प्रवृत्त न हो; इसलिए हम पूर्ण शक्ति लगाकर निरन्तर प्रयास भी करते हैं तो भी हमारी बुद्धि पापकार्यों से निवृत्त क्यों नहीं होती ? इस विषय में मेरा तो यह पक्का मत है कि यह सब कर्मोदय की ही बलवत्ता है।

हमें इस दुनिया में ऐसा प्रत्यक्ष दिखाई देता है कि नहीं करनेयोग्य कार्यों में मनुष्य की बुद्धि बिना सिखाए ही प्रवीण हो जाती है तथा देव-शास्त्र-गुरु की भक्तिरूप पुण्य परिणामों में और वीतरागतरूप परिणामों में प्रयत्नपूर्वक बुद्धि लगाने का प्रयास भी असफल रहता है।

पाँच पाप और सात व्यसनो की शिक्षा के लिए कहीं कोई विद्यालय नहीं खुले हैं तो भी लोग इनमें निपुण हैं। इससे सुनिश्चित होता है कि कर्म ही आत्मा को पापरूप प्रवृत्ति कराते हैं। तथा कर्म के सामने आत्मा का कुछ भी बल नहीं चलता। अतः कर्म ही बलवान हैं।

निजात्मा का ज्ञान ही कर्म नष्ट करने का उपाय –

कोऽहं कीदृग्गुणः क्वत्यः किं प्राप्यः किं निमित्तकः ।

इत्यूहः प्रत्यहं नो चेदस्थाने हि मतिर्भवेत् ॥७८॥

अन्वयार्थ – (अहं कः) मैं कौन हूँ ? (कीदृक् गुणः) मुझमें कौनसे एवं कैसे गुण हैं ? (क्वत्यः) मैं कहाँ से आया हूँ ? (किंप्राप्यः) मुझे क्या प्राप्त करने योग्य है ? (किंनिमित्तकः) और उसमें क्या निमित्त है ? (चेत्)

यदि (इति ऊहः) इसप्रकार के विचार (प्रत्यहं न स्यात्) प्रतिदिन नहीं हों तो (हि) निश्चय से (मतिः) बुद्धि (अस्थाने भवेत्) अयोग्य स्थान में प्रवृत्त हो जाती है।

सरलार्थ – मैं कौन हूँ ? मुझमें कौन-से गुण हैं ? मैं इस मनुष्यगति में किस गति से आया हूँ ? इस भव में मुझे क्या प्राप्त करना है ? मेरा साध्य क्या है ? जो मेरा साध्य मोक्षमार्ग है, उसके लिए निमित्त क्या हो सकते हैं ? इसप्रकार के विचार प्रतिदिन न हों तो बुद्धि अयोग्य विषयों में प्रवृत्त होती है।

विशेषार्थ – आत्मस्वरूप का यथार्थ चिन्तन न हो तो बुद्धि कुमार्ग में प्रवृत्त होती है अर्थात् संन्मार्ग/मोक्षमार्ग में प्रवृत्त होना हो तो आत्मस्वरूप का चिन्तन करना ही एकमात्र अमोघ उपाय है। कुमार्ग अर्थात् मिथ्यामार्ग/संसारमार्ग/दुःखमार्ग का मूलकारण तो मिथ्यात्व है और मिथ्यात्व को अज्ञानी नानाप्रकार से सुरक्षित रखना चाहता है। कर्म बलवान है, यह मान्यता भी मिथ्यात्व ही है; क्योंकि यह विचार वस्तुस्वरूप से विपरीत है। मिथ्यात्व का नाश करना, कर्म का नाश करना, मोक्षमार्ग प्राप्त करना, आत्मज्ञान प्राप्त करना अथवा सच्चा सुख प्राप्त करना – इन सबका अर्थ एक ही है। इनके लिए साधन भी एक मात्र आत्मचिन्तन/आत्मध्यान ही है। आत्मध्यान के लिए आत्मस्वरूप का ज्ञान चाहिए। ज्ञान के बिना ध्यान हो ही नहीं सकता।

अतः यहाँ आचार्य श्री वादीभसिंह आत्मज्ञान करा रहे हैं –

(१) मैं एक, अनादि-अनन्त, आनन्दकन्द, अनन्त गुणों का गोदाम, सिद्ध समान, अनन्त चतुष्टयस्वभावी, चैतन्यमय, परम स्वतन्त्र भगवत्स्वरूप आत्मा हूँ। वर्तमान मनुष्य पर्याय मात्र मैं नहीं हूँ। पर्याय तो नाशवान होती है; परन्तु मैं तो अविनाशी जीवतत्त्व हूँ।

(२) मुझ में ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, श्रद्धा, चारित्र आदि अनन्त विशेष गुण हैं और अस्तित्व-वस्तुत्व आदि अनन्त सामान्य गुण हैं, जो सभी अविनश्वर हैं।

(३) वास्तव में देखा जाए तो मुझे मोक्ष ही प्राप्त करना है; किन्तु साक्षात् मुक्ति की प्राप्ति इस पंचमकाल में शक्य नहीं है। अतः मोक्षमार्ग तो प्राप्त करना ही है। मोक्षमार्ग रत्नत्रयरूप है, उसमें सम्यग्दर्शन प्रधान है; अतएव आत्मानुभवस्वरूप सम्यग्दर्शन के लिए मुझे प्रयत्न करना है।

(४) सम्यग्दर्शन के लिए सच्चे देव-शास्त्र-गुरु और तत्त्वनिर्णय ही प्रधान निमित्त हैं।

इसप्रकार प्रतिदिन चिन्तन-मनन चलता रहे तो विपरीत मान्यता के लिए अवकाश ही नहीं रहता है, तब कर्म बलवान कैसे हो सकता है ?

मोह ही धर्म का प्रबल शत्रु -

मुह्यन्ति देहिनो मोहान्मोहनीयेन कर्मणा ।

निर्मितान्निर्मिताशेषकर्मणा धर्मवैरिणा ॥७६॥

अन्वयार्थ - (निर्मिताशेषकर्मणा) सम्पूर्ण कर्मों का निर्माण करनेवाले (धर्मवैरिणा) धर्म के शत्रु (मोहनीयेन कर्मणा) मोहनीय कर्म से (निर्मितात्) उत्पन्न (मोहात्) मोह से (देहिनः) प्राणी (मुह्यन्ति) अविवेक को प्राप्त होते हैं।

सरलार्थ - ज्ञानावरणादि आठों कर्मों का जनक, धर्म के शत्रुरूप, द्रव्य मोहनीय कर्मोदय से उत्पन्न मोहभाव से प्राणी मोहित होकर आत्मस्वरूप को भूलते हुए संसार में भटकते हैं।

विशेषार्थ - ज्ञानावरणादि आठ मूल कर्म अथवा १४८ उत्तर भेदरूप कर्म प्रकृतियाँ हैं। उनमें नया बन्ध कराने के लिए एकमात्र मोह ही निमित्त है। अन्य ज्ञानावरणादि तीन घातिया कर्म, वेदनीयादि चार अघाति कर्म नए बन्ध का निमित्त कारण नहीं हैं; अतएव मोहभाव अपने जीवन में न हो, ऐसा प्रयास सदैव करना चाहिए।

द्रव्यमोहकर्म के उदय के निमित्त से जीव को मोह परिणाम होते हैं - यह बात यहाँ व्यवहार नय की अपेक्षा से कही गई है; इसका मर्म हमें समझना

चाहिए। द्रव्यकर्म का उदय और जीव का मोहभाव इन दोनों में निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है, कर्त्ता-कर्म सम्बन्ध नहीं।

द्रव्यमोह जीव को मोह उत्पन्न कराता है – ऐसा नहीं समझना चाहिए। निमित्तरूप द्रव्यमोह कर्म, पुद्गल द्रव्य की अवस्था है और मोह परिणाम जीव की अवस्था है। दोनों अपने-अपने में स्वतन्त्र हैं। मोहभावरूप परिणमित होना तो जीव का अपराध है, कर्म का नहीं।

वास्तव में देखा जाए तो द्रव्यकर्म का उदय और जीव का विकारी परिणाम – ये दोनों एक समय में होते हैं। फिर दोनों का कर्त्ता-कर्म सम्बन्ध कैसा ? यदि द्रव्यकर्म का उदय एक समय पहले होता और जीव के परिणाम एक समय पश्चात् होते तो द्रव्यकर्म ने जीव के परिणामों को किया – ऐसा कहा जाना या समझना उचित होता। निमित्त और नैमित्तिक दोनों पर्यायों में केवल काल-प्रत्यासत्ति है अर्थात् काल की समीपता है, एक काल है।

जैसे – सूर्य के उदयकाल में कमल स्वयं विकसित होता है, सूर्योदय कमल को विकसित नहीं कराता। सूर्य का उदय होना और कमल का विकसित होना – ये दोनों कार्य अपने-अपनेरूप से स्वतन्त्र हैं, कोई किसी के अधीन नहीं है। इसीप्रकार कर्म और जीव के विकारी परिणामों का सम्बन्ध समझना चाहिए। अपराध जीव का ही है – ऐसा स्वीकार हो तो ही जीव अपने अपराध को दूर करने का पुरुषार्थ कर सकता है; अन्यथा नहीं।

ज्ञानी का स्वरूप सम्बोधन –

किं नु कर्तुं त्वयारब्धं किं नु वा क्रियतेऽधुना ।

आत्मन्नारब्धमुत्सृज्य हन्त बाह्येन मुहासि ॥८०॥

अन्वयार्थ – [अत्र नीतिः] (आत्मन्) हे आत्मन ! (त्वया) तूने (किं नु कर्तुं आरब्धं) कार्य का प्रारम्भ किस पावन उद्देश्य से किया था और (अधुना किं नु क्रियते) अब तू ऐसे मोह के कार्य करके यह क्या कर रहा है ? (हन्त) बड़े खेद की बा है कि (आरब्धं उत्सृज्य) प्रारम्भ किए हुए

आत्महित के कार्य को छोड़कर (बाह्योन) बाह्य पदार्थों से (मुह्यसि) मोह को प्राप्त हो रहा है।

सरलार्थ – हे आत्मन ! तूने क्या करना प्रारम्भ किया था और अब तू क्या कर रहा है ? महान खेद की बात है कि प्रारम्भ किए हुए आत्म-कल्याणरूप मोक्षमार्ग को छोड़कर बाह्य मान-सम्मान, पंचेन्द्रियों के विषय और व्यवहार धर्म प्रभावना आदि कार्यों में मोह कर रहा है।

विशेषार्थ – जैसे मनुष्य को अपने जीवन की स्थिरता के लिए श्वासोच्छ्वास अनिवार्य है; वैसे ही मोक्षार्थी मनुष्य के लिए आत्मकल्याण अर्थात् वीतरागता-मोक्षमार्ग प्रगट करना तथा उसे दिन-प्रतिदिन बढ़ाते जाना अनिवार्य है। उनका जीवनक्रम ही मोक्षमार्गरूप बन जाता है। सावधानी हटते ही मोह-राग-द्वेषरूप परिणामों की दुर्घटना घटित होने लगती है। इसप्रकार की परिस्थितियों में साधक सहज ही उक्त पद्धति से अपने को स्थिर करने का प्रयत्न करता है।

परपदार्थों में इष्टानिष्ट की मिथ्या-कल्पना –

इदमिष्टमनिष्टं वेत्यात्मन्सङ्कल्पयन्मुधा ।

किं नु मोमुह्यसे बाह्ये स्वस्वान्तं स्ववशी कुरु ॥८१॥

अन्वयार्थ – (आत्मन्) हे आत्मन् ! (इदं इष्टं वा अनिष्टं) यह इष्ट है अथवा अनिष्ट है (इति) इसप्रकार (मुधा) असत्य (सङ्कल्पयन्) संकल्प करता हुआ (त्वं) तू (बाह्ये) बाह्य पदार्थों में (किं नु) क्यों (मुह्यसे) मुग्ध हो रहा है ? (स्वस्वान्तं स्ववशी कुरु) तू तो अपने मन को अपने वश में कर !

सरलार्थ – हे आत्मन् ! अमुक पदार्थ इष्ट/सुखदायक है और अमुक पदार्थ अनिष्ट/दुःखदायक है; इसप्रकार कल्पना करता हुआ तू बाह्य परपदार्थों में व्यर्थ क्यों मुग्ध हो रहा है ? अपने मन को अपने आधीन कर।

विशेषार्थ – इस षट्द्रव्यमयी विश्व में चेतन-अचेतन, रूपी-अरूपी, क्रियाशील-निष्क्रिय पदार्थों का जैसा विभाजन जानने में आता है; पदार्थों का वैसा इष्ट-अनिष्टरूप विभाजन न तो सर्वज्ञ भगवान ने बताया है और न ज्ञानियों के ज्ञान में प्रत्यक्ष अनुभव में आ रहा है। अज्ञानी अपनी मति/कल्पना से ही वस्तुओं या पदार्थों को इष्ट-अनिष्ट मानता है।

जैसे वर्षा किसी को इष्ट लगती है और वही वर्षा उसीसमय किसी को अनिष्ट लगती है। यह तो अज्ञानी का मोहरूप परिणाम है, वस्तु व्यवस्था इष्टानिष्टरूप नहीं है। वस्तु व्यवस्था का यथार्थ निर्णय करना ही अपने मन को वश में करना है।

अशान्त मन अहितकारी –

लोकद्वयाहितोत्पादि हन्त स्वान्तमशान्तिमत् ।

न द्वेक्षि द्वेक्षि ते मौढ्यादन्यं सङ्कल्प्य विद्विषम् ॥८२॥

अन्वयार्थ – [अत्र नीतिः] (हन्त) बड़े खेद की बात है ! (त्वं) तू (लोकद्वयाहितोत्पादि) इस लोक और परलोक में अहित को उत्पन्न करनेवाले (अशान्तिमत्) अशान्तिमय (ते स्वान्तं) अपने मन से (न द्वेक्षि) द्वेष नहीं करता है; किन्तु (मौढ्यात्) मूर्खता से (अन्यं) दूसरों को (विद्विषं सङ्कल्प्य) शत्रु समझकर (द्वेक्षि) द्वेष करता है।

सरलार्थ – बड़े खेद की बात है कि – इहलोक और परलोक में दुःख उत्पन्न करनेवाले अशान्तिमय अपने मन से अज्ञानी द्वेष नहीं करता है; किन्तु दूसरों को शत्रु/दुःखदायक मानकर उनसे ही द्वेष करता है।

विशेषार्थ – पड़ोसी, शरीर, काल, कर्म इत्यादि पर पदार्थों के दोषों को देखना तीव्रकषायरूप पाप परिणाम है। ऐसे कषायी जीव तो धर्म समझने के लिए भी पात्र नहीं हैं। अपने दोषों को देखना मन्दकषायरूप पुण्य परिणाम है। मन्दकषायी जीव ही धर्म प्रगट करने के लिए पात्र है।

जैसे स्वर्ण की परीक्षा करने के लिए कसौटी आवश्यक है, वैसे ही अपनी पर्याय

के गुण-दोषों को जानने के लिए अरहन्त भगवान और निज शुद्धात्मा का ज्ञान आवश्यक है। जो निज शुद्धात्मा के यथार्थ ज्ञान के साथ वर्तमानकालीन पर्यायगत दोषों को जानकर निज शुद्धात्मा का आश्रय करके अपने दोषों को निकालता है, वह पर्याय में परमात्मा बनता ही है।

अपने दोष देखना ही मुक्ति का उपाय -

अन्यदीयमिवात्मीयमपि दोषं प्रपश्यता।

कः समः खलु मुक्तोऽयं युक्तः कायेन चेदपि ॥८३॥

अन्वयार्थ - [अत्र नीतिः] (अन्यदीयं दोषं इव) दूसरों के दोषों के सदृश (आत्मीयं) अपने (दोषं अपि प्रपश्यता) दोषों को भी देखनेवाला पुरुष (कः समः) किसके समान है ? (अयं) अरे ! यह तो (खलु) निश्चय से (कायेन युक्तः चेत्) शरीर से युक्त होता हुआ (अपि) भी (मुक्तः) मुक्त ही है।

सरलार्थ - इस जगत में दूसरों के दोषों के समान अपने दोषों को देखनेवाला महापुरुष किसके समान है ? अरे, वास्तव में विचार किया जाए तो वह मनुष्य तो शरीर सहित होने पर भी सिद्ध है।

विशेषार्थ - पर दोषों को देखना मिथ्यात्व अर्थात् महापाप है। अतः स्वदोषदर्शी जीव शरीर सहित होने पर भी उसे सिद्ध कह रहे हैं। शरीर रहित होने पर तो जीव साक्षात् सिद्ध होता ही है। जो पूर्णता के लक्ष्य से पुरुषार्थ प्रारम्भ करता है, वह जीव सम्यग्दृष्टि होता ही है। सम्यक् = यथार्थ, दृष्टि = जानना-देखना। वस्तु स्वभाव को जो यथार्थ दृष्टि से जानता-देखता है, वही तो सम्यग्दृष्टि है। ऐसे जीव को दृष्टिमुक्त भी कहते हैं। श्रद्धा में यथार्थता आना ही दृष्टिमुक्त अवस्था है।

जिसकी दृष्टि सदा दूसरों के दोषों पर ही रहती है, वह आज नहीं तो कल सही स्वयं दोषी होगा ही; क्योंकि जिसका ज्ञान अखण्ड रीति से दोषों को ही ज्ञेय बनाता रहता है/जानता रहता है, वह दोषी तो हो ही जाता है।

अतः दूसरों के दोषों को न सुनना चाहिए, न कहना चाहिए और न सोचना ही चाहिए।

केकीयन्त्र का दुःखद कार्य -

इत्याद्यूहपरे लोके केकी तु वियता गतः ।

पातयामास राज्ञीं तां तत्पुरप्रेतवेश्मनि ॥८४॥

अन्वयार्थ - (लोके) वहाँ के लोगों के उससमय (इत्याद्यूहपरे) इसप्रकार के विचारों में मग्न होने पर (वियता गतः) आकाश में गए हुए (केकी) मयूराकृतिवाले यन्त्र ने (तां राज्ञीं) उस विजया रानी को (तत्पुरप्रेतवेश्मनि) उस नगर की श्मशान-भूमि में (पातयामास) गिरा दिया/उतार दिया।

संरलार्थ - सत्यन्धर राजा के वियोग से दुःखी नगरवासी एवं देशवासी लोग पूर्वोक्त प्रकार से विचार कर ही रहे थे, उसीसमय आकाशमार्ग से गए केकीयन्त्र ने गर्भवती रानी विजया को राजपुरी नगरी की श्मशान-भूमि में गिरा दिया/उतार दिया।

विशेषार्थ - युद्ध प्रारम्भ करने के पूर्व राजा सत्यन्धर ने अपने वंश की रक्षार्थ गर्भवती रानी विजया को केकीयन्त्र (मयूर आकृति के वायुयान) में बिठाकर आकाशमार्ग से उड़ा दिया था; उसके परिणाम का यहाँ चित्रण है।

पापोदय की विचित्रता -

जीवानां पापवैचित्रीं श्रुतवन्तः श्रुतौ पुरा ।

पश्येयुरधुनेतीव श्रीकल्पाभूदकिञ्चना ॥८५॥

अन्वयार्थ - (पुरा) पूर्व से (श्रुतौ) शास्त्रों में (जीवानां पाप-वैचित्रीं) जीवों के पापों की विचित्रता को (श्रुतवन्तः) सुननेवाले पुरुष (अधुना) इस समय (पश्येयुः) प्रत्यक्ष देख लें कि (इतीव हेतोः) पापोदय के कारण (श्रीकल्पा) लक्ष्मी के समान विजया रानी (अकिञ्चना अभूत्) जन-धन से शून्य हो गई है।

सरलार्थ – पापोदय की विचित्रता को मनुष्य शास्त्रों से ही जानते और सुनते आए हैं; उन्हें वर्तमान जीवन में प्रत्यक्षरूप से पापकर्मों का अनुभव हो; मानो इसलिए ही साक्षात् लक्ष्मी के समान वैभवसम्पन्न रानी विजया धन-जन से सर्वथा रहित हो गई।

विशेषार्थ – पापकर्मों की विचित्रता को जानना हो तो शास्त्रों को ही पढ़ना चाहिए; ऐसा नियम आवश्यक नहीं है। थोड़ा-सा विचारपूर्वक मनुष्य अपने गाँव, गली तथा घर में भी कुछ घटनाओं को देखे और सोचे तो पाप की विचित्रता स्वयमेव ही उसे समझ में आती है। अतः मनुष्यों को विचारपूर्वक पापों से परावृत्त होना ही चाहिए। रानी विजया के जीवन की दुर्दशा जानकर किसे पाप का फल ख्याल में नहीं आएगा ?

ऐश्वर्य की नश्वरता –

क्षणनश्वरमैश्वर्यमित्यर्थ सर्वथा जनः।

निरणैषीदिमां दृष्ट्वा दृष्टान्ते हि स्फुटा मतिः ॥८६॥

अन्वयार्थ – (जनः) लोगों ने (इमां दृष्ट्वा) रानी को देखकर (ऐश्वर्य क्षणनश्वरं) राज-सम्पत्ति क्षण में नष्ट हो जाती है (इत्यर्थ) इस अर्थ को (सर्वथा) सर्वप्रकार से (निरणैषीत्) निर्णय किया।

[अत्र नीतिः] (हि) क्योंकि (दृष्टान्ते) दृष्टान्त मिलने पर (मतिः) बुद्धि (स्फुटा भवेत्) निर्मल हो जाती है।

सरलार्थ – रानी विजया की अत्यन्त दुःखद अवस्था देखकर तन, धन एवं जन का आकर्षक ठाट-बाट क्षणभंगुर है; ऐसा स्पष्ट निर्णय लोगों को सहज ही हो गया; क्योंकि कोई भी कठिन विषय हो तो वह विषय दृष्टान्त के माध्यम से मन्दबुद्धि जीवों को भी सहजता से समझ में आ जाता है।

विशेषार्थ – ‘जगत में पापकर्म के उदय से जीव अत्यन्त दुःखी होता है।’ यह परम सत्य रानी विजया के दुःखमय जीवन के उदाहरण से अल्पज्ञ/सामान्य जीवों को भी तत्काल सहज समझ में आ जाता है।

आत्महितैषी पाप से डरते हैं -

पूर्वाहणे पूजिता राज्ञी राज्ञा सैवापराहणके ।

परेतभूशरण्याभूत्पापात् बिभ्यतु पण्डिताः ॥८७॥

अन्वयार्थ - [या] (राज्ञी) जो रानी (पूर्वाहणे) प्रातःकाल (राज्ञा) राजा से (पूजिता) सम्मानित थी, (सा एव) उसी रानी ने (अपराहणके) मध्याह्न काल में (परेतभूशरण्याभूत्) श्मशानभूमि की शरण ली ।

[अत्र नीतिः] इसी कारण (पापात्) पाप से (पण्डिताः बिभ्यतु) पण्डित लोग डरें ।

सरलार्थ - सौन्दर्य-सम्पन्न पटरानी विजया का प्रातःकाल तो राजा सत्यन्धर ने अतिशय प्रेमवश राजभवन में सम्मान किया था; किन्तु पापोदय से कुछ घण्टों पश्चात् ही उसी दिन अपराह्न में गर्भवती होने पर भी रानी को श्मशान-भूमि में आश्रय लेना पड़ा । अतः विद्वानों को पाप से डरना चाहिए ।

विशेषार्थ - इस श्लोक में पण्डितों/विद्वानों को पाप से डरने का उपदेश दिया है, अज्ञानियों को क्यों नहीं - ऐसा पक्षपात क्यों ? ऐसा प्रश्न कोई कर सकता है ।

उसका उत्तर - वैद्य भी उस रोगी का उपचार करता है, जिसके जीने की उसे आशा होती है । यह रोगी नियम से अल्पकाल में ही मरनेवाला है - ऐसा निर्णय हो जाने पर वैद्य उस रोगी को व्यर्थ ही औषधि क्यों देगा ? उसका उपचार करके उसकी मृत्यु का अपयश अपने माथे क्यों लेगा ? उसीप्रकार उपदेशक भी पात्र जीव को ही समझाते हैं । जो समझने की भावना रखता है, उसे ही समझाने की भावना उपदेशक की होती है । इसमें पक्षपात की बात नहीं है । पात्र जीव को ही उपदेश फलदायक होता है, अपात्र को नहीं । तीर्थकर भगवन्तों की दिव्यध्वनि भी संज्ञी जीवों के लिए ही होती है, असंज्ञी के लिए नहीं ।

जीवन्धरकुमार का जन्म -

सा तु मूर्च्छा पराधीना सूतिपीडामजानती ।

मासि वैजनने सूनं सुषुवे हन्त तद्दिने ॥८८॥

अन्वयार्थ – (तु) तदनन्तर (हन्त) खेद है (तद् दिने) उसी दिन (वैजनने मासि) प्रसव मास में (मूर्च्छा पराधीना सा) मूर्च्छा के आधीन उस रानी ने (सूतिपीडां) प्रसूति की पीडा (अजानती) नहीं जानती हुई (सूनं सुषुवे) पुत्र को जन्म दिया ।

सरलार्थ – रानी विजया ने मूर्च्छित अवस्था में ही प्रसव के दुःख को न जानते हुए, जिस दिन राजा सत्यन्धर की मृत्यु हुई; उसी दिन गर्भ काल पूर्ण होने पर श्मशान-भूमि में जीवन्धरकुमार को जन्म दिया ।

विशेषार्थ –

जीवन्धरकुमार का जन्म श्मशान-भूमि में हुआ । यह घटना हमें अनेक प्रकार का बोध देती है – (१) जीवन्धरकुमार इसी भव से मोक्ष जानेवाले हैं,



महापुरुष हैं तो भी उनका जन्म अति अपवित्र श्मशान-भूमि में हुआ । अतः जन्म के स्थान से मोक्षप्राप्ति का कोई सम्बन्ध नहीं है – यह बात स्पष्ट हो जाती है । (२) आयुर्कर्म शेष हो और जीव की पर्यायगत विशिष्ट योग्यता हो तो अति प्रतिकूलता में भी मनुष्य का जीवन सुरक्षित रहता है । (३) बाह्य वातावरण अनुकूल या प्रतिकूल हो, कोई जन्म लेना चाहे या न लेना चाहे और कोई जन्म देना चाहे या न देना चाहे; परन्तु जो होनेवाला है, वह होकर ही रहता है । भवितव्यता को टालने में कोई समर्थ नहीं है ।

उपकथा - १

धाय के रूप में देवी का आगमन -

तावता देवता काचिद्धात्रीवेषेण संन्यधात् ।

तत्रैव पुत्रपुण्येन पुण्ये किं वा दुरासदम् ॥८६॥

अन्वयार्थ - (तावता) उसीसमय (तत्रैव) वहाँ पर (पुत्रपुण्येन) पुत्र के पुण्य से (काचिद् देवता) कोई देवी (धात्रीवेषेण) धाय का वेष धारण कर (संन्यधात्) आई।

[अत्र नीतिः] (पुण्ये किं) पुण्य के उदय में क्या (दुरासदं) दुर्लभ है? [न किमपि] कुछ भी दुष्प्राप्य या दुर्लभ नहीं होता है।

सरलार्थ - पुत्र के पुण्योदय से उसीसमय एक देवी धाय का रूप धारण करके माँ विजया के पास आ गई; क्योंकि पुण्योदय होने पर कौन-सी वस्तु दुर्लभ रह जाती है ? कोई भी नहीं, सर्व वस्तुएँ सुलभ हो जाती हैं।



विशेषार्थ - अज्ञानी ऐसा सोचते हैं कि वीतरागी देव तो हम पर प्रसन्न होते नहीं हैं। अतः जो प्रसन्न हो सकते हैं, ऐसे क्षेत्रपाल, पद्मावती आदि जिनशासन के देव-देवियों को प्रसन्न करने का प्रयास करना चाहिए। वे सरागी

देव-देवियाँ संकट काल में हमारी सहायता करेंगे। उनका ऐसा सोचना/मानना, मिथ्या है।

आचार्यश्री ने इस श्लोक में अज्ञानी की इस मान्यता का खण्डन ही किया है। जिनेन्द्र भगवान के भक्त देव-देवियाँ यदि हमारे पुण्य का उदय हो तो बिना बुलाए स्वयमेव ही आकर सहायता करते हैं। देखो ! यहाँ माँ विजया और जीवनधरकुमार की सहायता देवी ने स्वयं ही आकर की है न ?

देवगति के देव हमारे साधर्मी अवश्य हैं; क्योंकि हम भी वीतरागी भगवान के उपासक हैं और वे भी उन्हीं वीतरागी भगवन्तों के उपासक हैं। अतः साधर्मी को साधर्मी पर उपकार करने का भाव आता ही है। रागी-द्वेषी कोई भी देव-देवियाँ हमारे लिए वन्दनीय-पूजनीय नहीं हैं। देव-देवियों का उल्लेख न तो णमोकार मन्त्र में है और न चत्तारि-दण्डक में। (विशेष स्पष्टीकरण के लिए मोक्षमार्गप्रकाशक का अध्याय ६, पृष्ठ-१७३ तथा कार्तिकेयानुप्रेक्षा की गाथा क्र. ३१ एवं ३२० देखें।)

हितचिन्तकों के सान्निध्य में दुःख बढ़ता है -

तां पश्यन्त्या अभूत्तस्या उद्वेलः शोकसागरः ।

सन्निधौ हि स्वबन्धूनां दुःखमुन्मस्तकं भवेत् ॥६०॥

अन्वयार्थ - (तां) उसको (पश्यन्त्याः) देखकर (तस्याः) रानी का (शोकसागरः) शोकरूपी सागर (उद्वेलः अभूत्) उमड़ पड़ा और बढ़ गया।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (स्वबन्धूनां) अपने बन्धुओं के (सन्निधौ) निकट होने पर (दुःखं) दुःख (उन्मस्तकं भवेत्) पूर्व से अत्यन्त अधिक हो जाता है।

सरलार्थ - धाय माता के वेष में देवी को देखते ही माँ विजया का दुःखरूपी समुद्र उमड़ पड़ा और दुःख अतिशय बढ़ गया; क्योंकि हितचिन्तकों की समीपता होने पर दुःख बढ़ ही जाता है।

विशेषार्थ - हितचिन्तकों को देखते ही दुःख की अभिव्यक्ति बढ़ती

ही है। जैसे – कोई बालक अकेला खेलता हो और वह खेलते-खेलते स्वयं गिर जाए, थोड़ी चोट भी लगे तो रोता नहीं है; किन्तु गिरते समय उसका कोई हितचिन्तक माँ अथवा अन्य कोई दिखे तो नियम से वह रोने लगता है। यही प्रवृत्ति प्रौढ़ लोगों में भी देखने को मिलती है।

प्रवृत्ति की अपेक्षा बड़े-बड़े बुजुर्ग/वृद्ध भी बच्चे जैसे ही हैं। माता विजया भयानक श्मशान में अत्यन्त दुःखद अवस्था में जब अकेली थी तब दुःखी तो थी, पर रोती नहीं थी; किन्तु अपने निकट हितचिन्तक धाय को देखते ही विह्वल होकर रोने लगी।

देवी का माँ विजया को समझाना –

देवता तु समाश्वास्य जातमाहात्म्यवर्णनैः ।

ऊर्णादिदर्शनोद्भूतैर्देवीं तामित्यवोचयत् ॥६१॥

अन्वयार्थ – (तु) तदनन्तर (देवता) उस देवी ने (ऊर्णादिदर्शनोद्भूतैः) भौं के मध्य बालों के ऊपर भौंरी इत्यादिक अनेक चिह्न दिखाकर (जातमाहात्म्यवर्णनैः) बालक का माहात्म्य वर्णन करके (तां देवीं समाश्वास्य) उस रानी को विश्वास दिलाकर (इति अवोचयत्) इसप्रकार कहा।

सरलार्थ – तब धाय का रूप धारण करके आई देवी ने रानी विजया को बालक के भौं के मध्य में बालों के ऊपर भौंरी आदि के शुभ चिह्न दिखाए और विश्वासपूर्वक धैर्य बँधाकर नवजात शिशु के महत्त्व को समझाया।

विशेषार्थ – किसी भी माँ को प्रेमपूर्वक सहज जीतना हो तो उसके पुत्र के गुणों की प्रशंसा करो और पुत्र की विशेषताएँ बताते जाओ, तब वह माता प्रसन्न तो होगी ही और उसके साथ ही आपकी अन्य बातें भी मान लेगी। यहाँ बालक जीवन्धरकुमार कामदेव और तद्भव मोक्षगामी हैं; अतः प्रशंसा के योग्य तो हैं ही।

माँ विजया को देवी का आश्वासन -

पुत्राभिवर्धनोपाये देवि ! चिन्ता निवर्त्यताम् ।

क्षत्रपुत्रोचितं कश्चिदेनं संवर्धयिष्यति ॥६२॥

अन्वयार्थ - (देवि) हे देवी ! तुम (पुत्राभिवर्धनोपाये) पुत्र की वृद्धि के उपाय में (चिन्ता निवर्त्यतां) चिन्ता मत करो (कश्चित्) कोई (क्षत्रपुत्रोचितं) क्षत्रियों के पुत्रों के योग्य (एनं) इसका (संवर्धयिष्यति) पालन-पोषण करेगा ।

सरलार्थ - हे माता ! तुम अपने पुत्र के बड़े होने और पालन-पोषण की चिन्ता छोड़ दो । कोई मनुष्य आपके इस पुत्र का क्षत्रिय पुत्र के योग्य उत्तम पद्धति से लालन-पालन करेगा ।

विशेषार्थ - साधनहीन और असहाय माता विजया को अपने सुपुत्र के बड़े होने और उसके पालन-पोषण की चिन्ता होना स्वाभाविक ही है । अतः देवी ने अपने अवधिज्ञान से जानकर कहा - 'हे माता ! तुम चिन्ता मत करो, अल्पकाल में ही सब व्यवस्था सहज ही होनेवाली है ।'

उपकथा - २

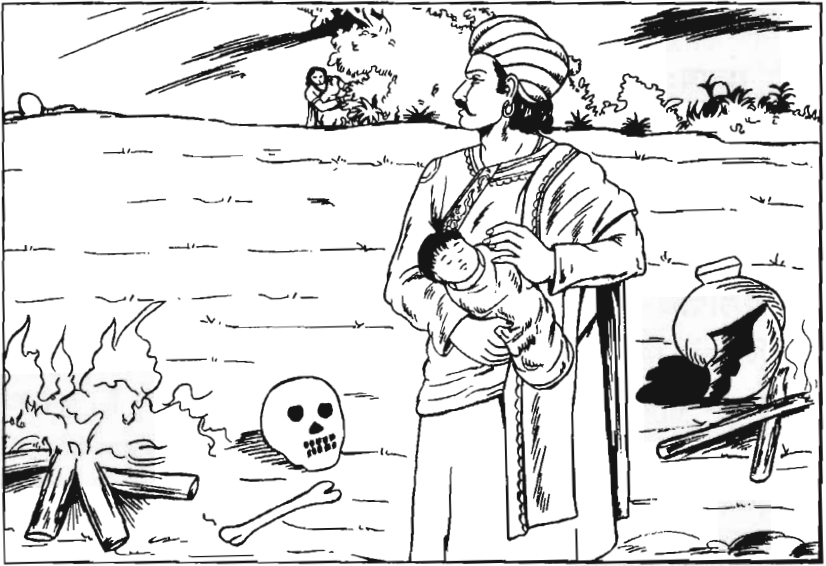
देवी के कहते ही विशिष्ट घटना का घटित होना -

इत्युक्ते कोऽपि दृष्टोऽभूद्विसृष्टप्रेतसूनुकः ।

सूनुं सूनुतयोगीन्द्रवाक्यात्तत्र गवेषयन् ॥६३॥

अन्वयार्थ - (इत्युक्ते) ऐसा कहते ही (विसृष्टप्रेतसूनुकः) रखा है मेरे हुए पुत्र को जिसने ऐसा और (सूनुतयोगीन्द्रवाक्यात्) सत्यार्थ मुनिराज के वचन से (तत्र सूनुं गवेषयन्) वहाँ पर जीवित पुत्र को ढूँढ़ता हुआ (कः अपि दृष्टः अभूत्) कोई दिखाई दिया ।

सरलार्थ - देवी का कथन पूर्ण होते ही एक मनुष्य अपने मृत पुत्र को श्मशान में एक ओर रखकर मुनिश्री के सत्य वचन पर विश्वास करके अन्य जीवित बालक को खोजने लगा ।



विशेषार्थ – उसी राजपुरी नामक नगरी में गन्धोत्कट नाम के एक सेठ निवास करते थे। उसके पुत्र तो होते थे; पर जीवित नहीं रहते थे। एक दिन श्री शीलगुप्त नाम के अवधिज्ञानी मुनिराज नगर में पधारे। सेठ ने उनसे अपने पुत्र जीवित न रहने की बात कही। तब मुनिराज ने बताया कि “अब जो पुत्र उत्पन्न होगा, वह भी तत्काल मर जाएगा; किन्तु उसे जब तुम श्मशान में ले जाओगे, तब तुम्हें वहाँ तत्काल जन्मा एक बालक मिलेगा। उसे तुम घर ले आना और उसका लालन-पालन करना। इसके पश्चात् तुम्हारे जो पुत्र होंगे, वे जीवित रहेंगे।” अतः मुनि-वचनानुसार सेठ अपने मृत बालक का अंतिम संस्कार करके नवजात शिशु की खोज कर रहे थे; जिसे रानी विजया ने देख लिया।

माँ विजया का देवी के वचनों पर विश्वास –

तद्दर्शनेन तद्वाक्यं प्रमाणं निर्णिनाय सा।

निश्चलादविसंवादाद्वस्तुनो हि विनिश्चयः ॥१४॥

अन्वयार्थ – (सा) उस विजया रानी ने (तद्दर्शनेन) उस सेठ को देखने से (तद्वाक्यं) देवी के वचनों को (प्रमाणं निर्णिनाय) प्रमाण/सत्य समझा।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (निश्चलात्) निश्चल/स्थिर

(अविसंवादात्) और विसंवाद रहित वचन से (वस्तुनः) वस्तु का (विनिश्चयः) निश्चय होता है।

सरलार्थ – माता विजया ने गन्धोत्कट को बालक की खोज करते हुए देखकर देवी के वचनों को प्रमाणित और सत्यार्थ मान लिया; क्योंकि प्रमाणित और विवादरहित वचनों से वस्तु तथा कथन पर विश्वास होता ही है।

विशेषार्थ – किसी वस्तु, घटना अथवा कथन का निश्चय प्रत्यक्षरूप से प्रमाणित हो जाता है तो उस पर प्रतीति/श्रद्धा होती ही है। चतुर लोग परीक्षा करके अथवा प्रत्यक्ष अनुभव करके सत्यासत्य का निर्णय करते हैं। वास्तव में यथार्थ निर्णय करने के लिए यही पद्धति सुखद है। रानी विजया को देवी के वचन प्रमाणित हो रहे हैं।

राजमुद्रा पहनाकर माँ का छिपना –

ततो गत्यन्तराभावाद्देवताप्रेरणाच्च सा ।

पित्रीयमुद्रयोपेतमाशास्यान्तर्धात्सुतम् ॥६५॥

अन्वयार्थ – (ततः) तदनन्तर (सा) वह रानी (गत्यन्तराभावात्) और कोई उपाय न देखकर (च) एवं (देवताप्रेरणात्) उस देवी की प्रेरणा से (पित्रीयमुद्रयोपेतं) पिता की मुद्रा से युक्त (सुतं) पुत्र को (आशास्य) आशीर्वाद देकर (अन्तर्धात्) छिप गई।

सरलार्थ – देवी का कथन सत्य है; ऐसा निर्णय होने पर माँ विजया अन्य कोई उपाय न होने से तथा देवी की प्रेरणा से राजा सत्यन्धर की राजमुद्रा/ अँगूठी अपने नवजात बालक को पहनाकर और उसे आशीर्वाद देकर वहीं छिप जाती है।

विशेषार्थ – माँ अपने तत्काल प्रसूत पुत्र को परिस्थितिवश जब छोड़ती है तो उसे होनेवाले अन्तरंग असह्य दुःख को वह स्वयं ही जान सकती है/ अनुभव कर सकती है। उस दुःख को कहने अथवा लिखने में कोई भी समर्थ नहीं हो सकता।

अपने हृदय पर पत्थर रखकर निरुपाय रानी विजया, देवी की प्रेरणा से बालक के हाथ में राजमुद्रा पहनाती है। उसका उद्देश्य यह है कि बालक को उठाकर ले जानेवाला व्यक्ति यह जान ले कि यह बालक राजपुत्र है; जिससे उसका लालन-पालन भी राजपुत्र जैसा ही हो। पुत्र को आशीर्वाद देने का, उसकी दीर्घायु की कामना करने का माँ को जन्मसिद्ध अधिकार होता है; उस अधिकार का उपयोग करके 'चिरकाल पर्यन्त जीवित रहो' – ऐसा आशीर्वाद देकर स्वयं लज्जावश वहीं झाड़ियों में छिप जाती है।

बालक पाकर अत्यधिक प्रसन्न होना –

गन्धोत्कटोऽपि तं पश्यन्नातृपद्वैश्यनायकः ।

एधोन्वेषिजनैर्दृष्टः किं वा न प्रीतये मणिः ॥९६॥

अन्वयार्थ – (वैश्यनायकः) वैश्यों के मुखिया (गन्धोत्कटः अपि) गन्धोत्कट भी (तं) उस बालक को (पश्यन्) देखकर देखते ही रहे, (न अतृपत्) तृप्त नहीं हुए।

[अत्र नीतिः] (एधोन्वेषिजनैः) ईन्धन ढूँढ़नेवाले मनुष्यों द्वारा (दृष्टः) देखी गई (मणिः) मणि (किं वा) क्या (प्रीतये न भवति) प्रीति के लिए नहीं होती है ? किन्तु अवश्य ही प्रीति के लिए होती है।

सरलार्थ – श्मशान में खोजते हुए श्रेष्ठिवर गन्धोत्कट को उस बालक को देखकर अत्यधिक प्रसन्नता हुई। वे बालक के सौन्दर्य को बार-बार देखकर भी तृप्त नहीं हो रहे थे। जैसे ईन्धन की खोज में जानेवाले निर्धन व्यक्ति को यदि मणि मिल जाए तो क्या उसे अत्यधिक प्रसन्नता नहीं होती ? होती ही है। अतः वैसा ही आनन्द सेठ गन्धोत्कट को हुआ।

विशेषार्थ – सेठ गन्धोत्कट तो मुनिराज के वचनों पर विश्वास करके श्मशान में किसी बालक को इसलिए खोज रहे थे, जिससे कि भविष्य में होनेवाले अपने बच्चे जीवित रहें, बालक जीवन्धरकुमार तो उनके बच्चों के जीवित रहने का निमित्त बनेगा। उन्हें न सुन्दर बच्चा चाहिए था, न राजकुमार; उन्हें तो मात्र एक बच्चा चाहिए था। संयोग से सेठ गन्धोत्कट को अतिसुन्दर

और वह भी राजपुत्र मिल गया। बच्चे के हाथ की अंगूठी देखकर सेठ को विश्वास हो गया कि यह राजपुत्र ही है। अतः ईन्धन के स्थान पर मणि मिलने पर जैसा आनन्द निर्धन लकड़हारे को होता है, वैसा ही आनन्द सेठ गन्धोत्कट को हुआ।

बालक का नामकरण -

हर्षकण्टकिताङ्गोऽयमादधानस्तमङ्गजम् ।

जीवेत्याशिषमाकर्ण्य तन्नाम समकल्पयत् ॥६७॥

अन्वयार्थ - (हर्षकण्टकिताङ्गः) हर्ष से रोमाञ्चित है अंग जिसका ऐसे (अयं) इसे गन्धोत्कट ने (तं अङ्गजं) उस पुत्र को (आदधानः) उठाकर (जीव) जीव (इति आशिषं) ऐसा आशीर्वाद (आकर्ण्य) सुनकर (तन्नाम समकल्पयत्) उसका नाम जीवक वा जीवन्धर रखा।

सरलार्थ - सेठ गन्धोत्कट का समस्त शरीर उस राजपुत्र को उठाते ही अति आनन्द से रोमांचित हो रहा था। सेठ ने 'चिरंजीवी भव' - यह आशीर्वाद भी सुना। अतः उन्होंने उस बालक का नाम जीवक/जीवन्धर रख दिया।

सेठानी को बालक सौंपना -

अमृतं सूनुमज्ञानात्संस्थितं कथमभ्यधाः ।

इति क्रुध्यन्स्वभार्यायै सानन्दोऽयमदात्सुतम् ॥६८॥

अन्वयार्थ - इसके पश्चात् घर जाकर (स्वभार्यायै) अपनी स्त्री/पत्नी पर (क्रुध्यन्) क्रोध करते हुए (सानन्दः अयं) आनन्द सहित गन्धोत्कट ने (सुतं अदात्) पुत्र को सौंप दिया और पत्नी से कहा - (अमृतं) नहीं मरे हुए (सुनूं) बालक को (अज्ञानात्) अज्ञान से तुमने (संस्थितं) मरा हुआ (कथं) कैसे (अभ्यधाः) कह दिया ?

सरलार्थ - श्मशान-भूमि से घर लौटते ही सेठ ने सेठानी से क्रोधित होते हुए कहा - तुमने अज्ञान से जीवित बालक को मरा हुआ कैसे कह दिया ? लो ! समहालो अपने पुत्ररत्न को।

विशेषार्थ - प्रत्येक माँ के हृदय में अपने बच्चों के प्रति अत्यधिक स्नेह होता है; किन्तु जितना अपने बच्चों के प्रति होता है उतना दूसरों के बच्चों के प्रति नहीं। इस मनोविज्ञान को सेठ अच्छी तरह जानते थे; अतः वस्तुस्थिति को छिपाकर कृत्रिम क्रोध करते हुए राजपुत्र को सेठानी के हाथ में सौंप दिया और मन ही मन अत्यन्त आनन्दित हुए।



पुत्र पाकर सेठानी का आनन्दित होना -

अभ्यनन्दीत्सुनन्दापि नन्दनस्यावलोकनात् ।

प्राणवत्प्रीतये पुत्रा मृतोत्पन्नास्तु किं पुनः ॥६६॥

अन्वयार्थ - (सुनन्दा अपि) सेठ की स्त्री सुनन्दा भी (नन्दनस्य) पुत्र को (अवलोकनात्) देखने से (अभ्यनन्दीत्) अत्यन्त आनन्दित हो गई।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (पुत्राः) पुत्र (प्राणवत्) सहज ही प्राणों की तरह (प्रीतये भवन्ति) प्रीति के कारण होते हैं (तु) फिर जो (मृतोत्पन्नाः किं पुनः) पुत्र मरकर पुनः जीवित हो जाए तो उसका कहना ही क्या है ?

सरलार्थ – गन्धोत्कट सेठ की पत्नी, माता सुनन्दा भी पुत्र को जीवित देखते ही अत्यधिक आनन्दित हुई; क्योंकि माता को, पुत्र तो सहज ही अपने प्राणों के समान प्रिय होते हैं। फिर जिस पुत्र को मरा हुआ समझा था, यदि वही पुत्र जीवित हो जाए तो उसके आनन्द का तो कहना ही क्या है ? माता सुनन्दा के आनन्द की सीमा नहीं रही।

विशेषार्थ – जब पुत्र का दर्शन मात्र ही माँ को अत्यधिक आनन्द का कारण होता है; तब मृत घोषित हुए पुत्र के जीवित हो जाने पर माँ के आनन्द का वर्णन करना सम्भव नहीं है। सेठ द्वारा सौंपे गए पुत्र को अपने हृदय से लगा कर सेठानी सुनन्दा अति आनन्दित हुई।

माँ विजया को तापसाश्रम में ले जाना –

देवता जननीमस्य बन्धुवेश्मपराङ्मुखीम् ।

दण्डकारण्यमध्यस्थमनैषीत्तापसाश्रमम् ॥१००॥

अन्वयार्थ – (देवता) वह देवी (बन्धुवेश्मपराङ्मुखीं) बन्धुओं के घर जाने से विमुख (अस्य जननीं) इन जीवन्धर की माता को (दण्डकारण्यमध्यस्थं) दण्डकवन के मध्य में स्थित (तापसाश्रमं) तपस्वियों के आश्रम में (अनैषीत्) ले जाती है।

सरलार्थ – रानी विजया इस अवस्था में अपने भाई के घर जाना उचित नहीं समझती है। अतः देवी, माता विजया को दण्डक वन में स्थित तपस्वियों के आश्रम में ले गई।

देवी का स्वस्थान की ओर सानन्द प्रस्थान –

कृत्वा च तां तपस्यन्तीं सतोषा सा मिषादगात् ।

समीहितार्थसंसिद्धौ मनः कस्य न तुष्यति ॥१०१॥

अन्वयार्थ – इसके पश्चात् (तां) उस रानी को (तपस्यन्तीं) तपश्चरण क्रिया में (कृत्वा) लगा करके (सतोषा सा) सन्तुष्ट वह देवी किसी (मिषात्) बहाने से (अगात्) चली गई।

[अत्र नीतिः] (समीहितार्थसंसिद्धौ) मनोभिलषित अर्थ के सिद्ध हो जाने पर (कस्य मनः) किसका मन (न तुष्यति) सन्तुष्ट नहीं होता है ? अर्थात् सबका मन सन्तुष्ट होता ही है।

सरलार्थ — वह देवी, रानी विजया को तपस्वियों के आश्रम में ले जाकर एवं तपस्विनी बनाकर सन्तोषपूर्वक अपने स्थान को वापिस चली गई। इच्छित कार्य होने पर किसका मन सन्तुष्ट नहीं होता है ? अर्थात् सबका मन सन्तुष्ट होता ही है।

विशेषार्थ — संसार में कषायी जीव को सुख इतना ही है कि जिस कार्य को करने का रागभाव होता है, वह कार्य पूर्ण होने पर उसका रागभाव निकल जाता है और वह अपने को कृतार्थ अनुभव करने लगता है/सुखी मान लेता है। वास्तव में देखा जाए तो इच्छित कार्य पूर्ण होने पर उसे सुख नहीं हुआ; अपितु विशिष्ट कार्य करने का जो रागभाव था, वह पूरा होने से सुखानुभव होता है। लेकिन खेद की बात है की अज्ञानी को उसी समय दूसरा कार्य करने की इच्छा होती है और यह शृंखला कभी समाप्त नहीं होती। इसे खंडित करने के लिए तत्त्वज्ञान की आवश्यकता है।

देवी को रानी विजया की सहायता करने का रागभाव था, उसकी पूर्णता हो गई। अतः देवी अपने को कृतार्थ मानकर आनन्द का अनुभव करती हुई अपने स्थान को वापिस चली गई।

रानी विजया का वन में वास —

अवात्सीद्राजपत्नी च वत्सं निजमनोगृहे ।

जिनपादाम्बुजं चैव ध्यायन्ती हन्त तापसी ॥१०२॥

अन्वयार्थ — (हन्त) खेद की बात है ! (तापसी) तपस्विनी (राजपत्नी) राजा की स्त्री पटरानी विजया (निजमनोगृहे) अपने मनरूपी घर में (वत्सं) पुत्र जीवन्धरकुमार का (जिनपादाम्बुजं) जिनेन्द्र के चरण कमलों का (चैव) भी (ध्यायन्ती अवात्सीत्) ध्यान करती हुई निवास कराती है।

सरलार्थ — अतिशय खेद की बात है कि राजा सत्यन्धर की रानी विजया, तपस्विनी के रूप में वन में तप कर रही है; परन्तु वह अपने मनरूपी मन्दिर

में जिनेन्द्र भगवन्तों के चरणकमलों और अपने पुत्र का ध्यान करती रहती है।

विशेषार्थ – श्रावक के जीवन में पाप-पुण्य के परिणाम चलते रहते हैं। सच्चे देवादि की प्रतीति हो तो पुण्य परिणामों को कुछ अंशों में स्थान रहता है; अन्यथा केवल पाप परिणामों का ही एक छत्र राज्य रहता है। रानी विजया के ज्ञान/ध्यान के विषय दो ही रह गए हैं, एक तो जिनेन्द्र भगवन्तों के चरण कमल और दूसरा स्वपुत्र। आँखों के सामने पुत्र नहीं है, तब भी उसका ज्ञान/ध्यान बना ही रहता है। इसका अर्थ यह हुआ कि जीव को जिसकी महिमा/रुचि होती है, उसका ज्ञान/ध्यान वह करता ही रहता है।

रानी विजया को चटाई भी प्रिय –

अनल्पतूलतल्पस्थ - सवृन्तप्रसवादपि ।

निर्भरं हन्त सीदन्त्यै दर्भशय्याप्यरोचत ॥१०३॥

अन्वयार्थ – और (हन्त) बड़े खेद की बात है ! (अनल्पतूलतल्पस्थ-सवृन्तप्रसवादपि) बहुत-सी रुई के बिछे हुए हैं गद्दे जिस पर – ऐसी शय्या के ऊपर पड़े हुए डण्ठल सहित पुष्पों से भी (निर्भरं सीदन्त्यै) अत्यन्त क्लेश माननेवाली रानी के लिए (दर्भशय्या अपि) डाभ की चटाई भी (अरोचत) रुचिकर लगने लगी।

सरलार्थ – बड़े खेद की बात है कि भरपूर रुई से बने हुए गद्दे पर जिस रानी विजया को डण्ठल सहित फूल भी दुःख देते थे। उसी रानी को अब डाभ की चटाई भी प्रिय लगने लगी।

विशेषार्थ – अज्ञानी जीव को लगता है कि अनुकूल पदार्थों के बिना मेरा जीवन कैसे चलेगा ? यह उसका भ्रम है। जीव ज्ञानी हो या अज्ञानी, मूल में तो जीव ही है। जीव का तो ज्ञानादि गुणों को छोड़कर अन्य वस्तुओं से सम्बन्ध ही नहीं है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण रानी विजया का जीवन है। उसका जीवन भी अब-राजसी टाट-बाट, नौकर-चाकर के बिना चल ही रहा है।

रानी विजया का आहार -

स्वहस्तलूननीवारोऽप्याहारोऽस्याः परेण किम् ।

अवश्यं ह्यनुभोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम् ॥१०४॥

अन्वयार्थ - (परेण किं) और तो क्या ? (स्वहस्तलूननीवारः अपि) अपने हाथ से कटा हुआ नीवार धान्य भी (अस्याः) इसका (आहारः) [अजनि] आहार हुआ।

[अत्र नीतिः] (पूर्वकृतं) पूर्व में किया हुआ (शुभाशुभं कर्म) शुभ और अशुभ कर्म का फल (अवश्यं अनुभोक्तव्यं) अवश्य ही भोगना पड़ता है।

सरलार्थ - और बातों का तो क्या कहना, इससमय रानी विजया का भोजन भी अपने हाथों से काटा हुआ नीवार नाम का निकृष्ट धान्य है; क्योंकि अपना किया हुआ/बाँधा हुआ शुभाशुभ कर्म का फल जीव को अवश्य भोगना पड़ता है।

विशेषार्थ - जीव को अपने शुभाशुभ कर्मों का फल अवश्य भोगना पड़ता है। यहाँ अघाति कर्म ही विवक्षित हैं; क्योंकि पुण्य-पाप और शुभाशुभ के भेद अघाति कर्मों में ही होते हैं, घातिकर्मों में नहीं।

यहाँ वेदनीय कर्म की मुख्यता से कथन चल रहा है। वेदनीय कर्म जीव को बाह्य पदार्थों के संयोग-वियोग कराने में निमित्त है। (मोक्षमार्गप्रकाशक अध्याय २, पृष्ठ २५) कोई भी जीव संयोग-वियोग में आनेवाले पदार्थों में अपनी ओर से कोई परिवर्तन नहीं कर सकता है। पदार्थों के संयोग-वियोग में पूर्वबद्ध कर्म का ही उदय निमित्त होता है। इस मुख्यता से यहाँ आचार्यश्री विवेचन कर रहे हैं।

जीव को बाह्य वस्तुओं का जैसा भी संयोग-वियोग है, उसमें जीव का कुछ कर्तव्य नहीं है। उसे शुभाशुभ कर्म का फल भोगना ही पड़ता है; ऐसा स्पष्ट किया है। कर्म बलवान है, वह जीव को बलजोरी से संसार में भ्रमाता है, ऐसा अर्थ नहीं लगाना चाहिए।

पुत्र-जन्मोत्सव -

अथ गन्धोत्कटायार्थमर्भकार्थं महोत्सवम् ।

आत्मार्थं गणयन्मूढः काष्ठाङ्गारोऽप्यदान्मुदा ॥१०५॥

अन्वयार्थ - (अथ) तदनन्तर (मूढः) मूढ (काष्ठाङ्गारः) काष्ठांगार ने (अर्भकार्थं महोत्सवं) बालक के जन्म के महोत्सव को (आत्मार्थं) अपनी राज्य-प्राप्ति के उपलक्ष्य में (गणयन्) समझकर उस (गन्धोत्कटाय) गन्धोत्कट सेठ को (मुदा) हर्ष से (अर्थ) धन (अदात्) प्रदान किया ।

सरलार्थ - सेठ गन्धोत्कट ने पुत्रजन्म के उपलक्ष्य में जो महोत्सव मनाया, उसे मूर्ख काष्ठांगार ने अपने राजा बनने के उपलक्ष्य में समझकर सेठ गन्धोत्कट को बहुत-सा धन प्रदान किया ।

विशेषार्थ - वस्तुस्वरूप को यथार्थ न जानने से प्रवृत्ति विपरीत ही होती है। अतः वस्तुस्थिति की सही जानकारी होना आवश्यक है ।

जीवन्धरकुमार के लिए बालमित्र जुटाना -

तत्क्षणे तत्पुरे जातान्जातानपि तदाज्ञया ।

लब्ध्वा वैश्यपतिः पुत्रं मित्रैः सार्धमवर्धयत् ॥१०६॥

अन्वयार्थ - (वैश्यपतिः) वैश्यों में प्रधान गन्धोत्कट (तत्क्षणे) उस दिन (तत्पुरे जातान्) उस नगर में उत्पन्न हुए (जातान्) बालकों को (तदाज्ञया) काष्ठांगार की आज्ञा से (लब्ध्वा) प्राप्त करके (मित्रैः सार्धं) उन मित्रों के साथ (पुत्रं अवर्धयत्) पुत्र का पालन-पोषण करने लगे ।

सरलार्थ - पुत्र जन्मोत्सव के पश्चात् श्रेष्ठिवर गन्धोत्कट राजा की आज्ञा से उस राजपुरी नगरी में जीवन्धरकुमार की समान आयु के बालकों को एकत्र कर उनके साथ अपने पुत्र जीवन्धरकुमार का पालन-पोषण करने लगे ।

विशेषार्थ - जिन्हें बहुत प्रतीक्षा के पश्चात् विशेष पुण्ययोग से पुत्र की प्राप्ति होती है; उन माता-पिता को उसकी सुख-सुविधा और लालन-पालन

का विशेष ध्यान होता ही है। अतः श्रेष्ठिवर गन्धोत्कट भी जीवन्धरकुमार के मनोरंजन और खेलकूद के लिए उसकी समान आयु के बालकों को एकत्र कर उनके साथ जीवन्धरकुमार का लालन-पालन करने लगे।

सेठानी सुनन्दा को स्वपुत्र की उत्पत्ति -

अथ जातः सुनन्दायाः नन्दाद्वयो नाम नन्दनः ।

तेन जीवन्धरो रेजे सौभ्रात्रं हि दुरासदम् ॥१०७॥

अन्वयार्थ - (अथ) तदनन्तर (सुनन्दायाः) गन्धोत्कट की स्त्री सुनन्दा के (नन्दाद्वयः नाम नन्दनः) नन्दाद्वय नाम का पुत्र (जातः) उत्पन्न हुआ। (तेन) उस पुत्र से (जीवन्धरः) जीवन्धरकुमार (रेजे) और शोभित होते हैं।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (सौभ्रात्रं दुरासदं) अच्छे भाई का मिलना बड़ा कठिन है।

सरलार्थ - कुछ समय पश्चात् सेठानी सुनन्दा के नन्दाद्वय नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। जीवन्धरकुमार को सुयोग्य भाई मिल गया, जिससे वे सुशोभित हुए। संसार में योग्य भाई का मिलना बहुत कठिन है।

विशेषार्थ - रावण, विभीषण के लिए दुःखद सिद्ध हुआ, अन्त में विभीषण को रावण का साथ छोड़ना ही पड़ा। इतना ही नहीं, अन्त में विभीषण रावण के मरण का कारण भी बना। धन्यकुमार का विशेष पुण्योदय होने पर भी भाइयों के कारण माता-पिता और घर को छोड़ना ही पड़ा। राम-लक्ष्मण भी भाई-भाई ही थे; किन्तु वे सतत एक-दूसरे को अनुकूल रहे। इन दृष्टान्तों से सिद्ध होता है कि संसार में योग्य भाई का मिलना बहुत कठिन है।

जीवन्धरकुमार के शरीर की कान्ति की चन्द्रमा से तुलना -

एवं सद्वन्धुमित्रोऽयमेधमानो दिने दिने ।

अतिशेते स्म शीतांशुमकलङ्काङ्गभावतः ॥१०८॥

अन्वयार्थ - (एवं) इसप्रकार (सद्वन्धुमित्रः अयं) श्रेष्ठ बन्धु और

मित्र हैं जिसके ऐसे इन जीवन्धरकुमार ने (दिने दिने) दिन-प्रतिदिन (एधमानः) बढ़ते हुए (अकलङ्काङ्गभावतः) निर्दोष शरीर की कान्ति से (शीतांशुं) चन्द्रमा को (अतिशेते स्म) जीत लिया।

सरलार्थ – इसप्रकार जीवन्धरकुमार ने योग्य बन्धु-बान्धवों सहित प्रतिदिन वृद्धिगत होते हुए अपने निर्दोष शरीर की कान्ति से चन्द्रमा को जीत लिया।

विशेषार्थ – चन्द्रमा के आकार और कान्ति में दिन-प्रतिदिन अभिवृद्धि होती है। प्रायः बालकों की वय की अभिवृद्धि को चन्द्रमा की बढ़ती का उदाहरण दिया जाता है, किन्तु चन्द्रमा पर कुछ धब्बे से दिखाई देते हैं; अतः उसे निर्दोष नहीं कहा जा सकता। पर यहाँ जीवन्धरकुमार के शरीर की अभिवृद्धि निर्दोष हुई है। अतः कहा गया है कि जीवन्धरकुमार की कान्ति ने चन्द्रमा पर भी विजय प्राप्त कर ली है।

राजपुत्र जीवन्धर की बाल्यावस्था –

ततः शैशवसम्भूष्णु-सर्वव्यसनदूरगः ।

पञ्चमं च वयो भेजे भाग्ये जाग्रति का व्यथा ॥१०६॥

अन्वयार्थ – (ततः) तदनन्तर (शैशवसम्भूष्णु-सर्वव्यसनदूरगः) बालक अवस्था में होनेवाले सम्पूर्ण संकटों से रहित होते हुए जीवन्धरकुमार ने (पञ्चमं वयो भेजे) पाँचवें वर्ष की अवस्था प्राप्त की।

[अत्र नीतिः] (भाग्ये) भाग्य के (जाग्रति सति) जागृत रहने पर (का व्यथा) कौन-सी पीड़ा हो सकती है ? कोई भी नहीं हो सकती।

सरलार्थ – जीवन्धरकुमार बाल्यावस्था में होनेवाले सर्व संकटों से मुक्त रहकर पाँच वर्ष के हुए; क्योंकि पूर्व पुण्य के उदय में कौन-सी पीड़ा होती है ? कोई भी नहीं। पुण्योदय में किसी भी प्रकार का दुःख नहीं होता।

विशेषार्थ – पूर्वबद्ध पुण्यकर्म के उदय को वर्तमान काल में भाग्य कहा जाता है। राजपुत्र जीवन्धरकुमार को बाल्यावस्था में भी विशेष पुण्योदय होने के कारण किसीप्रकार का कोई दुःख नहीं हुआ।

वस्तुस्थिति यह है कि मनुष्य पर्याय में बाल्यावस्था में एक लम्बे समय तक दूसरों के सहयोग की अपेक्षा रहती है। देव और नारकी का शरीर तो अन्तर्मुहूर्त में ही स्वयमेव समर्थ बन जाता है। तिर्यच जीव प्राप्त स्वाभाविक व्यवस्था से ही अल्पकाल में स्वावलम्बी हो जाते हैं। मात्र मनुष्य पर्याय में ही जीव को पूर्वबद्ध पाप-पुण्य कर्म के उदयानुसार पृथक्-पृथक् व्यवस्था प्राप्त होती है।

जीवन्धरकुमार की स्पष्टवादिता -

अथानर्थकमव्यक्तमतिहृद्यं च वाङ्मयम् ।

मुक्त्वातिव्यक्तगीरासीत्स्वयं वृण्वन्ति हि स्त्रियः ॥११०॥

अन्वयार्थ - (अथ) तदनन्तर (अनर्थकं) अर्थशून्य (अव्यक्तं) अस्पष्ट शब्दवाली (च) और (अतिहृद्यं) बाल सुलभ मनोहर (वाङ्मयं) बालक अवस्था की तोतली भाषा को (मुक्त्वा) छोड़कर जीवन्धरकुमार (अतिव्यक्तगीः आसीत्) अत्यन्त स्पष्टभाषी हुए।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (स्त्रियः स्वयं वृण्वन्ति) स्त्रियाँ अच्छे पति को स्वयं वर लेती हैं अर्थात् स्पष्ट सुसंस्कृत वाणी ने जीवन्धरकुमार का आश्रय लिया।

सरलार्थ - अब जीवन्धरकुमार बाल्यावस्था की अर्थहीन, अस्पष्ट और अत्यन्त मनोहारी तोतली भाषा को छोड़कर अत्यन्त स्पष्टभाषी हो गए। जिसप्रकार प्रायः स्त्रियाँ अच्छे पति को स्वयं वर लेती हैं; उसीप्रकार स्पष्ट और सुसंस्कृत वाणीरूपी स्त्री ने जीवन्धरकुमार का वरण किया।

विशेषार्थ - उत्तरपुराण में आचार्यश्री गुणभद्र लिखते हैं -

... “इसप्रकार रोना तुझे शोभा नहीं देता... फिर भला क्यों रोता है ?” इस प्रश्न का उत्तर जीवन्धरकुमार ने निम्नप्रकार से दिया - “हे पूज्य ! सुनिए - इस रोने में जो गुण हैं, उन्हें आप नहीं जानते। १. रोने से इकट्ठा हुआ कफ निकल जाता है। २. नेत्रों में निर्मलता आती है।

३. गरम भोजन खाने के योग्य ठण्डा हो जाता है। फिर भला आप मुझे रोने से क्यों रोकते हो ? पुत्र की यह बात सुनकर माता भी बहुत प्रसन्न हुई।

विद्वान आर्यनन्दी गुरु का समागम -

आचार्यकवपुः कश्चिदार्यनन्दीति कीर्तितः ।

आसीदस्य गुरुः पुण्याद्गुरुरेव हि देवता ॥१११॥

अन्वयार्थ - (अस्य पुण्यात्) इन जीवन्धरकुमार के पुण्य से उससमय (कश्चिद् आचार्यकवपुः) कोई आचार्य की पदवी को प्राप्त और (आर्यनन्दीति कीर्तितः) आर्यनन्दी नाम से प्रसिद्ध (गुरुः आसीत्) गुरु प्राप्त हो गए।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (गुरुः एव देवता) गुरु ही देवता है।

सरलार्थ - जब बालक की लौकिक-अलौकिक विद्या पढ़ने की विशिष्ट उम्र होती है, उसीसमय जीवन्धरकुमार को पूर्वबद्ध पुण्यकर्म के उदय से गुरु के रूप में आचार्य पद से सुशोभित विख्यात विद्वान आर्यनन्दी प्राप्त हुए। लोक में गुरु को भी देव की संज्ञा प्रसिद्ध है।

विशेषार्थ - यहाँ गुरु का अर्थ लौकिक विद्या पढ़ानेवाला अध्यापक ही समझना है। आचार्य आर्यनन्दी ने जीवन्धरकुमार को लौकिक-अलौकिक दोनों विद्याएँ पढ़ाना प्रारम्भ किया। योग्य अध्यापक भी पुण्योदय के बिना प्राप्त नहीं होते। पूर्व पुण्यकर्म का उदय हो तो जड़ दिशाएँ भी जीव की इच्छाओं को पूर्ण करने में सहायक होती हैं। कहा भी है - दिशः कामान् दुहन्ति च। अतः जीवन्धरकुमार को आचार्य आर्यनन्दी अध्यापक के रूप में सहज ही बिना प्रयास किए उपलब्ध हो गए। सभी अनुकूल पदार्थों को प्राप्त कराने का अधिकार मानो पुण्यकर्मों ने ही ले रखा है।

जो हितकारक मार्ग बताता है, जो विद्या देता है, वह देव है। इस उक्ति की मुख्यता से यहाँ आर्यनन्दी गृहस्थ को भी उपचार से देव कहा है। उपचार का कारण भी उनके द्वारा 'देव-शास्त्र-गुरु' की शिक्षा देना है। जहाँ

जिस अपेक्षा से कथन हो, उसे उसी अपेक्षा से समझने का प्रयास करना पात्र जीव का कर्तव्य है।

शिक्षा का प्रारम्भ -

निष्प्रत्यूहेष्टसिद्धयर्थं सिद्धपूजादिपूर्वकम् ।

सिद्धमातृकया सिद्धामथ लेभे सरस्वतीम् ॥११२॥

. अन्वयार्थ - (अथ) तदनन्तर जीवन्धरकुमार ने (निष्प्रत्यूहेष्टसिद्धयर्थं) निर्विघ्न इष्ट सिद्धि के लिए (सिद्धपूजादिपूर्वकं) सिद्धपरमेष्ठी की पूजा करके (सिद्धमातृकया सिद्धां) अनादि स्वर, व्यंजन, मात्राओं से प्रसिद्ध (सरस्वतीं) सरस्वती को (लेभे) प्राप्त किया।

सरलार्थ - गुरु आर्यनन्दी के मिलने के पश्चात् निर्विघ्न अभीष्ट सिद्धि के लिए सिद्ध आदि परमेष्ठियों की पूजा करके अनादि सिद्ध अ, आ, इ, ई आदि स्वर एवं क, ख, ग, घ आदि व्यंजन तथा मात्राओं/वर्णमाला द्वारा जीवन्धरकुमार ने प्रसिद्ध सरस्वती/अक्षर-ज्ञान विद्या को सहजता से प्राप्त किया।

विशेषार्थ - पूर्व पुण्योदय से योग्य गुरु के मिलने पर सभी लौकिक और पारलौकिक विद्याएँ सहज सुलभता से प्राप्त हो जाती हैं। संयोगजन्य सभी अवस्थाएँ पूर्वबद्ध कर्मों के उदयाधीन हैं। जीवन्धरकुमार का जन्म किन परिस्थितियों में हुआ और लालन-पालन तथा शिक्षा किस वातावरण में हुई, यह उक्त कथन का ज्वलन्त उदाहरण है।

इति श्री वादीभसिंहसूरिविरचिते क्षत्रचूडामणौ

सरस्वतीलम्भो नाम प्रथमो लम्बः ।

दूसरा लम्ब

जीवन्धरकुमार पारंगत विद्वान हो गए -

अथ विद्यागृहं किञ्चिदासाद्य सखिमण्डितः ।

पण्डिताद्विश्वविद्यायामध्यगीष्टातिपण्डितः ॥१॥

अन्वयार्थ - (अथ) तदनन्तर (सखिमण्डितः) मित्रगणों से घिरे हुए जीवन्धरकुमार ने (किञ्चित् विद्यागृहं) किसी विद्यालय को (आसाद्य) प्राप्त करके (विश्वविद्यायां पण्डितात्) सम्पूर्ण विद्याओं में कुशल विद्वान गुरु से (अध्यगीष्ट) विद्या प्राप्त की (पश्चात्) तदनन्तर (अतिपण्डितः) महान विद्वान [बभूव] हो गए।

सरलार्थ - प्रारम्भिक शिक्षा के उपरान्त जीवन्धरकुमार अपनी मित्र मण्डली सहित विशिष्ट विद्यालय में प्रवेश लेकर, सर्व विद्याओं की शिक्षा प्राप्त कर, सभी विद्याओं के अद्वितीय विद्वान हो गए।

विशेषार्थ - क्षत्रिय-पुत्र को युद्ध कला आदि का विशिष्ट ज्ञान लेना भी आवश्यक होता है; अतः जीवन्धरकुमार ने अपने मित्रों सहित श्रेष्ठतम विद्यालय में प्रवेश लेकर उच्चकोटि की विद्याएँ प्राप्त कीं। गुरुवर आर्यनन्दी से तो उन्होंने प्रयोजनभूत लौकिक और धार्मिक शिक्षा ही प्राप्त की थी।

गुरु-स्नेह से इच्छाओं की पूर्ति -

तस्य प्रश्रयशुश्रूषाचातुर्याद् गुरुगोचरात् ।

स्मृता इवाभवन्विद्या गुरुस्नेहो हि कामसूः ॥२॥

अन्वयार्थ - (तस्य) उनको (गुरुगोचरात्) गुरु के विषय में (प्रश्रयशुश्रूषाचातुर्यात्) सेवा, शुश्रूषा और चतुराई से (विद्या स्मृता इव) विद्याएँ स्मरण की तरह (अभवन्) आ गईं। जिस तरह भूली हुई वस्तु याद आ जाती है; इसीतरह उन्हें विद्याएँ प्राप्त हो गईं।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (गुरुस्नेहः कामसूः) गुरु का प्रेम सम्पूर्ण इच्छाओं को पूरा करनेवाला होता है।

सरलार्थ – जीवन्धरकुमार को अपने गुरु के प्रति अद्वितीय श्रद्धा और आदर भाव था। विनय, सेवा-शुश्रूषा एवं चतुराई के कारण वे गुरु के स्नेहपात्र थे। उन्हें सभी विद्याएँ मानो स्मरण मात्र से ही प्राप्त हो गईं अर्थात् जैसे भूली हुई वस्तु का स्मरण होते ही वस्तु प्राप्त हो जाती है।; वैसे ही गुरु का स्नेह सभी इच्छाओं को पूर्ण करने में सहायक होता है।

विशेषार्थ – गुरु की विनय और सेवा करने का भाव मन्दकषायरूप भाव/परिणमन है। कषाय की मन्दता के बिना जीव न तो किसी की विनय कर पाता है और न सेवा कर सकता है। मन्दकषाय का निमित्त पाकर पूर्वबद्ध ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्मों का क्षयोपशम होता है; ऐसा ही मन्दकषाय और आवरण कर्मों का निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। (देखो मोक्षमार्गप्रकाशक अध्याय ७, पृष्ठ २५७) इस वृद्धिगत क्षयोपशम के निमित्त से जीव का ज्ञान विकसित होता है/बढ़ता है।

अतः हम सबको भी धर्मक्षेत्र में जो अपने से बड़े हैं, उनकी सेवा और विनय करना ही चाहिए तथा साधर्मियों के प्रति भी वात्सल्यभाव रखकर उनके प्रति यथायोग्य सेवा और विनय का भाव रखना चाहिए।

जिस जीव का ज्ञान वर्तमान में विकसित हुआ है; उसका निमित्त कारण उसके पूर्वजन्म के मन्दकषायरूप भाव को ही समझना चाहिए। विकसित ज्ञानवाला कोई वर्तमान काल में तीव्र कषाय करेगा तो उसे इससमय ज्ञानावरणादि कर्मों का आस्रव-बन्ध होगा और उसका फल उसे भविष्य में हीन ज्ञानरूप में मिलेगा।

आर्यनन्दी का आनन्दित होना -

अनुजीवकमेवात्र जीवलोके विपश्चितः।

इति निश्चयतः सूरिः सुतरां प्रीतिमव्रजत् ॥३॥

अन्वयार्थ – (अत्र जीवलोके) इस जगत में (विपश्चितः) जितने विद्वान हैं, वे सब (जीवकं अनु एव) जीवन्धरकुमार से कम योग्यता के ही हैं (इति निश्चयतः) ऐसा निश्चय होने से (सूरिः) पढ़ानेवाले आचार्य को (सुतरां प्रीतिं) सहज ही जीवन्धरकुमार से विशेष प्रेम (अब्रजत्) हो गया।

सरलार्थ – इस संसार में सब विद्वान जीवन्धरकुमार से पीछे हैं अर्थात् उनकी बराबरी करनेवाला कोई विद्वान नहीं है – ऐसा निश्चित हो जाने पर शिक्षागुरु आचार्य आर्यनन्दी को अतिशय आनन्द की प्राप्ति हुई।

ज्ञानदान ही सर्वोत्तम दान –

आत्मकृत्यमकृत्यं च सफलं प्रीतये नृणाम् ।

किं पुनः श्लाघ्यभूतं तत् किं विद्यास्थापनात्परम् ॥४॥

अन्वयार्थ – [अत्र नीतिः] (नृणां) मनुष्यों को (आत्मकृत्यं अकृत्यं) अपना किया हुआ बुरा कार्य भी (सफलं) सफल होने पर (प्रीतये) प्रीतिकर [भवति] होता है तो फिर (श्लाघ्यभूतं) अच्छा काम (सफल होने पर) (किं पुनः वक्तव्यं) क्यों अच्छा नहीं लगेगा ? लगेगा ही, उसमें भी (विद्यास्थापनात्परं तत् किं) विद्यादान से बढ़कर और दूसरा कौन-सा काम अच्छा है ?

सरलार्थ – मनुष्यों को न करने योग्य कार्य करने पर भी अपना किया हुआ काम जानकर, उसकी सफलता आनन्ददायक होती है। फिर अपने द्वारा किए गए प्रशस्त कार्य की सफलता का कहना ही क्या ? अर्थात् अत्यन्त आनन्द होता है। संसार में विद्यादान (ज्ञानदान) से प्रशस्त कार्य और कौन-सा है ? अर्थात् ज्ञानदान ही सर्वोत्तम दान है।

विशेषार्थ – जीवन्धरकुमार ने पूर्वभव में ज्ञानदान दिया था। उसके प्रभाव से वे सहज सर्वोत्तम विद्वान बन गए। निमित्त तो आचार्य श्री आर्यनन्दी का मिला ही, पर वे अपने उपादान की योग्यता से सहज ही सर्व विद्याओं में निपुण सर्वोत्कृष्ट विद्वान बन गए। हमें अपने उपादान की

योग्यता पर विश्वास रखना चाहिए। निमित्त तो सहज ही प्राप्त होते हैं। यही निमित्त और उपादान का निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है।

गुरु-शिष्य का एकान्त में वार्तालाप -

अथ प्रसन्नधीः सूरिरन्तेवासिनमेकदा ।

एकान्ते हि निजप्रान्तमावसन्तमचीकथत् ॥५॥

अन्वयार्थ - (अथ) इसके अनन्तर (एकदा) एक दिन (प्रसन्नधीः) प्रसन्नचित्त (सूरिः) गुरु ने (निजप्रान्तं आवसन्तं) अपने पास रहनेवाले (अन्तेवासिनं) शिष्य से (एकान्ते) एकान्त में (अचीकथत्) कहा।

सरलार्थ - शिक्षा पूर्ण होने के पश्चात् एक दिन गुरु-शिष्य प्रसन्नचित्त बैठे हुए थे। गुरु आर्यनन्दी ने जीवन्धरकुमार को निम्न कथानक सुनाया -

आर्यनन्दी की कथा -

श्रुतशालिन्महाभाग ! श्रूयतामिह कस्यचित् ।

चरितं चरितार्थेन यदत्यर्थं दयावहम् ॥६॥

अन्वयार्थ - (श्रुतशालिन्महाभाग) हे शास्त्रज्ञान से शोभित उत्तम भाग्यवान ! (इह) इस लोक में प्रसिद्ध (कस्यचित्) किसी के (चरितं) चरित्र को (श्रूयतां) सुनो। (यत् चरितं) जो चरित्र (चरितार्थेन) सुनने से (अत्यर्थं) अत्यन्त (दयावहं) दया उत्पन्न करनेवाला है।

सरलार्थ - हे शास्त्रविशारद महाभाग्य जीवन्धर ! मैं इससमय तुम्हें किसी प्रसिद्ध पुरुष का चरित्र सुनाता हूँ; जो अत्यन्त करुणाजनक है, उसे तुम ध्यान से सुनो।

उपकथा-३

लोकपाल राजा का वृत्तान्त -

विद्याधरास्पदे लोके लोकपालाह्वयान्वितः ।

लोकं वै पालयन्भूपः कोऽपि कालमंजीगमत् ॥७॥

अन्वयार्थ – (विद्याधरास्पदे लोके) विद्याधरों का है स्थान जिसमें ऐसे लोक में (लोकपालाह्वयान्वितः) लोकपाल है नाम जिसका ऐसा (कः अपि भूपः) कोई राजा (लोकं वै पालयन्) प्रजा का पालन करता हुआ (कालं अजीगमत्) काल बिताता था।

सरलार्थ – विद्याधरों की नगरी में एक लोकपाल नामक राजा न्यायपूर्वक प्रजा का पालन करता हुआ समय बिता रहा था।

क्षणभंगुर मेघों का दर्शन –

क्षणक्षीणत्वमैश्वर्ये क्षीवाणामिव बोधयत्।

क्षेपीयः पश्यतां नश्यदभ्रमैक्षिष्ट सोऽधिराट् ॥८॥

अन्वयार्थ – एक दिन (सः अधिराट्) उस लोकपाल राजा ने (क्षीवाणां) धनोन्मत्त पुरुषों के (ऐश्वर्ये) ऐश्वर्य के विषय में (क्षणक्षीणत्वं) क्षणभंगुरता का (बोधयत् इव) बोध करानेवाले (पश्यतां) [अग्रे] आँखों के सामने देखते ही देखते (क्षेपीयः नश्यत्) शीघ्र ही नाश होनेवाले (अभ्रं) मेघ को (ऐक्षिष्ट) देखा।

सरलार्थ – एक दिन राजा लोकपाल ने क्षण में ही नष्ट होती हुई मेघ-राशि को देखा। यह मेघ-राशि कैसी है ? धनादि से उन्मत्त मनुष्यों के ऐश्वर्य की क्षणभंगुरता का बोध करानेवाली है; जो देखनेवालों के सामने देखते ही देखते ही नष्ट हो जाती है।

लोकपाल राजा के वैराग्य का कारण –

तद्वीक्षणोऽन वैराग्यं विजजृम्भे महीभुजः।

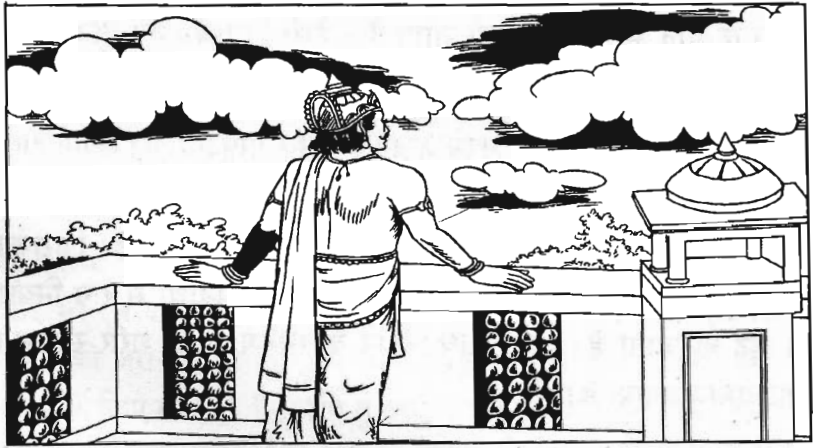
पम्फुलीति हि निर्वेगो भव्यानां कालपाकतः ॥९॥

अन्वयार्थ – (तद्वीक्षणोऽन) उस मेघ को देखने से (महीभुजः) राजा का (वैराग्यं) वैराग्य (विजजृम्भे) वृद्धिगत हुआ।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (भव्यानां) भव्य पुरुषों की

(कालपाकतः) काललब्धि के आ जाने पर (निर्वेगः) निर्वेग (सांसारिक विषयों में उदासीनता) भाव (पम्फुलीति) अतिशयता से प्रगट हो जाता है।

सरलार्थ – क्षणभंगुर मेघ-राशि को देखते ही लोकपाल राजा को वैराग्य उत्पन्न हो गया। वास्तव में भव्य जीवों को काललब्धि आ जाने पर वैराग्य/सांसारिक विषयों के प्रति उदासीनता अतिशयता से ही प्रगट हो जाती है।



विशेषार्थ – उपादान की योग्यता के आधार पर जब काललब्धि पकती है, तब अनुकूल निमित्त सहज ही उपलब्ध हो जाते हैं; उन्हें खोजने जाना नहीं पड़ता। कार्य की सम्पन्नता में निमित्त होते अवश्य हैं; पर कार्य उपादान की निज शक्ति से ही सम्पन्न होता है। निमित्त कार्य के नियामक नहीं, सहज सहायक हैं। राजा लोकपाल को वैराग्य होने की काललब्धि निकट आ गई थी; अतः क्षण-क्षण में अपना रूप बदलनेवाली और नष्ट हो जानेवाली मेघ-राशि देखने का निमित्त मिला।

जैनी दीक्षा का स्वरूप –

ततोऽयं पुत्रनिक्षिप्तराज्यभारः क्षितीश्वरः ।

जैनीं दीक्षामुपादत्त यस्यां कायेऽपि हेयता ॥१०॥

अन्वयार्थ – (ततः) इसके पश्चात् (पुत्रनिक्षिप्तराज्यभारः) पुत्र के

ऊपर छोड़ा है राज्यभार को जिसने ऐसे (अयं क्षितीश्वरः) इस राजा ने (जैनीं दीक्षां) वह जैनी दीक्षा (उपादत्त) धारण की।

[अत्र नीतिः] (यस्यां) जिस दीक्षा में (काये) शरीर सम्बन्ध में (अपि) भी (हेयता) त्याग-बुद्धि होती है।

सरलार्थ – क्षणविध्वंसी मेघ-राशि के अवलोकन से विरक्त होकर लोकपाल राजा ने राज्य तो अपने सुपुत्र को सौंप दिया और जिसमें अपने शरीर के प्रति भी हेय बुद्धि हो जाती है – ऐसी दिगम्बर जैन मुनि-दीक्षा धारण कर ली।

विशेषार्थ – मनुष्य को अपने जीवन में अनेक परपदार्थों का संयोग होता है। उन संयोगी पदार्थों के सम्बन्ध में उसे राग भी हो जाता है। उन अनेक संयोगी वस्तुओं में एक शरीर ही सबसे निकट का पर-पदार्थ है। जिसका शरीर विषयक राग छूट गया है, उसका अन्य सर्व पदार्थों से राग नियम से छूट ही जाता है। अतः साधु जीवन के स्वरूप में ही शरीर सम्बन्धी त्याज्यभाव बताया है।

शरीर सम्बन्धी राग छोड़ना चाहिए – इसका अर्थ निजशुद्धात्मा के अतिरिक्त विश्व के शरीर को आदि लेकर सभी अनन्तानन्त पदार्थ सम्बन्धी राग भी छूटता ही है, यहाँ शरीर तो मात्र उपलक्षण है। जहाँ राग छूटता है। वहाँ उसके पहले द्वेष तो छूटता ही है – ऐसा समझना चाहिए।

दुनिया में द्वेष को तो सभी धर्म बुरा मानते ही हैं। एक जैनधर्म ही ऐसा धर्म है, जो राग को भी बुरा/घातक/दुःखदायक मानता है।

मुनिराज को भस्मक रोग –

तपांसि तप्यमानस्य तस्य चासीदहो पुनः।

भस्मकाख्यो महारोगो भुक्तं यो भस्मयेत्क्षणात् ॥११॥

अन्वयार्थ – (अहो) खेद है ! (तपांसि तप्यमानस्य) तप को तपते हुए (तस्य) तपस्वी उन मुनिराज को (भस्मकाख्यः) भस्मक नाम का (महारोगः)

ऐसा महारोग (आसीत्) उत्पन्न हुआ; (यः) जो रोग (भुक्तं) खाए हुए अत्यन्त पौष्टिक पदार्थों को भी (क्षणत्) क्षण मात्र में (भस्मयेत्) भस्म कर देता है।

सरलार्थ — यह अत्यन्त आश्चर्यजनक एवं खेद की बात है कि अति कठोर तप तपनेवाले मुनिराज को भी ऐसा भस्मक रोग हो गया, जिस कारण खाया हुआ पौष्टिक अन्न भी क्षणमात्र में ही भस्म होने लगा।

भस्मक रोग होने का कारण —

न हि वारयितुं शक्यं दुष्कर्माल्पतपस्यया ।

विस्फुलिङ्गेन किं शक्यं दग्धुमार्द्रमपीन्धनम् ॥१२॥

अन्वयार्थ — [अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (अल्पतपस्यया) थोड़ी-सी तपस्या के द्वारा (दुष्कर्म) खोटा कर्म (निवारयितुं) निवारण करने के लिए कोई भी (न शक्यं) समर्थ नहीं हो सकता। (किं) क्या (विस्फुलिङ्गेन) अग्नि की जरा-सी चिंगारी से (आर्द्र ईन्धनं) गीला ईन्धन (दग्धुं शक्यं) जलने के लिए समर्थ है ? [अपि तु दग्धुं न शक्यं] बिलकुल जलने के लिए समर्थ नहीं है।

सरलार्थ — जैसे अग्नि की अल्प/क्षीण चिंगारी गीले ईन्धन को जलाने में समर्थ नहीं है; वैसे ही अल्प तपश्चर्या से अतिशय महान पापकर्म का निवारण कोई भी नहीं कर सकता।

विशेषार्थ — सर्वज्ञ भगवान कथित कर्म-शास्त्र का नियम/सिद्धान्त अत्यन्त सत्य और स्पष्ट है, उसमें किसी व्यक्ति विशेष को भी कोई छूट नहीं है। वर्तमानकालीन जीव के परिणामों का निमित्त पाकर पूर्वबद्ध पापकर्मों का नाश होता है अथवा पापकर्म संक्रमित होकर पुण्यकर्मरूप भी परिणामित हो सकते हैं; तथापि इन दोनों अवस्थाओं के लिए जीव के यथायोग्य तपरूप परिणाम विशेष उग्र होना चाहिए।

यदि पूर्वबद्ध पापकर्म अधिक स्थिति और अनुभागवाले हों तो उनके

नाश या संक्रमण के लिए उतने ही उग्र पुरुषार्थरूप तप आवश्यक है। यदि जीव उतना उग्र पुरुषार्थ करने में समर्थ नहीं है तो पूर्वबद्ध कर्म उदय में आए बिना नहीं रहेंगे।

लोकपाल मुनिराज को वर्तमानकाल में यथायोग्य इच्छा निरोधरूप अथवा स्वरूप में प्रतपनरूप आवश्यक तप नहीं हो सका; इसकारण पूर्वबद्ध पापकर्म के उदय से भस्मक-व्याधि नामक महारोग हो गया।

मुनि-दीक्षा का त्याग -

अशक्त्यैव तपः सोऽयं राजा राज्यमिवात्यजत् ।

श्रेयांसि बहुविघ्नानीत्येतन्नह्यधुनाभवत् ॥१३॥

अन्वयार्थ - (सः अयं राजा) उसी राजा ने (अशक्त्या एव) शक्तिहीनपने से ही (राज्यं इव) राज्य की तरह (तपः अत्यजत्) तप करना भी छोड़ दिया।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (श्रेयांसि बहु विघ्नानि) कल्याणकारी कार्य बहुत विघ्नवाले (भवन्ति) होते हैं (इति एतद् अधुना न अभवत्) यह किंवदन्ती अभी की नहीं है; अपितु पहले से चली आ रही है।

सरलार्थ - जैसे पहले लोकपाल राजा ने राज्य का त्याग कर दिया था, वैसे ही अब लोकपाल (आर्यनन्दी) मुनिराज ने भस्मक बाधा को सहन करने की सामर्थ्य न होने से तप/मुनि-दीक्षा का त्याग कर दिया; क्योंकि कल्याणकारक कार्यों में विघ्न बहुत आते हैं - यह नियम अनादि का है, आज का नहीं।

विशेषार्थ - आत्मकल्याणक कार्यों में ही विघ्न उपस्थित होते हैं; पाँच पाप, सप्त व्यसन और मिथ्यात्व में नहीं; क्योंकि आत्मघातक कार्यों में तो जीव परस्पर आचार्यत्व करते हैं अर्थात् एक-दूसरे को पापकार्यों में सलाह देते हैं, सहायता करते हैं।

मिथ्यात्वादि पापकार्यों को छोड़नेवालों को लोग कोसते हैं, ऐसा ही

अनादि काल से संसार का स्वरूप चला आ रहा है। यहाँ मुनि-दशा में भस्मक रोग के कारण बाधा उपस्थित हो गयी है।

मुनि-दीक्षा से पतित लोकपाल की दशा -

तपसाच्छादितस्तिष्ठन्स्वैराचारी हि पातकी ।

गुल्मेनान्तर्हितो गृह्णन्विष्करानिव नाफलः ॥१४॥

अवर्तिष्ठ यथेष्टं स पाखण्डितपसा पुनः ।

चित्रं जैनी तपस्या हि स्वैराचारविरोधिनी ॥१५॥

अन्वयार्थ - (पुनः) इसके पश्चात् (सः) वह (स्वैराचारी पातकी) स्वेच्छाचारी पापी पुरुष (गुल्मेनान्तर्हितः) झाड़ियों में छिपे हुए (विष्करान् गृह्णन्) चिड़ियों को पकड़नेवाले (नाफलः इव) व्याध के सदृश (तपसाच्छादितः तिष्ठन्) झूठे तप से आच्छादित होते हुए अर्थात् तप के बहाने से (पाखण्डित-तपसा) पाखण्ड तप के द्वारा (यथेष्टं) इच्छानुसार इधर-उधर (अवर्तिष्ठ) घूमने लगा।

[अत्र नीतिः] (चित्रं) आश्चर्य है ! (हि) निश्चय से (जैनी तपस्या) जैनधर्म के अनुसार तपश्चरण (स्वैराचारविरोधिनी) स्वच्छन्द आचरण का विरोधी है। अतः मुनि के वेश में तो लोकपाल स्वेच्छाचार में प्रवृत्त हो नहीं सकता था।

सरलार्थ - जिसप्रकार कोई व्याध झाड़ियों में छिपकर पक्षियों को पकड़ने और मारने का कार्य किया करता है, दूसरों को दिखाई नहीं देता; उसीप्रकार लोकपाल मुनि छिपे-छिपे स्वेच्छाचार करने लगा। मिथ्यातप से आच्छादित होकर इच्छानुसार यत्र-तत्र भटकने लगा। जैन जगत में, दिगम्बर मुनिधर्म में तो स्वेच्छाचार और ढकोसला किंचित् मात्र भी सह्य नहीं है; क्योंकि जैन-दीक्षा/तपस्या तो स्वेच्छाचार की सदा विरोधक ही रही है, अतः उन्होंने रोग निवारण के लिए पाखण्ड वेश धारण कर लिया।

विशेषार्थ - जैसे अग्नि और पानी के स्वभाव में परस्पर-विरोध है; वैसे

ही जैन-तपस्या और स्वेच्छाचार में विरोध है। जैन-तपस्या/साधु-अवस्था में स्वेच्छाचार का रहना सम्भव ही नहीं है; अतएव भस्मक रोग से ग्रसित लोकपाल मुनि ने जिन-दीक्षा का तो त्याग कर दिया और मिथ्यातप का आचरण करते हुए वह जीवन-यापन करने लगा।

लोकपाल भिक्षुक का भ्रमण -

अथ भिक्षुर्बुभुक्षुः सन् गन्धोत्कटगृहं गतः ।

उपतापरुजोऽप्येष धार्मिकाणां भिषक्तमः ॥१६॥

अन्वयार्थ - (अथ) तदनन्तर (भिक्षुः) भिक्षुक (बुभुक्षुः सन्) भूख से पीड़ित होते हुए (गन्धोत्कटगृहं गतः) गन्धोत्कट सेठ के घर गया। (एषः) यह तापसी (उपतापरुजः अपि) रोग से पीड़ित होते हुए भी (धार्मिकाणां) धर्मात्मा पुरुषों का (भिषक्तमः) उत्तम वैद्य था।

सरलार्थ - भस्मक रोग से पीड़ित अपनी भूख मिटाने के लक्ष्य से एक दिन लोकपाल साधु भेष में ही सेठ गन्धोत्कट के घर पहुँच गया। यह साधु रोग से पीड़ित होने पर भी धर्मात्मा पुरुषों को उत्तम वैद्य के समान है।

विशेषार्थ - वीतराग सर्वज्ञ कथित इस जैनधर्म में वस्तु-स्वातन्त्र्य का उद्घोष है। एक ही जीव द्रव्य के प्रत्येक गुण का कार्य/परिणामन अतिशय अद्भुत पद्धति से भिन्न-भिन्न और स्वतन्त्र बताया है; क्योंकि वस्तु का स्वरूप ही ऐसा है।

जैसे मनुष्य के शरीर में 'जीभ' तो जन्म से मरणपर्यन्त रहती है; किन्तु 'दाँत' तो जन्म से नहीं रहते। कुछ समय बाद पहले दूध के दाँत निकलते हैं; पुनः नए दाँत आते हैं।

जैसा जीभ और दाँत का स्वभाव है; वैसा ही मोक्षमार्ग में धर्म/वीतरागता उत्पन्न होते ही 'श्रद्धागुण' की सम्यग्दर्शनरूपी पर्याय सिद्धसमान शुद्ध, निर्मल और पूर्ण हो जाती है। किन्तु 'चारित्रगुण' की पर्याय में निर्मलता और पूर्णता क्रम-क्रम से आती है; ऐसा श्रद्धा और चारित्रगुण का स्वभाव

है। यहाँ दृष्टान्त में श्रद्धा के लिए 'जीभ' और चारित्र के लिए 'दाँत' को समझना।

यहाँ 'लोकपाल' ने मुनिपद का तो त्याग किया है, अतः सकल चारित्र तो रहा ही नहीं; तथापि श्रद्धा मुनिपद में जैसी निर्मल और पूर्ण थी; वैसी ही तापसी अवस्था में बनी रही। अतः भिक्षुक भी धार्मिक लोगों के लिए वैद्य का काम करता है। चारित्र रहित होने पर भी सम्यग्दर्शन के कारण जीव धार्मिक रहता है – यह भाव/अभिप्राय आचार्यश्री ने इस श्लोक में समझाया है।

धर्मात्मा ही धर्मात्माओं के सहायक –

धार्मिकाणां शरण्यं हि धार्मिका एव नापरे।

अहेर्नकुलवत्तेषां प्रकृत्यान्ये हि विद्विषः ॥१७॥

अन्वयार्थ – [अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (धार्मिकाणां) धार्मिक पुरुषों के (शरण्यं) रक्षक (धार्मिकाः एव) धार्मिक पुरुष ही होते हैं (अपरे न) दूसरे नहीं। और (अन्ये) दुर्जन पुरुष (अहेः नकुलवत्) सर्प-नेवले के सदृश (प्रकृत्या) स्वभाव से (तेषां) सज्जन पुरुषों के (विद्विषः) शत्रु होते हैं।

सरलार्थ – धर्मात्मा ही धर्मात्माओं के सहायक होते हैं। अधर्मात्मा जीव धर्मात्माओं के सहायक नहीं होते। जैसे सर्प और नेवले में परस्पर स्वाभाविक द्वेष ही रहता है; वैसे ही धार्मिक जीवों के प्रति अधार्मिक जीवों में स्वाभाविक द्वेष ही रहता है।

विशेषार्थ – समानशीलेषु व्यसनेषु सख्यम् – समान रुचिवान जीवों की परस्पर मैत्री होती है। इस उक्ति के अनुसार धार्मिक मनुष्यों के लिए अन्य धार्मिक मनुष्य ही आधार/सहायक होते हैं। अधार्मिक जीव धार्मिक जीवों से द्वेष करेंगे, यह तो स्वाभाविक है; किन्तु धार्मिक जीव भी अधार्मिक जीवों से द्वेष करेंगे – ऐसा नहीं है।

धर्मात्मा जीव तो किसी भी जीव से द्वेष नहीं करते। तापसी लोकपाल

और सेठ गन्धोत्कट दोनों धार्मिक जीव थे। तापसी को सेठ की धार्मिकता का ज्ञान था। इसकारण उसका सेठ के यहाँ भिक्षार्थ जाना स्वाभाविक है।

जीवन्धरकुमार को भिक्षुक की भूख का ज्ञान होना -

तत्र मध्येगृहं भिक्षुरद्राक्षीत्पुत्रपुङ्गवम् ।

अङ्ग त्वां त्वं च तं वीक्ष्य तद् बुभुक्षामलक्षयः ॥१८॥

अन्वयार्थ - (तत्र) वहाँ पर (भिक्षुः) भिक्षुक ने (मध्ये गृहं) घर के मध्य में (अङ्ग) हे अङ्ग ! (पुत्रपुङ्गवं) पुत्रों में श्रेष्ठ (त्वां) तुमको (द्राक्षीत्) देखा (च) और (त्वं) तुमने (तं वीक्ष्य) उसे देखकर (तद्बुभुक्षां) उसकी भूख को (अलक्षयः) जान लिया।

सरलार्थ - हे कुमार ! भिक्षुक ने पुत्रों में श्रेष्ठ आपको घर में देखा और भिक्षुक को देखते ही उसकी भूख का परिज्ञान भी आपको हो गया।

विशेषार्थ - जीवन्धरकुमार उम्र में छोटे होने पर भी विशिष्ट-प्रतिभा के धनी थे। भिक्षुक ने भोजन नहीं माँगा था, वह घर के आँगन में मात्र खड़ा हुआ था। उसकी आकृति और हाव-भाव देखकर ही कुमार ने जान लिया कि भिक्षुक अत्यधिक भूखा है।

भिक्षुक को भोजन कराने का आदेश -

भोक्तुमारभमाणस्त्वं पौरोगवमचीकथः ।

भोज्यतामयमित्येष पुनरेनमबूभुजत् ॥१९॥

अन्वयार्थ - (भोक्तुं आरभमाणः) भोजन करने के लिए प्रवृत्त (त्वं) तुमने (अयं भोज्यतां) इनको भोजन कराओ (इति पौरोगवं) ऐसा रसोइए से (अचीकथः) कहा। (पुनः) फिर (एषः) इस रसोइए ने (एनं) इसको (अबूभुजत्) भोजन कराया।

सरलार्थ - हे कुमार ! भोजन करने के लिए प्रवृत्त आपने भोजन को उद्यत भिक्षुक को भोजन कराने के लिए रसोइए को आदेशित किया और रसोइए ने भिक्षुक को भोजन कराना प्रारम्भ किया।

भोजन से भिक्षुक अतृप्त -

अत्रैस्तद्गृहसम्पन्नैर्नाभूत्तत्कुक्षिपूरणम् ।

अहो पापस्य घोरत्वमाशाब्धिः केन पूर्यते ॥२०॥

अन्वयार्थ - (दत्तगृहसम्पन्नैः) उस घर में तैयार (अन्नैः) अन्न से (तत्कुक्षिपूरणं) उस भिक्षुक की उदरपूर्ति (न अभूत्) नहीं हुई।

[अत्र नीतिः] (अहो पापस्य घोरत्वं) पाप का भयंकरपना भी कैसा विचित्र है ? (आशाब्धिः) आशा रूपी समुद्र (केन पूर्यते) किससे पूर्ण हो सकता है ?

सरलार्थ - रसोई घर में जितना भोजन था, उसे खा चुकने पर भी भिक्षुक का पेट नहीं भरा; वह भूखा का भूखा ही रहा। अहो ! आश्चर्य है कि पापोदय की भयंकरता कितनी विशाल है ? आशा रूपी समुद्र को कौन भर सकता है ? अर्थात् कोई नहीं भर सकता।

विशेषार्थ - असाता वेदनीय की उदीरणा से जीव को भूख लगती है। सेठ के घर का सम्पूर्ण भोजन खाने पर भी जिसका पेट न भरा हो, उसकी असाता वेदनीय की उदीरणा विशेष है, यह तो स्पष्ट है ही। उसे कोई कैसे टाल सकता है ? असाता वेदनीयकर्म अघातिकर्म है। उसके उदय या उदीरणा से जिन प्रतिकूल वस्तुओं का संयोग होना होगा, वह तो होगा ही होगा। उन संयोगों में फेर-फार करना जीव के वश की बात नहीं है। प्रतिकूलता में दुःखी होना या न होना, जीव के पुरुषार्थ पर निर्भर है।

आशा रूपी समुद्र को भरने का प्रयास किसी का भी आजतक सफल नहीं हुआ है और न होगा। आशा रूपी गड्ढा प्रत्येक प्राणी के होता है। वह आशा रूपी गड्ढा (कूप) ऐसा है कि उस एक गड्ढे में समस्त लोक अणु समान है और लोक तो एक ही है तब किसको कितना हिस्से में आएगा ? (आचार्य गुणभद्रकृत आत्मानुशासन श्लोक ३६ देखिए)

जीवन्धरकुमार द्वारा अपना ग्रास भिक्षुक को देना -

अभुञ्जानस्त्वमाश्चर्यादासीनोऽस्मै वितीर्णवान् ।

कारुण्यादस्य पुण्याद्वा करस्थं कवलं मुदा ॥२१॥

अन्वयार्थ - (अभुञ्जानः) भोजन नहीं करते हुए और (आश्चर्यात् आसीनः) आश्चर्य से बैठे हुए (त्वं) तुमने (कारुण्यात्) करुणा से (वा अस्य पुण्यात्) अथवा उसके पुण्य से (करस्थं) अपने हाथ में रखे हुए (कवलं) ग्रास को (मुदा) हर्ष से (अस्मै) इसे (वितीर्णवान्) दे दिया।

सरलार्थ - रसोईघर का समस्त भोजन खाने पर भी भिक्षुक की भूख न मिटने से आपको अत्यन्त आश्चर्य हुआ। आप यह सब वहीं पास बैठे देख रहे थे। आपके मन में दया उत्पन्न हुई और भिक्षुक के पुण्योदय से आपने अपने हाथ में रखा हुआ ग्रास भिक्षुक को अति आनन्दपूर्वक दे दिया।

एक ग्रास से भूख शान्त -

वर्णिनो जठरं पूर्णं तदास्वादनतः क्षणात् ।

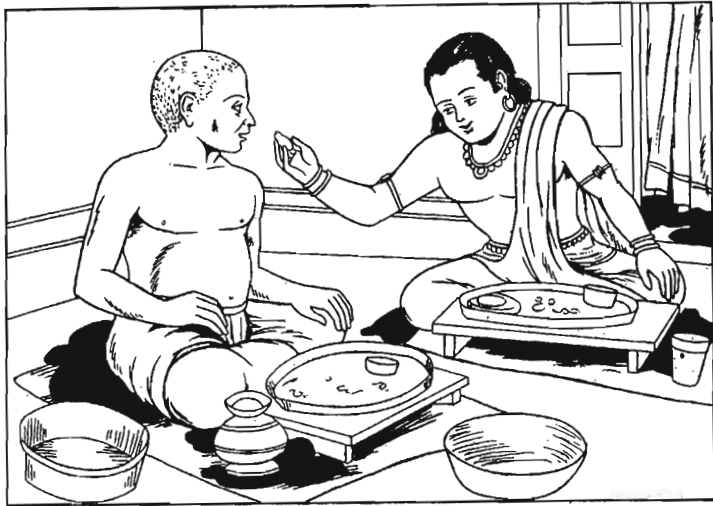
आशाब्धिरिव नैराश्यादहो पुण्यस्य वैभवम् ॥२२॥

अन्वयार्थ - जैसे (नैराश्यात्) निराशपने से (आशाब्धिः) आशांरूपी समुद्र पूर्ण हो जाता है (इव) उसीतरह (वर्णिनः जठरं) उस तपस्वी का उदर (तदास्वादनतः) उसके स्वादमात्र से (क्षणात् पूर्णं अभूत्) क्षण मात्र में पूर्ण भर गया।

[अत्र नीतिः] (अहो पुण्यस्य वैभवं) पुण्य की भी कैसी विचित्र सामर्थ्य है !

सरलार्थ - आपके हाथ का ग्रास चखने मात्र से ही अत्यन्त सन्तोष से आशांरूपी समुद्र भरने के समान उस भिक्षुक का पेट पूर्णरूपेण भर गया। पुण्य का वैभव आश्चर्यजनक ही होता है।

विशेषार्थ - वास्तव में देखा जाए तो पाप-पुण्य का परिणाम ही संसार है। संसार में पाप और पुण्य का खेल रात-दिन चलता ही रहता है।



पापोदय के समय घर का सम्पूर्ण अन्न खाने पर भी पेट नहीं भरता और पुण्योदय आते ही छोटे बालक के हाथ का मात्र एक ग्रास चखने से ही सम्पूर्ण भूख मिट जाती है। इस घटना से पाप-पुण्य कार्यों का अतिशयतापूर्वक स्पष्टीकरण हो जाता है। बाह्य वस्तु तो निमित्त मात्र है।

आरोग्यप्राप्त भिक्षुक के विचार -

परिव्राडपि सम्प्राप्य सौहित्यं तत्क्षणे चिरात् ।

महोपकारिणोऽस्याहं किं करोमीत्यचिन्तयत् ॥२३॥

अन्वयार्थ - (परिव्राडपि) तपस्वी ने भी (तत्क्षणे) उसीसमय (चिरात्) बहुत काल के पश्चात् (सौहित्यं सम्प्राप्य) रोगनिवृत्ति/स्वस्थता को प्राप्त करके (अस्य महोपकारिणः) इस महा-उपकारी का (अहं) मैं (किं करोमि) क्या उपकार करूँ (इति अचिन्तयत्) ऐसा विचार किया।

सरलार्थ - बहुत काल से चला आ रहा भस्मक रोग जीवन्धरकुमार के हाथ से एक ग्रास चखते ही मिट गया। तब तपस्वी ने सोचा - मुझे इस भयंकर रोग से मुक्ति दिलानेवाले के प्रति, प्रत्युपकार तो करना ही चाहिए। मैं क्या उपकार करूँ ? वह ऐसा विचारता है।

जीवन्धरकुमार को विद्वान बनाना -

अपश्चिमफलां विद्यां निश्चित्यात्र प्रतिक्रियाम् ।

आयुष्मन्तमसौ पश्चाद्विपश्चितमकल्पयत् ॥२४॥

अन्वयार्थ - (पश्चाद् असौ) फिर इसने (अपश्चिमफलां विद्यां) उत्कृष्ट फलवाली विद्या को (अस्य प्रतिक्रियां) इसका प्रत्युपकार (निश्चित्य) निश्चय करके (आयुष्मन्तं) चिरंजीवी जीवन्धरकुमार को (विपश्चितं अकल्पयत्) विद्वान बना दिया ।

सरलार्थ - भिक्षुक ने निश्चित किया कि मुझे इस बालक को सर्वोत्कृष्ट फलदाता ज्ञान का दान ही देना चाहिए - ऐसा निर्णय करने के पश्चात् दीर्घायु जीवन्धरकुमार को पढ़ा-लिखाकर सर्वोत्कृष्ट विद्वान बना दिया ।

ज्ञानदान का स्वरूप और फल -

विद्या हि विद्यमानेयं वितीर्णापि प्रकृष्यते ।

नाकृष्यते च चोराद्यैः पुष्यत्येव मनीषितम् ॥२५॥

अन्वयार्थ - [अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (विद्यमाना) विद्यमान (इयं विद्या) यह विद्या (वितीर्णा अपि) दूसरे के लिए दी हुई भी (प्रकृष्यते) वृद्धि को प्राप्त होती है और यह (चोराद्यैः) चोर आदि से (न आकृष्यते) नहीं चुराई जा सकती; प्रत्युत (मनीषितं) इच्छित कार्य को (पुष्यति एव) पुष्ट ही करती है ।

सरलार्थ - ज्ञानदान की अचिन्त्य महिमा है । किसी को भी विद्यादान देने से वह विद्या घटती नहीं है; अपितु दिन-प्रतिदिन बढ़ती ही जाती है । उसे चोर नहीं लूट सकते, बन्धु-बान्धव उसमें से हिस्सा नहीं ले सकते; प्रत्युत वह विद्या अपने इच्छित कार्यों को पूर्ण करती ही रहती है ।

विशेषार्थ - विद्या का अर्थ यहाँ ज्ञान ही है । ज्ञान आत्मा का स्वभाव है । जो ज्ञान दूसरों को देता है अर्थात् ज्ञान की पुनः पुनः आराधना करता है; उसका ज्ञान स्वाभाविकरूप से विकसित ही होता रहता है । जिस वस्तु

का जो स्वभाव है, वह कभी मिट ही नहीं सकता। वस्तु के स्वभाव को मिटाने का सामर्थ्य किसी में नहीं है।

विद्वत्ता से लौकिक अनुकूलताएँ -

वैदुष्येण हि वंश्यत्वं वैभवं सदुपास्यता ।

सदस्यतालमुक्तेन विद्वान् सर्वत्र पूज्यते ॥२६॥

अन्वयार्थ - [अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (वैदुष्येण) पाण्डित्य अथवा विद्या से (वंश्यत्वं) कुलीनता (वैभवं) वैभव (सदुपास्यता) सज्जन पुरुषों से पूज्यपना और (सदस्यता) सज्जनता प्राप्त होती है (उक्तेन अलं) बहुत कहने से क्या ? (विद्वान् सर्वत्र पूज्यते) बुद्धिमान पुरुष सर्वत्र पूजे जाते हैं।

सरलार्थ - विद्वत्ता से मनुष्य को कुलीनता, धन-सम्पत्ति, सज्जनता और सज्जन पुरुषों द्वारा सम्मान मिलता ही है। अधिक कहने से बस हो, विद्वान का देश-विदेश में सदा सत्कार होता ही रहता है।

विशेषार्थ - सदा सप्त व्यसनरहित, सदाचारमय जीवन, दयामयी प्रवृत्ति, जिनधर्म की अटूट श्रद्धा, परोपकार का प्रयास, द्रव्य-गुण-पर्याय का ज्ञान और सप्त तत्त्वों का यथार्थ निर्णय - इन सबके सम्मेलन को ही यहाँ विद्वत्ता कहा है; क्योंकि इनके बिना सज्जनों से सम्मान कैसे मिलेगा ? जिनधर्म की परम्परा में इन गुणों से संयुक्त व्यक्ति को ही विद्वान माना गया है; जो कि उचित है।

मनुष्य जीवन में जिन इष्ट पदार्थों की अपेक्षा रहती है, वे सभी पदार्थ विद्वत्ता से सहज मिलते हैं। अतः केवलीप्रणीत इस परम सत्य धर्म का ज्ञान करना आवश्यक है।

विद्वत्ता मोक्ष का भी कारण -

वैपश्चित्यं हि जीवानामाजीवितमनिन्दितम् ।

अपवर्गेऽपि मार्गोऽयमदः क्षीरमिवौषधम् ॥२७॥

अन्वयार्थ - [अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (जीवानां) मनुष्यों का

(वैपश्चित्यं) पाण्डित्य (आजीवितं) जीवन पर्यन्त (अनिन्दितं) प्रशंसनीय है और (अयं) यह (अपवर्गे अपि मार्गः) मोक्ष का भी मार्ग है। (अदः क्षीरं औषधं इव) जैसे दूध शरीर को पुष्ट करनेवाला होता हुआ औषधि भी है।

सरलार्थ – जैसे दूध शरीर को पुष्ट करनेवाला होने के साथ ही औषधि का भी काम करता है। वैसे ही विद्वत्ता जीवों के लिए जीवन में पूर्णरूपेण प्रशंसनीय तो होती ही है, साथ ही मोक्ष का मार्ग भी प्रशस्त करती है।

विशेषार्थ – विद्वत्ता/पाण्डित्य अर्थात् जीवादि छह द्रव्यों और सप्त तत्त्वों का वस्तुपरक, परिपक्व और यथार्थ ज्ञान। आत्मा के अनन्त गुणों में ज्ञान प्रथम गुण है। अन्य अनन्त गुणों की तथा स्वयं अपनी जानकारी देने में यह ज्ञान गुण ही वास्तव में कार्यकारी है।

ज्ञान गुण सविकल्प और अन्य गुण निर्विकल्प हैं। जब जीव ज्ञान गुण से वस्तु-व्यवस्था का निर्णय करता है तभी तो जीव की श्रद्धा यथार्थ बनती है। 'सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप' मोक्षमार्ग में ज्ञान को मध्य में स्थान मिला है। उसका कारण यह है कि श्रद्धा और चारित्र दोनों ज्ञानपूर्वक ही होते हैं – ऐसा यहाँ समझना।

मौन रहना सर्वोत्तम उत्तर –

इत्युदन्तं गुरोः श्रुत्वा शिष्यो नोत्तरमूचिवान्।
स्ववाचा किन्तु वक्त्रेण शैष्योपाध्यायिका हि सा ॥२८॥

अन्वयार्थ – (शिष्यः) शिष्य ने (इति गुरोः उदन्तं) इसप्रकार गुरु के वृत्तान्त को (श्रुत्वा) सुन करके (स्व वाचा नोत्तरं ऊचिवान्) अपनी वाणी से उत्तर नहीं दिया, किन्तु (वक्त्रेण एव) मुख की चेष्टा से ही (उत्तरं ऊचिवान्) उत्तर दिया। (हि) निश्चय से (सा एव शैष्योपाध्यायिका) यही शिष्य और गुरुपत्नी है अर्थात् शिष्ट शिष्य गुरु के समीप वाचाल नहीं होते हैं।

सरलार्थ – इसप्रकार शिष्य जीवन्धरकुमार ने गुरु के श्रीमुख से उनके पूर्व

जीवन का वृत्तान्त सुना, परन्तु मुख से बोलकर कुछ उत्तर नहीं दिया; फिर भी उनकी मुख-मुद्राओं ने उत्तर दे ही दिया। सच्चा गुरु और शिष्यपना इसी को कहते हैं।

विशेषार्थ – श्लोक क्रमांक ६ से २७ तक जीवन्धरकुमार ने अध्यापक आर्यनन्दी से सब वृत्तान्त सुना और समझ भी लिया कि यह सर्व कथन हम दोनों का ही है; फिर भी जीवन्धरकुमार गम्भीर और मौन बने रहे। ऐसे प्रसंग पर न बोलना ही उनकी विशेषता प्रगट करती है। गुरु को शिष्य से कुछ छिपाना नहीं चाहिए। अतः गुरु ने सब आवश्यक विषय बता ही दिया। यही गुरु और शिष्य का सच्चा स्वरूप है।

गुरु-परिचय से जीवन्धरकुमार आनन्दित –

विज्ञातगुरुशुद्धिः स विशेषात्पिप्रियेतराम्।

माणिक्यस्य हि लब्धस्य शुद्धेमोदो विशेषतः ॥२९॥

अन्वयार्थ – (विज्ञातगुरुशुद्धिः सः) जान ली है गुरु के हृदय की पवित्रता जिन्होंने ऐसे जीवन्धरकुमार (विशेषतः) और अधिक (पिप्रियेतरां) प्रसन्न हुए।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (लब्धस्य माणिक्यस्य) प्राप्त हुई मणि की (शुद्धेः) उत्तमता के निर्णय से (विशेषात्) विशेष (मोदः) [भवति] हर्ष होता है।



सरलार्थ –
जैसे किसी
मनुष्य के पास
पहले से ही कोई मणि हो और बाद में यह मणि अत्यन्त मूल्यवान है:

ऐसा ज्ञान हो तो उस मनुष्य को अत्यन्त आनन्द होता है। वैसे ही जीवन्धरकुमार को अध्यापक आर्यनन्दी गुरुरूप में मिले थे और अब साक्षात् गुरुमुख से उनकी निष्कपट महानता और हृदय की शुद्धता का परिज्ञान हुआ, तो उन्हें अत्यधिक आनन्द हुआ।

सच्चे गुरु का स्वरूप -

रत्नत्रयविशुद्धः सन्पात्रस्नेही परार्थकृत्।

परिपालितधर्मो हि भवाब्धेस्तारको गुरुः ॥३०॥

अन्वयार्थ - [अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (यः रत्नत्रयविशुद्धः सन्) जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र से विशुद्ध होते हुए, (पात्रस्नेही) पात्र शिष्यों से स्नेह करनेवाले, (परार्थकृत्) परोपकारी, (परिपालितधर्मः) धर्म का पालन करनेवाले और (भवाब्धेः तारकः) संसाररूपी समुद्र से तारनेवाले हों [सः] (गुरुः) [अस्ति] वे ही सच्चे गुरु हैं।

सरलार्थ - जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप 'रत्नत्रय' के धारक हैं, निष्पृह भाव से पात्र जीवों/शिष्यों पर स्नेह रखते हैं, जीवों को मोक्षमार्ग में लगानेरूप परोपकार करते हैं, यति धर्म का निरतिचार पालन करते हैं और दुःखरूप संसार से जीवों को मुक्ति दिलाते हैं, वे ही सच्चे गुरु हैं।

विशेषार्थ - अनन्तानुबन्धी आदि तीन कषाय चौकड़ी के अभाव से व्यक्त वीतरागता को ही यहाँ 'रत्नत्रय' समझना चाहिए; साथ में रागरूप व्यवहार रत्नत्रय भी रहता है। ऐसी विशिष्ट शुद्धता जिनको प्रगट हुई है, उन्हें संज्वलन कषाय के उदय से पात्र जीवों पर राग भी होता है। उसी राग के निमित्त से पात्र जीवों को मोक्षमार्ग में लगानेरूप परोपकार सहज में चलता ही रहता है; यही सच्चे गुरु का स्वरूप है।

गुरु जब शुद्धोपयोग से शुभोपयोग में आते हैं तो उन्हें अट्टाईस मूलगुणोंरूप व्यवहार मुनिधर्म पालन करने का भाव भी आता है। वास्तव में ऐसे सच्चे गुरु ही दुःखमय संसार से भव्य जीवों को तारने में निमित्त होते हैं। व्यवहार सम्यग्दर्शन के लिए भी सच्चे गुरु का यथार्थ ज्ञान-श्रद्धान करना अनिवार्य है।

सच्चे शिष्य का स्वरूप -

गुरुभक्तो भवाद्भीतो विनीतो धार्मिकः सुधीः ।

शान्तस्वान्तो ह्यतन्द्रालुः शिष्टः शिष्योऽयमिष्यते ॥३१॥

अन्वयार्थ - [अत्र नीतिः] [यः] (हि) निश्चय से (गुरुभक्तः) जो गुरुभक्त (भवात् भीतः) संसार से भयभीत (विनीतः) विनयी (धार्मिकः) धर्मात्मा (सुधीः) उत्तम बुद्धिवाला (शान्तस्वान्तः) हृदय का शान्त (अतन्द्रालुः) आलस्यरहित और (शिष्टः) उत्तम आचरणवाला हो [सः] (अयं शिष्यः इष्यते) वही सच्चा शिष्य है।

सरलार्थ - जो गुरुभक्त, संसार से भयभीत, विनयशील, धर्मात्मा, सम्यग्ज्ञानी, शान्तचित्त, आलस्यरहित और उत्तम आचरणवाला है, उसे ही सच्चा शिष्य कहते हैं।

विशेषार्थ - यहाँ शिष्य का अर्थ श्रावक समझना चाहिए। गुरु के प्रति सर्वस्व समर्पण की भावना को गुरुभक्ति कहते हैं अथवा गुरु के अनुकूल प्रवर्तन करने की भावना को गुरुभक्ति कहा जाता है। गुरुभक्ति के परिणामस्वरूप भव से भय होना और गुरु के प्रति विनयभाव आना स्वाभाविक है।

अनन्तानुबन्धी कषाय चौकड़ी के अभाव से अथवा दो कषाय चौकड़ी के अभाव से जिसको आंशिक वीतरागता प्रगट हो चुकी है, वह धर्मात्मा है। मोक्षमार्गी नारकी और तिर्यच भी धार्मिक हैं। धर्मात्मा जीव सहज ही शान्तचित्त हो जाते हैं। मिथ्यात्व का अभाव होने से एवं तीव्र कषायजन्य परिणामों का नाश होने से, श्रावक सदा धार्मिक कार्यों में उत्साहित रहता है।

गुरुभक्ति मुक्ति का भी कारण -

गुरुभक्तिः सती मुक्त्यै क्षुद्रं किं वा न साधयेत् ।

त्रिलोकीमूल्यरत्नेन दुर्लभः किं तुषोत्करः ॥३२॥

अन्वयार्थ - [अत्र नीतिः] जब (सती गुरुभक्तिः) समीचीन गुरु की

भक्ति (मुक्त्यै भवति) मुक्ति की प्राप्ति के लिए होती है तो फिर (किं क्षुद्रं वा न साधयेत्) किस क्षुद्र कार्य को नहीं साधेगी ? जैसे (त्रिलोकी-मूल्यरत्नेन) तीन लोक है मूल्य जिसका - ऐसे रत्न से (तुषोत्करः) भूसे का ढेर मिलना (किं दुर्लभः) क्या दुर्लभ है ?

सरलार्थ - जो रत्न तीन लोक की सम्पदा खरीदने में समर्थ है, उस रत्न से क्या भूसे का ढेर नहीं खरीदा जा सकता ? जो यथार्थ गुरुभक्ति मुक्तिप्राप्ति में परम्परा कारण बन सकती है तो क्या उस गुरुभक्ति से क्षुद्र सांसारिक अनुकूल पदार्थों की सहज प्राप्ति शक्य नहीं है ?

विशेषार्थ - सम्यग्दृष्टि, अणुव्रती अथवा महाव्रती को ही यथार्थ गुरुभक्ति होती है। गुरुभक्ति का भाव तो राग परिणाम है और राग आस्रव-बन्ध का कारण है। वीतरागभाव शुद्ध परिणाम है और वह धर्मरूप है, अतः उससे संवर-निर्जरा होते हैं।

गुरुभक्ति का परिणाम मन्दकषायरूप है, अतः इससे पुण्यकर्म का बन्ध होता है और जब पुण्यकर्म का उदय आता है तो अनुकूल/इष्ट वस्तुओं का मिलना सहज होता है। इस श्लोक में गुरुभक्ति को मुक्ति का कारण व्यवहारनय की अपेक्षा से कहा गया है।

वीतरागता तीनों लोकों में अमूल्य रत्न है, उससे तो मोक्ष मिलता है। पुण्य से जो अनुकूलता मिलती है, वह अनुकूलता भूसे का ढेर है।

गुरुद्रोह से विद्या का नाश -

गुरुद्रुहां गुणः को वा कृतघ्नानां न नश्यति ।

विद्यापि विद्युदाभा स्यादमूलस्य कुतः स्थितिः ॥३३॥

अन्वयार्थ - [अत्र नीतिः] (गुरुद्रुहां) गुरु से द्रोह करनेवाले (कृतघ्नानां) कृतघ्नी/उपकार को भूलनेवालों का (को वा गुणः) कौन-सा गुण (न नश्यति) नष्ट नहीं होता है ? अर्थात् [सर्वे गुणाः नश्यन्ति] सभी गुण नष्ट हो जाते हैं। (तेषां) उन लोगों की (विद्या अपि) विद्या भी (विद्युत्

आभा स्यात्) बिजली के समान क्षणस्थायी होती है। ठीक ही है (अमूलस्य स्थितिः कुतः भवति) जड़रहित वृक्ष की स्थिति कैसे हो सकती है ? नहीं हो सकती।

सरलार्थ – जैसे जड़रहित वृक्ष खड़ा नहीं रह सकता, वह गिर पड़ता है/नष्ट हो जाता है। वैसे ही गुरु से द्रोह करनेवाले कृतघ्न जीवों के सभी गुण नष्ट हो जाते हैं। उनकी विद्या भी बिजली के प्रकाश के समान देखते-देखते ही क्षणध्वंसी होती है।

विशेषार्थ – गुरु का अर्थ यहाँ लौकिक/अलौकिक ज्ञान देनेवाले अध्यापक अथवा अपने से बड़े माता-पिता, भाई आदि से, अपने लिए उपकार करनेवालों से है। द्रोह का अर्थ अहित विचारना, वैरभाव रखना है। गुरुद्रोही का अर्थ गुरु का वैरी होना है और कृतघ्न का अर्थ किए हुए उपकार को न मानना है।

गुरुद्रोह व कृतघ्नपने का भाव अतितीव्र कषायरूप परिणाम है। तीव्र कषाय के निमित्त से ज्ञानावरणादि घाति और अन्य पापकर्मों का अधिक स्थिति-अनुभागवाला कर्मबन्ध होता है और जब इस कर्म का उदय आएगा तब नियम से ज्ञान भी हीन/कम होगा। इसीलिए कहा है कि कृतघ्नी की विद्या भी बिजली की चमक के समान शीघ्र ही नष्ट हो जाती है।

जीव ने क्रोधादि कषाय परिणाम किए और तत्काल ही ज्ञान चला गया – ऐसा होना अनिवार्य नहीं है; क्योंकि कर्म का बन्ध होने पर भी उसका आबाधाकाल पूर्ण हुए बिना कर्म का उदय आता ही नहीं है। जब यथायोग्य समय में कर्म का उदय आएगा तब ही उसके निमित्त से जीव को कर्म का फल मिलेगा। सर्वज्ञ कथित कर्म की प्रक्रिया को भी यथार्थ जान लेना चाहिए। यहाँ ध्यान रखनेयोग्य बात यह है कि अनेक समय में बंधे कर्म परमाणुओं का एक समय में उदय आता है।

गुरुद्रोह सर्व सद्गुणों का नाशक –

गुरुद्रोहो न हि क्वापि विश्वास्यः विश्वघातिनः ।

अबिभ्यतां गुरुद्रोहादन्यद्रोहात्कुतो भयम् ॥३४॥

अन्वयार्थ – [अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (क्व अपि) कहीं पर भी (विश्वघातिनः) सम्पूर्ण जगत के नाश करनेवाले (गुरुद्रुहः) गुरुद्रोही का (न

विश्वास्यः) विश्वास नहीं करना चाहिए; क्योंकि (गुरुद्रोहात् अबिभ्यतां) गुरुद्रोह से नहीं डरनेवाले पुरुषों को (अन्यद्रोहात्) दूसरों के साथ द्रोह करने से (कुतः भयं) कैसे भय हो सकता है ?

सरलार्थ – गुरु के उपकार को भी भूल जानेवाला कृतघ्नी वास्तव में देखा जाए तो सब का घात करनेवाला हो जाता है। अतः गुरुद्रोही का विश्वास नहीं करना चाहिए। गुरुद्रोह से न डरनेवाले व्यक्ति को दूसरों के साथ द्रोह करने में भी भय हो ही नहीं सकता है।

विशेषार्थ – ज्ञान, चारित्र आदि अनेक गुणों में जो अपने से अधिक होते हैं, उन्हें गुरु कहते हैं। जिस कृतघ्न मनुष्य को अपने गुरुओं से भी अपनी क्रोधादि कषाएँ ही प्रिय लगती हैं, उसे अन्य कुटुम्बी जनों से, साधर्मि भाइयों से बहुमान/वात्सल्य भाव हो ही नहीं सकता। कृतघ्नी को अपनी कषाय ही भगवान है, सर्वस्व है। वह अपनी कषायपूर्ति के लिए ही जीवित है। अतः गुरुद्रोही का विश्वास कभी नहीं करना चाहिए।

गुरु से श्रावकाचार का उपदेश –

अथ कृत्यविदाचार्यः कृतकृत्यं यथाविधि ।

छात्रं प्रबोधयामास सद्धर्मं गृहमेधिनाम् ॥३५॥

अन्वयार्थ – (अथ) इसके अनन्तर (कृत्यवित् आचार्यः) कर्तव्य को जाननेवाले आचार्य ने (कृतकृत्यं छात्रं) समाप्त हो गए हैं पठनादि कार्य जिनके ऐसे छात्र (जीवन्धरकुमार) को (यथाविधि) विधिपूर्वक (गृहमेधिनां सद्धर्मं) गृहस्थों के एकदेशविरतिरूप धर्म का (प्रबोधयामास) ज्ञान कराया।

सरलार्थ – अपनी जीवन कहानी एवं विद्या विषयक अपने विशिष्ट विचार सुनाने के पश्चात् गुरु आर्यनन्दी ने जीवन्धरकुमार को योग्य शिष्य समझकर शास्त्रानुसार श्रावकाचार का भी ज्ञान करा दिया।

गुरु से राजपुत्र होने का बोध –

पुनश्च राजपुत्रत्वमपि बोधयितुं गुरुः ।

अनुगृह्याभ्यधात्तस्य तदुदन्तमिदंतया ॥३६॥

अन्वयार्थ – (पुनः च गुरुः) फिर गुरु ने (अनुगृह्य) अनुग्रह करके (राजपुत्रत्वं बोधयितुं अपि) तुम राजा के पुत्र हो – ऐसा बोध कराने के लिए ही (तस्य) उस जीवन्धरकुमार का (तदुदन्तं) पूर्वोक्त सारा वृत्तान्त (इदंतया अभ्यधात्) इस रीति से कहा कि जीवन्धरकुमार से इतर कोई पुरुष न जान सके।

सरलार्थ – गुरु आर्यनन्दी ने जीवन्धरकुमार को राजपुत्र होने का बोध कराने के लिए पूर्व घटित घटनाओं का आदि से अन्त तक सब वृत्तान्त सुना दिया।

विशेषार्थ – आजतक जीवन्धरकुमार को यह पता ही नहीं था कि 'मैं राजा सत्यन्धर का पुत्र राजकुमार हूँ।' उनको इस विषय में किसी ने कुछ बताया ही नहीं था और कोई बताता भी कैसे ? सेठ गन्धोत्कट को छोड़कर इस विषय को कोई जानता भी नहीं था। सेठ ने भी नहीं बताया था; किन्तु गुरु आर्यनन्दी ने अपने विशिष्ट ज्ञान से जीवन्धरकुमार के राजलक्षणों को देखकर तथा सेठ के तद्विषयक वचनों को सुनकर जान लिया था।

जीवन्धरकुमार की शिक्षा पूर्ण हो चुकी थी। कुमार अब प्रौढ़ हो चुके थे तथा गुरु आर्यनन्दी को आत्मकल्याणार्थ तपश्चर्या के लिए वनगमन करना था। अतः उचित/अनुकूल अवसर जानकर उन्होंने जीवन्धरकुमार के जीवन में घटित सब वृत्तान्त विस्तार से सुना दिया।

जीवन्धरकुमार का क्रोधित होना –

काष्ठाङ्गारमसौ ज्ञात्वा राजघं गुरुवाक्यतः।

सत्यन्धरात्मजः क्रोधात्सन्नाहं तद्वधे व्यधात् ॥३७॥

अन्वयार्थ – (असौ सत्यन्धरात्मजः) इन सत्यन्धर राजा के पुत्र जीवन्धरकुमार ने (गुरुवाक्यतः) गुरु के वचनों से (काष्ठाङ्गारं) काष्ठाङ्गार को (राजघं) राजा को मारनेवाला (ज्ञात्वा) जानकर (तद्वधे) उसको मारने के लिए (सन्नाहं) युद्ध की तैयारी (व्यधात्) की।

सरलार्थ – राजा सत्यन्धर के पुत्र जीवन्धरकुमार ने गुरु के वचनों को सुनकर राजा काष्ठांगार को अपने पिता का घातक जान लिया, इसकारण उन्हें अत्यधिक क्रोध उत्पन्न हुआ और वे काष्ठांगार का वध करने के लिए उद्यत हो गए।

क्रोधित जीवन्धरकुमार की दशा –

मुहुर्निवार्यमाणोऽपि सूरिणा न शशाम सः ।

हन्तात्मानमपि घ्नन्तः क्रुद्धाः किं किं न कुर्वते ॥३८॥

अन्वयार्थ – (सूरिणा) आचार्य के द्वारा (मुहुः निवार्यमाणः अपि) बारम्बार रोके जाने पर भी (सः न शशाम) वे कुमार शान्त नहीं हुए।

[अत्र नीतिः] (हन्त) खेद है ! (आत्मानं अपि) अपनी आत्मा का भी (घ्नन्तः) नाश करते हुए (क्रुद्धाः) क्रोधी पुरुष (किं किं न कुर्वते) क्या-क्या कर्म नहीं कर डालते हैं ?

सरलार्थ – गुरु आर्यनन्दी ने कुमार के इस क्रोध को पुनः पुनः रोकने का प्रयत्न किया; किन्तु जीवन्धरकुमार शान्त नहीं हुए। अपने आप को भी नष्ट कर देनेवाले क्रोधी जन क्या-क्या दुष्कर्म नहीं कर डालते ?

विशेषार्थ – जैसे कामान्ध वैसे ही क्रोधान्ध। जो वर्णन प्रथम लम्ब में कामान्ध के विषय में किया है, वैसे ही यहाँ क्रोधान्ध के विषय में भी समझ लेना चाहिए।

अलौकिक गुरु-दक्षिणा –

वत्सरं क्षम्यतामेकं वत्सेयं गुरुदक्षिणा ।

गुरुणेति निषिद्धोऽभूत्कोऽनन्धो लङ्घयेद्गुरुम् ॥३९॥

अन्वयार्थ – (हे वत्स) हे शिष्य ! (एकं वत्सरं) एक वर्ष और (क्षम्यतां) क्षमा करो। (इयं गुरुदक्षिणा) यह ही मेरे पढ़ाने की गुरु-दक्षिणा समझो; (इति) इसप्रकार (गुरुणा) गुरु से (निषिद्धः अभूत्) निषेधित हुआ।

[अत्र नीतिः] (कः अनन्धः) कौन ज्ञानवान/ज्ञानचक्षु पुरुष (गुरुं लङ्घयेत्) गुरु के आदेश का उल्लंघन करेगा ?

सरलार्थ – “हे शिष्य ! एक वर्ष तक काष्ठांगार को क्षमा करो – यही मेरे लिए गुरु-दक्षिणा दो।” गुरु के ऐसे वचन सुनकर कुमार शान्त हो गए। इसप्रकार काष्ठांगार की हत्या करने से जीवन्धरकुमार को गुरु ने रोक दिया। कौन ज्ञानवान शिष्य होगा जो गुरु के आदेश का उल्लंघन करेगा? अर्थात् कोई भी नहीं करेगा।

गुरु का उपदेश कुमार्गनाशक –

पश्यन्कोपक्षणे तस्य पारवश्यमसौ गुरुः ।

अशिक्षयत्पुनश्चैनमपथघ्नी हि वाग्गुरोः ॥४०॥

अन्वयार्थ – (च असौ गुरुः) इस गुरु ने (कोपक्षणे) क्रोध के समय (तस्य पारवश्यं पश्यन्) उसकी पराधीनता को देख (एनं) इसे (पुनः) फिर से (अशिक्षयत्) शिक्षा दी।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (गुरोः वाक्) गुरु का वचन (अपथघ्नी) खोटे मार्ग का नाश करनेवाला होता है।

सरलार्थ – क्रोध के काल में कुमार को क्रोधाधीन जानकर गुरु आर्यनन्दी ने कुमार को पुनः उपदेश दिया; क्योंकि गुरु के वचन कुमार्ग के नाशक होते हैं।

धीरता का स्वरूप –

अवशः किमहो मोहादकुपः पुत्रपुङ्गव ।

सति हेतौ विकारस्य तदभावो हि धीरता ॥४१॥

अन्वयार्थ – (पुत्रपुङ्गव) हे श्रेष्ठ पुत्र ! (त्वं) तुम (मोहात्) मोह से (अवशः) विवश होकर (किं) क्यों (अकुपः) क्रोध करते हो ?

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (विकारस्य हेतौ सति) विकार का कारण होने पर (तदभावः) विकारी न होना ही (धीरता) धीरता है।

सरलार्थ — हे पुत्रोत्तम ! मोह से परवश होकर क्यों क्रोध करते हो ? 'वास्तव में देखा जाए तो क्रोधादि विकार के कारण विद्यमान होने पर भी विकारी न होना धीरता है।'

विशेषार्थ — क्रोधादि विकारी भाव करने के बाह्य अथवा अन्तरंग कोई भी कारण उपस्थित न हों और जीव विकार न करे तो इसमें जीव का क्या पुरुषार्थ ? कारण उपस्थित होने पर क्रोध न करना ही धीरता का लक्षण है।

क्रोध पर क्रोध करने का उपदेश —

अपकुर्वति कोपश्चेत्किं न कोपाय कुप्यसि ।

त्रिवर्गस्यापवर्गस्य जीवितस्य च नाशिने ॥४२॥

अन्वयार्थ — [अत्र नीतिः] (चेत्) यदि (अपकुर्वति कोपः) अपकार करनेवाले पर तुम्हारा क्रोध है, तो फिर (त्रिवर्गस्य) धर्म, अर्थ, काम, (अपवर्गस्य च) एवं मोक्ष का और (जीवितस्य) जीवन का (नाशिने) नाश करनेवाले (कोपाय) क्रोध पर (किं न कुप्यसि) क्रोध क्यों नहीं करते हो ?

सरलार्थ — अपकार करनेवालों से क्रोध करना ही चाहिए, यदि यह तुम्हारा भाव हो तो धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के पुरुषार्थ का एवं जीवन का भी नाश करनेवाले अपने क्रोध पर क्रोध क्यों नहीं करते ? सच्चा पुरुषार्थ तो यह है कि तुम क्रोध करना ही छोड़ दो, क्षमाशील बन जाओ ।

क्रोधी स्वयं ही दुःखी —

दहेत्स्वमेव रोषाग्निर्नापरं विषयं ततः ।

क्रुध्यन्निक्षिपति स्वाङ्गे वह्निमन्यदिधिक्षया ॥४३॥

अन्वयार्थ — [अत्र नीतिः] (रोषाग्निः) क्रोधरूपी अग्नि (स्वं एव) अपने आपको ही (दहेत्) जलाती है अर्थात् क्रोध क्रोधी को ही पहले भस्म करता है (अपरं विषयं न) दूसरे पदार्थ को नहीं । (ततः) इसलिए (क्रुध्यन्) क्रोधी पुरुष (अन्य दिधिक्षया) दूसरे को जलाने की इच्छा से (स्वाङ्गे) पहले अपने शरीर पर ही (वह्निं) अग्नि (निक्षिपति) डालता है ।

सरलार्थ – क्रोधरूपी अग्नि, क्रोध करनेवाले को ही जलाती है; क्रोधी जिस जीव पर क्रोध करता है, उसे नहीं जलाती। क्रोध करनेवाला दूसरों को जलाने के लिए अंगारे को उठाता है तो पहले उसके ही हाथ जल जाते हैं।

विशेषार्थ – यहाँ जलाने का अर्थ दुःखी करना ही समझना चाहिए। क्रोधी दूसरों को दुःखी/अपमानित करने की भावना से स्वयं ही नियम से दुःखी होता है। जिसके ऊपर क्रोध किया जाएगा, वह दुःखी होगा ही – ऐसा नियम नहीं है। दूसरे का दुःखी होना तो उसके भवितव्य तथा उसके परिणाम पर निर्भर है। अतः क्रोध करना ही नहीं चाहिए।

शास्त्र-स्वाध्याय का फल –

हेयोपादेयविज्ञानं नो चेद् व्यर्थः श्रमः श्रुतौ ।

किं व्रीहिखण्डनायासैस्तण्डुलानामसम्भवे ॥४४॥

अन्वयार्थ – [अत्र नीतिः] (चेत्) यदि (हेयोपादेय विज्ञानं नो) हेय व उपादेय का ज्ञान नहीं है (तर्हि) तो (श्रुतौ) शास्त्र सम्बन्धी (श्रमः) परिश्रम करना (व्यर्थः) व्यर्थ है; क्योंकि (तण्डुलानां असम्भवे) चावलों के नहीं निकलने पर (व्रीहिखण्डनायासैः किं) धान्य के कूटने से क्या फायदा ?

सरलार्थ – चावल निकाल लेने के पश्चात् मात्र तुष को कूटने से क्या लाभ है ? अर्थात् कूटने का परिश्रम व्यर्थ है। उसीप्रकार हेय-उपादेय का ज्ञान न हो तो शास्त्र के अध्ययन करने का परिश्रम व्यर्थ है।

विशेषार्थ – हेय का अर्थ त्यागने योग्य और उपादेय का अर्थ ग्रहण करने योग्य है। जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष – ये सात तत्त्व हैं। जानने की अपेक्षा तो ये सातों तत्त्व उपादेय ही हैं। ज्ञेय का अर्थ जानने योग्य। अब क्रम से सातों तत्त्वों का हेय, ज्ञेय, उपादेयपना सिद्ध करते हैं।

१. जीवतत्त्व – मोक्षमार्ग प्रगट करने के लिए तथा साक्षात् मोक्ष की प्राप्ति के लिए भी आश्रय करने की अपेक्षा यह त्रिकाली, निज-शुद्धात्मा/ जीवतत्त्व उपादेय है एवं ध्यान का ध्येय होने से परम उपादेय है।

२. अजीवतत्त्व - न हेय है और न उपादेय, यह तो मात्र ज्ञेय है।

३-४. आस्रव तथा बन्धतत्त्व - साक्षात् दुःखरूप एवं आगामी काल में भी दुःखकारक होने से हेय हैं।

५-६. संवर तथा निर्जरातत्त्व - मोक्षमार्गस्वरूप हैं, जो आंशिक शुद्ध व सुखरूप होने से प्रगट करने की अपेक्षा उपादेय हैं।

७. मोक्षतत्त्व - साध्य है और प्राप्त करने की अपेक्षा सर्वथा उपादेय है।

तत्त्वज्ञान का फल मिलना आवश्यक -

तत्त्वज्ञानं च मोघं स्यात्तद्विरुद्धप्रवर्तिनाम्।

पाणौ कृतेन दीपेन किं कूपे पततां फलम् ॥४५॥

अन्वयार्थ - [अत्र नीतिः] (तत् विरुद्धप्रवर्तिनां) शास्त्र और तत्त्वज्ञान के विरुद्ध प्रवृत्ति करनेवाले पुरुषों का (तत्त्वज्ञानं च) तत्त्वज्ञान भी (मोघं स्यात्) वृथा है। (कूपे पततां) कुएँ में गिरते हुए पुरुषों को (पाणौ कृतेन दीपेन) हाथ में रखे हुए दीपक से (किं फलं) क्या फल है ?

सरलार्थ - हाथ में दीपक होने पर भी कुएँ में गिरता है तो दीपक से क्या लाभ ? दीपक व्यर्थ ही सिद्ध हुआ। इसीप्रकार तत्त्वज्ञान होने पर भी तत्त्व के विरुद्ध प्रवृत्ति करनेवाले पुरुषों का तत्त्वज्ञान व्यर्थ ही सिद्ध होगा।

विशेषार्थ - शास्त्र के अध्ययन और पूर्व पुण्योदय से जीवादि सप्त तत्त्व का हेयोपादेयरूप ज्ञान होने पर भी यदि जीवन में अन्याय, अनीति और अभक्ष्यरूप पापप्रवृत्ति का अभाव नहीं हुआ और मोक्षमार्ग भी प्रगट नहीं हुआ तो तत्त्वज्ञान का होना व्यर्थ ही समझना चाहिए।

तत्त्वज्ञान के अनुसार ही प्रवृत्ति योग्य -

तत्त्वज्ञानानुकूलं तदनुष्ठातुं त्वमर्हसि।

मुषितं धीधनं न स्याद्यथा मोहादिदस्यभिः ॥४६॥

अन्वयार्थ - [अत्र नीतिः] (त्वं) तुम (तत्त्वज्ञानानुकूलं) तत्त्वज्ञान के अनुकूल (अनुष्ठातुं) प्रवृत्ति करने के लिए (अर्हसि) योग्य हो, (तत्) इसलिए तुम ऐसा करो (यथा) जिससे (मोहादिदस्युभिः) मोहादिक लुटेरों से तुम्हारा (धीधनं) बुद्धिरूपी धन (मुषितं न स्यात्) चुराया नहीं जाए।

सरलार्थ - इसलिए हे कुमार ! तुम्हें तत्त्वज्ञान के अनुसार ही प्रवृत्ति करना योग्य है। यदि ऐसा नहीं करोगे तो मोहादि चोर तुम्हारे बुद्धिरूपी धन को लूट लेंगे।

दुर्जनरूपी सर्प से दूर रहना ही उचित -

स्त्रीमुखेन कृतद्वारान्स्वपथोत्सुकमानसान्।

दुर्जनाहीञ्जहीहि त्वं ते हि सर्वङ्कषाः खलाः ॥४७॥

अन्वयार्थ - [अत्र नीतिः] (त्वं) तुम (स्त्रीमुखेन कृतद्वारान्) स्त्रियों के द्वारा किया है प्रवेश जिन्होंने और (स्वपथोत्सुकमानसान्) खोटे मार्ग पर चलने के लिए उत्कण्ठित है मन जिनका ऐसे (दुर्जन अहीन्) भयंकर सर्पों को (जहीहि) दूर से ही छोड़ दो। (हि) निश्चय से (ते खलाः) वे दुर्जन पुरुष (सर्वङ्कषाः) सब लोगों को दुःख देनेवाले होते हैं।

सरलार्थ - जो स्त्री के माध्यम से कुपथ में प्रवेश करानेवाले हैं, जो स्वयं कुपथ पर चलने-चलाने में उत्कण्ठित मनवाले हैं - ऐसे दुर्जनरूपी सर्पों को तुम छोड़ दो, क्योंकि वे दुष्ट सब लोगों का सर्वनाश करनेवाले होते हैं।

विशेषार्थ - गुरु आर्यनन्दी, जीवन्धरकुमार को भावी राजा जानकर उन्हें विशेष हितोपदेश दे रहे हैं। परस्त्री का लोभ दिखाकर अथवा येन-केन-प्रकारेण अपना ही स्वार्थ सिद्ध करने की प्रवृत्तिवाले लोगों को तुम दुर्जन जानो। ऐसे दुर्जनों का समागम ही नहीं करना चाहिए।

दुर्जन का समागम अहितकारी -

स्पृष्टानामहिभिर्नश्येत् गात्रं खलजनेन तु।

वंशवैभववैदुष्यक्षान्तिकीर्त्यादिकं क्षणात् ॥४८॥

अन्वयार्थ - [अत्र नीतिः] (अहिभिः स्पृष्टानां) सर्पों से डसे हुए पुरुषों का केवल (गात्रं नश्येत्) शरीर ही नष्ट होता है; (तु) किन्तु (खलजनेन स्पृष्टानां) दुर्जन पुरुषों का सम्बन्ध करनेवाले पुरुषों के (वंशवैभव-वैदुष्यक्षान्तिकीर्त्यादिकं) कुल, सम्पत्ति, पाण्डित्य, क्षमा और कीर्त्यादिक गुण (क्षणत्) उसी क्षण (नश्येत्) नष्ट हो जाते हैं।

सरलार्थ - सर्प से डसे हुए पुरुषों के तो केवल जड़ शरीर ही का नाश हो जाता है; किन्तु दुर्जनों का समागम करनेवाले पुरुषों का वंश, वैभव, पाण्डित्य, शान्ति, कीर्ति इत्यादि सर्व गुणों का नाश क्षणभर में ही हो जाता है।

दूसरों को दुर्जन बनाना सरल -

खलः कुर्यात्खलं लोकमन्यमन्यो न कञ्चन ।

न हि शक्यं पदार्थानां भावनं च विनाशवत् ॥४६॥

अन्वयार्थ - [अत्र नीतिः] (खलः) दुर्जन पुरुष (लोकं) लोक को (खलं) दुर्जन (कुर्यात्) बना देता है; किन्तु (अन्यः) सज्जन पुरुष (कञ्चन) किसी को भी (अन्यं न कुर्यात्) सज्जन नहीं कर सकता। (हि) निश्चय से (पदार्थानां विनाशवत्) पदार्थों के विनाश की तरह उनका (भावनं) उत्पन्न करना (न शक्यं) शक्य नहीं है।

सरलार्थ - दुर्जन मनुष्य दूसरे मनुष्य को थोड़े ही समय में अपने जैसा दुर्जन बना लेता है, किन्तु सज्जन मनुष्य दूसरे मनुष्य को तत्काल सज्जन नहीं बना पाता है; क्योंकि पदार्थों के विनाश के समान उनका उत्पन्न करना सरल नहीं है।

विशेषार्थ - बने बनाए चित्र, मूर्ति, मकान आदि को नष्ट करना सरल है; किन्तु नया चित्र, मूर्ति, मकान आदि बनाना सरल नहीं है, अत्यन्त कठिन है। विधातक कार्य करना सरल है और विधायक कार्य करना कठिन है। अनादिकाल से अज्ञान के कारण रागभाव सरल लगता है और वीतराग-भाव/धर्मभाव कठिन लगता है।

सज्जनों का समागम तथा सम्मान करना उचित -

सज्जनास्तु सतां पूर्वं समावर्ज्याः प्रयत्नतः ।

किं लोके लोष्टवत्प्राप्यं श्लाघ्यं रत्नमयत्नतः ॥५०॥

अन्वयार्थ - [अत्र नीतिः] (तु) और (सतां) सज्जन पुरुषों को (प्रयत्नतः) प्रयत्न से (पूर्वं) पहले (सज्जनाः समावर्ज्याः) सज्जनों का आदर करना चाहिए। (लोके) लोक में (किं) क्या (लोष्टवत्) मिट्टी के ढेले के समान (श्लाघ्यं रत्नं) प्रशंसनीय रत्न (अयत्नतः) बिना प्रयत्न के (प्राप्यं) मिल सकता है ?

सरलार्थ - कंकड़-पत्थर अथवा मिट्टी के ढेले के समान दुनिया में मूल्यवान और प्रशंसनीय रत्न प्रयत्न के बिना नहीं मिलते। अतः सज्जनों को प्रयत्नपूर्वक सज्जनों का समागम और सम्मान करना चाहिए।

विशेषार्थ - गुरु आर्यनन्दी, जीवन्धरकुमार को राजा बनने के पूर्व ही सुचारु राज्य संचालन के लिए समझा रहे हैं कि प्रयत्नपूर्वक योग्य पुरुषों का संग्रह और उनका उचित सम्मान करना आवश्यक है।

सज्जनों के वचन अमृत से भी श्रेष्ठ -

जाग्रत्वं सौमनस्यं च कुर्यात्सद्वागलं परैः ।

अजलाशयसम्भूतममृतं हि सतां वचः ॥५१॥

अन्वयार्थ - [अत्र नीतिः] (सद्वाक्) सज्जन पुरुषों का वचन (जाग्रत्वं) जागृति (च) और (सौमनस्यं) उत्तम सहृदयता को (कुर्यात्) करता है। (परैः अलं) बहुत कहने से क्या ? (हि) निश्चय से (सतां वचः) सज्जन पुरुषों का वचन (अजलाशयसम्भूतं) जलाशय के बिना ही उत्पन्न हुआ (अमृतं) अमृत है।

सरलार्थ - सज्जन पुरुषों के वचन सावधान करनेवाले और मन को पवित्र करनेवाले होते हैं। उनके वचन अमृत के समान हैं। अमृत तो समुद्र से उत्पन्न माना गया है; किन्तु सज्जन पुरुषों के वचन उनके पवित्र हृदय से उत्पन्न होते हैं।

विशेषार्थ - हिन्दू धर्म की मान्यता के अनुसार देवताओं द्वारा समुद्र मन्थन से 'अमृतरत्न' निकाला गया था। उस अमृतरत्न की उपमा यहाँ सज्जनों के वचनों को दी है।

सज्जनों के वचन अमृत से भी अधिक श्रेष्ठ हैं; क्योंकि अमृत तो जलाशय से निकलता है, जहाँ कीचड़ भी होता है; किन्तु सज्जनों के वचन उनके पवित्र हृदय से निकलते हैं, जहाँ विकार का नाम ही नहीं है।

अविकारी रहना ही योग्य है -

यौवनं सत्वमैश्वर्यमेकैकं च विकारकृत।

समवायो न किं कुर्यादविकारोऽस्तु तैरपि ॥५२॥

अन्वयार्थ - [अत्र नीतिः] जब (यौवनं) युवावस्था (सत्त्वं) बल/शरीरसामर्थ्य और (ऐश्वर्यं) ईश्वरता अर्थात् प्रभुता (एकैकं) पृथक्-पृथक् (विकारकृत) विकार भावों को करनेवाले हैं तो (समवायः) उनका समूह (किं) किस अनर्थ कार्य को (न कुर्यात्) नहीं करेगा ? करेगा ही (तु तैः अपि) इसलिए इन तीनों से भी तुम्हारा चित्त (अविकारः अस्तु) विकाररहित हो - ऐसा आशीर्वाद गुरु ने जीवन्धरकुमार को दिया।

सरलार्थ - यौवन, सत्ता/अधिकार, धन-वैभव इनमें से एक भी हो तो वह अज्ञानी मनुष्य को विकारी बना देता है, फिर इन सबका समूह मनुष्य को विकारी क्यों नहीं बनाएगा ? अवश्य बनाएगा; किन्तु ऐसे निमित्त मिलने पर भी अविकारी रहना ही सज्जनों के लिए योग्य है।

विशेषार्थ - अज्ञानी पुरुषों को यौवनादि अवस्था के विशेष निमित्त से क्रोधादि विकार उत्पन्न होते हैं; क्योंकि उन्हें वह पर्याय ही सर्वस्व और सत्य लगती है। इस पर्यायदृष्टि के कारण मिथ्यात्वरूप द्रव्यकर्म और इस मिथ्यात्व से विकाररूप परिणामन स्वाभाविक है। गुरु आर्यनन्दी जीवन्धर कुमार को आशीर्वाद देते हैं कि हे शिष्योत्तम ! तुम ज्ञानवान हो, यौवनादि सब निमित्तों की उपस्थिति में भी तुम्हें किसी प्रकार का विकार न हो।

सज्जन पुरुष सदा अविकारी -

न हि विक्रियते चेतः सतां तद्धेतुसन्निधौ ।

किं गोष्पदजलक्षोभी क्षोभयेज्जलधेर्जलम् ॥५३॥

अन्वयार्थ - [अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (सतां चेतः) सज्जन पुरुषों का चित्त (तद्हेतु सन्निधौ) विकार के कारण मिलने पर भी (न विक्रियते) विकार को प्राप्त नहीं होता है। (किं) क्या (गोष्पदजलक्षोभी) गाय के खुर प्रमाण जल को मलिन करनेवाला मेंढक जैसा छोटा जीव (जलधेः) समुद्र के (जलं) जल को (क्षोभयेत्) क्षोभित कर सकता है ?

सरलार्थ - जैसे गाय के खुर-प्रमाण जल को तरंगित एवं मैला करनेवाला छोटा-सा मेंढक जैसा छोटा जीव समुद्र के जल को तरंगित एवं मैला नहीं कर सकता; वैसे ही विकार के निमित्त उपस्थित होने पर भी वे निमित्त सज्जन/सम्यग्दृष्टि के चित्त को क्षोभित करने/विकारी बनाने में समर्थ नहीं हैं।

विशेषार्थ - निमित्त से नैमित्तिक कार्य होता ही है, निमित्त बलवान है, कर्म जीवों को विकारी बनाते हैं, कर्म बलवान हैं - इत्यादि भ्रममूलक कथन को आचार्य इस श्लोक के कथन से निरस्त कर देते हैं। निमित्त अकिञ्चित्कर हैं; स्वभाव समर्थ है, आत्मस्थिरता ही मुक्ति का कारण है - इन विषयों को स्पष्ट करते हैं।

अस्थिर बुद्धि ही जीवन में बाधक -

देशकालखलाः किं तैश्चलां धीरेव बाधिका ।

अवहितोऽत्र धर्मे स्यादवधानं हि मुक्तये ॥५४॥

अन्वयार्थ - [अत्र नीतिः] (देशकालखलाः) देश, काल और दुर्जन ये (किं) [कुर्युः] क्या करेंगे ? (तैः चला) उनसे चलायमान (धीः एव बाधिका) बुद्धि ही मनुष्य के चरित्र को बिगाड़ देती है। इसलिए इस संसार में (धर्मे) आत्मा के स्वभाव में (अवहितः) स्थिर होना चाहिए। (हि) निश्चय से (अवधानं) अपनी आत्मा के स्वभाव में स्थिर रहना (मुक्तये स्यात्) मोक्ष की प्राप्ति के लिए हाता है।

सरलार्थ – प्रतिकूल देश, प्रतिकूल काल और दुर्जन मनुष्यों से तेरी क्या हानि होती है ? अर्थात् कुछ भी हानि नहीं होती। तेरी अस्थिर बुद्धि ही तेरे जीवन में बाधक है। अतएव आत्मस्वभाव में सावधान रहो। आत्मलीनता ही मुक्ति का कारण है।

विशेषार्थ – बाह्य प्रतिकूलताओं का बहाना करनेवालों को यहाँ स्पष्ट शब्दों में समझाया है। बाह्य प्रतिकूलताएँ दुःख का कारण नहीं होतीं। संसारी जीवों को उनकी अस्थिर बुद्धि अथवा तत्त्वों का अनिर्णय ही दुःखोत्पादक है, अन्य द्रव्य नहीं। आत्मस्थिरता ही सच्चे सुख और मुक्ति का कारण है।

आत्मा ही आत्मा का सच्चा गुरु –

शिक्षावचः सहस्रैर्वा क्षीणपुण्ये न धर्मधीः ।

पात्रे तु स्फायते तस्मादात्मैव गुरुरात्मनः ॥५५॥

अन्वयार्थ – [अत्र नीतिः] (क्षीणपुण्ये) पुण्यहीन पुरुष में (शिक्षावचः सहस्रैः) हजारों शिक्षावचनों से (धर्मधीः) धर्मबुद्धि (न स्यात्) नहीं होती है (तु) और (पात्रे) उत्तम पात्र में (स्फायते) बिना उपदेश के ही धर्मबुद्धि उत्पन्न हो जाती है। (तस्मात्) इसलिए (आत्मा एव) आत्मा ही (आत्मनः) आत्मा का (गुरुः अस्ति) गुरु है।

सरलार्थ – पुण्यहीन, तीव्रकषायी और अपात्र मनुष्यों को हितकारी हजारों उपदेशों से भी धर्मबुद्धि उत्पन्न नहीं होती; किन्तु पात्र मनुष्यों को उपदेश के बिना भी धर्मबुद्धि बढ़ती है। वास्तविकरूप से देखा जाए तो आत्मा ही आत्मा का सच्चा गुरु है।

विशेषार्थ – उपदेशादि बाह्य साधन पात्र जीवों को ही धर्मपरिणति के लिए निमित्त कारण सिद्ध होते हैं; अपात्र जीवों को नहीं। इस श्लोक के द्वारा निमित्त अकिञ्चित्कर हैं – यह विषय स्पष्ट होता है।

स्वयं कार्यरूप परिणमनेवाला उपादान कारण ही सच्चा कारण है, कार्य तो उपादान में उपादान से ही होता है; पर वहाँ निमित्त उपस्थित अवश्य रहता है। यही वस्तुस्वरूप है एवं त्रिकाल अबाधित सत्य है।

धन से उन्मत्त जीवों का स्वरूप -

न शृण्वन्ति न बुध्यन्ति न प्रयान्ति च सत्पथम् ।
प्रयान्तोऽपि न कार्यान्तं धनान्धा इति चिन्त्यताम् ॥५६॥

अन्वयार्थ - [अत्र नीतिः] (धनान्धाः) धन से अन्धे पुरुष (सत्पथं) आत्मा की उन्नति के सच्चे मार्ग को (न शृण्वन्ति) न तो सुनते हैं, (न बुध्यन्ति) न जानते हैं और (न प्रयान्ति) न उस पर चलते ही हैं। (प्रयान्तः अपि) कदाचित् सत्पथ पर चलें तो भी (न कार्यान्तं) कार्य के अन्त तक नहीं पहुँचते हैं; (इति) ऐसा धनिक पुरुषों के विषय में तुम (चिन्त्यतां) विचार करो।

सरलार्थ - धन-मद से उन्मत्त/अन्ध व्यक्ति कल्याणकारी आत्मोन्नति के यथार्थ मार्ग/उपाय को न तो सुनते हैं, न जानते हैं और न सन्मार्ग पर चलते ही हैं। यदि कदाचित् सन्मार्ग पर चलें तो भी बीच में रुक जाते हैं, पूर्णता को नहीं पहुँच पाते। इसलिए हे कुमार ! तुम्हें धनान्ध पुरुषों के विषय में ऐसा विचार करना चाहिए।

विशेषार्थ - किसी भी अनुकूल या प्रतिकूल पर्यायरूप ही जीव अपने को मान लेता है तो भी उसे अन्ध ही कहते हैं।

गुरु आर्यनन्दी, जीवन्धरकुमार को मार्गदर्शन करते हुए कहते हैं कि 'हे कुमार ! तुम अपने जीवन में किसी प्रकार से अन्ध मत बनना। तुम्हें सभी प्रकार की अनुकूलताएँ मिल चुकी हैं। अतः तुम्हारा जीवन आदर्श बने - यही हमारा अन्तिम उपदेश और आशीर्वाद है।'

गुरु आर्यनन्दी का वन में प्रस्थान -

इत्याशास्य तमाश्वास्य कृच्छ्रं स तपसे गतः ।
प्राणप्रयाणवेलायां न हि लोके प्रतिक्रिया ॥५७॥

अन्वयार्थ - (इति) इसप्रकार (तं) उन जीवन्धरकुमार को (आशास्य) उपदेशरूप आशीर्वाद देकर (च) और (आश्वास्य) विश्वास दिलाकर (सः)

वे जीवन्धरकुमार के गुरु आर्यनन्दी (कृच्छ्रं तपसे) पूर्व की भाँति कठोर तप करने के लिए (गतः) चले गए।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (अत्र लोके) इस संसार में (प्राण-प्रयाणवेलायां) प्राणों के निकलते समय (प्रतिक्रिया न) मृत्यु को रोकने का कोई उपाय नहीं है।

सरलार्थ – गुरु आर्यनन्दी ने पूर्वोक्त प्रकार से उपदेशमूलक आशीर्वाद दिया और भविष्य के सम्बन्ध में भी आश्वासन देकर तपस्या के लिए वन की ओर प्रस्थान किया; क्योंकि इस संसार में मरण से बचने का कोई उपाय किसी के भी पास नहीं है।

विशेषार्थ – गुरु आर्यनन्दी तो भस्मक रोग होने के पूर्व दिगम्बर साधु अवस्था में थे। रोगयुक्त होते ही मुनि लिंग छेदकर सामान्य तपस्वी बन गए थे। रोगमुक्त होते ही पुनः मुनि बनने की भावना थी।

गुरु आर्यनन्दी को जीवन्धरकुमार के हाथ के ग्रास के निमित्त से निरोगता आई थी। उस उपकार के बदले में उन्हें कुमार को विद्वान बनाने का भाव जागृत हुआ था। वह कार्य भी अब पूर्ण हो चुका है। अतः जीवन्धरकुमार को अन्तिम उपदेश और आशीर्वाद देकर गुरु आर्यनन्दी तपस्या के लिए वन की ओर प्रस्थान कर गए।

आर्यनन्दी मुनिराज को मुक्ति की प्राप्ति –

प्रब्रज्याथ तपः शक्त्या नित्यमानन्दमव्रजत्।

निष्प्रत्यूहा हि सामग्री नियतं कार्यकारिणी ॥५८॥

अन्वयार्थ – (अथ) तदनन्तर (प्रब्रज्य) फिर दीक्षा लेकर उन गुरु ने (तपः शक्त्या) तपश्चरण की सामर्थ्य से (नित्यं आनन्दं) शाश्वत आनन्दरूपी मोक्ष को (अव्रजत्) प्राप्त किया।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (निष्प्रत्यूहा) निर्विघ्न (सामग्री) सामग्री (नियतं) नियम से (कार्यकारिणी) कार्य सिद्ध करनेवाली होती है।

सरलार्थ – आर्यनन्दीजी ने वन में जाकर पुनः जैनेश्वरी दीक्षा धारण की और निर्दोष तप की सामर्थ्य से आत्मभावना भाते हुए अनन्त सुखरूप मुक्ति को प्राप्त किया। बाधारहित कारण-सामग्री नियम से कार्य को पूर्ण करती है।

विशेषार्थ – राजा लोकपाल ने राज्य का परित्याग कर मुनि-अवस्था धारण की थी। वे ही ये आर्यनन्दी मुनिराज हैं। मुनि-अवस्था में ही भस्मक रोग के कारण बाधा उत्पन्न हुई थी। मुनि-अवस्था बाधारहित और आत्मसाधना के लिए उपयुक्त है। अतएव मोक्ष की साधना के लिए अनुकूल सामग्री मिलते ही मुनिराज आर्यनन्दी ने आत्म-साधनापूर्वक मुक्ति-सुन्दरी का वरण किया।

जीवन्धरकुमार, गुरु वियोग से दुःखी –

तपोवनं गुरौ प्राप्ते शुचं प्रापत्स कौरवः।

गर्भाधानक्रियामात्रन्यूनौ हि पितरौ गुरुः॥५६॥

अन्वयार्थ – (गुरौ तपोवनं प्राप्ते) गुरु के तपोवन में चले जाने पर (कौरवः) कुरुवंशी जीवन्धरकुमार ने (शुचं प्रापत्) अत्यन्त शोक किया।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (गर्भाधानक्रियान्यूनौ) गर्भ धारण की क्रिया से रहित होने पर भी (गुरुः) गुरु (पितरौ) माता-पिता के समान हैं।

सरलार्थ – गुरु आर्यनन्दी के वनगमन से कुरुवंशी जीवन्धरकुमार को अत्यन्त दुःख हुआ; क्योंकि वास्तविकरूप से देखा जाए तो मात्र गर्भाधान क्रिया को छोड़कर गुरु ही शिष्य के लिए माता-पिता है।

विशेषार्थ – माता-पिता तो बालक के जन्म में सहायक होते हैं तथा बाल्यावस्था में लालन-पालन करके बालक के प्रति उपकार करते हैं; किन्तु गुरु तो शिष्य को समस्त विद्याओं में पारंगत कराकर योग्य विद्वान बनाते हैं। उसके वर्तमान और भावी जीवन को गढ़कर अत्यन्त उपकार करते हैं। अतः जीवन्धरकुमार को गुरु-वियोग का दुःख होना स्वाभाविक है।

तत्त्वज्ञान ही दुःख दूर करने का उपाय -

तत्त्वज्ञानजलेनाथ शोकाग्निं निरवापयत् ।

शैत्ये जाग्रति किं नु स्यादातपार्तिः कदाचन ॥६०॥

अन्वयार्थ - (अथ) तदनन्तर जीवन्धरकुमार ने (तत्त्वज्ञानजलेन) तत्त्वज्ञानरूपी जल से (शोकाग्निं) गुरु वियोगजन्य शोकरूपी अग्नि को (निरवापयत्) दूर किया ।

[अत्र नीतिः] (शैत्ये जाग्रति) शीत के जागृत होने पर (किं) क्या (आतपार्तिः) गर्मी के आतप का दुःख (कदाचन स्यात्) कभी हो सकता है?

सरलार्थ - जैसे शीतलता के समय उष्णताजन्य दुःख कभी होता ही नहीं है; वैसे ही तत्त्वज्ञानरूपी जल से जीवन्धरकुमार ने गुरु के वियोगजन्य शोकरूपी दुःख को शान्त किया ।

विशेषार्थ - वियोगजन्य दुःख के परिहार का उपाय वस्तुस्वरूप का यथार्थ निर्णय ही है। जो इसप्रकार है - जिस-जिस वस्तु का संयोग हुआ है, उस-उस वस्तु का वियोग नियम से होगा ही होगा - इस महामन्त्र का स्मरण करते रहने से वियोगजन्य दुःख नियम से नष्ट होता है। जीवन्धरकुमार ने तत्त्व-विचार ही किया और उनका दुःख दूर हो गया ।

युवा जीवन्धरकुमार का वर्णन -

अथास्मिन्विद्यया कान्त्या विदुषां योषितां हृदि ।

रथे च योग्यया भाति तत्र प्रस्तुतमुच्यते ॥६१॥

अन्वयार्थ - (अथ) गुरु के वियोग के अनन्तर (विद्यया) पाण्डित्य से (विदुषां) विद्वानों के (हृदि) हृदय में (कान्त्या) शरीर के सौन्दर्य से (योषितां हृदि) स्त्रियों के हृदय में और (योग्यया) शस्त्र-संचालन की योग्यता से (रथे च) रथ में अर्थात् युद्धरथ में (अस्मिन् भाति) जीवन्धरकुमार के शोभायमान होने पर (तत्र प्रस्तुतं उच्यते) वहाँ जो वृत्तान्त हुआ, उसे कहते हैं।

सरलार्थ – विद्वत्ता से विद्वानों के हृदय में, युवा शरीर की कान्ति से युवतियों के मनोमन्दिर में और शस्त्र-संचालनादि से युद्धरथ में युवा जीवन्धरकुमार शोभायमान होते हैं।

उपकथा-४

व्याधों का गायों को चुराना –

अथैकदा समभ्येत्य राजाङ्गणभुवि स्थिताः ।

गावोऽवस्कन्दिता व्याधैरिति गोपा हि चुक्रुशुः ॥६२॥

अन्वयार्थ – (अथ) इसके अनन्तर (एकदा) एक समय “हमारी (गावः) गायें (व्याधैः अवस्कन्दिताः) व्याधों ने वन में रोक ली हैं” (इति) ऐसा (गोपाः) ग्वाले (राजाङ्गणभुवि स्थिताः) राजद्वार के आँगन में स्थित होकर (चुक्रुशुः) रोने-चिल्लाने लगे।

सरलार्थ – एक दिन राजद्वार पर आकर कुछ ग्वाले खड़े हो गए और दुःखपूर्वक जोर-जोर से चिल्लाने लगे कि हमारी गायें व्याधों ने चुरा ली हैं।

काष्ठांगार का क्रोधित होना –

काष्ठाङ्गारोऽपि रुष्टोऽभूत्तदाक्रोशवचः श्रुतेः ।

असमानकृतावज्ञा पूज्यानां हि सुदुःसहा ॥६३॥

अन्वयार्थ – (काष्ठाङ्गारः अपि) काष्ठांगार भी (तदाक्रोशवचः श्रुतेः) उन ग्वालों के शोर को सुनकर (रुष्टः अभूत्) व्याधों पर रुष्ट हुआ।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (असमानकृतावज्ञा) छोटे पुरुषों से हुआ तिरस्कार (पूज्यानां) बड़े पुरुषों को (सुदुःसहा) सहन नहीं होता।

सरलार्थ – राजा काष्ठांगार उन ग्वालों का आक्रन्दन सुनकर व्याधों पर बहुत क्रोधित हुआ; क्योंकि अपने से छोटे/हीन लोगों के द्वारा किया गया अपमान बड़े लोगों को अत्यन्त असह्य होता है।

विशेषार्थ – काष्ठांगार तो इससमय राजा था ही। उसकी राज्य सत्ता में

व्याधों द्वारा गायों को चुराया जाना राज्य-शासन की सुरक्षा व्यवस्था को चुनौती थी। राजा व्याधों की इस उद्दण्डता को और अपने अपमान को सहन नहीं कर सका। अतः उसने क्रोधित होकर अपनी सेना को व्याधों को पकड़ने का आदेश दिया।

व्याधों से राजसेना पराजित -

पराजेष्ट पुनस्तेन गवार्थं प्रहितं बलम् ।
स्वदेशे हि शशप्रायो बलिष्ठः कुञ्जरादपि ॥६४॥

अन्वयार्थ - (तेन) उस व्याध सेना ने (गवार्थं प्रहितं बलं) गायों को छुड़ाने के लिए भेजी हुए काष्ठांगार की सेना को (पराजेष्ट) जीत लिया।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (स्वदेशे) अपने स्थान पर (शशप्रायः जन्तुः) खरगोश के समान तुच्छ प्राणी (कुञ्जरात् अपि) हाथी से भी (बलिष्ठः) बलवान होता है।

सरलार्थ - अपने स्थान पर स्थित खरगोश के समान तुच्छ पशु भी हाथी से अधिक बलवान होते हैं। गायों को छुड़ाने के लिए काष्ठांगार ने जो अपनी सेना भेजी थी, उस राजसेना को व्याधों ने पराजित कर दिया।

राजसेना की हार से ग्वाले भड़क उठे -

व्यजेष्ट व्याधसेनेति श्रुत्वा घोषोऽपि चुक्षुभे ।
न विभेति कुतो लोक आजीवनपरिक्षये ॥६५॥

अन्वयार्थ - (व्याधसेना व्यजेष्ट) 'व्याधों की सेना जीत गई (इति श्रुत्वा) यह सुनकर (घोषः अपि) ग्वालों का समूह भी (चुक्षुभे) क्षोभित हुआ और स्वयं लड़ने के लिए उत्तेजित हो गया।

[अत्र नीतिः] सच है (लोकः) संसारी जीव (आजीवनपरिक्षये) आजीविका के नष्ट हो जाने पर (कुतः न विभेति) किसी से नहीं डरते।

सरलार्थ - अपनी आजीविका के साधन छिन जाने पर मनुष्य अत्यन्त

भयभीत और दुःखी हो जाता है और उसे प्राप्त करने के लिए कैसा भी कष्ट-साध्य कार्य करने को तैयार हो जाता है। अतएव 'व्याधों ने राजसेना को जीत लिया' - यह सुनकर ग्वाले भी भड़क उठे और स्वयं व्याधों से युद्ध करने के लिए तैयार हो गए।

नन्दगोप का स्वयं लड़ने का विचार -

नन्दगोपाह्वयः कोऽपि तज्जयार्थं व्यचीचरत् ।

किं स्यात्किंकृत इत्येवं चिन्तयन्ति हि पीडिताः ॥६६॥

अन्वयार्थ - (कः अपि नन्दगोपाह्वयः) उनमें से किसी नन्दगोप नाम के ग्वाले ने (तज्जयार्थं) उस व्याध सेना को जीतने के लिए (व्यचीचरत्) विचार किया।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (पीडिताः) दुखों से पीड़ित पुरुष क्या होगा ? (किं कृतः किं स्यात्) क्या करने से क्या होगा ? (इति एवं चिन्तयन्ति) इसप्रकार विचार किया करते हैं।

सरलार्थ - दुःख से पीड़ित मनुष्य अपने दुःख निवारण के लिए विचार करते हैं कि 'ऐसा करने से ऐसा होगा और ऐसा करने पर ऐसा होगा।' अतएव ग्वालों के मुखिया नन्दगोप ने व्याधों की सेना से लड़ने का स्वयं विचार किया।

धन का स्वरूप -

धनार्जनादपि क्षेमे क्षेमादपि च तत्क्षये ।

उत्तरोत्तरवृद्धा हि पीडा नृणामनन्तशः ॥६७॥

अन्वयार्थ - [अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (धनार्जनात् अपि क्षेमे) धन के कमाने से भी अधिक उसकी रक्षा करने में (क्षेमात् अपि तत्क्षये) और रक्षा करने से भी अधिक उसके नाश में (नृणां) मनुष्यों को (अनन्तशः) अनन्तगुणी (पीडा) पीड़ा (उत्तरोत्तरवृद्धाः) उत्तरोत्तर बढ़ती रहती है।

सरलार्थ - धन कमाने से अधिक उसकी रक्षा करने में और रक्षा करने से

भी अधिक उसके नाश होने पर मनुष्यों को उत्तरोत्तर अनन्त गुणी पीड़ा होती है।

विशेषार्थ – धन के प्रति मनुष्यों का स्वाभाविक व्यामोह होता है।

यद्यपि धन-सम्पत्ति आदि वस्तुओं के संयोग में पूर्व पुण्य का उदय ही निमित्तरूप से कार्य करता है; फिर भी श्रावक अपनी कमजोरी वश विकल्प किए बिना नहीं रह पाता। अतः वह विकल्प भी करता है, बाह्य प्रयत्न भी करता है, जो मात्र नए पापकर्मों के बन्ध में निमित्त होते हैं।

धन-रक्षा का उपाय –

यथाशक्ति प्रतीकारः करणीयस्तथापि चेत् ।

व्यर्थः किमत्र शोकेन यदशोकः प्रतिक्रिया ॥६८॥

अन्वयार्थ – [अत्र नीतिः] (तथापि) तो भी (यथाशक्ति) शक्ति के अनुसार (प्रतीकारः) उपाय तो (करणीयः) करना ही चाहिए। (व्यर्थः चेत्) यदि उपाय व्यर्थ हो जाए तो फिर (अत्र शोकेन किं) इसमें शोक करने से क्या ? (यत् अशोकः प्रतिक्रिया) क्योंकि दुःख का प्रतिकार अशोक ही माना गया है।

सरत्नार्थ – अपने धन का नाश न होवे; मनुष्य को ऐसा शक्त्यनुसार प्रतिकार/उपाय तो करना ही चाहिए। यदि उपाय व्यर्थ सिद्ध हो जाए तो शोक नहीं करना चाहिए; क्योंकि शोक का प्रतिकार शोक नहीं करने में है अर्थात् शोकरहित रहने में ही है।

विशेषार्थ – शोक करने से मन में स्थिरता नहीं रह पाती, विचारशक्ति गौण हो जाती है। अतः धन-रक्षण के उपायों को स्वस्थ चित्त से सोच नहीं पाता है। अतः शोक न करना ही धनरक्षण का एक मात्र योग्य उपाय है।

नन्दगोप की घोषणा –

इत्यूहेन स वीराय विजये हि वनौकसाम् ।

सप्तकल्याणपुत्रीभिर्देया पुत्रीत्यघोषयत् ॥६९॥

अन्वयार्थ – (इति ऊहेन सः) ऐसा विचार कर उस ग्वाले ने (हि) निश्चय से (वनौकसां) व्याधों को (विजये) जीत लेने पर (वीराय) जीतनेवाले वीर को (सप्तकल्याणपुत्रीभिः) सात सुवर्ण पुतलियों के साथ (पुत्री देया) पुत्री दूँगा। (इति अघोषयत्) ऐसी घोषणा कराई।

सरलार्थ – स्वस्थचित्त से विचार कर नन्दगोप ने घोषणा की कि 'जो व्याधों को जीत लेगा, उससे मैं सात स्वर्ण पुतलियों के साथ अपनी कुमारी कन्या का विवाह भी कर दूँगा' – यह घोषणा राजपुरीवासियों ने सुनी।

घोषणा को रोक दिया –

सात्यन्धरिस्तु तच्छ्रुत्वा तद्घोषणामवारयत्।

उदात्तानां हि लोकोऽयमखिलो हि कुटुम्बकम् ॥७०॥

अन्वयार्थ – (तु) इसके अनन्तर (सात्यन्धरिः) सत्यन्धर राजा के पुत्र ने (तत् घोषणां श्रुत्वा) उस घोषणा को सुनकर (तत् अवारयत्) उसको रोकवा दिया।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (उदात्तानां) उदार चरित्रवाले पुरुषों को (अयं) यह (अखिलः लोकः) सम्पूर्ण संसार (कुटुम्बकं) कुटुम्ब के समान है।

सरलार्थ – 'उदात्त चरित्रवालों को सम्पूर्ण-विश्व एक कुटुम्ब के समान लगता है।' अतएव उक्त घोषणा सुनकर राजा सत्यन्धर के पुत्र जीवन्धरकुमार ने घोषणा करनेवाले को रोक लिया।

विशेषार्थ – बड़े लोग तो उदार चित्तवाले होते हैं। वे दूसरों के दुःख से दुःखी होते हैं और उसे दूर करने का प्रयत्न भी करते हैं। उनको तो पूरा विश्व अपने कुटुम्ब जैसा ही लगता है।

जीवन्धरकुमार भी ऐसे महान पुरुषों में से एक थे। ग्वालों का दुःख उन्हें अपना ही दुःख लगा। अतः उन्होंने घोषणा करनेवाले को रोक लिया और ग्वालों के दुःख को दूर करने का निर्णय किया।

जीवन्धरकुमार के शौर्य का परिचय -

जित्वाथ जीवकस्वामी किरातानाहरत्पशून् ।

तमो ह्यभेद्यं खद्योतैर्भानुना तु विभिद्यते ॥७१॥

अन्वयार्थ - (अथ) इसके अनन्तर (जीवकस्वामी) जीवन्धरकुमार (किरातान् जित्वा) व्याधों को जीतकर (पशून् आहरत्) पशुओं को ले आए।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (खद्योतैः) जुगनुओं से (अभेद्यं तमः) नहीं नाश होनेवाला अन्धकार (भानुना तु विभिद्यते) सूर्य से तो नष्ट हो ही जाता है।

सरलार्थ - जिसप्रकार महान अन्धकार को जुगनुओं का समूह मिलकर भी नष्ट नहीं कर पाता; उसको सूर्य की एक किरण क्षण मात्र में ही नष्ट कर देती है। उसीप्रकार राजसेना भी जिन व्याधों की सेना से जीत नहीं पायी थी, उसी व्याधों की सेना को जीवन्धरकुमार ने लीला मात्र में ही



जीत लिया और ग्वालों की सभी गायों को वापिस ले आए।

विशेषार्थ - यहाँ जीवन्धरकुमार की शक्ति और शौर्य का परिचय दिया है। जीवन्धरकुमार सूर्य के समान शक्तिशाली हैं तथा काष्ठांगार की राजसेना तथा व्याधों की सेना को जुगनु की उपमा दी है।

नन्दगोप आनन्दित -

ननन्द नन्दगोपोऽपि गोधनस्योपलम्भतः ।

असुमतामसुभ्योऽपि गरीयो हि भृशं धनम् ॥७२॥

अन्वयार्थ - (नन्दगोपः अपि) नन्दगोप भी (गोधनस्य उपलम्भतः) गोरूपी धन के मिल जाने से (ननन्द) अत्यन्त हर्षित हुआ।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (असुमतां) प्राणियों को (धनं) धन (असुभ्यः अपि) प्राणों से भी (भृशं) अधिक (गरीयः) प्यारा होता है।

सरलार्थ - मनुष्य को अपने प्राणों से भी धन अधिक प्रिय होता है। अतएव नन्दगोप अपने गोधन को प्राप्त कर अत्यन्त आनन्दित हुआ।

कन्यादान के लिए जलधारा छोड़ना -

अथानीय सुतां दातुं स्वामिने वार्यपातयत् ।

कृत्याकृत्यविमूढा हि गाढस्नेहान्धजन्तवः ॥७३॥

अन्वयार्थ - (अथ) तदनन्तर वह नन्दगोप (सुतां आनीय) पुत्री को लाकर (स्वामिने दातुं) जीवन्धरकुमार को देने के लिए (वारि) जलधारा को (अपातयत्) गिराता है।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (गाढस्नेहान्धजन्तवः) अत्यन्त स्नेह से अन्धे पुरुष (कृत्याकृत्यविमूढाः) कृत्याकृत्य के विचार में मूढ़ [सन्ति] होते हैं।

सरलार्थ - अति स्नेह से अन्ध हुए पुरुष यथायोग्य का विचार किए बिना ही कुछ भी करने के लिए तैयार हो जाते हैं। जीवन्धरकुमार मेरी कन्या को स्वीकार करेंगे अथवा नहीं - इसका विचार किए बिना ही अपनी कन्या को लाकर जीवन्धरकुमार को देने के लिए नन्दगोप ने जलधारा छोड़ी।

मित्र के लिए कन्या का स्वीकार -

जीवन्धरस्तु जग्राह वार्धारां तेन पातिताम् ।

पद्मास्यो योग्य इत्युक्त्वा न ह्ययोग्ये स्पृहा सताम् ॥७४॥

अन्वयार्थ – (तु) फिर (जीवन्धरः) जीवन्धरकुमार ने (तेन पातितां) उसके द्वारा डाली हुई (वार्धारां) जल की धारा को (पद्मास्यः योग्यः) 'पद्मास्य इस कन्या के लिए योग्य है' (इति उक्त्वा) यह कहकर (जग्राह) ग्रहण की।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (सतां स्पृहा) सज्जन पुरुषों की इच्छा (अयोग्ये) अयोग्य पदार्थ में [न भवति] नहीं होती है।

सरलार्थ – सज्जन पुरुष की इच्छा अयोग्य पदार्थ में नहीं होती। अतएव राजपुत्र जीवन्धरकुमार ने नन्दगोप की कन्या को अपने मित्र पद्मास्य के लिए योग्य जानकर स्वीकार किया।

जीवन्धरकुमार की महानता का परिचय –

माम मामेव पद्मास्यं पश्येति पुनरब्रवीत् ।

गात्रमात्रेण भिन्नं हि मित्रत्वं मित्रता भवेत् ॥७५॥

अन्वयार्थ – (माम) हे मामा ! (मां एव) मुझको ही (पद्मास्यं पश्य) पद्मास्य जानो (इति पुनः अब्रवीत्) ऐसा उसने फिर कहा।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (गात्रमात्रेण भिन्नं) शरीर मात्र से भिन्न (मित्रत्वं) मित्रपना (मित्रता भवेत्) मित्रता कहलाती है।

सरलार्थ – जलधारा ग्रहण करने के पश्चात् जीवन्धरकुमार ने नन्दगोप से कहा – मामा ! सच्ची मित्रता में मित्रों का शरीर ही अलग होता है, किन्तु शेष कार्य और विचारों में समानता ही होती है। अतः आप पद्मास्य और मुझ में कोई अन्तर मत जानो। प्रसन्नतापूर्वक अपनी कन्या का विवाह पद्मास्य के साथ करो।

पद्मास्य के साथ गोविन्दा का विवाह –

गोदावरी-सुतां दत्तां नन्दगोपेन तुष्यता ।

परिणिन्द्येऽथ गोविन्दां पद्मास्यो वह्निसाक्षिकम् ॥७६॥

अन्वयार्थ – (अथ) तदनन्तर (पद्मास्यः) पद्मास्य ने (तुष्यता

नन्दगोपेन) सन्तुष्ट नन्दगोप से (दत्तां) दी हुई (गोदावरीसुतां) गोदावरी की पुत्री (गोविन्दां) गोविन्दा का (वह्निसाक्षिकं) अग्नि की साक्षीपूर्वक (परिणिन्दे) पाणिग्रहण किया।

सरलार्थ – तदनन्तर नन्दगोप ने अत्यन्त सन्तोषपूर्वक ग्वालिन गोदावरी की पुत्री 'गोविन्दा' का विवाह, जीवन्धरकुमार के मित्र पद्मास्य के साथ अग्नि की साक्षीपूर्वक, विधि से सम्पन्न किया।

इति श्रीवादीभसिंहसूरिविरचिते क्षत्रचूडामणौ
गोविन्दालम्भो नाम द्वितीयो लम्बः

सिद्धात्मा का सुख

श्रीगुरु कहते हैं – “हे शिष्य ! तू सुन ! जैसे जल का स्वभाव शीतल है और अग्नि के निमित्त से उष्ण होता है, सो उष्ण होने पर (पर्याय में) अपना शीतल गुण भी खो देता है, स्वयं उष्णरूप होकर परिणमता है तथा औरों को भी आताप उत्पन्न करता है। पीछे काल पाकर जैसे-जैसे अग्नि का संयोग मिटता है, वैसे-वैसे जल का (पर्याय) स्वभाव शीतल होता जाता है तथा औरों को भी आनंदकारी होता है।

उसी भाँति इस आत्मा का स्वभाव सुख है और कषाय के निमित्त से आकुल-व्याकुल होकर परिणमन करता (पर्याय में) है। सर्व निराकुलित गुण जाता रहता है, तब अनिष्टरूप लगता है। पुनः जैसे-जैसे कषाय का निमित्त मिटता जाता है, वैसे-वैसे निराकुलित गुण प्रकट होता जाता है, तब वह इष्टरूप लगता है।

सो किंचित् कषाय के मिटने पर भी ऐसा शांतस्वरूप सुख प्रकट होता है, तो न जाने परमात्मा देव के जो सम्पूर्ण कषाय मिटने पर जिनके अनंत चतुष्टय प्रकट हुआ है, उनका वह सुख कैसा होगा ? सो थोड़े से निराकुलित स्वभाव को जानने से सम्पूर्ण निराकुलित स्वभाव की प्रतीति आती है तो सम्पूर्ण शुद्ध आत्मा कितना (बेहद) निराकुलित स्वभाव का होगा ? ऐसा अनुभव मुझे भलीभाँति आता है। – ज्ञानानन्द श्रावकाचार, पृष्ठ २०३-२०४

तीसरा लम्ब

दोनों का आनन्दपूर्वक जीवनयापन -

अथोपयम्य गोविन्दां पद्मास्ये रमयत्यलम् ।

वीरश्रियं कुमारे च तत्र प्रस्तुतमुच्यते ॥१॥

अन्वयार्थ - (अथ) इसके अनन्तर (गोविन्दां) गोविन्दा से (उपयम्य) विवाह कर (पद्मास्ये) पद्मास्य (अलं रमयति सति) आनन्दपूर्वक रमण करते हुए (च) और (वीरश्रियं) वीरलक्ष्मी को [प्राप्य] प्राप्त करके (कुमारे) जीवन्धरकुमार के (रमयति) सानन्द रहते हुए (तत्र) वहाँ [यत्] जो (प्रस्तुतं) वृत्तान्त हुआ [तत्] (उच्यते) उसको कहते हैं।

सरलार्थ - गोविन्दा के साथ विवाह करके पद्मास्य अत्यन्त आनन्दपूर्वक भोगों में तल्लीन हो गए और विजयश्री प्राप्त करके जीवन्धरकुमार भी सानन्द रहने लगे। तदुपरान्त जो घटनाएँ घटित हुईं, अब उनका वर्णन करते हैं।

उपकथा-५

श्रीदत्त व्यापारी का परिचय -

आसीत्तत्पुरवास्तव्यो वैश्यः श्रीदत्तनामकः ।

वित्तायास्पृहयत्सोऽयं धनाशा कस्य नो भवेत् ॥२॥

अन्वयार्थ - (तत्पुरवास्तव्यः) उस पुर में रहनेवाले (श्रीदत्तनामकः) श्रीदत्त नाम के (वैश्यः) एक वैश्य (आसीत्) थे। (सः अयं) उन श्रीदत्त सेठ ने (वित्ताय) धन कमाने की (अस्पृहयत्) वांछा की। सो ठीक है।

[अत्र नीतिः] (धनाशा) धन की आशा (कस्य) किसके (नो भवेत्) नहीं होती है ?

सरलार्थ - राजपुरी नाम की नगरी में श्रीदत्त नाम के एक प्रसिद्ध व्यापारी रहते थे, उन्हें धन कमाने की प्रबल इच्छा हुई; क्योंकि धन की इच्छा प्रत्येक मनुष्य को होती ही है।

धन कमाने के लिए चिन्तन सहज -

अर्थार्जननिदानं च तत्फलं चायमौहत ।

निरङ्कुशं हि जीवानामैहिकोपायचिन्तनम् ॥३॥

अन्वयार्थ - फिर (अयं) उन्होंने (अर्थार्जननिदानं) धन कमाने का कारण (च) और (तत्फलं) उसका फल (औहत) विचारा ।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (जीवानां) मनुष्यों के (ऐहिकोपाय-चिन्तनं) इस लोक सम्बन्धी आजीविका के उपाय का चिन्तन करना (निरङ्कुशं) बिना बाधा के ही हो जाता है ।

सरलार्थ - मनुष्य को आजीविका हेतु धन कमाने के उपाय का विचार निराबाधरूप से स्वयमेव ही नित्य रहता ही है । अतएव श्रीदत्त सेठ भी धन कमाने के उपाय और उसके फल पर विचार करने लगे ।

उद्यमशील मनुष्य के विचार -

अस्तु पैतृकमस्तोकं वस्तु किं तेन वस्तुना ।

रोचते न हि शौण्डाय परपिण्डादिदीनता ॥५॥

अन्वयार्थ - (पैतृकं) भले ही पूर्वजों का उपार्जन किया हुआ (अस्तोकं वस्तु अस्तु) बहुत धन रहे, (तेन वस्तुना किं) किन्तु उस धन से क्या ?

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (शौण्डाय) उद्योगी पुरुषों के लिए (परपिण्डादिदीनता) दूसरों के कमाए हुए अन्नदि पर निर्वाह करना (न रोचते) रुचिकर नहीं होता ।

सरलार्थ - मेरे पास पूर्वजों द्वारा कमाया हुआ धन है तो होने दो; उस धन से मेरा कोई प्रयोजन नहीं है; क्योंकि उद्यमशील मनुष्य को/मुझे दूसरे के कमाए हुए अन्न और धनादि पर निर्भर रहना प्रिय/अच्छा नहीं लगता है ।

धन की सत्ता और वृद्धि के लिए कमाना आवश्यक -

स्वापतेयमनायं चेत्सव्ययं व्येति भूर्यपि ।

सर्वदा भुज्यमानो हि पर्वतोऽपि परिक्षयी ॥५॥

अन्वयार्थ - [अत्र नीतिः] (स्वापतेयं) स्वसंचित धन (चेत्) यदि (अनायं) आमदनी से रहित और (सव्ययं) व्यय से सहित है तो (भूरि अपि) बहुत भी (व्येति) समाप्त हो जाता है।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (सर्वदा भुज्यमानः) हमेशा उपयोग में आने पर (पर्वतः अपि) पर्वत भी एक दिन (परिक्षयी) समाप्त हो जाता है।

सरलार्थ - जैसे विशाल पर्वत में से प्रतिदिन एक-एक पत्थर तथा मिट्टी का ढेला निकालते रहेंगे तो एक दिन वह विशाल पर्वत भी समाप्त/नष्ट हो जाएगा; वैसे ही पूर्वजों के द्वारा संचित बहुत धन में भी नवीन आय न मिलाई जाए और उसे ही खर्च करते रहें तो वह भी एक न एक दिन समाप्त हो जाएगा। अतएव पूर्वसंचित धन की सत्ता के लिए और धनवृद्धि के लिए नया-नया धन पुनः पुनः कमाते रहना चाहिए।

दरिद्रता का दुःख -

दारिद्र्यादपरं नास्ति जन्तूनामप्यरुन्तुदम्।

अत्यक्तं मरणं प्राणैः प्राणिनां हि दरिद्रता ॥६॥

अन्वयार्थ - [अत्र नीतिः] (जन्तूनां) मनुष्यों को (दारिद्र्यात् अपरं) दरिद्रता से बढ़कर दूसरा कोई (अरुन्तुदं) दुःख देनेवाला (न अस्ति) नहीं है। (हि) निश्चय से (प्राणिनां दरिद्रता) जीवों के दरिद्रता (प्राणैः अत्यक्तं) प्राणों के निकले बिना (मरणं) मरण के समान है।

सरलार्थ - मनुष्य को दारिद्र्य से बढ़कर अन्य कोई बड़ा दुःख नहीं है; क्योंकि दरिद्रता मनुष्य को प्राणों के निकले बिना ही जीवित मरण है।

विशेषार्थ - निर्धनता से होनेवाला दुःख मानसिक दुःख है। शारीरिक दुःख से मानसिक दुःख नियम से अधिक पीड़ादायक होता है। अतः निर्धनता से बढ़कर मनुष्य जीवन में अन्य कोई बड़ा दुःख नहीं है। मरण का

दुःख तो जीवन में मरण के समय एक बार ही होता है; किन्तु निर्धनता का दुःख मनुष्य को प्रतिक्षण/प्रतिपल होता ही रहता है।

निर्धन के गुण और विद्या की स्थिति -

रिक्तस्य हि न जागर्ति कीर्तनीयोऽखिलो गुणः ।

हन्त किं तेन विद्यापि विद्यमाना न शोभते ॥७॥

अन्वयार्थ - [अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (रिक्तस्य) निर्धन पुरुष के (कीर्तनीयः अखिलः गुणः) जगत्प्रशंसनीय सम्पूर्ण गुण (न जागर्ति) प्रकाशित नहीं होते। (हन्त) खेद की बात है कि (तेन किं) और तो क्या ? (विद्यमाना विद्या अपि) उसकी विद्यमान विद्या भी (न शोभते) शोभित नहीं होती है।

सरलार्थ - निर्धन व्यक्ति के जगत्प्रशंसनीय गुण भी प्रकाशित/प्रसिद्ध नहीं होते। इतना ही नहीं, खेद की बात तो यह है कि उसकी विद्यमान, स्पष्ट और प्रगट विद्याएँ भी शोभायमान नहीं होतीं।

विशेषार्थ - निर्धन मनुष्य सतत अपनी गरीबी के विषय में ही सोचता रहता है। अतएव उसके विद्यमान विशेष गुण और प्राप्त की हुई विद्याओं के प्रति उसका आत्मविश्वास क्रम-क्रम से कम होता रहता है और वह अपने को स्वयं ही दीन-हीन, अपात्र मानने लगता है।

जो स्वयं ही अपने को भीतर और बाहर से दीन-हीन मानेगा, उसे अन्य लोग गुणवान और विद्यावान कैसे मानेंगे ? अतः वैचारिक दुर्बलता के कारण उसके गुण और विद्या प्रसिद्ध नहीं होते।

निर्धन अवस्था में भी आत्मविश्वास रखनेवाले पुरुषार्थी मनुष्य की निर्धनता निकल जाती है और वह महान हो जाता है। श्लोक में जो 'रिक्तस्य' शब्द आया है उसका अर्थ आत्मविश्वास/मनोधैर्य से रहित भी कर सकते हैं।

दरिद्री की दयनीय दशा -

स्यादकिञ्चित्करः सोऽयमाकिञ्चन्येन वञ्चितः ।

अलमन्यैः स साकूतं धन्यवक्त्रं च पश्यति ॥८॥

अन्वयार्थ - [अत्र नीतिः] (स अयं) वह दरिद्र पुरुष (आकिञ्चन्येन वञ्चितः) दरिद्रता से ठगाया हुआ (अकिञ्चित्करः स्यात्) कुछ नहीं कर सकता। (अन्यैः अलं) बहुत कहने से क्या ? (सः) वह दरिद्री पुरुष (साकूतं) अभिप्रायसहित (धन्यवक्त्रं) धनिक पुरुषों के मुख की ओर (च पश्यति) देखता है।

सरलार्थ - निर्धनता द्वारा ठगाया गया मनुष्य किंकर्तव्यविमूढ़/ कर्तव्याकर्तव्य के विचार से शून्य हो जाता है। अन्य बातों की तो क्या चर्चा करें ? वह निर्धन मनुष्य कुछ मिलेगा - इस आशा से धनवान मनुष्यों का मुँह ताकने लगता है।

विशेषार्थ - जिसे अपने आत्मवैभव की खबर ही नहीं है और जो धन को ही जीवन का सर्वस्व मानता है - ऐसे अज्ञानी व्यक्ति को धन के अभाव से अपना जीवन व्यर्थ लगने लगता है। अतः उसे धनवान लोग भगवान लगते हैं। वे मुझे कुछ दे देंगे - इस भावना से उनका मुँह ताकने लगता है। ऐसा विचार करते हुए श्रीदत्त सेठ धन कमाने के कारणों का चिन्तन करने लगे।

धन की सार्थकता -

सम्पल्लाभफलं पुंसां सज्जनानां हि पोषणम् ।

काकार्थफलनिम्बोऽपि श्लाघ्यते न हि चूतवत् ॥९॥

अन्वयार्थ - [अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (पुंसां) मनुष्यों के (सम्पल्लाभफलं) धन की प्राप्ति का फल (सज्जनानां पोषणं) सज्जन पुरुषों का पोषण करना ही है। (हि) निश्चय से (काकार्थ-फलनिम्बः अपि) कौए के लिए ही है प्रिय फल जिसका ऐसा नीम का वृक्ष (चूतवत् न श्लाघ्यते) आम के वृक्ष की तरह प्रशंसनीय नहीं होता।

सरलार्थ – जैसे मात्र कौए के लिए ही उपयोगी फल देनेवाला नीम का वृक्ष आम के वृक्ष के समान प्रशंसनीय नहीं है। अतः मनुष्य के धन का उपयोग मात्र सज्जनों के हितार्थ ही प्रशंसनीय है।

विशेषार्थ – यदि हम नीम के वृक्ष को ही पुष्ट करेंगे तो उसके फल खाकर कौए ही सुखी होंगे और आम के वृक्ष को पुष्ट करेंगे तो आम खाकर सज्जन पुरुष सुखी होंगे। अब हमें विचार करना है कि हमें धन का उपयोग किस प्रकार करना है ? दुर्जन को दान देंगे तो दुर्जन सुखी तो होंगे; परन्तु उनसे जगत का क्या कल्याण होगा ? वह जग का क्या भला करेंगे ?

यदि हम धन का उपयोग सज्जनों के हितार्थ करेंगे तो परिणामस्वरूप सज्जन पुरुष धर्म और समाज के लिए उपयोगी सिद्ध होंगे। उनसे धर्म की परम्परा चलेगी, समाज में सुख और शान्ति रहेगी। अतएव धन की सार्थकता सज्जनों के हितार्थ व्यय करने में ही है।

धन की निरर्थकता –

लोकद्वयहितं चापि सुकरं वस्तु नासताम्।

लवणाब्धिगतं हि स्यान्नादेयं विफलं जलम् ॥१०॥

अन्वयार्थ – [अत्र नीतिः] (च) और (लोकद्वयहितं अपि) इस लोक और परलोक में हित को करनेवाली (असतां) दुर्जन पुरुषों की (वस्तु) वस्तु (सुकरं न) सुख को देनेवाली नहीं है। (हि) निश्चय से (नादेयं जलं) जैसे नदी का मीठा जल (लवणाब्धिगतं) लवणसमुद्र में जाने पर (विफलं स्यात्) निरर्थक हो जाता है।

सरलार्थ – नदियों का मधुर जल भी जैसे लवणसमुद्र में जा कर खारा हो जाता है, पीने के योग्य नहीं रहता। वैसे ही दुर्जन मनुष्यों के इहलोक-परलोक के हितकर उत्तम पदार्थ भी निष्फल हो जाते हैं। अतः दुर्जनों को दान में दिया हुआ धन निरर्थक ही जाता है।

विशेषार्थ – धन की सार्थकता, निरर्थकता और आवश्यकता पर गम्भीरता से विचारकर श्रीदत्त सेठ ने धन कमाने का निर्णय किया।

धन कमाने हेतु विदेश गमन -

इत्यूहान्नावमारुह्य प्रतस्थे स वणिक्पतिः ।

वार्धिमेव धनार्थी किं गाहते पार्थिवानपि ॥११॥

अन्वयार्थ - (इति ऊहात्) ऐसा विचारकर (सः वणिक्पतिः) वैश्यों में प्रधान उस श्रीदत्त सेठ ने (नावं आरुह्य) नौका में बैठकर (प्रतस्थे) प्रस्थान किया ।

[अत्र नीतिः] (धनार्थी किं) क्या धन के इच्छुक (वार्धि एव) मात्र समुद्र को ही (गाहते) अवगाहन करते हैं ? नहीं (किन्तु पार्थिवान् अपि) किन्तु द्वीपान्तर को भी जाते हैं ।

सरलार्थ - पूर्वोक्त प्रकार से धन सम्बन्धी विचार करके श्रेष्ठिवर श्रीदत्त ने नौका में बैठकर विदेश-गमन किया । धनार्जन के लिए मनुष्य मात्र समुद्र पार ही नहीं, द्वीप-द्वीपान्तर में भी जाते हैं; खान आदि बिलों में प्रवेश करते हैं एवं राजाओं से भी मिलते हैं ।

धनार्जन कर स्वदेश लौटना -

द्वीपान्तरान्यवर्तिष्ठ पुष्टः सांयात्रिको धनैः ।

अतर्क्य खलु जीवानामर्थसञ्चयकारणम् ॥१२॥

अन्वयार्थ - कुछ काल के पश्चात् (धनैः पुष्टः सांयात्रिकः) धन से पुष्ट नौका के स्वामी श्रीदत्त सेठ (द्वीपान्तरात् न्यवर्तिष्ठ) दूसरे द्वीप से धन कमाकर लौटे ।

[अत्र नीतिः] (खलु) निश्चय से (जीवानां अर्थसञ्चयकारणं) मनुष्यों के धन कमाने का कारण (अतर्क्य) तर्क रहित है ।

सरलार्थ - मनुष्य के धन संचय के कारण विचारातीत होते हैं । द्वीप-द्वीपान्तर से धन संचय कर श्रीदत्त सेठ स्वदेश लौटते हैं ।

श्रीदत्त सेठ पर संकट -

अवारान्तमथ प्रापत्पारावारस्य नाविकः ।

चुक्षुभे नौरिहासारात्र हि वेद्यो विपत्क्षणः ॥१३॥

अन्वयार्थ - (अथ) इसके अनन्तर (नाविकः) जब वे नौका के स्वामी श्रीदत्त सेठ (पारावारस्य) समुद्र के (अवारान्तं) तट के समीप (प्रापत्) पहुँचे (इह) तब यहाँ आने पर (आसारात्) जल की बड़ी भारी लहर से (नौः चुक्षुभे) नौका जल के प्रवाह में डूबने लगी।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (विपत्क्षणः) विपत्ति का समय (न वेद्यः) जाना नहीं जा सकता है।

सरलार्थ - विपत्ति का काल पहले से निश्चित नहीं होता। किस पर, कब कैसी विपत्ति आ जाए - यह अनिश्चित रहता है। नौका के स्वामी श्रीदत्त सेठ विशाल समुद्र को पार करते हुए किनारे पर पहुँचनेवाले थे कि समुद्र की तेज गति की लहरों से उनकी नौका डूबने लगी।

नौका में बैठे लोग भयभीत -

पूर्वमेव तु नौनाशाच्छोकाब्धिं पोतगा गताः ।

काष्ठागतस्य दुःखस्य दृष्टान्तं तद्धि नौक्षये ॥१४॥

अन्वयार्थ - (तु) फिर (पोतगा) नौका में बैठे मनुष्य (नौनाशात्) नौका के नाश से (पूर्व एव) पहले ही (शोकाब्धिं) शोकरूपी समुद्र को (गताः) प्राप्त हुए।

(हि) निश्चय से (नौक्षये) नौका के नाश के समय (काष्ठागतस्य दुःखस्य) मानो मर्यादारहित दुःख का (तत् दृष्टान्तं) वह दृष्टान्त था।

सरलार्थ - जैसे-जैसे नौका जलमग्न होती जा रही थी; वैसे-वैसे लोग शोक के समुद्र में डूबे जा रहे थे। नौका के डूबते समय का दुःख सीमातीत था।

मात्र श्रीदत्त सेठ निर्भय -

सांयात्रिकस्तु तत्त्वज्ञो विकारं नैव जग्मिवान् ।

अज्ञात्प्राज्ञस्य को भेदो हेतोश्चेद्विकृतिर्द्वयोः ॥१५॥

अन्वयार्थ - (तु) परन्तु (तत्त्वज्ञः) पदार्थ के स्वरूप को जाननेवाले (सांयात्रिकः) नौका के स्वामी श्रीदत्त सेठ (विकारं) विकारभाव को (न एव जग्मिवान्) प्राप्त नहीं हुए अर्थात् नहीं घबराए।

[अत्र नीतिः] (चेत्) यदि (हेतोः द्वयोः विकृतिः स्यात्) विकार के हेतु से अज्ञानी और ज्ञानी - इन दोनों के अन्दर शोक हो तो (अज्ञात् प्राज्ञस्य कः भेदः) अज्ञानी और ज्ञानी में क्या अन्तर रहे ?

सरलार्थ - वस्तुस्वरूप के जानकार नौका के स्वामी श्रीदत्त सेठ निर्भय थे; क्योंकि तत्त्वज्ञ के सप्तभय नहीं होते और यदि अज्ञानी की भाँति ज्ञानी भी निमित्तों से प्रभावित होने लगे तो फिर ज्ञानी और अज्ञानी में कुछ भेद ही नहीं रहेगा।

विशेषार्थ - श्रीदत्त सेठ तत्त्वज्ञ थे, वस्तुस्वरूप को जानते थे; अतः भयभीत नहीं हुए। संकट के समय निर्भय/अनाकुल बने रहना हो तो तत्त्वज्ञान प्राप्त करना, वस्तु स्वरूप को समझना ही एकमात्र उपाय है।



विकार के निमित्त उपस्थित होने पर भी ज्ञानी विकारी नहीं होते - ऐसी शिक्षा इस घटना से मिलती है।

श्रीदत्त सेठ का सम्बोधन -

भाविन्या विपदो यूयं विपन्नाः किं बुधाः शुचा ।

सर्पशङ्काविभीताः किं सर्पास्ये करदायिनः ॥१६॥

अन्वयार्थ - नौका में स्थित पुरुषों को श्रीदत्त सेठ ने

उपदेश दिया कि - (बुधाः) हे पण्डितो ! (भाविन्यः विपदः) आनेवाली विपत्ति के (शुचा) शोक से (यूयं किं विपन्नाः) तुम लोग क्यों दुःखी हो रहे हो ? [अत्र नीतिः] (किं) क्या (सर्पशङ्काविभीताः) सर्प के भय से डरे हुए मनुष्य (सर्पास्ये) सर्प के मुख में (करदायिनः सन्ति) हाथ देते हैं ?

सरलार्थ - हे समझदार पुरुषो ! आप लोग भावी विपत्ति के दुःख से दुःखी क्यों हो रहे हो ? क्योंकि सर्प से भयभीत लोग कभी भी सर्प के मुँह में हाथ नहीं डालते ।

विपत्ति से बचने का सही उपाय -

विपदस्तु प्रतीकारो निर्भयत्वं न शोकिता ।

तच्च तत्त्वविदामेव तत्त्वज्ञाः स्यात् तद्बुधाः ॥१७॥

अन्वयार्थ - [अत्र नीतिः] (तु) इसलिए (विपदः प्रतीकारः) विपत्ति का प्रतीकार (निर्भयत्वं) निर्भयपना ही है (न शोकिता) शोक करना विपत्ति का प्रतीकार नहीं है (तत् च) और निर्भयपना (तत्त्वविदां एव) तत्त्वज्ञानी पुरुषों के ही (स्यात्) होता है। (तत्) इसलिए (बुधाः) हे पण्डितो ! (यूयं तत्त्वज्ञाः) [भवत] तुम लोग तत्त्वज्ञानी बनो ।

सरलार्थ - विपत्ति से बचने का उपाय निर्भयपना ही है, शोक करना उपाय नहीं है। ऐसी निर्भयता तत्त्वज्ञानियों में होती है। अतएव आप सब तत्त्वज्ञानी बनकर निर्भय हो जाओ ।

विशेषार्थ - विपत्ति के समय साहस और धैर्य रखना व्यक्ति का कर्तव्य है। विपत्ति से भयभीत होने पर कभी विपत्ति नहीं मिटती। जहाँ पर दीपक का प्रकाश होता है, वहाँ अन्धकार अपना पग नहीं बढ़ा सकता। इसीप्रकार जो धर्म का पालन करता है, उस पर विपत्तियाँ नहीं आतीं। अतएव आपको शोक छोड़कर निर्भयता से धर्म का पालन करना चाहिए।

सुख का सच्चा उपाय -

इत्यप्यबोधयत्सोऽयं वणिक्पोताश्रितान्सुधीः ।

तत्त्वज्ञानं हि जीवानां लोकद्वयसुखावहम् ॥१८॥

अन्वयार्थ – (सः अयं सुधीः वणिक्) इस बुद्धिमान वैश्य ने (पोताश्रितान् अपि) नौका में बैठे हुए पुरुषों को भी (इति) पूर्वोक्त प्रकार से (अबोधयत्) समझाया।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (जीवानां) मनुष्यों को (तत्त्वज्ञानं) तत्त्वज्ञान ही (लोकद्वयसुखावहं) इस लोक और परलोक में सुख देनेवाला है।

सरलार्थ – श्रेष्ठिवर श्रीदत्त ने नौका पर सवार यात्रियों को सम्बोधित करते हुए कहा – भाइयो ! इहलोक और परलोक में सभी जीवों को एकमात्र तत्त्वज्ञान ही सुख प्रदाता है। बिना तत्त्वज्ञान के सुख नहीं मिल सकता।

आयुर्कर्म से ही प्राणों की रक्षा –

तावता नावि नष्टायां दृष्टोऽभूत्कूपखण्डकः ।

सत्यायुषि हि जायेत प्राणिनां प्राणरक्षणम् ॥१६॥

अन्वयार्थ – (तावता) उसीसमय (नावि नष्टायां) नौका के नाश होने पर कोई (कूपखण्डकः) लकड़ी विशेष (दृष्टः अभूत्) दिखाई दी।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (आयुषि सति) आयु के रहने पर (प्राणिनां) प्राणियों के (प्राणरक्षणं) प्राणों की रक्षा (जायेत) हो ही जाती है।

सरलार्थ – श्रीदत्त सेठ के सम्बोधन करते-करते नौका तो जलमग्न हो गई; किन्तु जिसका आयुर्कर्म शेष होता है, उसके प्राणों की रक्षा तो किसी तरह हो ही जाती है। कहते हैं डूबते को तिनके का सहारा काफी होता है। श्रीदत्त सेठ को उसीसमय लकड़ी का एक टुकड़ा दिखाई दिया, जिसका उन्होंने सहारा लिया।

विशेषार्थ – नाव तो डूब ही रही थी, अब जीवित रहने का कोई बाह्य साधन दिख ही नहीं रहा था; पर उसीसमय श्रीदत्त सेठ को अकस्मात् एक लकड़ी का टुकड़ा दिखाई दिया, जिसका उन्होंने सहारा लिया और उसी लकड़ी के सहारे वे समुद्र के किनारे लग गए; जिससे उनके प्राणों की रक्षा हो गई। आयुर्कर्म शेष हो तो बाह्य साधन तो मिल ही जाते हैं।

श्रीदत्त सेठ एक द्वीप पर पहुँचे -

श्रीदत्तस्तु तमारुह्य प्रासदत् द्वीपसंश्रितः ।

राज्यभ्रष्टोऽपि तुष्टः स्याल्लब्धप्राणो हि जन्तुकः ॥२०॥

अन्वयार्थ - (तु) इसके अनन्तर (श्रीदत्तः) श्रीदत्त सेठ (तं आरुह्य) उस लकड़ी के टुकड़े पर चढ़कर (द्वीपसंश्रितः प्रासदत्) दूसरे द्वीप को प्राप्त होकर प्रसन्न हुए।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (राज्यभ्रष्टः अपि) राज्यभ्रष्ट होने पर भी (लब्धप्राणः जन्तुकः) प्राणों से बचा हुआ मनुष्य (तुष्टः स्यात्) सन्तुष्ट होता है।

सरलार्थ - उस लकड़ी के सहारे से श्रीदत्त सेठ एक नए दूसरे द्वीप पर पहुँच गए और मन में अति आनन्दित हुए; क्योंकि राज्य से भ्रष्ट हो जाने पर भी यदि प्राणों की रक्षा हो जाती है तो भी प्राणी आनन्दित होता है।

तत्त्वज्ञान की महिमा -

नष्टशेवधिरप्येष

मृष्टमेवमतर्कयत् ।

दुःखार्थोऽपि सुखार्थो हि तत्त्वज्ञानधने सति ॥२१॥

अन्वयार्थ - (नष्टशेवधिः अपि एषः) नाश हो गया है उपार्जित धन जिसका ऐसे इन श्रीदत्त सेठ ने भी (एवं मृष्टं अतर्कयत्) इसप्रकार निराकुल होकर विचार किया।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (तत्त्वज्ञानधने सति) तत्त्वज्ञानरूपी धन के रहने पर (दुःखार्थः अपि) दुःखकर पदार्थ भी (सुखार्थः भवति) सुखकर हो जाता है।

सरलार्थ - कमाया हुआ सभी धन समुद्र में नष्ट हो जाने पर भी श्रीदत्त सेठ शान्त मन से विचारते हैं; क्योंकि तत्त्वज्ञानरूपी धन के होने पर दुःखदायक पदार्थ भी सुखदायक प्रतीत होते हैं।

श्रीदत्त सेठ का आत्मसम्बोधन -

तृष्णाग्निदह्यमानस्त्वं मूढात्मन्किं नु मुह्यसि ।

लोकद्वयहितध्वंसोर्न हि तृष्णारुषोर्भिदा ॥२२॥

अन्वयार्थ - [अत्र नीतिः] (मूढात्मन्) अरे मूढ़ आत्मन् ! (तृष्णाग्निदह्य-मानः त्वं) तृष्णारूपी अग्नि से जलता हुआ तू (किं नु मुह्यसि) क्यों मोह को प्राप्त होता है ? (हि) निश्चय से (लोकद्वयहितध्वंसोः) इसलोक और परलोक सम्बन्धी हित के नाश करनेवाले (तृष्णारुषोः) तृष्णा और क्रोध में (न भिदा) कुछ भेद नहीं है।

सरलार्थ - हे मूढ़ आत्मन् ! तृष्णारूपी अग्नि से जलनेवाला तू व्यर्थ ही पुनः पुनः मोह/लोभ क्यों कर रहा है ? इहलोक और परलोक सम्बन्धी हित के नाशक तृष्णा और क्रोध में कुछ भी अन्तर नहीं है।

विशेषार्थ - श्रीदत्त सेठ धन के लोभ से निवृत्त होना चाहते हैं; क्योंकि अभी-अभी धन के लोभ के कारण ही प्राणघातक संकट का सामना करना पड़ा था। अतः वे विचार करते हैं कि जैसे - क्रोध कषाय से इहलोक और परलोक में जीव का अहित होता है; वैसे ही लोभ कषाय से भी जीव का अहित ही होता है। कषाय कहते ही हैं उसे जो जीव को कसे अर्थात् दुःख दे।

आशा ही सुखनाशक -

लोकद्वयहितायात्मन्नैराश्यनिरतो भव ।

धर्मसौख्यच्छिदाशा ते तरुच्छेदः फलार्थिनाम् ॥२३॥

अन्वयार्थ - [अत्र नीतिः] (आत्मन्) हे आत्मन् ! तू (लोकद्वय-हिताय) दोनों लोकों के हित के लिए (नैराश्यनिरतः भव) निराशपने को प्राप्त हो अर्थात् विषयों की आशा छोड़ दे; क्योंकि (तरुच्छेदः फलार्थिनां) फलार्थी पुरुषों के वृक्ष के नाश समान अर्थात् जो फल तो चाहते हैं और वृक्ष

को काट रहे हैं उन पुरुषों के समान (ते आशा) तेरी विषयों के सम्बन्ध की आशा (धर्मसौख्यच्छिद्) धर्म और सुख का नाश करनेवाली है।

सरलार्थ – जिस वृक्ष से फल चाहते हैं, उसी वृक्ष को काटने के समान तेरा धनलोभ धर्म और सुख का नाशक है। अतएव हे आत्मन ! दोनों लोकों में आत्मकल्याण के लिए विषय-भोग एवं धन की इच्छा को छोड़कर निर्लोभ आत्मस्वभाव का आश्रय ले।

संसार की असारता का साक्षात् अनुभव –

संसारासारभावोऽयमहो साक्षात्कृतोऽधुना।

यस्मादन्यदुपक्रान्तमन्यदापतितं पुनः ॥२४॥

अन्वयार्थ – (अहो) आश्चर्य है कि (अधुना) इससमय (मया) मैंने (अयं संसारासारभावः) इस संसार के असारपने को (साक्षात्कृतः) प्रत्यक्ष कर लिया।

[अत्र नीतिः] (यस्मात्) क्योंकि (अन्यत् उपक्रान्तं) प्रारम्भ कुछ और ही किया था (पुनः अन्यत् आपतितं) और हो कुछ और ही गया।

सरलार्थ – आश्चर्य की बात तो यह है कि मैंने संसार की असारता का अनुभव स्वयं ही प्रत्यक्षरूप से कर लिया है; क्योंकि मैंने करना कुछ प्रारम्भ किया था और हो कुछ और ही गया। नियति पर किसी का अधिकार नहीं है।

योगीश्वरों को नमस्कार –

अतएव हि योगीन्द्रा अपीन्द्रत्वार्हसम्पदम्।

त्यक्त्वा तपांसि तप्यन्ते मुक्त्यै तेभ्यो नमो नमः ॥२५॥

अन्वयार्थ – (अतएव हि) इसीलिए निश्चय से (योगीन्द्राः) योगीश्वर पुरुष (इन्द्रत्वार्हसम्पदं) इन्द्र पद के योग्य सम्पत्ति को (अपि) भी (त्यक्त्वा) छोड़कर (मुक्त्यै तपांसि तप्यन्ते) मुक्ति प्राप्त करने के लिए तप करते हैं। (तेभ्यः नमः नमः) ऐसे योगीश्वरों को मेरा बारम्बार नमस्कार हो।

सरलार्थ – लोभ दुःखदायक है – ऐसा विचारकर इन्द्र-पद के समान सम्पत्ति को भी त्याग कर मुक्ति की प्राप्ति के लिए जो कठोर तप तपते हैं, लोभ के त्यागी उन योगीन्द्र पुरुषों को मैं बारम्बार नमस्कार करता हूँ।

अपरिचित को व्यथा-कथन –

इत्यूहोऽपि स दृष्टस्य कस्यचित्स्वार्तिमूचिवान् ।
मध्ये मध्ये हि चापल्यमामोहादपि योगिनाम् ॥२६॥

अन्वयार्थ – (इति ऊहः अपि सः) इसप्रकार विचार करने पर भी उस वणिक ने (दृष्टस्य कस्यचित्) देखे हुए किसी पुरुष के सम्मुख (स्वार्ति) अपनी पीड़ा (उचिवान्) कही।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (योगिनां अपि) योगियों के भी (आमोहात्) मोहनीय कर्म के सद्भाव पर्यन्त (मध्ये मध्ये चापल्यं) बीच-बीच में चपलता होती है।

सरलार्थ – पूर्वोक्त प्रकार से वैराग्य पूर्ण चिन्तन करनेवाले सेठ ने अपने निकट एक अपरिचित व्यक्ति को देखा और उसको अपनी सब व्यथा-कथा सुना दी; क्योंकि जबतक मोहकर्म रहता है, तबतक योगियों के परिणामों में भी अस्थिरताजन्य चंचलता होती ही है।

विशेषार्थ – श्रावक अथवा मुनि को अपनी भूमिका के अनुसार अस्थिर रहना वस्तुस्वरूप में ही गर्भित है। जितनी मात्रा में पुरुषार्थ की कमजोरी है, उतनी मात्रा में उदय निमित्त मोह परिणाम भी होते हैं। वे मोह परिणाम यथायोग्य भूमिका को नष्ट नहीं करते; अपितु भूमिका का ज्ञान करा देते हैं।

श्रीदत्त सेठ तो गृहस्थ हैं ही, उन्हें तत्त्वज्ञान के साथ वर्तनेवाले राग के कारण अपनी पीड़ा कहने का मोहभाव आना भी सहज है। मुनिराज को भी प्रमत्त अवस्था में देव-शास्त्र-गुरु या शिष्यादि के प्रति रागमूलक परिणाम होते ही हैं।

आगन्तुक की मायाचारी –

यादृच्छिक इवायातस्तत्कृच्छ्रं सोऽपि शुश्रुवान् ।
संसृतौ व्यवहारस्तु न हि मायाविवर्जितः ॥२७॥

अन्वयार्थ – (सः अपि) उस पुरुष ने भी (यादृच्छिकः आयातः इव) बिना मतलब से आए हुए के सदृश (तत्कृच्छ्रं शुश्रुवान्) उनका कष्ट सुना।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (संसृतौ व्यवहारः) संसार में व्यवहार (मायाविवर्जितः न स्यात्) माया से रहित नहीं होता है।

सरलार्थ – श्रीदत्त सेठ के पास किसी अज्ञात प्रयोजन से आए हुए उस आगुन्तक ने श्रीदत्त सेठ का कष्ट/दुःख सहजता से सुन लिया; क्योंकि संसार में प्रायः मायाचार रहित व्यवहार होता ही नहीं है।

विशेषार्थ – प्रायः संसार में लौकिक व्यवहार अपनी-अपनी भूमिका के अनुसार ही होता है। उत्तम आर्जव धर्मधारक श्रावक को भी दो या तीन कषाय चौकड़ी के उदय से यथायोग्य माया कषाय रहती ही है। उसे अनन्तानुबन्धी एक कषाय चौकड़ी के अभावपूर्वक उत्तम आर्जवधर्म रहता है। देशव्रती श्रावक के दो कषाय चौकड़ी के अभावपूर्वक उत्तम आर्जवधर्म होता है और मुनिराज के तीन कषाय चौकड़ी के अभाव से प्रगट वीतरागतरूप उत्तम क्षमादि धर्म होते ही हैं।

श्रीदत्त सेठ को ले जाना –

श्रुत्वा मिषेण केनापि नीत्वा राजतभूधरम्।

स्वागतेः कारणं सर्वमभाणीत्स वणिक्पतेः ॥२८॥

अन्वयार्थ – (सः) उसने (श्रुत्वा) सेठ के दुःख को सुनकर (केन अपि मिषेण) किसी बहाने से (राजतभूधरं नीत्वा) विजयार्थ पर्वत पर ले जाकर (वणिक्पतेः) सेठ से (सर्वं स्वागतेः कारणं) अपने आने का कारण (अभाणीत्) कहा।

सरलार्थ – तदनन्तर वह आगन्तुक मनुष्य श्रीदत्त सेठ को किसी बहाने विजयार्थ पर्वत पर ले गया और वहाँ जाकर एक कथा के माध्यम से वह अपने आगमन का कारण सविस्तार बताने लगा।

उपकथा-६

आगन्तुक से वृत्तान्त सुनना -

विजयार्धगिरावस्ति दक्षिणश्रेणिमण्डने ।
गान्धारविषये ख्याता नित्यालोकाह्वया पुरी ॥२६॥

अन्वयार्थ - (विजयार्धगिरौ) विजयार्ध पर्वत पर (दक्षिण-श्रेणी मण्डने) दक्षिणश्रेणी के भूषणस्वरूप (गान्धारविषये) गान्धार देश में (ख्याता) प्रसिद्ध (नित्यालोकाह्वया पुरी अस्ति) नित्यालोक नाम की नगरी है।

सरलार्थ - विजयार्ध पर्वत पर दक्षिणश्रेणी के आभूषणरूप एक गान्धार नाम का देश है और उस देश में नित्यालोक नाम की अति सुन्दर नगरी है।

नित्यालोक नगरी के राजा-रानी का परिचय -

गरुडवेगनामास्यां राजा राज्ञी तु धारिणी ।
पुत्री गन्धर्वदत्ताभूदभूत्सापि यवीयसी ॥३०॥

अन्वयार्थ - (अस्यां) इस नगरी में (गरुडवेगनामा राजा) गरुडवेग नाम का राजा (राज्ञी तु धारिणी) और इसकी धारिणी नाम की रानी है और (गन्धर्वदत्ता पुत्री) इन दोनों के गन्धर्वदत्ता नाम की पुत्री है (सा अपि यवीयसी अभूत्) और वह पुत्री अब जवान भी हो गई है।

सरलार्थ - नित्यालोक नगरी में गरुडवेग नाम का राजा है। उसकी अति सुन्दर, रूपवती और अतिशय धार्मिक धारिणी नाम की रानी है। उन दोनों की गन्धर्वदत्ता नाम की एक कन्या है, जो अब यौवन-अवस्था को प्राप्त/विवाह योग्य भी हो गई है।

ज्योतिषी का कथन -

वीणाविजयिनो भार्या राजपुर्यामियं भवेत् ।
भूमाविति मुहूर्तज्ञा जन्मलग्ने व्यजीगणन् ॥३१॥

अन्वयार्थ – (मुहूर्तज्ञाः) ज्योतिषियों ने (जन्मलग्ने) गन्धर्वदत्ता के जन्म-समय में (इति व्यजीगणन्) इसप्रकार कहा कि (इयं) यह कन्या (राजपुर्या) राजपुरी में (भूमौ वीणाविजयिनः) भूमिगोचरियों की वीणा बजाने में विजयी पुरुष की (भार्या भवेत्) पत्नी होगी।

सरलार्थ – राजकुमारी गन्धर्वदत्ता के जन्म के समय ज्योतिषियों ने भविष्य कथन किया था कि भूमिगोचरियों में राजपुरी नगरी का जो मनुष्य इस कन्या को वीणा-वादन में पराजित कर देगा, वही इस कन्या का पति होगा।

राजा-रानी के विचार –

तदर्थं पार्थिवः सार्धमेकान्ते कान्तया तथा ।

मन्त्रयित्वा तदन्ते माममन्दप्रीतिरादिशत् ॥३२॥

कुलक्रमागता मैत्री श्रीदत्तेनास्ति नस्ततः ।

गत्वा सत्वरमत्रैव सोऽयमानीयतामिति ॥३३॥

अन्वयार्थ – (अमन्दप्रीतिः पार्थिवः) अत्यन्त प्रीति रखनेवाले उस राजा ने (एकान्ते) एकान्त में (तथा कान्तया सार्धं) अपनी स्त्री के साथ (तदर्थं) इस कार्य के लिए (मन्त्रयित्वा) सलाह करके (तदन्ते) पश्चात् (मां आदिशत्) मुझको आज्ञा दी।

(कुलक्रमागता नः मैत्री) कुल परम्परा से आई हुई हमारी मित्रता (श्रीदत्तेन अस्ति) श्रीदत्त सेठ के साथ है (ततः) इसलिए (सत्वरं गत्वा) शीघ्र जाकर (सः अयं अत्र एव आनीयतां) उन्हें यहीं ले आओ (इति आदिशत्) – ऐसी आज्ञा दी।

सरलार्थ – राजकुमारी गन्धर्वदत्ता के विवाह योग्य हो जाने पर राजा ने अपनी रानी धारिणी के साथ एकान्त में चर्चा की और उन्होंने मुझे हर्षपूर्वक आज्ञा दी कि राजपुरी नगर-निवासी श्रीदत्त सेठ से हमारी कुल परम्परा से ही मित्रता है। अतः तुम वहाँ जाकर उन्हें किसी भी प्रकार यहाँ ले आओ।

अपरिचित व्यक्ति का परिचय -

भवन्तं परतन्त्रोऽहं नौभ्रंशभ्रान्तिमावहन् ।

नाम्ना धरः कृतेर्भूम्ना पुनरानीतवानिति ॥३४॥

अन्वयार्थ - (धरः नाम्ना) धर नाम का (परतन्त्रः अहं) पराधीन सेवक मैं (कृतेः भूम्ना) कार्य की गुरुता से/अत्यन्त आवश्यक कार्य होने से (भवन्तं) आपको (नौभ्रंशभ्रान्तिं आवहन्) नौका के नाश होने के भ्रम को उत्पन्न करके (पुनः) पश्चात् (आनीतवान्) यहाँ लाया हूँ। [इति स श्रीदत्तं अकथयत्] इसप्रकार उसने श्रीदत्त सेठ से कहा।

सरलार्थ - “मेरा नाम धर है। मैं राजा का आज्ञाकारी सेवक हूँ। अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य होने से मुझे शीघ्र ही राजा गरुड़वेग के समक्ष आपको विवाह कार्य हेतु लाने का आदेश था। अतएव आपके चित्त में नौका डूबने का भ्रम उत्पन्न करके युक्तिपूर्वक आपको यहाँ लाया हूँ।” धर ने ऐसा सत्य कथन श्रीदत्त सेठ से कहा।

सत्यस्थिति सुनकर श्रीदत्त सेठ आनन्दित -

श्रीदत्तोऽपि तदाकर्ण्य तुतोष सुतरामसौ ।

दुःखस्यानन्तरं सौख्यमतिमात्रं हि देहिनाम् ॥३५॥

अन्वयार्थ - (असौ श्रीदत्तः अपि) श्रीदत्त सेठ भी (तदाकर्ण्य) यह बात सुनकर (सुतरां तुतोष) अत्यन्त सन्तुष्ट हुए।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (देहिनां) जीवों के (दुःखस्य अनन्तरं) दुःख के बाद सुख का मिलना (अतिमात्रं सौख्यं भवति) अत्यन्त सुखकर होता है।

सरलार्थ - धर नामक विद्याधर से सत्य कथन सुनकर श्रीदत्त सेठ को अत्यन्त आनन्द हुआ; क्योंकि दुःख/कष्टों के पश्चात् मिलनेवाला सुख जीव को अत्यन्त आनन्ददायक लगता है।

विशेषार्थ – श्रीदत्त सेठ अपनी नौका के डूबने/नष्ट हो जाने के कारण दुःखी हो गए थे। जहाँ जीवित बचने की भी सम्भावना नहीं थी; वहाँ इसप्रकार के अनुकूल संयोग मिलने की कल्पना स्वप्न में भी नहीं थी। ऐसी दुःखद मानसिक स्थिति में यह जानकर कि नौका सुरक्षित है, सर्व धन भी सुरक्षित है और अब अपने मित्र, वह भी राजा से मिलना होगा – ऐसा जानकर श्रीदत्त सेठ का आनन्दित होना स्वाभाविक है। अत्यन्त प्रतिकूलताओं के पश्चात् मिलनेवाली अनुकूलता अति आनन्ददायी होती है।

श्रीदत्त सेठ का राजा से मिलना –

असुखायत वैश्योऽपि खेचरेन्द्रावलोकनात् ।

मित्रं धात्रीपतिं लोके कोऽपरः पश्यतः सुखी ॥३६॥

अन्वयार्थ – (वैश्यः अपि) श्रीदत्त सेठ भी (खेचरेन्द्रावलोकनात्) विद्याधरों के स्वामी के दर्शन से (असुखायत) अत्यन्त सुखी हुए।

[अत्र नीतिः] (लोके) इस संसार में (मित्रं धात्रीपतिं पश्यतः) मित्र राजा को देखनेवाले से (अपरः कः सुखी) दूसरा कौन सुखी है !

सरलार्थ – श्रीदत्त सेठ भी विद्याधरों के स्वामी राजा गरुड़वेग अर्थात् अपने मित्र से मिलकर अत्यन्त सुखी हुए; क्योंकि जिसका मित्र राजा हो, उससे मिलनेवाला मनुष्य अपने को संसार में अत्यन्त सुखी मानता है।

विशेषार्थ – रागी जीव स्त्री-पुत्रादि से मिलने पर अपने को सुखी अनुभव करता है; फिर मित्र से मिलना तो और अधिक आनन्द का कारण बनता है और वह मित्र भी राजा हो तो उसके आनन्द का क्या कहना ? अतः श्रीदत्त सेठ अपने मित्र राजा से मिलकर अत्यन्त आनन्दित हुए।

पुत्री, श्रीदत्त सेठ को सौपना –

नभश्चराधिपः पश्चात्तदायत्तां सुतां व्यधात् ।

प्राणेष्वपि प्रमाणं यत्तद्धि मित्रमितीष्यते ॥३७॥

अन्वयार्थ – (पश्चात्) तत्पश्चात् (नभश्चराधिपः) विद्याधरों के स्वामी गरुड़वेग ने (सुतां) अपनी पुत्री (तदायत्तां) उन श्रीदत्त सेठ के आधीन (व्यधात्) कर दी।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (यत्) जो (प्राणेषु अपि) प्राणों से भी अधिक (प्रमाणं) प्रमाण हो अर्थात् विश्वासपात्र हो तथा मित्र के लिए जो अपने प्राणों को भी तुच्छ समझता हो (तत् मित्रं इति इष्यते) वही सच्चा मित्र माना गया है।

सरलार्थ – कुमारी गन्धर्वदत्ता का विवाह करने सम्बन्धी विचार-विमर्श करके विद्याधरों के राजा गरुड़वेग ने विश्वस्त मित्र श्रीदत्त सेठ को अपनी कन्या सौंप दी; क्योंकि जो अपने प्राणों को भी न्यौछावर करने के लिए तैयार होता है; वही विश्वासपात्र मित्र कहलाता है।

श्रीदत्त सेठ की विदाई –

श्रीदत्तं सत्वरं तस्मात्खेचरेशो न्यवर्तयत्।

अङ्गजायां हि सूत्यायामयोग्यं कालयापनम् ॥३८॥

अन्वयार्थ – (खेचरेशः) विद्याधरों के स्वामी गरुड़वेग ने (श्रीदत्तं) श्रीदत्त सेठ को (तस्मात्) अपने यहाँ से (सत्वरं) शीघ्र ही (न्यवर्तयत्) लौटा दिया।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (अङ्गजायां सूत्यायां) पुत्री के जवान हो जाने पर (कालयापनं) बिना विवाह के काल बिताना (अयोग्यं) सर्वथा अयोग्य है।

सरलार्थ – कन्या के यौवन अवस्था को प्राप्त हो जाने पर बिना विवाह के काल बिताना सर्वथा अयोग्य है। अतएव खेचरेश गरुड़वेग ने अपनी पुत्री गन्धर्वदत्ता को विवाह करने के लिए मित्र श्रीदत्त सेठ को सौंपकर, उन्हें नित्यालोक नगरी से विदा किया।

कुमारी कन्या के पिता की मनोदशा -

गृहस्थानां हि तद् दौस्थ्यमतिमात्रमरुन्तुदम् ।

कन्यानामप्रमादेन रक्षणादिसमुद्भवम् ॥३६॥

अन्वयार्थ - [अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (गृहस्थानां) गृहस्थों को (तत् दौस्थ्यं) वह दुःख (अतिमात्रं अरुन्तुदं) अत्यन्त पीड़ा देनेवाला है; (यत्) जो (कन्यानां) कन्याओं के (अप्रमादेन रक्षणादि समुद्भवं) सावधानीपूर्वक रक्षणादिक से उत्पन्न होता है।

सरलार्थ - सावधान होकर कुमारी कन्याओं के निर्दोष जीवन रक्षण के लिए किए जानेवाले प्रयत्न गृहस्थ को अतिशय पीड़ादायक और मानसिक दुःख-प्रदाता होते हैं।

श्रीदत्त सेठ का अपनी पत्नी को सब वृत्तान्त सुनाना -

तयामा स्वपुरं प्राप्य श्रीदत्तोऽप्यथतत्कथाम् ।

पत्न्याः प्रकटयामास स्त्रीणामेव हि दुर्मतिः ॥४०॥

अन्वयार्थ - (अथ) इसके अनन्तर (श्रीदत्तः अपि) श्रीदत्त सेठ ने भी (तया अमा) उस मित्र-पुत्री गन्धर्वदत्ता के साथ (स्वपुरं प्राप्य) अपने नगर में आकर (तत्कथां) उसकी सारी कथा (पत्न्याः प्रकटयामास) अपनी पत्नी से कह दी।

[अत्र नीतिः] (हि) क्योंकि (स्त्रीणां एव दुर्मतिः) स्त्रियों की बुद्धि शंकाशील होती है।

सरलार्थ - नित्यालोक नगरी से श्रीदत्त सेठ मित्र-पुत्री गन्धर्वदत्ता के साथ राजपुरी नगरी में आए और उन्होंने अपनी पत्नी को गन्धर्वदत्ता का सब वृत्तान्त सुना दिया; क्योंकि स्त्रियाँ प्रायः शंकाशील होती हैं।

गन्धर्वदत्ता के विवाह की घोषणा -

वीणाविजयिनो योग्या भोग्या पुत्री ममेति सः ।

कटके घोषयामास राजानुमतिपूर्वकम् ॥४१॥

अन्वयार्थ – (सः) उस श्रीदत्त सेठ ने (राजानुमतिपूर्वकं) राजा की आज्ञापूर्वक (कटके) राज्य भर में (इति घोषयामास) – इसप्रकार घोषणा कराई कि (योग्या) सर्वगुणसम्पन्न (मम पुत्री) मेरी पुत्री (वीणा विजयिनः भोग्या) वीणा बजाने में जीतनेवाले द्वारा भोग्या [अस्ति] है अर्थात् जो वीणा बजाने में इसे जीत लेगा, वही इसका पति होगा।

सरलार्थ – श्रीदत्त सेठ ने राजा की आज्ञा लेकर यह घोषणा कराई कि जो मेरी सर्वगुणसम्पन्न पुत्री से 'वीणा-वादन' में विजयी होगा, उसके साथ पुत्री का विवाह कर दिया जाएगा।

राजा की आज्ञा का महत्त्व –

अकुतोभीतिता भूमेर्भूपानामाज्ञयान्यथा ।

आस्तामन्यत्सुवृत्तानां वृत्तं च न हि सुस्थितम् ॥४२॥

अन्वयार्थ – [अत्र नीतिः] क्योंकि (भूपानां आज्ञया) राजाओं की आज्ञा से (भूमेः) प्रजा को (अकुतोभीतिता) किसी से भय नहीं होता। (अन्यथा) इसके विपरीत अर्थात् राजा की आज्ञा के बिना (अन्यत् दूरे आस्तां) और तो दूर ही रहे (सुवृत्तानां) सच्चरित्र पुरुषों का (वृत्तं च) सदाचार भी (हि न सुस्थितं) निश्चय से स्थिर नहीं रह सकता।

सरलार्थ – राजा की आज्ञा से काम करनेवाले मनुष्य को इस पृथ्वी-तल पर कहीं किसीप्रकार का भय नहीं रहता और राजा की आज्ञा बिना औरों की बात तो दूर ही रहने दो, व्रतधारी पुरुषों का भी सदाचार स्थिर नहीं रह पाता है।

विशेषार्थ – सज्जन पुरुषों को राजनीति अर्थात् सत्ता प्राप्त करना, अनाप-शनाप धन इकट्ठा करना और निरपराधी मनुष्यों को सताना आदि अनुचित कार्यों में रस नहीं होता। सज्जन तो अपना जीवन सरलता एवं शान्ति से बिताने की ही भावना रखते हैं। अतः जिस किसी की भी सत्ता चलती हो, उसके साथ निर्विरोधता से रहते हैं। श्रीदत्त सेठ भी सज्जनोत्तम हैं; अतः उन्होंने वर्तमान में राज्य करनेवाले राजा काष्ठांगार से आज्ञा लेकर ही गन्धर्वदत्ता के विवाह की घोषणा की।

व्रतपालन करनेवाले मनुष्य भी सज्जन ही रहते हैं। वे भी राजा के साथ विरोधभाव रखेंगे तो उनका व्रताचार/सदाचारमय जीवनयापन करना असम्भव हो जाता है।

विवाह के लोभ से राजाओं का आगमन -

वीणामण्डपमासेदुस्तावता धरणीभुजः।

स्त्रीरागेणात्र के नाम जगत्यां न प्रतारिताः ॥४३॥

अन्वयार्थ - (तावता) उससमय घोषणा को सुनते ही (धरणीभुजः) राजा लोग (वीणामण्डपं आसेदुः) वीणा-मण्डप में आ पहुँचे।

[अत्र नीतिः] (अत्र जगत्यां) इस संसार में (के नाम) कौन पुरुष (स्त्रीरागेण न प्रतारिताः) स्त्री के प्रेम से नहीं ठगाए गए हैं अर्थात् स्त्री का प्रेम सबको अपने आधीन कर लेता है।

सरलार्थ - श्रीदत्त सेठ की घोषणा के पश्चात् अनेक राजा लोग राजकुमारी गन्धर्वदत्ता से विवाह के लोभ में वीणा-वादन हेतु बनाए गए मण्डप में आने लगे; क्योंकि इस संसार में स्त्री विषयक मोह/प्रेम सभी पुरुषों को अपने आधीन कर लेता है।

वीणा-वादन में राजाओं की पराजय -

कन्यायाः परिवादिन्यां पराजेषत पार्थिवाः।

अपुष्कला हि विद्या स्यादवज्ञैकफला क्वचित् ॥४४॥

अन्वयार्थ - (पार्थिवाः) राजा (कन्यायाः परिवादिन्यां) कन्या की परिवादिनी नाम की वीणा बजाने पर (पराजेषत) हार गए अर्थात् उससे बढ़कर कोई वीणा न बजा सका।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (अपुष्कला विद्या) अपूर्ण विद्या (क्वचित्) कहीं पर (अवज्ञा एक फला स्यात्) तिरस्कार करानेवाली ही होती है अर्थात् तिरस्कार के सिवाय उसका दूसरा फल नहीं होता।

सरलार्थ – राजकुमारी गन्धर्वदत्ता के साथ 'परिवादिनी' नामक वीणा-वादन में सभी राजा पराजित हो गए; क्योंकि अपूर्ण विद्या कहीं न कहीं अपमान का फल देनेवाली ही हो जाती है।

विशेषार्थ – राजकुमारी गन्धर्वदत्ता परिवादिनी नामक वीणा बजाने में विशेष प्रवीण थी। इसकारण गन्धर्वदत्ता जैसा वीणा-वादन कोई भी राजा नहीं कर सका, अतः सभी पराजित होकर चले गए। इसलिए गन्धर्वदत्ता को कोई भी राजा प्राप्त न कर सका।

जीवन्धरकुमार वीणा-वादन में विजयी –

जीवन्धरकुमारस्तु घोषवत्यां जिगाय ताम्।

अनवद्या हि विद्या स्याल्लोकद्वयफलावहा ॥४५॥

अन्वयार्थ – (तु जीवन्धरकुमारः) किन्तु जीवन्धरकुमार ने (तां) उस कन्या को (घोषवत्यां) अपनी घोषवती नाम की वीणा बजाने पर (जिगाय) जीत लिया।

[**अत्र नीतिः**] (हि) निश्चय से (अनवद्या विद्या) निर्दोष विद्या (लोकद्वयफलावहा) इस लोक और परलोक में उत्तम फल देनेवाली (स्यात्) होती है।

सरलार्थ –

परन्तु जीवन्धर कुमार ने वीणा-वादन में 'घोषवती' वीणा बजा कर सहज ही गन्धर्वदत्ता को पराजित कर दिया; क्योंकि 'पूर्ण



तथा निर्दोष विद्या इहलोक और परलोक में उत्तम फलदाता होती है।'

राजकुमारी ने हार में ही अपनी जीत समझी -

पराजयं जयाच्छ्लाघ्यं मत्त्वा सापि तमासदत् ।

अन्तिकं कृतपुण्यानां श्रीरन्विष्य हि गच्छति ॥४६॥

अन्वयार्थ - (सा अपि) वह कन्या भी (पराजयं) हार को (जयात्) जीत से (श्लाघ्यं मत्त्वा) उत्तम समझकर (तं आसदत्) उनके पास आ गई।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (श्रीः) लक्ष्मी (कृतपुण्यानां अन्तिकं) पूर्वजन्म में किया है पुण्य जिन्होंने ऐसे पुरुषों को ढूँढकर उनके समीप (अन्विष्य गच्छति) स्वयं चली जाती है।

सरलार्थ - कुमारी गन्धर्वदत्ता ने अपनी पराजय को विजय से भी श्रेष्ठ माना और वह स्वयं जीवन्धरकुमार के पास चली आई। वास्तव में देखा जाए तो स्त्री-पुत्र-धन-सम्पत्तिरूप वैभव अर्थात् लक्ष्मी, पुण्यवान पुरुषों को स्वयं खोजती हुई उनके पास चली आती है।

गन्धर्वदत्ता का जीवन्धरकुमार के गले में वरमाला डालना -

आमुमोचाथ मोचोरुः स्रजं जीवकवक्षसि ।

कुर्वन्तु तप इत्येवं सर्वेभ्यो ब्रुवतीव सा ॥४७॥

अन्वयार्थ - (अथ) इसके अनन्तर (सा मोचोरुः) केले के समान जंघावाली उस गन्धर्वदत्ता ने (एवं तपः कुर्वन्तु) तुम लोग ऐसा तप करो कि मुझे पा सको (इति सर्वेभ्यः ब्रुवतीव) इसप्रकार सबके लिए कहती हुई ही (जीवकवक्षसि) जीवन्धरकुमार के वक्षस्थल में (स्रजं) वरमाला (आमुमोच) डाल दी।

सरलार्थ - तदनन्तर केले के स्कन्ध के समान सुन्दर और पुष्ट जंघावाली सौन्दर्य सम्पन्न राजकुमारी गन्धर्वदत्ता ने अन्य सभी राजाओं को ऐसा कहते हुए कि मुझे पाने के लिए जीवन्धरकुमार की तरह तप करना चाहिए; उन राजाओं की उपेक्षा कर जीवन्धरकुमार के गले में वरमाला डाल दी।

काष्ठांगार का अन्य राजाओं को भड़काना -

काष्ठाङ्गारस्तु तद्वीक्ष्य क्षितिपान्समधुक्षयत् ।
अन्याभ्युदयखिन्नत्वं तद्धि दौर्जन्यलक्षणम् ॥४८॥

अन्वयार्थ - (तत् वीक्ष्य) यह देखकर (तु काष्ठाङ्गारः) काष्ठांगार ने (क्षितिपान् समधुक्षयत्) राजाओं को लड़ने के लिए भड़काया।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (अन्याभ्युदयखिन्नत्वं) दूसरे की उन्नति में जलना ही (दौर्जन्यलक्षणं) दुर्जन पुरुषों का लक्षण है।

सरलार्थ - राजा काष्ठांगार को राजकुमारी गन्धर्वदत्ता का जीवन्धरकुमार को प्राप्त होना अच्छा नहीं लगा। उसने सब राजाओं को भड़का दिया/उत्तेजित कर दिया; क्योंकि दूसरे के उत्कर्ष में जलना/खेद-खिन्न होना ही दुर्जनों का लक्षण है।

दुष्ट काष्ठांगार के दुर्विचार -

क्रयविक्रययोर्योग्यः कुप्यानां वैश्यसूनुकः ।
कथं लभेत स्त्रीरत्नं शस्तं वस्तु हि भूभुजाम् ॥४९॥

अन्वयार्थ - (कुप्यानां) बर्तन जैसे तुच्छ पदार्थों को (क्रयविक्रययोः योग्यः) खरीदने-बेचनेवाला (वैश्यसूनुकः) वैश्य पुत्र (स्त्रीरत्नं कथं लभेत) स्त्रीरूपी रत्न को कैसे प्राप्त कर सकता है ?

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (शस्तं वस्तु) उत्तम पदार्थ (भूभुजां) राजाओं के लिए [भवति] होता है। तुम राजाओं के उपस्थित रहते हुए यह स्त्री-रत्न इसको नहीं मिलना चाहिए।

सरलार्थ - हीन वस्तुएँ जैसे - रेशम, कपास, बर्तन आदि के क्रय-विक्रय के योग्य वैश्य पुत्र जीवन्धरकुमार गन्धर्वदत्तारूप 'स्त्री-रत्न' को कैसे पा सकता है ? न इसके पास अधिकार है और न पात्रता। राज्य की सर्वोत्तम वस्तु तो राजा की ही होती है।

विशेषार्थ – जीवन्धरकुमार सत्यन्धर राजा का पुत्र राजकुमार है, इस बात का काष्ठांगार को पता ही नहीं है; अतः वह उन्हें वैश्यपुत्र ही मान रहा है और अपने को राजा। कुमारी गन्धर्वदत्ता द्वारा जीवन्धरकुमार को अपना पति स्वीकार करने से उसे अत्यन्त दुःख हुआ; अतः सभी राजाओं को युद्ध करके गन्धर्वदत्ता को छीनने के लिए प्रेरित कर रहा है/उन्हें उत्तेजित कर रहा है। काष्ठांगार अपने दुष्कृत्य में सफल भी हो गया।

राजाओं से जीवन्धरकुमार का युद्ध –

इति संधुक्षिताश्चक्रुः स्वामिना तेऽपि संयुगम्।

प्रकृत्या स्यादकृत्ये धीर्दुःशिक्षायां तु किं पुनः ॥५०॥

अन्वयार्थ – (इति संधुक्षिताः) इसप्रकार भड़काए हुए (ते अपि) उन राजाओं ने भी (स्वामिना) जीवन्धरकुमार के साथ (संयुगं चक्रुः) युद्ध किया।

[**अत्रे नीतिः**] (प्रकृत्या धीः अकृत्ये स्यात्) स्वभाव से बुद्धि खोटे कार्य में प्रवृत्त हो जाती है। (दुःशिक्षायां तु किं पुनः) खोटी शिक्षा मिलने पर तो फिर कहना ही क्या ?

सरलार्थ – राजा काष्ठांगार के वचनों से उत्तेजित होकर सभी राजाओं ने मिलकर जीवन्धरकुमार से युद्ध करना प्रारम्भ कर दिया। **मनुष्य की बुद्धि खोटे कार्यों में स्वभाव से ही प्रवृत्त होती है और यदि खोटी शिक्षा भी मिल जाए तो फिर उसका कहना ही क्या ?**

विशेषार्थ – अपने को 'राजकन्या' न मिलने से और जीवन्धरकुमार को सहज ही पत्नीरूप में राजकुमारी मिलने से अन्य राजा पहले से ही क्रोधित थे और जीवन्धरकुमार को अपना शत्रु मान रहे थे। इस पर राजा काष्ठांगार के कटु-वचनों ने उनकी क्रोधरूपी अग्नि में घी का काम किया। अतः सभी राजाओं ने मिलकर जीवन्धरकुमार से युद्ध करना प्रारम्भ कर दिया।

यद्यपि सप्त व्यसन और हिंसादि पापों की पढ़ाई के लिए कहीं विद्यालय

नहीं खुले हैं; फिर भी व्यसनों और पापों में सभी निपुण हो जाते हैं। इस पर भी पाप के प्रेरक मिल जाएँ तो फिर पूछना ही क्या ?

सभी राजा पराजित -

पराजेषत भूपास्ते धन्विनां चक्रवर्तिनः ।

अलं काकसहस्रेभ्यः एकैव हि दृषद्भवेत् ॥५१॥

अन्वयार्थ - (ते भूपाः) वे राजा (धन्विनां चक्रवर्तिनः) धनुर्धारियों के चक्रवर्ती जीवन्धरकुमार से (पराजेषत) हार गए।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (काकसहस्रेभ्यः) हजार कौओं के उड़ाने के लिए (एका एव) एक ही (दृषद्) पत्थर (अलं भवेत्) काफी होता है।

सरलार्थ - धनुर्धारियों के चक्रवर्ती जीवन्धरकुमार ने सभी राजाओं को सहजता से जीत लिया। इसमें आश्चर्य की बात नहीं है; क्योंकि हजारों कौओं को उड़ाने के लिए एक पत्थर ही पर्याप्त होता है।

विशेषार्थ - यहाँ जीवन्धरकुमार की शक्ति और शौर्य का परिचय दिया गया है। उन्हें धनुर्धारियों का चक्रवर्ती बताया गया है और उनके सामने राजाओं को कौओं की उपमा दी गई है।

जैसे हजारों कौओं को उड़ाने के लिए एक पत्थर फेंकना ही पर्याप्त होता है; वैसे ही हजारों राजाओं को पराजित करने में अकेले जीवन्धरकुमार ही समर्थ हैं; यह उनकी वीरता, शक्ति और शौर्य का परिचय है।

सज्जनों का सन्तुष्ट हो जाना -

स्थाने कन्यामनः सक्तमित्यूचुः सज्जनाः मुदा ।

सुधासूतेः सुधोत्पत्तिरपि लोके किमद्भुतम् ॥५२॥

अन्वयार्थ - (सज्जनाः) सज्जन पुरुषों ने (मुदा) हर्ष से (कन्यामनः स्थाने सक्तं इति ऊचुः) कन्या का मन योग्य पुरुष में आसक्त हुआ - ऐसा

कहा। [अत्र नीतिः] (लोके) लोक में (सुधोत्पत्तिः अपि) अमृत की उत्पत्ति (सुधासूतेः) चन्द्रमा से ही (भवति) होती है। (इति किं अब्द्रुतं) इसमें क्या आश्चर्य है !

सरलार्थ – ‘कन्या का मन योग्य पुरुष पर ही आसक्त हुआ है’— ऐसा सज्जन पुरुषों ने अत्यन्त हर्ष के साथ कहा; क्योंकि संसार में चन्द्रमा से अमृत की उत्पत्ति होती है, इसमें कुछ आश्चर्य नहीं है।

विशेषार्थ – लौकिक व्यवहार में ऐसा कहा जाता है कि चन्द्रमा से अमृत की उत्पत्ति होना स्वाभाविक है। इसमें कुछ आश्चर्य की बात नहीं। वैसे ही योग्य पुरुष पर कन्या का मन आसक्त होना भी स्वाभाविक है, इसमें भी कुछ आश्चर्य नहीं है। उत्तम कार्य होता हुआ देखकर, सज्जनों का प्रसन्न होना सहज है। राजकुमारी गन्धर्वदत्ता ने जीवन्धरकुमार को पतिरूप में स्वीकार कर लिया है – यह देखकर सभी सज्जन पुरुष प्रशंसा कर रहे हैं।

जीवन्धरकुमार का गन्धर्वदत्ता से विवाह –

अथ गन्धर्वदत्तां तां श्रीदत्तेनाग्निसाक्षिकम् ।

दत्तां स जीवकस्वामी पर्यणैष्ट यथाविधि ॥५३॥

अन्वयार्थ – (अथ) इसके बाद (सः जीवकस्वामी) उन जीवन्धरस्वामी ने (अग्निसाक्षिकं) अग्नि की साक्षीपूर्वक (श्रीदत्तेन दत्तां) श्रीदत्त सेठ द्वारा दी हुई (तां गन्धर्वदत्तां) उस गन्धर्वदत्ता को (यथाविधि) विधिपूर्वक (पर्यणैष्ट) ब्याहा।

सरलार्थ – तदनन्तर अग्नि की साक्षीपूर्वक श्रीदत्त सेठ ने मित्र की कन्या गन्धर्वदत्ता का विवाह जीवन्धरकुमार के साथ विधिपूर्वक सम्पन्न कराया।

इति श्रीमवादीभसिंहसूरिविरचिते क्षत्रचूडामणौ गन्धर्वदत्तालम्भो
नाम तृतीयो लम्बः ।

चौथा लम्ब

जीवन्धरकुमार का सुखी जीवन -

अथ जीवन्धरस्वामी रेमे रामासमन्वितः ।

संसारेऽपि यथायोग्याद्भोग्यान्ननु सुखी जनः ॥१॥

अन्वयार्थ - (अथ) इसके अनन्तर (रामासमन्वितः) अपनी गन्धर्वदत्ता नाम की स्त्री के साथ (जीवन्धरस्वामी) जीवन्धरकुमार ने (रेमे) रमण किया ।

[अत्र नीतिः] (ननु) निश्चय से (संसारे अपि) संसार में भी (जनः) मनुष्य (यथायोग्यात् भोग्यात्) अपनी योग्यता के अनुकूल भोग-सामग्री मिलने से (सुखी भवति) सुखी होता है ।

सरलार्थ - राजकुमारी गन्धर्वदत्ता के साथ विवाह होने के पश्चात् जीवन्धरकुमार अपनी स्त्री के साथ सुखमय जीवन-यापन कर रहे हैं; क्योंकि संसार में अपनी योग्यता के अनुरूप भोग-सामग्री मिलने पर मनुष्य सुख का अनुभव करता ही है ।

वसन्त ऋतु का आगमन -

माधवोऽथ जलक्रीडां पौराणामुदपादयत् ।

रागान्धानां वसन्तो हि बन्धुरग्नेरिवानिलः ॥२॥

अन्वयार्थ - (अथ) इसके अनन्तर (माधवः) वसन्त ऋतु ने (पौराणां) नगरवासियों में (जलक्रीडां) जलक्रीड़ा अर्थात् फाग खेलने की भावना (उदपादयत्) उत्पन्न की ।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (रागान्धानां) अनुराग से अन्धे पुरुषों के लिए (वसन्त) वसन्त (अग्नेः अनिलः इव) अग्नि को प्रज्वलित करने में पवन की तरह (बन्धुः) मित्र अर्थात् सहायक होता है ।

सरलार्थ – कुछ काल व्यतीत होने के पश्चात् वसन्त ऋतु का आगमन हुआ। ऋतुराज वसन्त ने नगरवासियों के मन में जलक्रीड़ा का उत्साह उत्पन्न किया। जैसे पवन के वेग से अग्नि भड़क उठती है; अतः पवन अग्नि का मित्र है; वैसे ही वसन्त ऋतु के आगमन से रागी जीवों की विषय-वासना उत्तेजित होती है। अतः रागी जीव वसन्त ऋतु को अपना मित्र मानते हैं।

जीवन्धरकुमार का जलक्रीड़ा के लिए प्रस्थान –

जीवन्धरकुमारोऽपि मित्रैर्द्रष्टुमयादमूम् ।

नवापगाजलक्रीडां लोको ह्यभिनवप्रियः ॥३॥

अन्वयार्थ – (जीवन्धरकुमारः अपि) जीवन्धरकुमार भी (अमूं नवापगाजलक्रीडां) इस नदी की नवीन जलक्रीड़ा को (द्रष्टुं) देखने के लिए (मित्रैः सह अयात्) अपने मित्रों के साथ गए।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (लोकः) संसारी लोग (अभिनवप्रियः भवति) हमेशा नवीन वस्तु से प्रेम करनेवाले होते हैं।

सरलार्थ – जलक्रीड़ा का समाचार सुनकर जीवन्धरकुमार भी अपने मित्रों को साथ लेकर जलक्रीड़ाएँ करने और देखने के उद्देश्य से नदी के निकट गए। आमोद-प्रमोद के लिए नई-नई क्रीड़ाएँ करने और देखने का मनुष्य का स्वभाव ही है।

उपकथा-७

धर्मरहित जीवों की प्रवृत्ति –

अवधिषुर्द्विजास्तत्र हविर्दूषितभाषणम् ।

क्रूराः किं किं न कुर्वन्ति कर्म धर्मपराङ्मुखाः ॥४॥

अन्वयार्थ – (तत्र) वहाँ पर (द्विजाः) याज्ञिकों ने (हविर्दूषितभाषणं) यज्ञ-सामग्री को दूषित करनेवाले कुत्ते को (अवधिषुः) अधमरा कर दिया।

[अत्र नीतिः] (धर्मपराङ्मुखाः क्रूराः) धर्म से विमुख कठोर हृदयवाले मनुष्य (किं किं कर्म न कुर्वन्ति) क्या-क्या छोटे कर्म नहीं करते हैं ? अर्थात् वे सब प्रकार के बुरे कर्म करते हैं।

सरलार्थ – एक कुत्ते द्वारा हवन सामग्री जूठी कर देने के कारण हवन करनेवालों ने उस कुत्ते को मार-मार कर अधमरा कर दिया। धर्म से अनभिज्ञ पुरुष अनेक प्रकार के छोटे काम करते ही रहते हैं। जीवन्धरकुमार ने कुत्ते की इस दयनीय दशा को देखा।

धर्महीन जीवों की पापप्रवृत्ति –

निर्निमित्तमपि घ्नन्ति हन्त जन्तूनधार्मिकाः ।

किं पुनः कारणाभासे नो चेदत्र निवारकः ॥५॥

अन्वयार्थ – [अत्र नीतिः] (हन्त) खेद है ! (अधार्मिकाः) अधार्मिक/पापी पुरुष (निर्निमित्तं अपि) बिना कारण के भी (जन्तून) जीवों को (घ्नन्ति) मार डालते हैं (कारणाभासे) झूठा कारण मिल जाने पर (चेत् अत्र) यदि वहाँ (निवारकः) कोई निवारण करनेवाला भी (न स्यात्) नहीं हो (किं पुनः वक्तव्यं) तब तो फिर कहना ही क्या है ?

सरलार्थ – धर्म के स्वरूप को न समझनेवाले पापी जीव कारण बिना ही प्राणियों की हिंसा किया करते हैं। यदि उन्हें कोई झूठा ही कारण मिल जाए और कोई रोकनेवाला भी न हो, तब तो फिर कहना ही क्या? अधिकाधिक हिंसा के कार्य करते ही रहते हैं।

विशेषार्थ – कुत्ता बेचारा पशु है, उसके यहाँ खेती नहीं होती, घर भी नहीं है, आप जैसा साधन भी उसके पास खाने-पीने का नहीं है। उसने अपनी क्षुधा मिटाने के लिए हवन सामग्री खाने का प्रयास किया है।

आपको उसे भगाने का अधिकार तो है; किन्तु इतनी निष्ठुरता से मारना कि वह मरणासन्न हो जाय, क्या यह कार्य मनुष्योचित है? धार्मिक अनुष्ठान और पूजा के पावन प्रसंग पर ऐसा कार्य करना शोभा नहीं देता।

धर्मबुद्धि जीवों की प्रवृत्ति -

तद्व्यथां वीक्षमाणोऽयं कुमारो विषसाद सः ।

तद्धि कारुण्यमन्येषां स्वस्येव व्यसने व्यथा ॥६॥

अन्वयार्थ - (तद् व्यथां वीक्षमाणः) उस कुत्ते की पीड़ा को देखकर (अयं कुमारः) ये जीवन्धरकुमार (विषसाद) अत्यन्त खेद को प्राप्त हुए।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (अन्येषां व्यसने) दूसरे की पीड़ा में (स्वस्य इव व्यथा) अपने दुःख के समान ही पीड़ा का अनुभवन करना (तत् कारुण्यं) वह करुणा है।

सरलार्थ - कुत्ते की पीड़ा को देखकर जीवन्धरकुमार अत्यन्त दुःखी हुए; क्योंकि दूसरों के दुःख को अपने दुःख के समान अनुभव करना ही करुणा है, जो धर्मबुद्धिवाले जीवों को उचित ही है।

विशेषार्थ - दूसरों की पीड़ा सज्जन पुरुषों को अपनी ही पीड़ा लगती है। अतएव सज्जन पुरुष दूसरों की पीड़ा के परिहार का प्रयास करते हैं। दुनिया इसे परोपकार कहती है, वे कार्य धार्मिक मनुष्य के जीवन में अकर्ताभाव से सहज ही होते हैं।

कुत्ते को जीवित रखने का प्रयत्न असफल -

प्रत्युज्जीवयितुं श्वानं यत्नेनाप्यथ नाशकत् ।

न ह्यकालकृतो यत्नो भूयानपि फलप्रदः ॥७॥

अन्वयार्थ - (अथ) तदनन्तर [अयं] ये जीवन्धरकुमार (प्रत्युज्जीवयितुं) जीवित रखने के लिए (न अशकत्) समर्थ नहीं हुए।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (अकालकृता भूयान् अपि यत्नः) समय निकल जाने पर किया हुआ बड़ा प्रयत्न भी (फलप्रदः न) फल देनेवाला नहीं होता।

सरलार्थ - तदनन्तर जीवन्धरकुमार ने कुत्ते को जीवित रखने के लिए

बहुत प्रयत्न किए; तथापि वे कुत्ते को जीवित रख नहीं पाए; क्योंकि समय निकल जाने पर किया हुआ बहुत प्रयास भी फलदायी नहीं होता।

जीवन्धरकुमार द्वारा कुत्ते को णमोकार मन्त्र सुनाना -

परलोकार्थमस्यायं पञ्चमन्त्रमुपादिशत्।

निर्वाणपथपान्थानां पाथेयं तद्धि किं परैः ॥८॥

अन्वयार्थ - (अयं) जीवन्धरकुमार ने (अस्य) कुत्ते का (परलोकार्थं) परलोक सुधारने के लिए (पञ्चमन्त्रं) पंच णमोकार मन्त्र का (उपादिशत्) उपदेश दिया।



[अत्र नीतिः] (हि) कारण कि (परैः किं) बहुत कहने से क्या (तत् निर्वाणपथपान्थानां) यह णमोकार महामन्त्र मोक्षमार्ग पर चलनेवाले पथिकों के लिए (पाथेयं) कलेवा है।

सरलार्थ - कुत्ते का जीवित रहना अशक्य जानकर जीवन्धरकुमार ने उसका परभव सुधारने के उद्देश्य से 'णमोकार महामन्त्र' उसके कान में सुनाया; अन्य अनावश्यक विषय सुनाने से क्या लाभ ? क्योंकि मोक्षमार्ग के पथिक के लिए णमोकार महामन्त्र पाथेय है।

विशेषार्थ – पथिक को सुविधापूर्वक मार्ग तय करने के लिए पाथेय/ कलेवा अपना विशेष महत्त्व रखता है। थक जाने पर कलेवा करते ही मार्ग में फिर उत्साहपूर्वक गमन करना सम्भव होता है। उसीप्रकार मोक्षमार्ग के पथिकों को णमोकार महामन्त्र परम सहायक है।

णमोकार महामन्त्र का माहात्म्य –

यक्षेन्द्रोऽजनि यक्षोऽयमहो मन्त्रस्य शक्तिः ।

कालायसं हि कल्याणं कल्पते रसयोगतः ॥१॥

अन्वयार्थ – (अहो) आश्चर्य है ! (अयं यक्षः) यह कुत्ते का जीव (मन्त्रस्य) मन्त्र के (शक्तिः) प्रभाव से (यक्षेन्द्रः अजनि) यक्ष जाति के देवों का स्वामी हुआ।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (कालायसं) अत्यन्त काला लोहा भी (रसयोगतः) रस के सम्बन्ध से (कल्याणं कल्पते) सुवर्णरूप हो जाता है।

सरलार्थ – जिसप्रकार 'रसायन' के प्रभाव से लोहा भी स्वर्ण बन जाता है; उसीप्रकार वह कुत्ते का जीव मरकर णमोकार महामन्त्र के प्रभाव से यक्षेन्द्र के रूप में उत्पन्न हुआ।

विशेषार्थ – जैसे अत्यन्त काला लोहा भी 'रसायन' के प्रभाव से स्वयं स्वर्णरूप परिणमित हो जाता है; वैसे ही णमोकार मन्त्र के निमित्त से कषाय परिणामों में मन्दता आती है, जिसके फलस्वरूप पुण्य परिणाम होते हैं और उसी समय पुण्यकर्म का बन्ध भी होता है। यहाँ कुत्ते के जीव को अपने पुण्य परिणामों से देवायु का बन्ध हुआ और उसके निमित्त से वह कुत्ता यक्षेन्द्र हो गया।

णमोकार महामन्त्र का जाप उपयोगी –

मरणक्षणलब्धेन येन श्वा देवताजनि ।

पञ्चमन्त्रपदं जप्यमिदं केन न धीमता ॥१०॥

अन्वयार्थ – (मरणक्षणलब्धेन येन) मरण के समय प्राप्त जिस मन्त्र से

(श्व) कुत्ता (देवता अजनि) देवता हो गया तब (केन धीमता) किस बुद्धिमान से (इदं पञ्चमन्त्रं) यह पंच णमोकार मन्त्र (न जप्यं) जपने योग्य नहीं है अर्थात् सभी के द्वारा जपने योग्य है।

सरलार्थ – मरण के समय में भी प्राप्त णमोकार मन्त्र के निमित्त से जब कुत्ता जैसा हीन प्राणी भी यक्षेन्द्र के रूप में जन्म ले सकता है, तब विवेकशील व्यक्तियों को तो णमोकार मन्त्र का सदैव स्मरण करना ही चाहिए।

विशेषार्थ – जो व्यक्ति सदैव 'णमोकार महामन्त्र' का स्मरण करता है वह पाप से निवृत्त और पुण्य में प्रवृत्त होता ही है। इस महामन्त्र में जिन पंच परमेश्वियों को नमस्कार किया गया है, उनका स्मरण करने से उनके द्रव्य-गुण-पर्याय को जानता है और उनके स्वरूप को जानने से अपने स्वरूप को भी जानता है। अतः उसे सहज ही मुक्ति का मार्ग मिल जाता है। अतएव सज्जन पुरुषों को णमोकार मन्त्र का स्मरण करना ही चाहिए।

कुत्ते के जीव यक्षेन्द्र का आगमन -

स कृतज्ञचरो देवः कृतज्ञत्वान्तदागमत्।

अन्तर्मुहूर्ततः पूर्तिर्दिव्यायाः हि तनोर्भवेत् ॥११॥

अन्वयार्थ – (स कृतज्ञचरः देवः) वह कुत्ते का जीव देव (कृतज्ञत्वात्) कृतज्ञता के कारण (तदा) उसी समय जीवन्धरकुमार के पास (आगमत्) आया।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (दिव्यायाः तनोः) देवों के शरीर की (पूर्तिः) पूर्णता (अन्तर्मुहूर्ततः भवेत्) अन्तर्मुहूर्त में हो जाती है।

सरलार्थ – कुत्ते का जीव 'यक्षेन्द्र' अपने उपकारी के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करने हेतु जीवन्धरकुमार के पास आया; क्योंकि देवगति में देवों के शरीर की पूर्णता अन्तर्मुहूर्त में ही हो जाती है।

विशेषार्थ – देवों का शरीर वैक्रियक होता है, अतः वह शरीर अन्तर्मुहूर्त

में ही पूर्णता को प्राप्त हो जाता है — ऐसा नियम है। इसकारण वह कुत्ते का जीव मरकर यक्षेन्द्र हुआ और अन्तर्मुहूर्त में ही उसके शरीर की पूर्णता हो गई। देवों को अवधिज्ञान होता ही है। उस ज्ञान से यक्षेन्द्र ने अपना पूर्वभव और जीवन्धरकुमार के उपकार को जान लिया। अतः वह यक्षेन्द्र नदी के किनारे ही जीवन्धरकुमार के पास आ गया।

यक्षेन्द्र द्वारा जीवन्धरकुमार की स्तुति —

कुमारममरो दृष्ट्वा हृष्टस्तुष्टाव मृष्टवाक् ।

उपकारस्मृतिः कस्य न स्यान्नो चेदचेतनः ॥१२॥

अन्वयार्थ — (मृष्टवाक्) शुद्धवाणी बोलनेवाला और (हृष्टः) आनन्द से परिपूर्ण (अमरः) वह यक्षेन्द्र (कुमारं दृष्ट्वा) जीवन्धरकुमार को देखकर (तुष्टाव) उनका स्तवन करने लगा।

[अत्र नीतिः] (उपकारस्मृतिः) उपकार का स्मरण (कस्य) किसे (न स्यात्) नहीं होता (चेत्) यदि (सः अचेतनः न स्यात्) वह अचेतन नहीं हो तो।

सरलार्थ — जीवन्धरकुमार को देखते ही मीठे वचन बोलनेवाले यक्षेन्द्र को अत्यन्त आनन्द हुआ। वह जीवन्धरकुमार की स्तुति करने लगा; क्योंकि विवेकशील पुरुषों को अपने ऊपर किया गया उपकार सहज ही स्मरण में आता है।

विशेषार्थ — कृतज्ञता सभी गुणों में सर्वश्रेष्ठ गुण है और सर्वश्रेष्ठ गुण-सज्जन पुरुषों में रहना स्वाभाविक और आवश्यक भी है। जीवन्धरकुमार ने यक्षेन्द्र पर णमोकार महामन्त्र द्वारा महान उपकार किया था; अतः वह कुमार के प्रति कृतज्ञता व्यक्त करते हुए उनकी स्तुति करने लगा।

जीवन्धरकुमार को आश्चर्य नहीं होता—

व्यस्मेष्य तेन न स्वामी मनुमाहात्म्यनिर्णयात् ।

मुक्तिप्रदेन मन्त्रेण देवत्वं न हि दुर्लभम् ॥१३॥

अन्वयार्थ – (स्वामी) जीवन्धरकुमार (मनुमाहात्म्यनिर्णयात्) मन्त्र के माहात्म्य के निर्णय से (तेन न व्यस्मेष्ट) उस देव को देखकर आश्चर्ययुक्त नहीं हुए।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (मुक्तिप्रदेन मन्त्रेण) मुक्ति को देनेवाले मन्त्र से (देवत्वं) देव पर्याय मिलना (न दुर्लभं) दुर्लभ नहीं है।

सरलार्थ – णमोकार मन्त्र के माहात्म्य को जाननेवाले जीवन्धरकुमार, कुत्ते के जीव को यक्षेन्द्र के रूप में देखकर और उसकी स्तुति से आश्चर्यचकित नहीं हुए; क्योंकि मुक्ति-प्रदाता महामन्त्र से देवपना प्राप्त होना तो अत्यन्त सुलभ है, इसमें आश्चर्य की क्या बात है !

विशेषार्थ – जिस महामन्त्र से मुक्ति प्राप्त होती है, उसके निमित्त से देवगति मिलना आश्चर्यजनक कैसे हो सकता है ! जिस रत्न से त्रिलोक की सम्पदा को खरीदा जा सके, उस रत्न से भूसे के ढेर को खरीद कर आश्चर्य मानना जिसप्रकार अज्ञानता का सूचक है; उसीप्रकार मुक्तिप्रदाता मन्त्र से देवपना प्राप्त होने से आश्चर्यचकित होना और आनन्द मानना अज्ञान ही तो है। मोक्ष प्राप्ति के प्रयास के समय बीच में देवपना आदि तो सहज में ही मिलते हैं।

यक्षेन्द्र की कृतज्ञता –

स्मर्तव्योऽस्मि महाभागेत्युक्त्वा देवस्तिरोऽभवत् ।

प्रतिकर्तुं कथं नेच्छेदुपकर्तुः सचेतनः ॥१४॥

अन्वयार्थ – (महाभाग) हे महाभाग ! समय आने पर (अहं) मैं (स्मर्तव्यः अस्मि) स्मरण करने योग्य हूँ (इति उक्त्वा) ऐसा कहकर (देवः तिरः अभवत्) देव अन्तर्धान हो गया।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (सचेतनः) सचेतन प्राणी (उपकर्तुः) अपने उपकार करनेवाले का (प्रतिकर्तुं) प्रत्युपकार करने के लिए (कथं) कैसे (न इच्छेत्) इच्छा नहीं करे ? वह तो इच्छा करता ही है।

सरलार्थ — 'हे महाभाग्यशाली जीवन्धरकुमार ! यदि आप पर कभी कोई विशेष आपत्ति आए तो आप मुझे स्मरण करना, मैं अवश्य आपकी सेवा में उपस्थित रहूँगा' — ऐसा कहकर यक्षेन्द्र वहाँ से अदृश्य हो गया; क्योंकि सज्जन पुरुष उपकार करनेवाले के प्रति प्रत्युपकार करने की भावना अवश्य रखते हैं।

विशेषार्थ — अपना भाग्य अर्थात् पुण्य हो तो स्वर्ग के देव भी स्वयमेव सेवा के लिए उपस्थित होते हैं — यह विषय यहाँ अत्यन्त स्पष्ट होता है। जीवन्धरकुमार ने यक्षेन्द्र के आने के लिए न तो उसकी भक्ति की थी, न ही पूजा-आराधना। जीवन्धरकुमार को णमोकार मन्त्र की श्रद्धा थी तथा पुण्योदय से यक्षेन्द्र को स्वयं कृतज्ञतावश जीवन्धरकुमार के प्रति प्रत्युपकार का भाव उत्पन्न हुआ। अतः संकट के समय मात्र अपने स्मरण का निवेदन करके यक्षेन्द्र वहाँ से चला गया। अतएव सर्वप्रकार की अनुकूलता अथवा संकट-परिहार के लिए मात्र पंचपरमेष्ठी की भक्ति और उपासना करना ही एकमात्र उपाय है।

यक्षेन्द्र का अपने स्थान की ओर गमन —

सारमेयचरे देवे तमाश्लिष्य मुहुर्मुहुः।

आपृच्छ्य च गते तस्मिन्नत्र प्रस्तुतमुच्यते ॥१५॥

अन्वयार्थ — (तं) जीवन्धरकुमार को (आश्लिष्य) आलिंगन करके (च) और (मुहुः मुहुः आपृच्छ्य) बार-बार पूछकर (तस्मिन् सारमेयचरे देवे गते) उस कुत्ते के जीव देव के चले जाने पर (अत्र प्रस्तुतं उच्यते) यहाँ जो वृत्तान्त हुआ, उसे कहते हैं।

सरलार्थ — जीवन्धरकुमार से भेंट करके तथा पुनः पुनः आज्ञा लेकर यक्षेन्द्र के चले जाने के पश्चात् वहाँ नदी पर ही जो अन्य घटनाएँ घटीं, उनका वृत्तान्त कहते हैं।

उपकथा-८

दो सखियों में चूर्ण की उत्तमता पर ईर्ष्या -

चूर्णार्थं सुरमञ्जर्याः स्पर्धाभूद्गुणमालया ।

एकार्थस्पृहया स्पर्धा न वर्धेतात्र कस्य वा ॥१६॥

अन्वयार्थ - (चूर्णार्थं) चूर्ण के लिए (सुरमञ्जर्याः) सुरमञ्जरी की (स्पर्धा) ईर्ष्या (गुणमालया अभूत्) गुणमाला के साथ हुई।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (अत्र) इस संसार में (एकार्थस्पृहया) एक ही पदार्थ की इच्छा करने से (कस्य) किसके (स्पर्धा न वर्धेत्) ईर्ष्या नहीं बढ़ती है ? अर्थात् सबके यही इच्छा होती है कि मैं ही इस पदार्थ को ले लूँ अथवा मेरी वस्तु ही दूसरे की वस्तु से उत्तम है।

सरलार्थ - गुणमाला और सुरमञ्जरी नाम की दो सखियों में अपने द्वारा बनाए गए चूर्ण की महत्ता पर ईर्ष्या उत्पन्न हो गई; क्योंकि अनेक वस्तुओं में 'मेरी वस्तु ही सर्वोत्तम है' - ऐसी भावना वस्तु बनानेवाले प्रत्येक मनुष्य की होती है।

विशेषार्थ - दोनों सखियों में यह विवाद पराकाष्ठा पर पहुँच गया कि मेरा चूर्ण ही सर्वोत्तम है। अन्दर कषाय परिणाम हो तो अज्ञानी जीव अपने कषाय की अभिव्यक्ति या पुष्टि के लिए कुछ भी निमित्त बना लेता है। अतः दोनों सखियों ने चूर्ण की श्रेष्ठता को अपनी मान कषाय का निमित्त बना लिया और दुःखी होने लगीं।

दोनों सखियों में हठपूर्वक हार-जीत की शर्त -

मा भूत्पराजिता स्नाता नादेये वारिणीति वै ।

सङ्गिराते स्म ते सख्यौ मात्सर्यात्किं न नश्यति ॥१७॥

अन्वयार्थ - (ते सख्यौ) उन दोनों सखियों ने (पराजिता) हारी हुई (नादेये वारिणि स्नाता मा भूत्) नदी के जल में स्नान नहीं करे (इति वै सङ्गिराते स्म) ऐसी प्रतिज्ञा की।

[अत्र नीतिः] (मात्सर्यात् किं न नश्यति) मात्सर्य/ईर्ष्या भाव से क्या नाश नहीं होता है ? अर्थात् सभी कार्य नष्ट हो जाते हैं।

सरलार्थ – कषाय से अभिभूत होकर दोनों सखियों ने हठपूर्वक यह शर्त रखी कि जो हार जाएगी, वह इस नदी में स्नान नहीं करेगी; क्योंकि ईर्ष्याभाव से जीवों के सन्तोषादि सभी गुणों का नाश हो जाता है।

विशेषार्थ – गुणमाला और सुरमञ्जरी ने चूर्ण की श्रेष्ठता का निर्णय कराने का निश्चय किया। अब वे अपने-अपने चूर्ण की परीक्षा कराएँगी। जिसका चूर्ण श्रेष्ठ नहीं है – ऐसा निर्णय होगा, वह हारी हुई मानी जाएगी तथा नदी में स्नान भी नहीं करेगी। ऐसी दोनों ने हठपूर्वक प्रतिज्ञा कर ली।

चूर्ण को परीक्षा के लिए भेजा जाना –

कन्ये प्राहिणुतां पश्चाच्चेट्यौ स्वे निकटे सताम् ।

कुत्सितं कर्म किं किं वा मत्सरिभ्यो न रोचते ॥१८॥

अन्वयार्थ – (पश्चात् कन्ये) फिर दोनों कन्याओं ने (स्वेचेट्यौ) अपनी-अपनी दासियों को (सतां निकटे) चूर्ण की परीक्षा करनेवाले सज्जन पुरुषों के समीप (प्राहिणुतां) भेजा।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (मत्सरिभ्यः) मत्सर करनेवाले जीव को (किं किं कुत्सितं कर्म) कौन-कौन से खोटे कार्य (न रोचते) नहीं रुचते हैं ? अर्थात् सभी खोटे कार्य रुचते हैं।

सरलार्थ – तदनन्तर दोनों सखियों ने अपनी-अपनी दासियों द्वारा परीक्षक विद्वानों के पास चूर्ण परीक्षार्थ भेजा; क्योंकि ईर्ष्या करनेवालों को सभी प्रकार के खोटे कार्य अच्छे लगते हैं।

चूर्ण का परीक्षार्थ आना –

अस्थिषातामथागत्य चेट्यौ जीवककोविदे ।

अनवद्या सती विद्या लोके किं न प्रकाशते ॥१९॥

अन्वयार्थ – (अथ) तदनन्तर (चेट्यौ) वे दोनों दासियाँ (जीवककोविदे)

बुद्धिमान जीवन्धरकुमार के समीप (आगत्य) आकर (अस्थिषातां) ठहर गई।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (लोके) संसार में (सती अनवद्या विद्या) समीचीन/निर्दोष विद्या (किं न प्रकाशते) किस बात को प्रकाशित नहीं करती है ? अर्थात् उत्तम विद्या से सभी बातों का सही निर्णय हो जाता है।

सरलार्थ – अन्त में दोनों सखियों की दासियाँ विद्वान जीवन्धरकुमार के पास अपने-अपने चूर्ण की परीक्षा कराने आईं; क्योंकि उत्तम और पूर्ण विद्या जगत के सभी पदार्थों को जानती है।

विशेषार्थ – जीवन्धरकुमार सभी निर्दोष विद्याओं के धनी हैं, अतः चूर्ण की परीक्षा के लिए दासियों का उनके पास आना स्वाभाविक ही है; क्योंकि निर्दोष और पूर्ण विद्या से ही पदार्थों का यथार्थ निर्णय होता है, जो जीवन्धरकुमार के पास है।

इसीलिए दोनों दासियाँ अनेक विद्वानों से परीक्षण कराते हुए जीवन्धरकुमार के पास उपस्थित हुईं और उनसे चूर्ण की परीक्षा का निवेदन करने लगीं।

जीवन्धरकुमार द्वारा गुणवान चूर्ण का निर्णय –

गुणवद्गुणमालायाश्चूर्णं निर्वर्ण्य सोऽभ्यधात् ।

पाण्डित्यं हि पदार्थानां गुणदोषविनिश्चयः ॥२०॥

अन्वयार्थ – (सः) उन जीवन्धरकुमार ने (गुणमालायाः चूर्णं) गुणमाला के चूर्ण की (निर्वर्ण्य) परीक्षा कर (गुणवत्) उसे गुणवान (अभ्यधात्) बताया।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (पदार्थानां गुणदोषविनिश्चयः) पदार्थों के गुण और दोष का निश्चय करना ही (पाण्डित्यं) पाण्डित्य है।

सरलार्थ – जीवन्धरकुमार ने दोनों के चूर्णों का सूक्ष्मता से परीक्षण किया और उपयोगिता की दृष्टि से गुणमाला के चूर्ण को उत्तम बताया। वास्तव में पदार्थों के गुण और दोषों का निर्णय करना ही पाण्डित्य/विद्वत्ता है।



विशेषार्थ – वस्तुओं के वस्तुगत गुण-दोषों के आधार पर निष्पक्ष और यथार्थ निर्णय करना ही पाण्डित्य है। जीवन्धरकुमार अनेक विद्याओं में निपुण तो थे ही; अतः उन्होंने गुणमाला के चूर्ण को ही कालोचित, सगुण और उत्तम बताया।

सुरमञ्जरी की दासी का क्रोध –

चेटी तु सुरमञ्जर्यास्तत् श्रुत्वा रोषणाऽब्रवीत् ।

अन्यैरप्युक्तमुक्तं तैः किमध्यैष्ट भवानिति ॥२१॥

अन्वयार्थ – (तु) किन्तु (सुरमञ्जर्याः चेटी) सुरमञ्जरी की दासी ने (तत् श्रुत्वा) वह बात सुनकर (रोषणा सती) क्रोधित होते हुए (अन्यैः उक्तं अपि) दूसरों से कहा हुआ ही आपने (उक्तं) कहा (किं) क्या (तैः सार्धं) उनके साथ (भवान् अध्यैष्ट) आपने पढ़ा है ? (इति) इसप्रकार (अब्रवीत्) बोली।

सरलार्थ – गुणमाला के चूर्ण की श्रेष्ठता सुनकर सुरमञ्जरी की दासी क्रोधित होकर जीवन्धरकुमार से कहने लगी – दूसरे विद्वानों का कहा हुआ निर्णय ही आपने बताया है, क्या आप सब एक ही गुरु के चेले हैं?

विशेषार्थ – पक्षपाती जीव को यथार्थ निर्णय नहीं रुचता है; क्योंकि

पक्षपात के कारण जीव अन्धा हो जाता है। यहाँ सुरमञ्जरी की दासी को जीवन्धरकुमार का निर्णय पक्षपातपूर्ण लगा; अतः उसे क्रोध आना स्वाभाविक ही है।

गुणमाला के चूर्ण की श्रेष्ठता सिद्ध होना -

चूर्णयोरलिभिः स्वामी गुणदोषावसाधयत्।

निर्विवादविधिर्नो चेन्नैपुण्यं नाम किं भवेत् ॥२२॥

अन्वयार्थ - फिर (स्वामी) जीवन्धरकुमार ने (चूर्णयोः गुणदोषौ) गुणमाला और सुरमञ्जरी के चूर्णों के गुण और दोषों का निर्णय (अलिभिः) भ्रमरों के द्वारा (असाधयत्) सिद्ध किया।

[अत्र नीतिः] (चेत्) यदि (निर्विवादविधिः न स्यात्) विवादरहित युक्ति न हो (तर्हि) तो फिर (नैपुण्यं नाम किं भवेत्) चतुराई ही क्या कहलायी ?

सरलार्थ - जीवन्धरकुमार ने गुणमाला और सुरमञ्जरी के चूर्णों के गुण-दोषों का निर्णय भ्रमरों द्वारा सिद्ध किया। विवादग्रस्त वस्तु को निर्विवाद युक्ति द्वारा सिद्ध कर देना ही निपुणता है।

विशेषार्थ - जीवन्धरकुमार ने उन दोनों चूर्णों को आकाश में उड़ाया। जब गुणमाला के 'चन्द्रोदय' नामक चूर्ण को आकाश में उड़ाया तो सुगन्ध के लोभी भ्रमर चूर्ण की गन्ध से वहाँ आ गए। इसप्रकार सुरमञ्जरी की दासी के समक्ष ही गुणमाला के चूर्ण की श्रेष्ठता को प्रत्यक्ष प्रमाणित कर दिया।

सुरमञ्जरी का चूर्ण सदोष -

आकालिकतया दुष्टं चूर्णमन्यदवर्णयत्।

न हाकालकृतं कर्म कार्यनिष्पादनक्षमम् ॥२३॥

अन्वयार्थ - जीवन्धरकुमार ने (अन्यत् चूर्णं) सुरमञ्जरी के चूर्ण को (आकालिकतया) असमय में बनाए जाने से (दुष्टं) दूषित (अवर्णयत्)

बताया अर्थात् सुरमञ्जरी का चूर्ण वसन्त ऋतु के लिए प्रतिकूल था; इसलिए उसमें सुगन्ध न होने से उस पर कोई भौरा नहीं आया।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (अकालकृतं कर्म) असमय में किया हुआ उद्यम (कार्यनिष्पादनक्षमं न भवति) कार्य का निष्पादन करने में समर्थ नहीं होता।

सरलार्थ – जीवन्धरकुमार ने सुरमञ्जरी के चूर्ण को समयानुकूल न होने से दूषित कहा। समयानुकूल किया गया परिश्रम ही कार्यकारी होता है, असमय में किया गया बहुत परिश्रम भी व्यर्थ सिद्ध होता है।

विशेषार्थ – सुरमञ्जरी का चूर्ण वसन्त ऋतु के अनुकूल न होने से भ्रमरों को आकर्षित न कर सका। अतः सुरमञ्जरी का चूर्ण स्वयं ही निर्गुण सिद्ध हो गया। भ्रमरों के सम्बन्ध में पक्षव्यामोह का प्रश्न ही नहीं उठाया जा सकता।

जीवन्धरकुमार के निर्णय की सर्वत्र प्रशंसा –

कुमारादथ कुट्टन्यौ नुत्वा नत्वा च निर्गते।

निर्विवादं वितन्वानाः न स्तुत्याः केन भूतले ॥२४॥

अन्वयार्थ – (अथ) इसके अनन्तर (कुट्टन्यौ) वे दोनों दासियाँ जीवन्धरकुमार की (नुत्वा नत्वा च) प्रशंसा और नमस्कार करके (कुमारात्) जीवन्धरकुमार के पास से (निर्गते) चली गईं।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (भूतले) पृथ्वीतल पर (निर्विवादं वितन्वानाः) विवादरहित कार्य का निर्णय करनेवाले पुरुष (केन न स्तुत्याः) किस पुरुष से स्तुति करने योग्य नहीं हैं ? अर्थात् सब के द्वारा स्तुत्य होते हैं।

सरलार्थ – चूर्ण की श्रेष्ठता प्रमाणित होने पर जीवन्धरकुमार का आभार मानते हुए दासियों ने उन्हें आदरपूर्वक नमस्कार किया, उनकी प्रशंसा की और अपने-अपने स्थान को चली गईं; क्योंकि निर्विवाद निर्णय करनेवाले महापुरुषों की दुनिया में सभी लोग प्रशंसा करते ही हैं।

विशेषार्थ – लोकव्यवहार में मनुष्य परस्पर एक-दूसरे के कार्यों से जुड़े

रहते हैं। यदि कोई निष्पक्ष और निर्विवाद कार्य करनेवाला मिलता है, तो वह सर्वत्र प्रशंसा का पात्र होता है। चूर्ण की निष्पक्ष और निर्विवाद परीक्षा करने के कारण जीवन्धरकुमार की सर्वत्र प्रशंसा हुई और उनकी योग्यता की सराहना की गई। जगत में सर्वत्र ज्ञान की महिमा होती ही है।

सुरमञ्जरी का उदास होना -

तच्चासीत्सुरमञ्जर्याः विरागस्यैव कारणम् ।

न ह्यत्र रोचते न्यायमीर्ष्यादूषितचेतसे ॥२५॥

अन्वयार्थ - (तत् च) और यह निर्णय (सुरमञ्जर्याः) सुरमञ्जरी के (विरागस्य एव) वैराग्य का ही (कारणं आसीत्) कारण हुआ।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (अत्र) संसार में (ईर्ष्यादूषितचेतसे) ईर्ष्या से दूषित चित्तवाले मनुष्य के लिए (न्यायं) न्याय की बात (न रोचते) रुचिकर नहीं होती है।

सरलार्थ - चूर्ण की श्रेष्ठता का यथार्थ निर्णय सुरमञ्जरी की उदासीनता का कारण बना; क्योंकि ईर्ष्यावश मलिन चित्तवाले मनुष्य को सच्ची बात भी अच्छी नहीं लगती है।

विशेषार्थ - यद्यपि सुरमञ्जरी जानती थी कि जीवन्धरकुमार ने चूर्णों का परीक्षण कर यथार्थ निर्णय दिया है, जो पक्षपातरहित और निर्दोष है एवं भ्रमरों द्वारा कराए गए परीक्षण से प्रमाणित है। इसमें विवाद करने के लिए किसी को कोई अवकाश ही नहीं है; फिर भी उसे ईर्ष्या और पराजय के कारण उदासीनता थी।

ज्ञान सब जान रहा है; किन्तु कषाय अपना काम कर रही है। कषाय के कारण ही सुरमञ्जरी को उदासीनता हुई है। जब ज्ञान गौण हो जाता है और कषाय मुख्य हो जाती है, तब जीव की दुर्दशा ही होती है।

सुरमञ्जरी का वापिस लौटना -

प्रार्थिताप्यकृतस्नाना सत्वरं सुरमञ्जरी ।

न्यवर्तिष्ठ महारोषादीर्ष्या हि स्त्रीसमुद्भवा ॥२६॥

अन्वयार्थ – (प्रार्थिता अपि सुरमञ्जरी) स्नान के लिए प्रार्थित होने पर भी सुरमञ्जरी (अकृतस्नाना) स्नान किए बिना ही (महारोषात्) अत्यन्त क्रोध से (सत्वरं) शीघ्र ही (न्यवर्तिष्ट) लौट गई।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (ईर्ष्या) ईर्ष्या (स्त्रीसमुद्भवा) स्त्रियों से ही उत्पन्न हुई होगी; क्योंकि सबसे अधिक ईर्ष्याभाव स्त्रियों में ही रहता है।

सरलार्थ – इसके पश्चात् गुणमाला ने सुरमञ्जरी को विषाद न करने और नदी में स्नान करने के लिए पुनः पुनः मनाया; किन्तु वह अति क्रोध के कारण नदी में स्नान किए बिना ही अपने घर को वापिस चली गई। कारण कि ईर्ष्या भाव स्त्रियों का सहज स्वभाव है।

विशेषार्थ – चूर्ण की परीक्षा कराने के पूर्व दोनों सखियों ने यह प्रतिज्ञा की थी कि जिसका चूर्ण परीक्षा में श्रेष्ठ नहीं होगा, वह पराजित मानी जाएगी तथा वह नदी में स्नान भी नहीं करेगी। इस परीक्षा में सुरमञ्जरी पराजित हो गई, अतः वह प्रतिज्ञा के अनुसार नदी में स्नान किए बिना ही घर वापिस जाने लगी। गुणमाला ने उसे नदी में स्नान करने के लिए बहुत मनाया, पर सुरमञ्जरी ने गुणमाला की बात मानी ही नहीं। स्त्री-हठ जगत प्रसिद्ध है।

पराजित सुरमञ्जरी की प्रतिज्ञा –

जीवकादपरान्नेक्षे पुरुषानिति संविदा।

कन्या-गृहमथ प्रापन्न हि भेदां मनः स्त्रियाः ॥२७॥

अन्वयार्थ – (अथ) इसके अनन्तर (अहं जीवकात् अपरान् पुरुषान्) जीवन्धरकुमार के सिवाय दूसरे पुरुष को मैं (न ईक्षे) नहीं देखूँगी (इति सम्विदा) ऐसी प्रतिज्ञा करके (कन्या) वह सुरमञ्जरी (गृहं प्रापत्) अपने घर को वापिस चली गई।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (स्त्रियाः मनः) स्त्री का मन (न भेदां) किसी से भेदा नहीं जा सकता अर्थात् स्त्री का हठ प्रसिद्ध है। उसका हठ किसी से टाला नहीं जा सकता।

सरलार्थ – स्त्री के मन में क्या है और वह कब क्या हठ कर बैठेगी – यह जानना शक्य नहीं है। ‘मैं जीवन्धरकुमार के अतिरिक्त अन्य किसी पुरुष को पतिरूप में देखूँगी ही नहीं’ – ऐसा प्रतिज्ञापूर्वक कहकर सुरमञ्जरी अपने घर चली गई।

विशेषार्थ – जीवन्धरकुमार द्वारा चूर्ण परीक्षण के पश्चात् उनके निर्णय से सुरमञ्जरी का कुपित होना तो स्वाभाविक ही था; क्योंकि सार्वजनिकरूप से हुई पराजय सहन करना बहुत कठिन है।

‘अब मैं कभी जीवन्धरकुमार को देखूँगी ही नहीं’ – ऐसा निर्णय करना तो उचित प्रतीत होता है; किन्तु उसका प्रतिज्ञापूर्वक यह निर्णय कि ‘मैं जीवन्धरकुमार के अतिरिक्त अन्य किसी पुरुष को पति के रूप में देखूँगी ही नहीं’ आश्चर्यजनक लगता है। उसके इस निर्णय से पता चलता है कि स्त्री के मन में क्या है और वह क्या चाहती है ? – यह जानना बहुत कठिन है।

गुणमाला का भी अत्यन्त दुःखी होना –

सख्यां तथैव यातायां गुणमाला शुशोच ताम् ।

न ह्यनिष्टेष्टसंयोगवियोगाभमरन्तुदम् ॥२८॥

अन्वयार्थ – (सख्यां तथैव यातायां) सखी के वैसे ही चले जाने पर (गुणमाला) गुणमाला ने (तां शुशोच) उसके लिए बहुत शोक किया।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (अनिष्ट-इष्टसंयोगवियोगाभं) अनिष्ट-दुःखदायी वस्तु के संयोग और इष्ट वस्तु के वियोग के समान (अरन्तुदं न) कोई पीड़ा देनेवाला नहीं है।

सरलार्थ – अपनी प्रिय सखी सुरमञ्जरी के कुपित होकर नदी में स्नान किए बिना ही घर वापिस चले जाने के कारण गुणमाला को बहुत दुख हुआ; क्योंकि अपने इष्ट का वियोग और अनिष्ट का संयोग अत्यन्त दुःखदायी होता है।

विशेषार्थ – गुणमाला और सुरमञ्जरी बचपन से ही सखियाँ थीं, परस्पर प्रेम भी कम नहीं था; किन्तु घटना विशेष से सुरमञ्जरी का कुपित होना तथा उसका वियोग होना गुणमाला को अत्यन्त दुःखदायी लगा।

रागी जीव अपनी कल्पना से किन्हीं पदार्थों के संयोगों को इष्ट और किन्हीं को अनिष्ट मानते हैं; किन्तु वस्तुस्वरूप के समीप जाकर देखने से पता लगता है कि विश्व में सर्वज्ञ कथित छह द्रव्य हैं। उनके चेतन-अचेतन, रूपी-अरूपी, बहुप्रदेशी-एकप्रदेशी, क्रियावान-अक्रियावान, शुद्ध-अशुद्ध – ऐसे भेद तो किए हैं, पर ज्ञानियों ने इष्ट-अनिष्ट – ऐसा कोई भेद नहीं किया।

अज्ञानी अज्ञान से अन्यथा मानता है और दुःखी होता है। वस्तुस्वरूप का यथार्थ निर्णय करने पर इष्टानिष्ट की कल्पना नष्ट हो जाती है और सच्चे सुख का मार्ग सहज ही मिल जाता है। सर्वज्ञ भगवान का यही यथार्थ उपदेश है।

मदोन्मत्त हाथी का उपद्रव –

गन्धसिन्धुरतो भीतिरासीदथ पुरौकसाम्।
विपदोऽपि हि तद्भीतिर्मूढानां हन्त बाधिका ॥२६॥

अन्वयार्थ – (अथ) इसके अनन्तर (पुरौकसां) राजपुरी नगरी में रहनेवाले मनुष्यों को (गन्धसिन्धुरतः) गन्धहस्ती से (भीतिः आसीत्) भय हुआ अर्थात् काष्ठांगार का एक हाथी अपने स्थान से छूटकर मदोन्मत्तता से मनुष्यों को मारता हुआ उसी वसन्तक्रीड़ा के स्थान पर आया।

[अत्र नीतिः] (हन्त) खेद है ! (हि) निश्चय से (विपदः अपि) विपत्ति से भी (तद् भीतिः) विपत्ति का भय (मूढानां बाधिका) मूर्ख पुरुषों को अत्यन्त बाधा करनेवाला होता है।

सरलार्थ – तदनन्तर काष्ठांगार का एक मदोन्मत्त हाथी उपद्रव मचाता हुआ नदी के किनारे आया। उसे देखकर सभी नगरवासियों को भय उत्पन्न हुआ। यह खेद की बात है कि मूर्ख मनुष्यों को विपत्ति से भी अधिक विपत्ति का भय दुःखदायक होता है।

विशेषार्थ – काष्ठांगार का वह मदोन्मत्त गन्धहस्ती उपद्रव मचाता हुआ एवं मकान, वृक्ष आदि को तोड़ता हुआ नदी किनारे आया। इससे सभी

नगरवासी भयभीत होकर, सब कुछ भूलकर अपने प्राण बचाने के लिए इधर-उधर भागने लगे; क्योंकि संकट के समय सामान्य मनुष्यों का विवेक नष्ट हो जाता है।

परिजनों का भाग जाना -

परिजनस्तु तं पश्यन्गुणमालामथात्यजत् ।

न हि सन्तीह जन्तूनामपाये सति बान्धवाः ॥३०॥

अन्वयार्थ - (अथ) इसके अनन्तर (तं पश्यन्) हाथी को देखते हुए (परिजनः) गुणमाला के सम्बन्धी पुरुषों ने (गुणमालां अत्यजत्) उस गुणमाला को अकेला छोड़ दिया।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (इह) इस संसार में (अपाये सति) विपत्ति आ पड़ने पर (जन्तूनां) मनुष्यों के (बान्धवाः न सन्ति) बन्धु नहीं रहते हैं अर्थात् विपत्तिकाल में सब छोड़कर भाग जाते हैं।

सरलार्थ - मदोन्मत्त हाथी को अपनी ओर आता हुआ देखकर ही गुणमाला के रक्षक/नौकर-चाकर और सम्बन्धी उसे वहीं अकेला छोड़कर भाग गए; क्योंकि इस जगत में जीवों पर आपत्ति आ जाने पर कोई भी सहायक नहीं होता है।

विशेषार्थ - इस स्वार्थी जगत में सब लोग सुख में साथी बनते हैं, दुःख में कोई साथी नहीं बनता। - इस कहावत को चरितार्थ करते हुए हाथी से भयभीत गुणमाला के रक्षक, नौकर और सगे-सम्बन्धी उसे वहीं पर अकेला छोड़कर अपनी-अपनी जान बचाने के उद्देश्य से नौ दो ग्यारह हो गए।

आपत्ति के समय यदि कोई सहायक है, तो वह है मात्र अपना पूर्वबद्ध पुण्यकर्म का उदय। पुण्योदय के समय मैं पहले इसकी सेवा करूँ, मैं पहले इसकी सेवा करूँ, कहते हुए उसकी सहायता के लिए तैयार होते हैं। अतः आपत्ति के समय किसी व्यक्ति से मदद की अपेक्षा रखना उचित नहीं है। वास्तव में आपत्ति के समय तत्त्वज्ञान का विचार करना ही उचित है, वही शान्ति और समाधान देनेवाला है, वही सच्चा सहायक है।

धाय की सच्ची स्वामी-भक्ति -

कृत्वा तां पृष्ठतो धात्री काचिदस्थाद्वयावहम् ।

हतायां मय्यतः पूर्वं कन्येयं हन्यतामिति ॥३१॥

अन्वयार्थ - (काचित् धात्री) कोई धाय (अतः पूर्वं मयि हतायां) [सत्यां] इससे पहले मेरे हत हो जाने पर (इयं कन्या हन्यतां) पश्चात् इस कन्या को मारना (इति उक्त्वा) यह कहकर और (तां पृष्ठतः कृत्वा) गुणमाला को पीछे कर (दयावहं अस्थात्) दयाभाव से खड़ी हो गई।

सरलार्थ - एक स्वामी भक्त धाय ने गुणमाला की रक्षा के लिए अनुपम धैर्य और साहस का परिचय दिया। वह यह कहती हुई कि हाथी सब से पहले मुझे मारेगा, फिर इस कन्या गुणमाला को। गुणमाला को अपने पीछे छिपाकर बड़े धैर्य और साहस के साथ खड़ी हो गई।

मित्र का सच्चा स्वरूप -

समदुःखसुखा एव बन्धवो ह्यत्र बान्धवाः ।

दूता एव कृतान्तस्य द्वन्द्वकाले पराङ्मुखाः ॥३२॥

अन्वयार्थ - [अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (अत्र) इस संसार में (समदुःखसुखाः बन्धवः एव) समान हैं दुःख और सुख जिनके ऐसे बन्धु ही (बान्धवाः) मित्र (सन्ति) कहलाते हैं और जो (द्वन्द्वकाले पराङ्मुखाः) विपत्तिकाल में साथ छोड़कर दूर भाग जाते हैं वे (कृतान्तस्य) यम के (दूताः एव) दूत ही हैं।

सरलार्थ - सुख में सुखी और दुःख में दुःखी होनेवाले साधर्मी ही सच्चे मित्र और बन्धु हैं। आपत्ति आ जाने पर साथ छोड़कर भाग जानेवाले लोग तो मानो साक्षात् यम के ही दूत हैं।

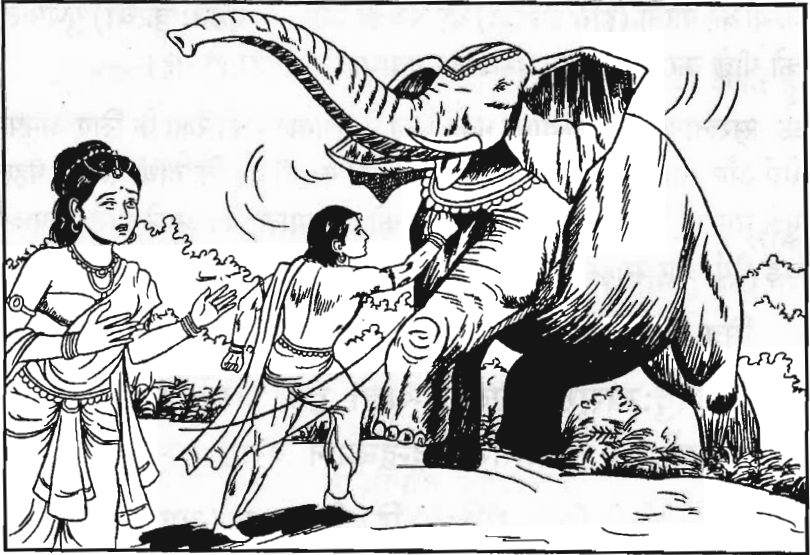
विशेषार्थ - मदोन्मत्त हाथी द्वारा मारे जाने के भय से जो लोग आपत्ति के काल में गुणमाला को अकेला छोड़कर भाग गए वे यम के दूत के समान ही हैं। जिस धाय ने अपने प्राणों की परवाह न करते हुए गुणमाला की रक्षा

की; वह वास्तव में सच्ची धाय, साधर्मी, मित्र, बन्धु जो कुछ भी कहो, वह सिद्ध होती है। ऐसे प्रसंगों पर ही शत्रु और मित्र की सच्ची पहिचान होती है।

जीवन्धरकुमार द्वारा गुणमाला की रक्षा -

स्वामी परिणतं वीक्ष्य करिणं तं न्यवारयत् ।

स्वापदं न हि पश्यन्ति सन्तः पारार्थ्यतत्पराः ॥३३॥



अन्वयार्थ - (स्वामी) जीवन्धरकुमार ने (परिणतं) दाँतों से प्रहार करते हुए (तं करिणं) उस हाथी को (वीक्ष्य) देखकर (न्यवारयत्) हटा दिया।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (पारार्थ्यतत्पराः) दूसरे मनुष्यों के उपकार करने में तत्पर (सन्तः) सज्जन पुरुष (स्वापदं न पश्यन्ति) अपनी आपत्ति को नहीं देखते हैं।

सरलार्थ - 'परोपकार में तत्पर सज्जन पुरुष परोपकार करते समय अपनी आपत्ति का विचार नहीं करते।' अतएव अपने दाँतों से तिरछा प्रहार करनेवाले उस हाथी को जीवन्धरकुमार ने अपने साहस और सामर्थ्य से दूर भगाकर गुणमाला के प्राणों की रक्षा की।

संसार में सज्जनता शाश्वत -

यत्र क्वापि हि सन्त्येव सन्तः सार्वगुणोदयाः।

क्वचित्किमपि सौजन्यं नो चेल्लोकः कुतो भवेत् ॥३४॥

अन्वयार्थ - [अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (सार्वगुणोदयाः) सबके हित के लिए ही है गुणों की उत्पत्ति जिनमें ऐसे (सन्तः) सज्जन पुरुष (यत्र क्व अपि) कहीं-कहीं पर (सन्ति एव) विद्यमान ही हैं। (चेत्) यदि (क्वचित्) कहीं पर (किं अपि) कुछ भी (सौजन्यं) सज्जनता (न स्यात्) न हो (तर्हि) तो फिर (लोकः कुतः भवेत्) संसार ही कैसे चले !

सरलार्थ - संसार में सभी हितकारी गुणों से युक्त सज्जन पुरुष कहीं न कहीं अवश्य होते ही हैं; क्योंकि जगत में कहीं पर कुछ भी सज्जनता न हो, ऐसा होता ही नहीं है। यदि संसार में कहीं सज्जनता न रहेगी तो सज्जनों की सत्ता भी नहीं रहेगी।

विशेषार्थ - जगत में सज्जन और सज्जनता न रहे - ऐसा कभी हो ही नहीं सकता। संसार ही उसका नाम है, जिसमें सज्जन और दुर्जन सभी प्रकार के लोग रहते हैं। सज्जन पुरुषों की संख्या कम और दुर्जनों की संख्या अधिक होना तो सम्भव है, किन्तु सज्जन नाम मात्र को भी न रहें - यह कभी सम्भव नहीं। ऐसा ही अनादि से संसार का स्वरूप चला आ रहा है।

सुख की अवस्था में सभी सहायक -

परिवारोऽप्यथायासीदहंपूर्विकया स्वयम्।

स्वास्थ्ये ह्यदृष्टपूर्वाश्च कल्पयन्त्येव बन्धुताम् ॥३५॥

अन्वयार्थ - (अथ) इसके अनन्तर (परिवारः अपि) परिवार के मनुष्य भी (स्वयं) अपने आप ही (अहंपूर्विकया) मैं पहले आया, मैं पहले आया (इति) - ऐसा कहते हुए (अयासीत्) आए।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (स्वास्थ्ये) सुख में (अदृष्टपूर्वाः च) पूर्व में नहीं देखे हुए पुरुष भी (बन्धुतां कल्पयन्ति) बन्धु बन जाते हैं।

सरलार्थ – हाथी से उत्पन्न आपत्ति का परिहार होते ही गुणमाला के कुटुम्बी जन गुणमाला के पास आकर कहने लगे कि 'मैं पहले आया हूँ, मैं पहले आया हूँ।' पहले न देखे हुए अपरिचित मनुष्य भी सुख के समय में मित्रता और रिश्तेदारी जताने लगते हैं।

विशेषार्थ – स्वार्थीजनों की अनादि की यह स्वाभाविक प्रवृत्ति रही है कि धन, जन और सुख से परिपूर्ण होने की दशा में जिनके कभी दर्शन ही नहीं हुए हों, वे भी स्वयं आकर अपनी मैत्री और निकट सम्बन्धी होने का प्रदर्शन करने लगते हैं।

इसके विपरीत पूर्वोक्त अनुकूलता न होने पर मित्र और सगे सम्बन्धी भी परायों जैसा व्यवहार करने लगते हैं। उसीप्रकार हाथी की आपत्ति आने पर रक्षक और परिवार जन गुणमाला को अकेला छोड़कर भाग गए थे और आपत्ति दूर होते ही सहानुभूति प्रगट करने के लिए पास आने लगे।

परस्पर परिचय से ही प्रेम की उत्पत्ति –

अन्योऽन्यदर्शनादासीत्कामः कन्याकुमारयोः ।

दुःखस्यानन्तरं सौख्यं ततो दुःखं हि देहिनाम् ॥३६॥

अन्वयार्थ – (अन्योऽन्यदर्शनात्) एक-दूसरे को परस्पर देखने से (कन्याकुमारयोः) कन्या गुणमाला और जीवन्धरकुमार में (कामः आसीत्) प्रीति उत्पन्न हुई।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (देहिनां) मनुष्यों के (दुःखस्यानन्तरं सौख्यं) दुःख के पश्चात् सुख और (ततो दुःखं) सुख के पश्चात् दुःख [भवति] होता है।

सरलार्थ – जीवन्धरकुमार द्वारा गुणमाला की हाथी से रक्षा किए जाने पर दोनों ने एक-दूसरे को परस्पर निकट से देखा, परिचय हुआ और प्रेम उत्पन्न हो गया। परिणामस्वरूप काम विकार भी उत्पन्न हो गया, यह स्वाभाविक

परिस्थिति है। प्राणियों को दुःख के बाद सुख और सुख के बाद दुःख होता ही रहता है।

विशेषार्थ – संसारी जीवों में सुख-दुःख का चक्र सदा चलता ही रहता है। पर्याय का स्वभाव तो पलटना है। कोई भी एक पर्याय अखण्ड रहे – यह तो सम्भव नहीं है।

गुणमाला को पहले हाथी के निमित्त से दुःख हुआ और फिर हाथी की आपत्ति का परिहार होते ही सुख हुआ। अब फिर काम विकार उत्पन्न होने से पुनः दुःख उत्पन्न हो गया। संसार में सुख-दुःख का यही स्वरूप है।

गुणमाला काम-व्यथा से दुःखी –

अशान्तस्वान्तसन्तापा निशान्तं प्राप सा पुनः ।

नो चेद्विवेकनीरौघो रागाग्निः केन शाम्यति ॥३७॥

अन्वयार्थ – (पुनः) फिर (अशान्तस्वान्तसन्तापा) नहीं शान्त हुआ है हृदय का सन्ताप जिसका अर्थात् काम पीड़ा से सन्तप्त (सा) वह कन्या (निशान्तं प्राप) घर को चली गई।

[**अत्र नीतिः**] (चेत्) यदि (विवेकनीरौघः न स्यात्) विवेकरूपी जल का प्रवाह नहीं हो तो फिर (रागाग्निः) रागरूपी अग्नि (केन शाम्यति) किससे शान्त हो सकती है ?

सरलार्थ – काम पीड़ा से सन्तप्त कुमारी गुणमाला दुःखी अवस्था में ही अपने घर पहुँच गई; क्योंकि विवेकरूपी जल-प्रवाह बिना रागरूपी अग्नि किसी अन्य साधन से शान्त हो ही नहीं सकती।

विशेषार्थ – विवेक का दूसरा नाम भेद-विज्ञान है। भेद-विज्ञान ही मुक्ति का सच्चा साधन है। 'मैं ज्ञानानन्दस्वभावी भगवान आत्मा अन्य शरीरादि द्रव्यों से सर्वथा भिन्न ही हूँ। काम-क्रोधादि विकारी पर्यायों से मैं सदा भिन्न ही हूँ। मैं तो मात्र जाननस्वभावी भगवान आत्मा हूँ।' – ऐसा यथार्थ ज्ञान-श्रद्धान करने से स्वयमेव विकारों का अभाव अथवा मन्दता नियम से-

होती ही है; ऐसा ही वस्तु का स्वरूप है। विवेक के बल से ही कामादि विकारों पर सहजता से विजय पाई जा सकती है। गुणमाला विवेकरूपी जल-प्रवाह के अभाव में काम-व्यथा से दुखी होती हुई अपने घर पहुँची।

दुःखी गुणमाला का अविवेकीपना -

क्रीडाशुकं च प्राहैषीत्सविधे स्वामिनः पुनः।

योग्यायोग्यविचारोऽयं रागान्धानां कुतो भवेत् ॥३८॥

अन्वयार्थ - [पुनश्च सा] और फिर उसने (स्वामिनः सविधे) जीवन्धरकुमार के समीप (क्रीडाशुकं प्राहैषीत्) पाले हुए तोते को भेजा।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (रागान्धानां) राग से अन्धे मनुष्यों को (अयं योग्यायोग्यविचारः) योग्य-अयोग्य का विचार (कुतः भवेत्) कहाँ से हो सकता है ?

सरलार्थ - कामान्ध, क्रोधान्ध, रागान्ध और धनान्ध - ये सभी जीव अन्ध अर्थात् अज्ञानी/अविवेकी हैं; अतः ये अनुचित कार्य करने को भी तत्पर हो जाते हैं। गुणमाला भी कामान्ध हो गई थी; अतः उसने निर्लज्ज होकर पालित तोते के द्वारा स्वयं ही जीवन्धरकुमार के पास सन्देश भेजा।

तोते के प्रयास का वर्णन -

चाटुं प्रायुङ्क्त कीरोऽपि तं पश्यन्स्वेष्टसिद्धये।

एतादृशेन लिङ्गेन परलोको हि साध्यते ॥३९॥

अन्वयार्थ - (कीरः अपि) तोता भी (तं पश्यन्) जीवन्धरकुमार को देखकर (स्वेष्टसिद्धये) अपने कार्य की सिद्धि के लिए (चाटुं) खुशामद (प्रायुङ्क्त) करने लगा।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (एतादृशेन लिङ्गेन) ऐसी प्रशंसात्मक बातों से ही (परलोकः साध्यते) दूसरे मनुष्य वश में किए जाते हैं।

सरलार्थ - तोता जीवन्धरकुमार के पास पहुँच कर अपने कार्य की सिद्धि

के लिए उनसे खुशामदी/चापलूसी से भरी हुई बातें करने लगा; क्योंकि खुशामद भरी बातों से ही दूसरों को अपने वश में किया जा सकता है।

विशेषार्थ – मनुष्यव्यवहार में वाणी का महत्त्वपूर्ण स्थान है। उसके माध्यम से ही समस्त व्यवहार चलता है। यदि मनुष्य की वाणी मधुर और विनम्रता से पूर्ण हो तो सामनेवाले मनुष्य को आकर्षित किए बिना नहीं रहती। निश्चितरूप से मनुष्य पर वाणी का प्रभाव पड़ता है; अतएव मीठी-मीठी बातें करनेवाला मनुष्य दूसरे के मन को जीत ही लेता है। अपने कार्य की सिद्धि के लिए गुणमाला का तोता जीवन्धरकुमार से मीठी-मीठी बातें कर रहा है।

तोते द्वारा गुणमाला की भावना व्यक्त करना –

विषयेषु समस्तेषु कामं सफलयन्सदा।

गुणमालां जगन्मान्यां जीवयञ्जीवताच्चिरम् ॥४०॥

अन्वयार्थ – तोते ने कहा (समस्तेषु विषयेषु) सम्पूर्ण विषयों में (सदा कामं सफलयन्) हमेशा अपनी इच्छाएँ सफल करते हुए और (जगन्मान्यां) जगत में माननीया (गुणमालां) गुणमाला को अथवा अपने जगत्मान्य गुण समूह की (जीवयन्) रक्षा करते हुए (चिरं जीवतात्) चिरकाल तक जीवित रहो।

सरलार्थ – तोते ने कहा – ‘हे युवक श्रेष्ठ जीवन्धरकुमार ! आप पंचेन्द्रियों के सभी विषयों का सुखपूर्वक भोग करते हुए अपनी और गुणमाला की कामनाओं को सफल करो और संसार में अपने मानवीय गुणसमूह द्वारा गुणमाला की सुरक्षा करते हुए दीर्घकाल तक चिरंजीवी बनकर अपने जीवन्धर नाम को सार्थक करो।’

विशेषार्थ – गुणमाला जीवन्धरकुमार को पति रूप में स्वीकार करने की भावना रखती है। इस विचार को भलीप्रकार से तोते ने जीवन्धरकुमार के सामने रखा। जीवन्धरकुमार ने भी तोते के भाव को स्पष्टरूप से समझ लिया।

जीवन्धरकुमार का आनन्दित होना -

इत्याशिषा कुमारोऽपि तत्सन्देशाच्च पिप्रिये ।

इष्टस्थाने सती वृष्टिस्तुष्टये हि विशेषतः ॥४१॥

अन्वयार्थ - (कुमारः अपि) जीवन्धरकुमार भी (इति आशिषा) इसप्रकार के आशीर्वाद से और (तत् सन्देशात् च) उस तोते के सन्देश से (पिप्रिये) अत्यन्त प्रसन्न हुए।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (इष्टस्थाने सती वृष्टिः) इच्छित स्थान में हुई उत्तम वर्षा (विशेषतः) अधिकता से (तुष्टये भवति) प्रसन्नता के लिए होती है।

सरलार्थ - तोते से अपनी भावनाओं के अनुरूप गुणमाला का सन्देश सुनकर और तोते के आशीर्वचन से जीवन्धरकुमार अत्यन्त आनन्दित हुए; क्योंकि उपजाऊ भूमि में समय पर होनेवाली वर्षा विशेष सन्तोषकारक फल देती है।

विशेषार्थ - जीवन्धरकुमार तो गुणमाला को चाहते ही थे। स्वयं उसकी ओर से अपनी इच्छाओं के अनुकूल सन्देश सुनकर उनको अतिशय आनन्द हुआ; जो स्वाभाविक ही है।

जीवन्धरकुमार का प्रत्युत्तर -

प्रतिसन्देशमप्येषः कीराय प्रत्यपादयत् ।

प्रेक्षावन्तो वितन्वन्ति न ह्युपेक्षामपेक्षिते ॥४२॥

अन्वयार्थ - (एषः) जीवन्धरकुमार ने (कीराय) उस तोते के लिए (प्रतिसन्देशं अपि) सन्देश का प्रत्युत्तर भी (प्रत्यपादयत्) दिया।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (प्रेक्षावन्तः) बुद्धिमान पुरुष (अपेक्षिते वस्तुनि) अपेक्षित वस्तु में (उपेक्षां न वितन्वन्ति) उपेक्षा नहीं करते हैं अर्थात् जो अपने को चाहते हैं, उनका तिरस्कार नहीं करते हैं।

सरलार्थ – जीवन्धरकुमार ने भी गुणमाला के सन्देश का प्रत्युत्तर पत्र लिखकर तोते के द्वारा ही गुणमाला के पास भेज दिया; क्योंकि बुद्धिमान पुरुष अपेक्षित वस्तु की उपेक्षा नहीं करते।

विशेषार्थ – जीवन्धरकुमार विवेकशील और बुद्धिमान हैं। उन्हें गुणमाला की अपेक्षा तो थी ही, अतः उन्होंने तोते के द्वारा ही गुणमाला के सन्देश का प्रत्युत्तर भेज दिया; जिससे गुणमाला की भावनाओं की उपेक्षा न हो।

गुणमाला का आनन्दित होना –

मुमुदे गुणमालापि दृष्ट्वा पत्रेण पत्रिणम् ।
स्वस्यैव सफलो यत्नः प्रीतये हि विशेषतः ॥४३॥

अन्वयार्थ – (गुणमाला अपि) गुणमाला भी (पत्रिणं) तोते को (पत्रेण सह दृष्ट्वा) पत्रसहित देखकर (मुमुदे) अत्यन्त प्रसन्न हुई।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (स्वस्य एव यत्नः) स्वयं का किया हुआ यत्न ही (सफलं) सफल होने पर (विशेषतः) अधिक (प्रीतये भवति) प्रीतिकर होता है।

सरलार्थ – गुणमाला अपने तोते को जीवन्धरकुमार के पत्र सहित आता हुआ देखकर अत्यन्त आनन्दित हुई; क्योंकि किसी कार्यविशेष के लिए किया हुआ अपना प्रयास सफल होने पर मनुष्य आनन्दित होता ही है।

गुणमाला के माता-पिता का भी प्रसन्न होना –

पितरावेतदाकर्ण्य मुमुदाते भृशं पुनः ।
दुर्लभो हि वरो लोके योग्यो भाग्यसमन्वितः ॥४४॥

अन्वयार्थ – (पुनः) फिर (पितरौ) गुणमाला के माता-पिता (एतत् आकर्ण्य) यह बात सुनकर (भृशं मुमुदाते) अत्यन्त प्रसन्न हुए।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (लोके) इस संसार में (भाग्यसमन्वितः) भाग्यवान (योग्यः वरः) उत्तम वर का मिलना (दुर्लभः) अत्यन्त दुर्लभ है।

सरलार्थ – जब गुणमाला के माता-पिता ने पूर्वोक्त सब समाचार सुने तो उन्हें भी अत्यन्त प्रसन्नता हुई; क्योंकि कन्या के लिए भाग्यशाली, गुणवान और योग्य वर मिलना अत्यन्त दुर्लभ होता है।

दुष्ट पुरुषों की मनोवृत्ति का चित्रण –

अथामुष्यायणौ कौचित्रीतौ गन्धोत्कटान्तिकम् ।

न हि नीचमनोवृत्तिरेकरूपास्थिता भवेत् ॥४५॥

अन्वयार्थ – (अथ) इसके अनन्तर (अमुष्यायणौ कौचित्) प्रसिद्ध कोई दो पुरुष (गन्धोत्कटान्तिकं नीतौ) गन्धोत्कट के समीप गए अर्थात् उन्होंने जीवन्धरकुमार एवं गुणमाला की प्रीति को अनुचित बताकर चुगली की।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (नीचमनोवृत्तिः) नीच मनुष्य के मन की वृत्ति (एकरूपा) हमेशा एक-सी (न स्थिता) स्थित नहीं (भवेत्) रहती है।

सरलार्थ – दुष्ट पुरुषों की मनोवृत्ति ही कुछ ऐसी होती है कि उन्हें कोई सर्वोत्तम कार्य भी अच्छा नहीं लगता। अतएव दो प्रतिष्ठित परन्तु नीच व्यक्ति सेठ गन्धोत्कट के पास गए और उन्होंने जीवन्धरकुमार एवं गुणमाला के प्रेम को अनुचित बताकर चुगली की; क्योंकि नीच मनुष्यों की मनोवृत्ति सदा एक-सी स्थिर नहीं रहती, उन्हें चुगली करने में ही आनन्द आता है।

सेठ गन्धोत्कट द्वारा प्रेम का अनुमोदन –

अनुमेने तयोर्वाक्यं श्रुत्वा गन्धोत्कटोऽपि सः ।

अदोषोपहतोऽप्यर्थः परोक्त्या नैव दूष्यते ॥४६॥

अन्वयार्थ – (सः गन्धोत्कटः अपि) उन गन्धोत्कट ने भी (तयोः वाक्यं श्रुत्वा) उन दोनों पुरुषों के वचन सुनकर (अनुमेने) अनुमति दी अर्थात् जीवन्धरकुमार और गुणमाला की प्रीति की प्रशंसा की।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (अदोषोपहतः अपि) दोषरहित (अर्थः) पदार्थ (परोक्त्या) दूसरे के कहने से (न एव दूष्यते) दूषित नहीं होता है।

सरलार्थ – सेठ गन्धोत्कट ने उन दोनों चुगलखोरों की बातों को सुनकर भी जीवन्धरकुमार और गुणमाला के परस्पर प्रेम की प्रशंसा की; क्योंकि दोषरहित पदार्थ किसी के कहने से दूषित नहीं हो जाते।

विवाह सम्पन्न होना –

सुतां विनयमालायाः गुणमालां यथाविधि ।

दत्तां कुबेरमित्रेण परिणिन्येऽथ जीवकः ॥४७॥

अन्वयार्थ – (अथ) इसके अनन्तर (जीवकः) जीवन्धरकुमार ने (कुबेरमित्रेण) कुबेरमित्र द्वारा (दत्तां) दी हुई (विनयमालायाः) विनयमाला की (सुतां) पुत्री (गुणमालां) गुणमाला का (यथाविधि) विधिपूर्वक (परिणिन्ये) वरण किया।

सरलार्थ – तदनन्तर जीवन्धरकुमार का विवाह कुबेरमित्र और विनयमाला की सुपुत्री गुणमाला के साथ शास्त्रोक्त विधि से आनन्दपूर्वक सम्पन्न हुआ।

इति श्रीवादीभसिंहसूरिविरचिते क्षत्रचूडामणौ

गुणमालालम्बो नाम चतुर्थो लम्बः ।

जानने-देखनेवाला और ही था

श्री गुरु परम दयालु ने बारम्बार मुझसे यही कहा और यही उपदेश दिया, सो इसका क्या प्रयोजन है ? एक मेरे भले करने का ही प्रयोजन है; इसलिए मुझसे बार-बार कहा है। सो देखो, मैं सिद्ध समान हूँ कि नहीं ? देखो, जब यह जीव मरण समय इस शरीर से निकलकर दूसरी (अन्य) गति में जाता है, तब इस शरीर के अंगोपांग, हाथ-पैर, आँख-कान, नाक इत्यादि सर्व चिह्न-ज्यों के त्यों रहते हैं; किन्तु चेतनपना नहीं रहता। इससे यह जाना गया कि जाननेवाला, देखनेवाला व्यक्ति कोई और ही था।

– ज्ञानानन्द श्रावकाचार, पृष्ठ-१९५

पाँचवाँ लम्ब

जीवन्धरकुमार का सुखी जीवन -

अथ व्यूढामिमां मेने स कुमारोऽतिदुर्लभाम् ।

प्रयत्नेन हि लब्धं स्यात्प्रायः स्नेहस्य कारणम् ॥१॥

अन्वयार्थ - (अथ) इसके अनन्तर (सः कुमारः) इन जीवन्धरकुमार ने (व्यूढां इमां) ब्याही हुई स्त्री को (अतिदुर्लभां) अत्यन्त दुर्लभ (मेने) जाना ।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (प्रयत्नेन लब्धं) प्रयत्न से प्राप्त की हुई वस्तु (प्रायः) प्रायः (स्नेहस्य कारणं) स्नेह का कारण (स्यात्) होती है ।

सरलार्थ - गुणमाला से विवाह के उपरान्त जीवन्धरकुमार ने गुणमाला को अत्यन्त दुर्लभ स्त्रीरत्न माना; क्योंकि प्रयत्नपूर्वक प्राप्त किया हुआ पदार्थ प्रायः सभी को अधिक स्नेह का कारण होता है ।

विशेषार्थ - जीवन्धरकुमार को गुणमाला की प्राप्ति के लिए मदोन्मत्त हाथी का सामना करना पड़ा था । उन्होंने उसकी रक्षा के लिए अपने प्राणों की भी चिन्ता नहीं की थी । इसप्रकार जीवन्धरकुमार को गुणमाला की प्राप्ति अत्यन्त दुर्लभता से हुई थी । अतः गुणमाला के प्रति उनका अधिक स्नेह होना स्वाभाविक ही है ।

पराजित हाथी की मनोदशा -

नादत्त कवलं दन्ती स्वामिकुण्डलताडितः ।

न हि सोढव्यतां याति तिरश्चां वा तिरस्क्रिया ॥२॥

अन्वयार्थ - (स्वामिकुण्डलताडितः) जीवन्धरकुमार के कुण्डल से ताड़ित (दन्ती) हाथी ने (कवलं) घास (न आदत्त) ग्रहण नहीं किया ।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (तिरश्चां वा तिरस्क्रिया) तिर्यज्चों को भी तिरस्कार (सोढव्यतां न याति) सहन नहीं होता है ।

सरलार्थ – जब से हाथी जीवन्धरकुमार के कुण्डल से आहत होकर पराजित हुआ है, तब से उसने भोजन-पानी ही छोड़ दिया है; क्योंकि तिर्यञ्चों को भी अपमान की पीड़ा असह्य होती है।

विशेषार्थ – श्लोक में 'कुण्डल' शब्द आया है। कुण्डल का अर्थ कान का आभूषण और हाथ का कड़ा भी होता है। हाथ के कड़े से मदोन्मत्त हाथी आहत होकर पराजित कैसे हुआ, इस पर विचार करने से स्पष्ट होता है कि हाथी के मर्म-स्थल पर छोटी-सी वस्तु से भी प्रहार करने पर वह आहत हो जाता है। जीवन्धरकुमार इस रहस्य को जानते थे; अतः उन्होंने राजा काष्ठांगार के 'अशनिवेग' नामक मदोन्मत्त हाथी को उसके मर्म-स्थल पर अपने हाथ के कड़े से पुनः पुनः प्रहार करके उसे आहत कर वश में किया था, जिससे गुणमाला की प्राणरक्षा हो सकी थी।

हाथी अशनिवेग जीवन्धरकुमार से पराजित होकर स्वयं को बहुत अपमानित अनुभव कर रहा है; दुखी भी बहुत हुआ है। अतः वह महावत के अनुनय-विनय और डाँटे जाने पर भी भोजन-पान नहीं कर रहा है। इससे सिद्ध होता है कि तिर्यञ्चों को भी अपना तिरस्कार/अपमान असह्य होता है।

काष्ठांगार का क्रोधित होना –

काष्ठाङ्गारस्तदाकर्ण्य चुकोप स्वामिने भृशम्।

सर्पिष्पातेन सप्तार्चिरुदर्चिः सुतरां भवेत्॥३॥

अन्वयार्थ – (काष्ठाङ्गारः) काष्ठांगार (तत् आकर्ण्य) इस बात को सुनकर (स्वामिने) जीवन्धरकुमार पर (भृशं) अत्यन्त (चुकोप) क्रोधित हुआ।

[अत्र नीतिः] निश्चय से (सप्तार्चिः) अग्नि (सर्पिष्पातेन्) घी के डालने से (सुतरां) अत्यन्त (उदर्चिः भवेत्) ऊँची ज्वालावाली होती है।

सरलार्थ – राजा काष्ठांगार अपने हाथी को जीवन्धरकुमार द्वारा आहत कर पराजित करने का समाचार सुनकर अत्यन्त क्रोधित हुआ; क्योंकि यह नियम है कि अग्नि में घी डालने से अग्नि अधिक प्रज्वलित हो जाती है।

विशेषार्थ – राजा काष्ठांगार जीवन्धरकुमार से पहले से ही अनेक कारणों से नाराज था। उसके हृदय में जीवन्धरकुमार के प्रति द्वेष की अग्नि जल रही थी। जीवन्धरकुमार द्वारा अपने हाथी अशनिवेग के पराजित होने के समाचार ने उसकी क्रोधाग्नि में घी का कार्य किया। वह जीवन्धरकुमार के प्रति अत्यधिक क्रोधित हो गया। उसने अपने हाथी के अपमान को अपना ही अपमान समझा।

काष्ठांगार के क्रोध का कारण –

सङ्गादनङ्गमालायाः विजयाच्च वनौकसाम् ।

वीणाविजयतश्चास्य कोपाग्निः स्थापितो हृदि ॥४॥

अन्वयार्थ – (अस्य हृदि) इस काष्ठांगार के हृदय में (अनङ्गमालायाः सङ्गात्) अनङ्गमाला के समागम से (वनौकसां विजयात्) गायों के पकड़नेवाले व्याधों को जीतने से और (वीणाविजयतः) वीणा में विजयी होने से (इन तीन कारणों से) (कोपाग्निः) क्रोधरूपी अग्नि (स्थापितः) स्थापित अर्थात् उत्पन्न हुई थी।

सरलार्थ – जीवन्धरकुमार द्वारा सौन्दर्य सम्पन्न अनङ्गमाला से विवाह करना, राजकीय सेना को पराजित करनेवाली भीलों की सेना पर विजय पाना और वीणा वादन में विजय पाना – इन कारणों से राजा काष्ठांगार के हृदय में जीवन्धरकुमार के प्रति क्रोधाग्नि पहले से ही जल रही थी।

विशेषार्थ – राजा काष्ठांगार जीवन्धरकुमार से अनेक कारणों से पहले से ही कुपित था। वह किसी बहाने उनको नीचा दिखाने की सोच रहा था। क्रोधी और मानी व्यक्ति प्रायः अपना विवेक खो बैठता है; उचित-अनुचित का कोई ध्यान नहीं रखता। वह अपने तिरस्कार और अपमान का बदला चुकाने के लिए कुछ भी करने को तैयार रहता है।

मानसिक पीड़ा का कारण –

गुणाधिक्यं च जीवानामाधेरेव हि कारणम् ।

नीचत्वं नाम किं नु स्यादस्ति चेद् गुणरागिता ॥५॥

अन्वयार्थ - [अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (गुणाधिक्यं च) दूसरों में गुणों की अधिकता (जीवानां) नीच मनुष्यों की (आधेः एव) मानसिक पीड़ा का ही (कारणं) कारण (भवेत्) होती है। (चेत्) यदि (गुणरागिता अस्ति) दूसरों के गुणों में प्रीति होवे तो फिर (नीचत्वं नाम) नीचता नाम ही (किं नु स्यात्) क्यों हो ?

सरलार्थ - हीन मनोवृत्ति के व्यक्तियों को दूसरों के गुणों को जानकर मानसिक पीड़ा होती है। वे गुणग्राही होते ही नहीं हैं। यदि दूसरों के अनुपम गुणों के प्रति अनुराग हो तो नीचता टिक ही नहीं सकती।

विशेषार्थ - अन्य गुणीजनों के अनुपम गुणों को नीच व्यक्ति सहन ही नहीं कर सकता। काष्ठांगार जीवन्धरकुमार के उत्कर्ष को सहन नहीं कर सका। उसने अपनी नीचता/दुष्टता प्रगट कर ही दी।

नीच मनुष्य की मनोवृत्ति -

उपकारोऽपि नीचानामपकाराय कल्पते ।

पन्नगेन पयः पीतं विषस्यैव हि वर्धनम् ॥६॥

अन्वयार्थ - [अत्र नीतिः] (नीचानां) नीच पुरुषों के साथ (उपकारः अपि) उपकार करना भी (अपकाराय) अपकार के लिए (कल्पते) होता है। (हि) निश्चय से (पन्नगेन पीतं) सर्प के द्वारा पिया हुआ (पयः) दूध (विषस्य एव) विष की ही (वर्धनं) वृद्धि [करोति] करता है।

सरलार्थ - जैसे सर्प को पिलाया गया दूध नियम से विष की ही वृद्धि करता है; वैसे ही नीच मनुष्यों पर किया गया उपकार, अपकार के रूप में सिद्ध होता है।

विशेषार्थ - जीवन्धरकुमार ने राजा काष्ठांगार के प्रति अनेक उपकार किए हैं। जैसे - (१) गुरु आर्यनन्दी के आदेशानुसार एक वर्ष के लिए काष्ठांगार को क्षमा करना। (२) भीलों की सेना को पराजित करके राजसत्ता का मान बढ़ाना। (३) वीणा-वादन में जय प्राप्त कर राजपुरी नगरी का सम्मान

बढ़ाना। (४) मदोन्मत्त हाथी को वश में करके राज्य शासन का ही कार्य करना – आदि। फिर भी राजा काष्ठांगार जीवन्धरकुमार के इन श्रेष्ठतम कार्यों से प्रसन्न होने के स्थान पर क्रोधित ही हुआ और जीवन्धरकुमार के प्रति नीच कार्य करने को उद्यत हुआ।

उपकथा-६

काष्ठांगार की नीचता –

हस्तग्राहं ग्रहीतुं स कुमारं प्राहिणोद्बलम्।

मूढानां हन्त कोपाग्निरस्थानेऽपि हि वर्धते ॥७॥

अन्वयार्थ – (सः) उस काष्ठांगार ने (कुमारं) जीवन्धरकुमार को (हस्तग्राहं ग्रहीतुं) हाथ बाँधकर पकड़ लाने के लिए (बलं) सेना (प्राहिणोत्) भेजी।

[अत्र नीतिः] (हन्त) खेद है ! (मूढानां) मूर्ख पुरुषों की (कोपाग्निः) क्रोधरूपी अग्नि (अस्थाने अपि) अयोग्य स्थान में भी (वर्धते) बढ़ती है।

सरलार्थ – नीच काष्ठांगार ने जीवन्धरकुमार को हाथ बाँधकर पकड़ लाने के लिए अपनी सेना को आदेश दिया। अत्यन्त खेद की बात है ! मूर्ख पुरुषों को विवेक ही नहीं रहता कि किस पर क्रोध करना और किस पर नहीं; उनकी क्रोधाग्नि अस्थान में भी बढ़ती है।

विशेषार्थ – अयोग्य स्थान में भी क्रोध करना मूर्ख का लक्षण है। यदि वह उपयुक्त स्थान पर क्रोध करे तो विद्वान सिद्ध हो जाए। जीवन्धर कुमार जैसे परोपकारी, दयालु, धीर-वीर, कृतज्ञ और धर्मात्मा व्यक्ति पर क्रोध करना काष्ठांगार की नीचता और मूर्खता को ही सिद्ध करता है।

काष्ठांगार की सेना का कार्य –

कुमारावसथं पश्चात्तत्सैन्यं पर्यवारयत्।

मृगाः किं नाम कुर्वन्ति मृगेन्द्रं परितः स्थिताः ॥८॥

अन्वयार्थ – (पश्चात्) इसके अनन्तर (तत्सैन्यं) काष्ठांगार की सेना

ने (कुमारावसथं) कुमार के रहने के स्थान को (पर्यवारयत्) चारों तरफ से घेर लिया।

[अत्र नीतिः] (मृगेन्द्रं परितः स्थिताः) सिंह के चारों ओर घेरकर खड़े हुए (मृगाः) हिरण (किं नाम कुर्वन्ति) सिंह का क्या कर सकते हैं ?

सरलार्थ – जैसे सिंह को चारों ओर से घेरकर खड़े हुए अनेकों हिरण उस सिंह का कुछ नहीं बिगाड़ सकते; वैसे ही काष्ठांगार की सेना जीवन्धरकुमार को चारों ओर से घेरकर भी कुछ नहीं कर सकी।

जीवन्धरकुमार की वीरता –

प्रारेभे स कुमारोऽपि प्रहर्तुं रोषतश्चमूम् ।
तत्त्वज्ञानजलं नो चेत् क्रोधाग्निः केन शाम्यति ॥६॥

अन्वयार्थ – (सः कुमारः अपि) उन जीवन्धरकुमार ने भी (रोषतः) क्रोध से (चमूं) सेना को (प्रहर्तुं) मारना (प्रारेभे) प्रारम्भ किया।

[अत्र नीतिः] (चेत्) यदि (तत्त्वज्ञानजलं) तत्त्वज्ञानरूपी जल (नो स्यात्) नहीं हो तो फिर (क्रोधाग्निः) क्रोधरूपी अग्नि (केन शाम्यति) किसके द्वारा बुझाई जा सकती है ?

सरलार्थ – जीवन्धरकुमार ने क्रोधित होकर सेना को मारना प्रारम्भ कर दिया; क्योंकि तत्त्वज्ञानरूपी जल के अभाव में क्रोधरूपी अग्नि अन्य साधनों से नहीं बुझ सकती।

सेठ गन्धोत्कट की समझदारी –

न्यरौसीत्तस्य सन्नाहमथ गन्धोत्कटः शनैः ।
अलङ्घ्यं हि पितुर्वाक्यमपत्यैः पथ्यकाङ्क्षिभिः ॥१०॥

अन्वयार्थ – (अथ) इसके अनन्तर (गन्धोत्कटः) सेठ गन्धोत्कट ने (तस्य सन्नाहं) उनके लड़ने की तैयारियों को (शनैः) धीरे-धीरे (न्यरौसीत्) रोका।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (पथ्यकाङ्क्षिभिः अपत्यैः) हित की इच्छा करनेवाले पुत्र (पितुः वाक्यं) पिता के वचनों का (अलङ्घनं) उल्लंघन नहीं करते हैं।

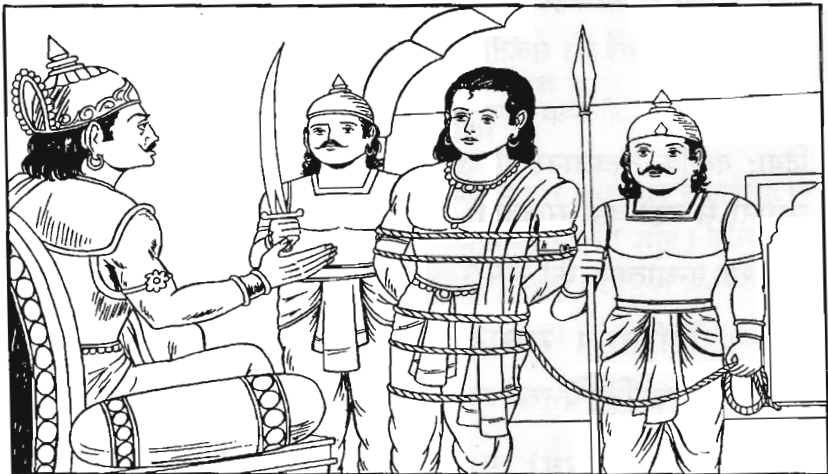
सरलार्थ - जीवन्धरकुमार को सेना का हनन करते हुए देखकर सेठ गन्धोत्कट ने अपनी बुद्धिमानी से जीवन्धरकुमार को सेना का हनन करने से रोक दिया; क्योंकि अपने हित की इच्छा करनेवाले आज्ञाकारी पुत्र पिता की आज्ञा का उल्लंघन नहीं करते।

सेठ गन्धोत्कट का कार्य -

पश्चाद्बद्धममुं पश्चादसौ गन्धोत्कटो व्यधात् ।

न हि वारयितुं शक्यं पौरुषेण पुराकृतम् ॥११॥

अन्वयार्थ - (पश्चात्) इसके अनन्तर (असौ गन्धोत्कटः) इन गन्धोत्कट ने (अमुं) जीवन्धरकुमार को (पश्चात् बद्धं) पीछे की ओर से बाँधा हुआ (व्यधात्) कर दिया अर्थात् उसके हाथ पीछे बाँधकर सेना को सौंप दिया।



[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (पुराकृतं) पूर्व में किए हुए दुष्कर्म का (पौरुषेण) पुरुषार्थ से (वारयितुं) निवारण करना (न शक्यं) शक्य नहीं है।

सरलार्थ – युद्ध बन्द होते ही सेठ गन्धोत्कट ने जीवन्धरकुमार के हाथ पीछे रस्सी से बाँधकर उन्हें सेना के सुपर्द कर दिया; क्योंकि पूर्व जन्म में किया हुआ दुष्कर्म निश्चित ही फल देता है, उसे भोगना ही पड़ता है, वह वर्तमानकालीन अल्प पुरुषार्थ से टाला नहीं जा सकता।

विशेषार्थ – अनुकूल-प्रतिकूल संयोगों के मिलने में पूर्वकृत वेदनीय कर्म का उदय ही निमित्त होता है। उसमें वर्तमान काल का अल्प पुरुषार्थ कुछ भी फेर-फार नहीं कर सकता।

हाँ, यदि जीव पूर्वकृत पाप की तुलना में वर्तमान काल में विशेष पुरुषार्थ करे तो पूर्वकृत पाप विशेष परिस्थिति में कभी-कभी संक्रमित होकर पुण्यरूप हो जाता है।

काष्ठांगार की क्रूरता –

दृष्ट्वापि तं तथाभूतं हन्तुमाह सः दुर्मतिः ।

सतां हि प्रहृता शान्त्यै खलानां दर्पकारणम् ॥१२॥

अन्वयार्थ – (सः दुर्मतिः) उस दुष्टबुद्धि काष्ठांगार ने (तथाभूतं तं) बँधे हुए उन जीवन्धरकुमार को (दृष्ट्वा) देखकर (हन्तुं) मारने के लिए सेना को (आह) आज्ञा दी।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (सतां) सज्जन पुरुषों के सम्मुख (प्रहृता) नम्रता (शान्त्यै) शान्त करनेवाली (भवति) होती है; किन्तु (खलानां) दुर्जन पुरुषों के आगे नम्रता (दर्पकारणं स्यात्) अहंकार को बढ़ानेवाली होती है।

सरलार्थ – वह दुष्ट, क्रूरबुद्धि काष्ठांगार हाथ बँधे हुए जीवन्धरकुमार को सामने देखकर भी, सेना को उन्हें जान से मारने की आज्ञा दे देता है; क्योंकि सज्जन पुरुषों के सामने दिखाई गई विनम्रता तो उनकी क्रोधाग्नि शान्त करनेवाली होती है, किन्तु दुर्जन पुरुषों के सामने दिखाई गई विनम्रता उनके अहंकार को बढ़ानेवाली होती है।

विशेषार्थ – सेठ गन्धोत्कट ने राजाज्ञानुसार जीवन्धरकुमार को हाथ बाँधकर राजा के पास भेज दिया था। जीवन्धरकुमार ने अपनी विनम्रता और सज्जनता दिखाई थी, किन्तु जीवन्धरकुमार को मुश्कबद्ध देखकर भी कृतघ्न काष्ठांगार को अहंकार उत्पन्न हुआ और उसने सेना से जीवन्धरकुमार को जान से मारने को कहा। दुष्टों के सामने दिखाई गई विनम्रता दुःख का ही कारण होती है – इस कहावत ने काष्ठांगार की दुष्टता को प्रमाणित कर दिया।

जीवन्धरकुमार द्वारा गुरु की आज्ञा का पालन –

काष्ठाङ्गारं कुमारोऽयं गुरुवाक्येन नावधीत् ।

न हि प्राणवियोगेऽपि प्राज्ञैर्लङ्घ्यं गुरोर्वचः ॥१३॥

अन्वयार्थ – (अयं कुमारः) जीवन्धरकुमार ने (गुरुवाक्येन) अपने गुरु के वचन से (काष्ठाङ्गारं) काष्ठांगार को (न आवधीत्) नहीं मारा।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (प्राज्ञैः) बुद्धिमान पुरुष (प्राणवियोगे अपि) प्राणों का विनाश उपस्थित होने पर भी (गुरोः वचः) गुरु के वचनों का (न लङ्घ्यं) उल्लंघन नहीं करते।

सरलार्थ – जीवन्धरकुमार ने गुरु-आज्ञा के कारण ही दुष्ट काष्ठांगार को नहीं मारा; क्योंकि बुद्धिमान पुरुष मरण जैसी परिस्थिति उपस्थित होने पर भी गुरु के वचनों का उल्लंघन नहीं करते।

विशेषार्थ – गुरुवर आर्यनन्दी ने जीवन्धरकुमार से कहा था कि एक वर्ष तक काष्ठांगार को मत मारना – यही मेरी गुरु-दक्षिणा है। (द्वितीय लम्ब-श्लोक ३६) अतः जीवन्धरकुमार के सामने इससमय अपने मरण का प्रसंग उपस्थित था और उनमें इतनी शक्ति भी थी कि वे अकेले ही काष्ठांगार को मार सकते थे; फिर भी जीवन्धरकुमार ने उसे नहीं मारा और गुरु-आज्ञा का पालन किया।

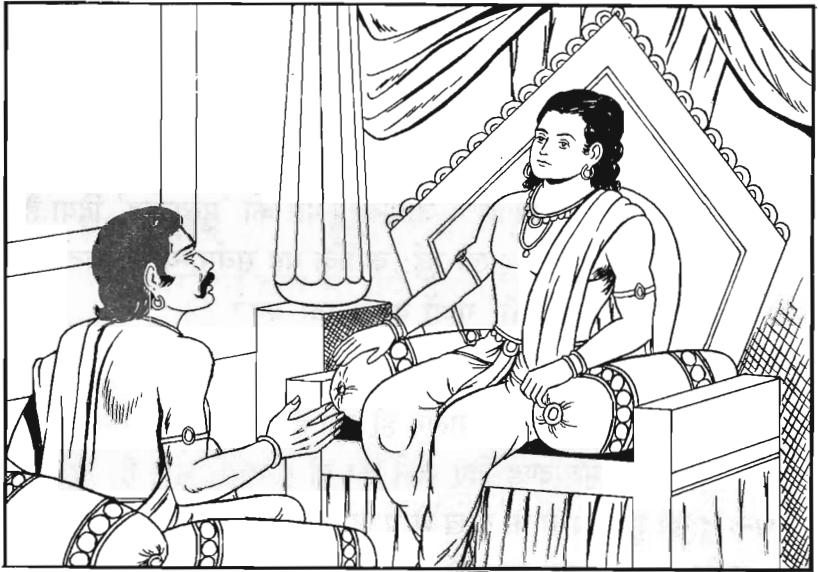
यक्षेन्द्र का कार्य -

यक्षेण तत्क्षणे स्वामी स्मृतेनादायि कृत्यवित् ।

सचेतनः कथं नु स्यादकुर्वन्प्रत्युपक्रियाम् ॥१४॥

अन्वयार्थ - (तत्क्षणे) उसी समय (स्मृतेन यक्षेण) स्मरण किया हुआ यक्षेन्द्र (कृत्यवित् स्वामी) कार्य को जाननेवाले जीवन्धरकुमार को (आदायि) उठा ले गया।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (प्रत्युपक्रियां अकुर्वन्) उपकारी का प्रत्युपकार नहीं करनेवाला (कथं नु सचेतनः स्यात्) सचेतन पुरुष कैसे कहला सकता है ? सचेतन आत्मा तो अपने उपकारी का प्रत्युपकार करते ही हैं।



सरलार्थ - उसी समय जीवन्धरकुमार के स्मरण मात्र से यक्षेन्द्र-सुदर्शन उपस्थित हुआ और वह अपने उपकारी जीवन्धरकुमार को वहाँ से उठाकर ले गया; क्योंकि सज्जन तो अपने पर किए गए उपकार का प्रत्युपकार करते ही हैं।

विशेषार्थ - एकबार जीवन्धरकुमार ने मरणासन्न कुत्ते को णमोकार मन्त्र

सुनाया था। उस मन्त्र के निमित्त से वह कुत्ता सुदर्शन यक्ष हुआ। उससमय कृतज्ञ यक्षेन्द्र ने जीवन्धरकुमार के समक्ष उपस्थित होकर अपनी कृतज्ञता व्यक्त करते हुए कहा था कि 'संकट के समय आप मुझे स्मरण करना। आपके स्मरण करते ही मैं आपकी सेवा में उपस्थित हो जाऊँगा।' उस वचन के अनुसार यक्षेन्द्र ने आकर संकट के समय जीवन्धरकुमार की सहायता की।

काष्ठांगार के व्यवहार से प्रजा का दुःखी होना -

अतिमात्रशुचा लोकः पुनरेवमचिन्तयत् ।

गुणज्ञो लोक इत्येषा किम्बदन्ती हि सूनृतम् ॥१५॥

अन्वयार्थ - (पुनः) फिर (लोकः) प्रजा ने (अतिमात्रशुचा) अत्यन्त शोक से (एवं अचिन्तयत्) इसप्रकार विचार किया।

[अत्र नीतिः] (लोकः गुणज्ञः इति) लोग गुणों के जाननेवाले होते हैं (एषा किम्बदन्ती) यह किम्बदन्ती (सूनृतं) बिलकुल सत्य है।

सरलार्थ - दुष्ट काष्ठांगार ने जीवन्धरकुमार को 'मृत्युदण्ड' दिया है - यह जानकर प्रजा अत्यन्त दुःखी हुई; क्योंकि यह सर्वमान्य कहावत है कि मनुष्य गुणग्राही होते हैं और गुणों का आदर करते हैं।

विशेषार्थ - यक्षेन्द्र जीवन्धरकुमार को ले गया है और वे पूर्ण सुरक्षित हैं - यह बात आम जनता को मालूम ही नहीं है। उन्होंने तो काष्ठांगार द्वारा जीवन्धरकुमार को मृत्युदण्ड दिए जाने का ही समाचार सुना है, अतः वह अत्यन्त दुःखी हुई। प्रजा के दुःख से प्रगट होता है कि मनुष्य गुणज्ञ होते हैं और गुणीजनों का आदर करते हैं, अन्यथा प्रजा शोक प्रगट क्यों करती ?

काष्ठांगार की दुष्टता पर विचार -

अतिलोकमिदं शाठ्यं काष्ठाङ्गारस्य दुर्मतेः ।

एतावदेव किं शाठ्यं स्वामिद्रोहादबिभ्यतः ॥१६॥

अन्वयार्थ - (दुर्मतेः) दुष्टबुद्धि (काष्ठाङ्गारस्य) काष्ठांगार की (इदं

शाठ्यं) यह दुष्टता (अतिलोकं) लोक को भी उल्लंघन कर गई अथवा (स्वामिद्रोहात् अबिभ्यतः) अपने स्वामी के द्रोह से नहीं डरनेवाले काष्ठांगार की (एतावत् एव शाठ्यं किं) इतनी दुष्टता क्या अधिक है ?

सरलार्थ – दुष्टबुद्धि काष्ठांगार ने निरपराधी और गुणवान जीवन्धरकुमार को 'मृत्युदण्ड' देकर अपनी भयंकर दुष्टता का ही परिचय दिया है। जो अपने स्वामी सत्यन्धर के प्रति राजद्रोह करने से नहीं डरा, उस दुष्ट काष्ठांगार की यह दुष्टता कुछ अधिक नहीं है।

विशेषार्थ – राजद्रोह करने में सभी प्रकार के द्रोह समाहित हो जाते हैं, इसमें पाँचों प्रकार के पाप भी गर्भित हो जाते हैं; अतः ऐसे राजद्रोह की दुष्टता करनेवाले काष्ठांगार द्वारा एक वणिक पुत्र को मृत्युदण्ड देना विशेष दुष्टता कैसे हुई ? (काष्ठांगार की दृष्टि में तो जीवन्धरकुमार एक वैश्य पुत्र ही है। उसे अभी यह पता ही नहीं है कि जीवन्धरकुमार राजा सत्यन्धर के ही पुत्र हैं।)

यमराज भी पक्षपाती –

समवर्त्यपि दुर्वृत्तिरासीदणकभूपवत् ।

न ह्यसारतया हन्त सोऽपि गृह्णाति दुर्जनान् ॥१७॥

अन्वयार्थ – [अत्र नीतिः] (हन्त) खेद है ! (समवर्ती अपि) सबके साथ एक-सा बर्ताव करनेवाला यमराज भी (अणकभूपवत्) दुष्ट राजा के सदृश (दुर्वृत्तिः आसीत्) दुराचारी हो गया। (हि) निश्चय से (सः अपि) वह यमराज भी (असारतया) सार रहित होने से (दुर्जनान् न गृह्णाति) दुर्जनों को ग्रहण नहीं करता।

सरलार्थ – प्रजा विचार करती है कि यह महान खेद की बात है कि 'यमराज' जो सबके साथ समान व्यवहार करता है, वह भी दुष्ट राजा की तरह पक्षपाती हो गया है; क्योंकि वह भी काष्ठांगार जैसे दुर्जनों को निस्सार समझकर यमलोक में नहीं ले जाता।

विशेषार्थ – प्रजा को काष्ठांगार जैसे दुष्ट राजा का जीवित रहना अच्छा

नहीं लग रहा है। वह विचार करती है कि सबके साथ निष्पक्ष व्यवहार करनेवाला यमराज भी पक्षपाती हो गया है क्या ? तभी तो वह दुर्जन एवं महादुष्ट काष्ठांगार को यमलोक नहीं ले जा रहा है।

इसका तात्पर्य यह है कि जन समुदाय काष्ठांगार को बिलकुल ही नहीं चाहता है, वह तो काष्ठांगार की मृत्यु की कामना करता है और जीवन्धरकुमार को अपना ग्यारहवाँ प्राण समझता है। इससे जन समुदाय की गुणग्रहणता की भावना स्पष्ट होती है।

यमराज की मान्यता वैदिक धर्म में की गई है, जैनधर्म में नहीं। यहाँ तो मात्र यमराज को दृष्टान्तरूप में ही लिया है।

सज्जन और दुर्जन का स्वभाव -

वारि हंस इव क्षीरं सारं गृह्णाति सज्जनः ।

यथाश्रुतं यथारुच्यं शोच्यानां हि कृतिर्मता ॥१८॥

अन्वयार्थ - [अत्र नीतिः] (सज्जनः) सज्जन पुरुष (वारि क्षीरं हंसः इव) जल में से दूध ग्रहण करनेवाले हंस के सदृश (सारं) वस्तु का सार (गृह्णाति) ग्रहण कर लेते हैं। (हि) निश्चय से (शोच्यानां कृतिः) शोचनीय दुष्ट पुरुषों के कार्य (यथारुच्यं यथाश्रुतं मता) या तो मनमाने या दूसरे से सुनकर किए हुए हुआ करते हैं।

सरलार्थ - जैसे मिले हुए दूध और पानी में से गुणग्राही हंस दूध को ही ग्रहण करता है; वैसे ही सज्जन पुरुष किसी घटना विशेष या व्यक्ति से आत्मकल्याणपरक सारभूत विषय ही ग्रहण करते हैं और दुर्जन पुरुष जनश्रुति और अपनी व्यक्तिगत अभिरुचि के आधार पर ही कार्य करते हैं, वे कुछ भी सार-असार का विचार ही नहीं करते हैं।

विशेषार्थ - काष्ठांगार तो दुर्जनों का शिरोमणि है, उसे सार-असार का विचार ही नहीं है। अतः उसने जीवन्धरकुमार को मृत्युदण्ड का आदेश अपनी व्यक्तिगत रुचि और द्वेषबुद्धि से दिया है। जिस कार्य के लिए हंस-क्षीर

न्याय का बल नहीं है तथा आगम की पवित्र परम्परा नहीं है, वह कार्य अच्छा हो ही नहीं सकता।

सज्जनता का लक्षण -

हेत्वन्तरकृतोपेक्षे गुणदोषप्रवर्तिते ।

स्यातामादानहाने चेत्तद्धि सौजन्यलक्षणम् ॥१९॥

अन्वयार्थ - [अत्र नीतिः] (चेत्) यदि (हेत्वन्तरकृतोपेक्षे) दूसरे कारणों की अपेक्षा से रहित (गुणदोषप्रवर्तिते) केवल गुण और दोष से प्रवर्तित (आदानहाने स्यातां) किसी वस्तु का ग्रहण और त्याग हो तो (हि) निश्चय से (तत् सौजन्यलक्षणं) वह ही सज्जनता का लक्षण है।

सरलार्थ - (१) किसी की प्रेरणा, दबाव या कषायादि के बिना मात्र हिताहित की मुख्यता से किसी वस्तु का ग्रहण या त्याग करना ही सज्जनता का सच्चा लक्षण है।

(२) अन्य सब कारणों की उपेक्षा कर केवल वस्तुगत गुण-दोषों की अपेक्षा से वस्तु का ग्रहण या त्याग करना ही सज्जनता का सच्चा लक्षण है।

विशेषार्थ - सज्जनता के सच्चे लक्षण के माध्यम से ही यहाँ ग्रहण-त्याग में ज्ञान की मुख्यता को स्पष्ट किया है; क्योंकि 'बिन जाने तैं दोष गुणन को कैसे तजिए गहिए' से यह बात अत्यन्त स्पष्ट है। अतः धर्म प्रगट करने के लिए वस्तुस्वरूप का यथार्थ ज्ञान करना प्रत्येक व्यक्ति का अपना आद्य कर्तव्य है। दबाव अथवा प्रेरणा से बाह्य वस्तु का त्याग करना त्याग नहीं है। वास्तव में तो ज्ञान ही प्रत्याख्यान है। (इस बात को विस्तारपूर्वक समझने के लिए समयसार की गाथा क्रमांक ३४ और उसकी टीका अवश्य देखें।)

ज्ञानपूर्वक आचरण ही श्रेष्ठ -

युक्तायुक्तवितर्केऽपि तर्करूढविधावति ।

पराङ्मुखात्फलं किम्वा वैदुष्याद्वैभवादपि ॥२०॥

अन्वयार्थ – [अत्र नीतिः] (युक्तायुक्तवितर्के अपि) योग्य और अयोग्य की विचारणा होने पर भी (तर्करूढविधौ अपि) तर्कसिद्ध उचित कार्य निश्चित हो जाने पर भी (पराङ्मुखात् वैदुष्यात्) उससे विमुख कार्य हो तो ऐसी विद्वत्ता और (वैभवात् अपि) ऐश्वर्य से (किं वा फलं) क्या लाभ है ?

सरलार्थ – योग्य और अयोग्य के विचारपूर्वक तर्कसिद्ध उचित कार्य निश्चित हो जाने पर भी यदि प्रवृत्ति विपरीत कार्य में ही हो तो पाण्डित्य और ऐश्वर्य व्यर्थ/निष्फल ही है।

विशेषार्थ – योग्यायोग्य का विचार और तर्कपूर्वक निर्णय करने पर भी काष्ठांगार ने अपने स्वार्थ और द्वेषवश जीवन्धरकुमार को जो मृत्युदण्ड का आदेश दिया, उससे उसका पाण्डित्य और वैभव/प्रभुता आदि व्यर्थ ही सिद्ध हुए।

भाई और मित्रों का दुःखी होना –

इत्यूहादाधिमापन्ने लोके तेऽपि युयुत्सवः ।

सखायः सानुजाः सर्वे पश्चात्तापमुपागमन् ॥२१॥

अन्वयार्थ – (इति ऊहात्) इसप्रकार के विचार से (लोके) प्रजा के सारे लोगों को (आधिं आपन्ने) [सति] मानसिक पीड़ा होने पर (युयुत्सवः) युद्ध की इच्छा करनेवाले (सानुजाः) छोटे भाई नन्दाद्वय सहित (ते सर्वे सखायः) वे सब मित्र (अपि) भी जीवन्धरकुमार के मृत्युदण्ड के समाचार से (पश्चात्तापं) पश्चात्ताप (उपागमन्) करने लगे।

सरलार्थ – काष्ठांगार द्वारा जीवन्धरकुमार को मृत्युदण्ड देने के समाचारों ने जनसमुदाय को तो दुःखी किया ही, उनके छोटे भाई नन्दाद्वय और मित्रगण भी दुःखी होकर पश्चात्ताप करने लगे तथा उनके मन में काष्ठांगार से युद्ध करने की इच्छा बलवती होने लगी।

माता-पिता की मनोदशा -

स्मरन्तौ मुनिवाक्यस्य सप्राणौ पितरौ स्थितौ ।

वितथे मुनिवाक्येऽपि प्रामाण्यं वचने कुतः ॥२२॥

अन्वयार्थ - (मुनिवाक्यस्य) मुनि के वाक्यों का (स्मरन्तौ) स्मरण करते हुए (पितरौ) जीवन्धरकुमार के माता-पिता (सुनन्दा और गन्धोत्कट) (सप्राणौ स्थितौ) जीवित रहे।

[अत्र नीतिः] निश्चय से (मुनिवाक्ये अपि) मुनि के वचन भी यदि (वितथे) झूठे हो तो फिर (वचने) वचन में (प्रामाण्यं) प्रमाणपना (कुतः) कैसे हो सकता है ?

सरलार्थ - सत्यमहाव्रती मुनिराज के वचनों का स्मरण करते हुए पिता श्री गन्धोत्कट और माता सुनन्दा पुत्र-विरह के असह्य दुःख को सहन करते हुए धैर्यपूर्वक जीवन-यापन करने लगे; क्योंकि उन्हें विश्वास था कि मुनिराज के वचन कभी असत्य नहीं होते।

विशेषार्थ - अपने प्रिय पुत्र के मृत्युदण्ड का समाचार सुनते ही माता-पिता प्राण ही त्याग देते; किन्तु वे मुनिराज के वचनों पर विश्वास कर जीवित रहे। उन्होंने एकबार मुनिराज के श्रीमुख से अपने पुत्र जीवन्धरकुमार की उन्नति के सूचक और सुखप्रद भविष्य के वचनों को प्रत्यक्ष में सुना था। उन्हें पूर्ण विश्वास है कि मुनिराज के वचन असत्य हो ही नहीं सकते। अतः उनका पुत्र जीवित ही होना चाहिए। इस विश्वास पर ही उन्हें असह्य दुःख सह्य हो गया। यदि सत्यमहाव्रती मुनिराज के वचन असत्य हो जाँएँ तो वचन की प्रामाणिकता/सत्यता ही नहीं रहेगी।

जीवन्धरकुमार का समता भाव -

स्वामिनो न विषादो वा प्रसादो वा तदाऽभवत् ।

किं तु पूर्वकृतं कर्म भोक्तव्यमिति मानसम् ॥२३॥

अन्वयार्थ - (तदा) उस समय (स्वामिनः) जीवन्धरकुमार को (विषादः

वा प्रसादः) खेद अथवा हर्ष (न अभवत्) कुछ भी नहीं हुआ (किन्तु) परन्तु (इति मानसं) उनके मन में यह विचार उत्पन्न हुआ कि

[अत्र नीतिः] (पूर्वकृतं कर्म) पूर्व जन्म में किया हुआ कर्म (भोक्तव्यं) अवश्य भोगना ही पड़ता है।

सरलार्थ – कृतघ्न काष्ठांगार से मृत्युदण्ड की कठोर घोषणा और उसी समय कृतज्ञ सुदर्शन यक्षेन्द्र का सहज सहयोग – दोनों एक ही काल में घटित हुए; फिर भी जीवन्धरकुमार को हर्ष-विषाद नहीं हुआ। जीव का पूर्वकृत कर्म ही फलदायी होता है; जीवन्धरकुमार ने इतना ही विचार कर समताभाव धारण किया।

विशेषार्थ – वस्तुस्वरूप के यथार्थ निर्णय से ही जीव सम्यग्दृष्टि होता है और सम्यग्दृष्टि ही समदृष्टि होता है। जीवन्धरकुमार सम्यग्दृष्टि तो हैं ही, अतः प्रतिकूलता और अनुकूलता में वे सहज सुखी ही हैं। तत्त्वज्ञान की महिमा अचिन्त्य है।

उपकथा-१०

जीवन्धरकुमार का अभिषेक –

अथ चन्द्रोदयाह्वान-पर्वतस्थं स्वमन्दिरम् ।

यक्षेन्द्रः स्वामिनं नीत्वा कृतवानभिषेचनम् ॥२४॥

अन्वयार्थ – (अथ) इसके अनन्तर (यक्षेन्द्रः) उस यक्षेन्द्र ने (चन्द्रोदयाह्वान-पर्वतस्थं) चन्द्रोदय नाम के पर्वत पर स्थित (स्वमन्दिरं) अपने आवास स्थान पर (स्वामिनं नीत्वा) जीवन्धरकुमार को ले जाकर (अभिषेचनं कृतवान्) उनका अभिषेक किया।

सरलार्थ – यक्षेन्द्र सुदर्शन दुष्ट काष्ठांगार के बन्धन से जीवन्धरकुमार को छुड़ाकर अपने निवास स्थान चन्द्रोदय नामक पर्वत पर ले गया और वहाँ उनका अभिषेक किया।

विपत्ति भी सम्पत्ति बन जाती है—

विपच्च सम्पदे पुण्यात्किमन्यत्तत्र गण्यते ।

भानुर्लोकं तपन्कुर्याद्विकासश्रियमम्बुजे ॥२५॥

अन्वयार्थ — [अत्र नीतिः] (पुण्यात्) पुण्योदय से (विपत् च) विपत्ति भी (सम्पदे) सम्पत्ति का कारण (स्यात्) हो जाती है (तत्र) वहाँ पर (अन्यत् किं गण्यते) और की तो गणना ही क्या है ? निश्चय से (लोकं तपन् भानुः) संसार को तप्तायमान करता हुआ सूर्य (अम्बुजे) कमलदलों में (विकासश्रियं) विकासरूपी लक्ष्मी को (कुर्यात्) कर देता है।

सरलार्थ — जैसे समस्त संसार को सन्तप्त करनेवाला सूर्य भी कमलों की कलियों को विकसित करता है; वैसे ही पूर्वबद्ध पुण्यकर्म का उदय हो तो विपत्ति भी सम्पत्ति बन जाती है, फिर अन्य अनुकूल बातों का क्या कहना ? अर्थात् पुण्योदय से सर्वत्र और सब प्रकार का सुख ही सुख प्राप्त होता है; प्रतिकूलताएँ नाम मात्र को भी नहीं रहतीं।

विशेषार्थ — जीवन्धरकुमार पर साक्षात् प्राणघात का महाभयंकर संकट आया था; परन्तु पुण्योदय से उस संकट का निवारण होकर उनका मान-सम्मान हो रहा है। उनको सुखदाता अनेक मन्त्रों की प्राप्ति होगी और तीर्थयात्रा का भी सुयोग मिलेगा। यह सब पुण्योदय का ही प्रताप है।

यक्षेन्द्र सुदर्शन की कृतज्ञता —

पयोवार्धिपयः पूरैरभिषिच्यायमब्रवीत् ।

पवित्रोऽसि पवित्रं मां श्वानं यत्कृतवानिति ॥२६॥

अन्वयार्थ — (अयं) इस यक्षेन्द्र ने (पयोवार्धिपयः पूरैः) क्षीरसागर के जल की धारा से (अभिषिच्य) जीवन्धरकुमार का अभिषेक करके (इति अब्रवीत्) इसप्रकार कहा कि आपने (श्वानं मां) मुझ कुत्ते के जीव को (पवित्रं) पवित्र (कृतवान्) किया (यत्) इसलिए (त्वं पवित्रः असि) आप पवित्र हो।

सरलार्थ – यक्षेन्द्र सुदर्शन ने क्षीरसागर के जल से जीवन्धरकुमार का अभिषेक करके उनसे कहा कि 'हे मान्यवर जीवन्धरकुमार ! आपने मुझे (पूर्व कुत्ते के जीव को) पवित्र यक्षेन्द्र देव बनाया है। अतः आप मेरे लिए सदैव वन्दनीय हैं।'

जीवन्धरकुमार को मन्त्रप्राप्ति –

कामरूपविधौ गाने विषहाने च शक्तिमत् ।

यक्षेन्द्रः स्वामिने पश्चान्मन्त्रत्रयमुपादिशत् ॥२७॥

अन्वयार्थ – (पश्चात्) इसके अनन्तर (यक्षेन्द्रः) उस यक्षेन्द्र ने (स्वामिने) जीवन्धरकुमार को (कामरूपविधौ) इच्छा के अनुसार रूप बनाने में (गाने) गानविद्या में (च) और (विषहाने) सर्प का विष दूर करने में (शक्तिमत्) समर्थ ऐसे (मन्त्रत्रयं) तीन मन्त्रों का (उपादिशत्) उपदेश दिया अर्थात् तीन मन्त्र सिखाये।

सरलार्थ – अभिषेक करने के उपरान्त यक्षेन्द्र सुदर्शन ने जीवन्धरकुमार को (१) कामरूप विद्या अर्थात् इच्छानुसार रूप परिवर्तन करना, (२) गानविद्या में निपुणता और (३) विषहाने अर्थात् सभी प्रकार के विषों को दूर करनेवाले – ये तीन मन्त्र अत्यन्त आदरपूर्वक प्रदान किए।

विशेषार्थ – यक्षेन्द्र सुदर्शन ने जीवन्धरकुमार के प्रति कृतज्ञतां ज्ञापित करते हुए एवं अत्यन्त सम्मानपूर्वक सुखदायक तीन विशेष मन्त्र उन्हें प्रदान किए।

यक्षेन्द्र द्वारा जीवन्धरकुमार का भविष्यकथन –

एकहायनमात्रेण धुरि राज्ञां प्रवेक्ष्यसि ।

मोक्षस्यैव पवित्र त्वं पश्चादिति च सोऽब्रवीत् ॥२८॥

अन्वयार्थ – (पवित्र) हे पवित्र आत्मन ! (त्वं) तुम (एकहायन-मात्रेण) एक वर्ष में (राज्ञां धुरि) राजाओं के प्रधान पद पर (प्रवेक्ष्यसि)

प्रवेश करोगे। (पश्चात्) फिर कुछ समय के अनन्तर (मोक्षस्य एव) मोक्ष के ही अधिकारी होंगे (इति) इसप्रकार (सः) उस यक्षेन्द्र ने (अब्रवीत्) कहा।

सरलार्थ – यक्षेन्द्र सुदर्शन ने अपने अवधिज्ञान से जीवन्धरकुमार के भविष्य का कथन किया। हे नरोत्तम ! परम सम्माननीय जीवन्धरकुमार ! आप एक वर्ष में ही राजाओं में प्रधान राजा बनोगे। इतना ही नहीं, आप राज-सम्पदा का सानन्द भोग करने के पश्चात् इसी भव से मोक्ष प्राप्त करोगे।

विशेषार्थ – यक्ष देवों की गणना व्यन्तर देवों के अन्तर्गत होती है। देवगति के चार भेदों में व्यन्तर देवों का भी नाम आता है। ये व्यन्तर देव भविष्य सम्बन्धी हजारों वर्षों में घटित होनेवाली घटनाओं को जानने में समर्थ होते हैं। अतएव यक्षेन्द्र सुदर्शन ने जीवन्धरकुमार के भविष्य की घोषणा कर दी।

बुद्धि का भवितव्यतानुसार ही होना –

तथा सम्भाव्यमानस्य स्वामिनस्तेन सन्ततम् ।

देशान्तरदिदृक्षाभूद् भाव्यधीनं हि मानसम् ॥२९॥

अन्वयार्थ – (तथा) सर्वप्रकार से (तेन) उस यक्षेन्द्र से (सन्ततं) निरन्तर (सम्भाव्यमानस्य) सम्माननीय (स्वामिनः) जीवन्धरकुमार को (देशान्तरदिदृक्षा) अन्य देशों को देखने की इच्छा (अभूत्) हुई।

[**अत्र नीतिः**] (हि) निश्चय से (भाव्यधीनं) होनहार के अनुसार ही (मानसं भवति) विचार होते हैं।

सरलार्थ – उपर्युक्त प्रकार से यक्षेन्द्र सुदर्शन अत्यन्त आदरपूर्वक जीवन्धरकुमार का सतत सम्मान कर ही रहे हैं; फिर भी जीवन्धरकुमार को अन्य-अन्य देश देखने और तीर्थयात्रा करने की इच्छा उत्पन्न हुई; क्योंकि बुद्धि भवितव्यतानुसार ही होती है।

विशेषार्थ – यक्षेन्द्र सुदर्शन की यही भावना थी कि जीवन्धरकुमार चन्द्रोदय पर्वत पर सदैव निवास करें। उनका किसी भी प्रकार से मन खिन्न न होने पाए। अतः उसने उनकी सेवा-शुश्रूषा और सम्मान में किसी प्रकार की कोई कमी नहीं

आने दी; किन्तु जीवन्धरकुमार की इच्छा अन्य देशों को देखने और तीर्थयात्रा करने की हुई। इसका कारण कोई व्यवस्था की कमी नहीं, अपितु भवितव्य है।

जीवन्धरकुमार को तीर्थयात्रा का पुण्य लाभ मिलना था तथा अनेक युवतियों से विवाह होना था। इस भवितव्य के अनुसार ही जीवन्धरकुमार की बुद्धि/भावना/विचार होना स्वाभाविक ही है।

यात्रा के लिए अनुमति -

मनीषितं हितान्वेषी ज्ञात्वा तस्य मनीषिणः ।

अनुमेने स देवोऽपि त्रिकालज्ञा हि निर्जराः ॥३०॥

अन्वयार्थ - (हितान्वेषी) हित के चाहनेवाले (सः देवः अपि) उस देव ने भी (मनीषिणः तस्य) बुद्धिमान उन जीवन्धरकुमार की (मनीषितं) इच्छा को (ज्ञात्वा) जानकर (अनुमेने) अनुमति दी।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (निर्जराः) देव (त्रिकालज्ञाः भवन्ति) द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की मर्यादासहित तीनों काल के पदार्थों को जाननेवाले होते हैं।

सरलार्थ - शुभचिन्तक यक्षेन्द्र ने जीवन्धरकुमार के अभिप्राय और भवितव्य को जानकर यात्रा के लिए अनुमति प्रदान कर दी; क्योंकि देवगति के देव भूत-भविष्य सम्बन्धी हजारों घटनाओं को अवधिज्ञान द्वारा जानते हैं।

विशेषार्थ - यक्षेन्द्र ने जीवन्धरकुमार के भविष्य को जानकर ही यात्रा की अनुमति प्रदान की है। यह सच है कि सज्जन पुरुष किसी को हठपूर्वक कुछ करने को बाध्य नहीं करते हैं। जीवन में सहजता ही सुखदायक होती है अथवा सहज जीवन ही सुखमय होता है। हठ या आग्रहीभाव तीव्रकषाय का परिणाम है।

सज्जन पुरुष कभी तीव्रकषायी नहीं होते हैं। अतएव यक्षेन्द्र सुदर्शन ने अपने निवास पर ही जीवन्धरकुमार को रखने की भावना छोड़कर उन्हें यात्रा के लिए अनुमति प्रदान कर दी।

जीवन्धरकुमार का प्रस्थान -

इदंतया पथोदन्तमुपादिश्याथ सम्मतः ।
सुदर्शनेन सोऽयासीद्धितकृत्वं हि मित्रता ॥३१॥

अन्वयार्थ - (अथ) इसके अनन्तर (इदंतया) इसप्रकार (पथोदन्तं उपादिश्य) जाने के मार्ग के वृत्तान्त को प्राप्त कर (सुदर्शनेन) सुदर्शन यक्ष की (सम्मतः) अनुमति सहित (सः) वे जीवन्धरकुमार वहाँ से (अयासीत्) चले गए।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (हितकृत्वं) हित करना ही (मित्रता भवेत्) मित्रता कहलाती है।

सरलार्थ - यक्षेन्द्र ने जीवन्धरकुमार को यात्रा का मार्ग भलीप्रकार समझा दिया। तदुपरान्त जीवन्धरकुमार ने यक्षेन्द्र से अनुमति लेकर चन्द्रोदय पर्वत से यात्रा के लिए प्रस्थान किया। मित्र के प्रति हितबुद्धि ही मित्रता है।

विशेषार्थ - यक्ष सुदर्शन और जीवन्धरकुमार परस्पर घनिष्ठ मित्र बन गए थे। मित्र का कर्तव्य सदैव अपने मित्र का हित सोचना और संकट के समय सहायता करना है। जीवन्धरकुमार को यात्रा का विचार आते ही यक्षेन्द्र ने उन्हें यात्रा का मार्ग भलीप्रकार समझा दिया, ताकि मार्ग में किसी प्रकार का कष्ट न हो। मित्र का मार्गदर्शन सदैव हितकारी ही होता है।

अकेले ही यात्रा का प्रारम्भ -

एकाकी व्यहरत्स्वामी निर्भयोऽयमितस्ततः ।
न हि स्ववीर्यगुप्तानां भीतिः केसरिणामिव ॥३२॥

अन्वयार्थ - (अयं स्वामी) इन जीवन्धरकुमार ने (निर्भयः) भयरहित (इतस्ततः) इधर-उधर (एकाकी) अकेले (व्यहरत्) विहार किया।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (स्ववीर्यगुप्तानां) अपने पराक्रम से सहित पुरुषों को (केसरिणां इव) सिंहों की तरह (भीतिः न भवेत्) भय नहीं होता है।

सरलार्थ – जीवन्धरकुमार अकेले ही सर्वत्र निर्भय होकर भ्रमण करने लगे; क्योंकि पराक्रमी सिंह के समान अपने पराक्रम से ही रक्षित पुरुषों को किसी का भय नहीं रहता है।

विशेषार्थ – निर्बल व्यक्ति को ही दूसरे के सहारे की आवश्यकता होती है और वे ही दूसरों का साथ चाहते हैं। जीवन्धरकुमार तो स्वयं ही सिंह के समान पराक्रमी और समर्थ हैं। अतः वे निर्भय होकर अपने इच्छित स्थानों की यात्रा अकेले ही सहजता से करने लगे।

ज्ञानी-अज्ञानी की मनोदशा -

एकाकिनोऽपि नोद्वेगो वशिनस्तस्य जातुचित् ।

विक्रिया हि विमूढानां सम्पदापल्लवापि ॥३३॥

अन्वयार्थ – (एकाकिनः) अकेले (वशिनः) जितेन्द्रिय (तस्य) उन जीवन्धरकुमार को (जातुचित्) कभी भी (उद्वेगः) उद्वेग (न अभूत्) नहीं हुआ।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (विमूढानां) अज्ञानी मूर्ख पुरुषों के ही (सम्पदापल्लवात् अपि) सम्पत्ति-विपत्ति के लेश मात्र से (विक्रिया उत्पद्यते) चित्त में विकार उत्पन्न हो जाता है।

सरलार्थ – जितेन्द्रिय जीवन्धरकुमार को अकेले होने पर भी यात्रा में किंचित् भी विषाद नहीं हुआ; क्योंकि मूर्ख तथा अज्ञानी को ही अत्यल्प सम्पत्ति और विपत्ति में हर्ष-विषाद हुआ करते हैं, ज्ञानी को नहीं।

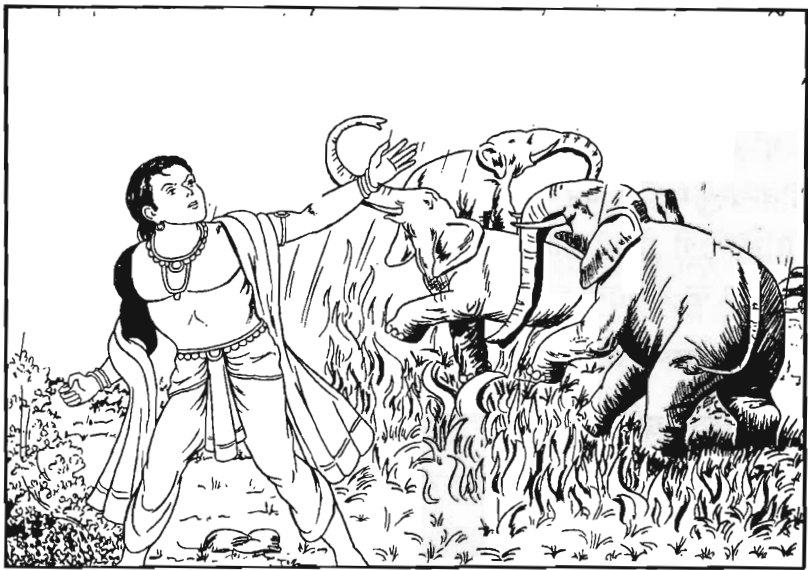
विशेषार्थ – जीवन्धरकुमार गुरुवर आर्यनन्दी के सर्वोत्तम शिष्य थे। वे श्रेष्ठतम विद्वान और तत्त्वज्ञानी महापुरुष थे। ऐसे महामानव ज्ञानी के जीवन में हर्ष-विषाद उत्पन्न होने का प्रश्न ही नहीं उठता है। जैसे प्रकाश के पास अँधेरा नहीं रह सकता है; उसीप्रकार निर्भय एवं वीर जीवन्धरकुमार के पास आने में भय को भी भय लगता था।

हाथियों को बचाने की भावना -

अरण्ये क्वचिदालोक्य वनदावेन वारितान् ।

दह्यमानानसौ महास्त्रातुमैच्छदेनकपान् ॥३४॥

अन्वयार्थ - (क्वचित् अरण्ये) किसी वन में (असौ महाः) इन पूज्य जीवन्धरकुमार ने (वनदावेन वारितान्) वन की अग्नि से घिरे हुए और (दह्यमानान्) जलते हुए (अनेकपान्) हाथियों को (आलोक्य) देखकर (त्रातुं ऐच्छत्) उन्हें बचाने की इच्छा की ।



सरलार्थ - भ्रमण करते हुए जीवन्धरकुमार एक समय किसी भयंकर वन में पहुँचे। वहाँ उन्होंने देखा कि वन में सर्वत्र आग लगी हुई है और उसमें हाथियों का समूह घिरा हुआ है। विश्वबन्धु जीवन्धरकुमार के मन में हाथियों को जलते हुए देखकर दया उत्पन्न हुई और उनको बचाने की भावना हुई।

धर्मात्मा का स्वभाव -

धर्मो नाम कृपामूलः सा तु जीवानुकम्पनम् ।

अशरण्यशरण्यत्वमतो धार्मिकलक्षणम् ॥३५॥

अन्वयार्थ - [अत्र नीतिः] (कृपामूलः धर्मः नाम) दया है मूल जिसका वह धर्म है। (सा तु जीवानुकम्पनं) और जीवों की रक्षा करना ही दया कहलाती है। (अतः) इसलिए (अशरण्यशरण्यत्वं) जिसका कोई रक्षक नहीं है, उसकी रक्षा करना ही (धार्मिकलक्षणं) धर्मात्मा पुरुषों का लक्षण है।

सरलार्थ - दया ही धर्म का मूल है और जीवों की रक्षा करना ही धर्म है। अरक्षित जीवों पर दया करना, धर्मात्मा का लक्षण है।

विशेषार्थ - जीवन्धरकुमार ने जब जंगल में चारों ओर से घिरे हुए अरक्षित हाथियों को भयंकर आंग में जलते हुए देखा तो उन्हें बचाने की इच्छा हुई। पर करें क्या ? सामान्य अल्प अग्नि हो तो उसे बुझाना सुलभ है, पर जंगल की आग को कैसे बुझाएँ ? छोटे-छोटे जीव हों तो उन्हें हाथों से उठाकर बचाया जा सकता है; परन्तु हाथियों को कैसे उठाएँ ? जीवन्धरकुमार के मन में यही विचार चल रहे हैं। धर्मात्मा पुरुष को इन परिस्थितियों में भी हाथियों को बचाने की भावना चल रही है। इससे धर्मात्मा के स्वभाव का ज्ञान होता है।

पुण्यशाली की इच्छा का सफल होना -

ववृषुर्वारिदास्तत्र तावतैव सगर्जिताः।

सुकृतीनामहो वाञ्छा सफलैव हि जायते ॥३६॥

अन्वयार्थ - (तत्र) वहाँ पर (तावता एव) उसी समय (वारिदाः) मेघ (सगर्जिताः) गर्जना करते हुए (ववृषुः) बरसे।

[अत्र नीतिः] (अहो) हर्ष है ! (हि) निश्चय से (सुकृतीनां) पुण्यवान की (वाञ्छा) इच्छा (सफला एव जायते) सफल ही होती है।

सरलार्थ - जीवन्धरकुमार को हाथियों को बचाने की भावना होती है। उसी समय आकाश में गर्जना करते हुए मेघ मूसलाधार पानी बरसाने लगे, सर्वत्र पानी ही पानी हो गया। अहो ! पुण्यशाली जीवों की इच्छा सफल ही होती है।

विशेषार्थ – जंगल की अग्नि बुझाना और हाथियों की रक्षा करना दोनों ही कार्य कठिन ही नहीं, अशक्य लग रहे थे; किन्तु सहज सफल हो गए। पुण्य का महत्त्व ही ऐसा होता है। **दिशः कामान् दुहन्ति च अर्थात् दिशाएँ भी पुण्यवानों की इच्छा सफल करती हैं।** (सागारधर्माभूत अध्याय-४ देखें)

हाथियों की रक्षा से सन्तुष्ट –

अनेकपानसौ वीक्ष्य रक्षितानतृपत्तराम् ।

स्वयं त्वासीत्समः स्वामी स्वस्य बन्धविमोक्षयोः ॥३७॥

अन्वयार्थ – (असौ) जीवनधरकुमार (रक्षितान्) प्राणों से बचे हुए (अनेकपान्) हाथियों को (वीक्ष्य) देखकर (अतृपत्तरां) अत्यन्त सन्तुष्ट हुए, किन्तु (स्वयं) स्वयं (स्वामी) जीवनधरकुमार (स्वस्य बन्धविमोक्षयोः) अपने बन्धन में पड़ने और उससे बच जाने में (समः) विषाद व हर्षरहित अर्थात् समभावी (आसीत्) थे।

सरलार्थ – अग्नि द्वारा जलने से बचे हुए हाथियों को देखकर दयामूर्ति जीवनधरकुमार को अत्यन्त सन्तोष हुआ; किन्तु पूर्व में स्वयं को काष्ठांगार ने बन्धन में बाँधने पर और यक्षेन्द्र द्वारा बन्धन से मुक्त कराए जाने पर किसी प्रकार का हर्ष-विषाद नहीं किया, अपितु समभाव रखा।

सज्जनों का सहज स्वभाव –

सम्पदापद्द्वये स्वेषां समभावा हि सज्जनाः ।

परेषां तु प्रसन्नाश्च विपन्नाश्च निसर्गतः ॥३८॥

अन्वयार्थ – [अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (सज्जनाः) सज्जन पुरुष (स्वेषां सम्पदापद्द्वये) अपनी सम्पत्ति और विपत्ति में (समभावाः) मध्यस्थ भाववाले (भवन्ति) होते हैं। (तु) किन्तु (परेषां) दूसरों की सम्पत्ति और विपत्ति काल में (निसर्गतः) स्वभाव से ही (प्रसन्नाः च विपन्नाः च भवन्ति) वे सुखी और दुःखी होते हैं।

सरलार्थ – सज्जन पुरुष नियम से अपने सुख-दुःख में हर्ष-विषाद

नहीं करते, समताभाव धारण करते हैं और दूसरों के सुख-दुःख में स्वाभाविकरूप से सुखी-दुःखी होते हैं।

विशेषार्थ – जिनधर्म के अनुसार तो सम्यग्दृष्टि/समदृष्टि जीव ही सज्जन हैं। जीवन्धरकुमार को वस्तुस्वरूप का यथार्थ निर्णय होने से तथा मिथ्यात्व एवं एक कषाय चौकड़ी का अभाव होने से यथापदवी उनके जीवन में वीतरागता प्रगट हुई है। श्रद्धा की अपेक्षा तो वे लोकालोक के प्रति ज्ञाता-दृष्टा भाववाले हो गए हैं। अतः अपने सुख-दुःख के तो वे ज्ञाता-दृष्टा ही हैं; किन्तु अन्य जीवों के सुख-दुःख को जानकर उन्हें अपनी भूमिका के अनुसार सहज ही उनके प्रति सहानुभूति का राग आए बिना नहीं रहता। उसके अनुसार क्रियारूप प्रवर्तते भी हैं; पर वे उस क्रिया के एवं राग के ज्ञाता-दृष्टा ही रहते हैं।

तीर्थक्षेत्रों की वन्दना –

ततस्तस्माद्विनिर्गत्य तीर्थस्थानान्यपूजयत् ।

सदसत्त्वं हि वस्तूनां संसर्गादेव दृश्यते ॥३६॥

अन्वयार्थ – (ततः) तदनन्तर (तस्मात्) उस वन से (विनिर्गत्य) निकलकर (तीर्थस्थानानि अपूजयत्) उन जीवन्धरकुमार ने तीर्थस्थानों की वन्दना की।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (वस्तूनां) पदार्थों का (सदसत्त्वं) अच्छा या बुरापन (संसर्गात् एव) उनके साथ सम्बन्ध होने से ही (दृश्यते) देखा जाता है।

सरलार्थ – जंगल से बाहर निकलकर जीवन्धरकुमार तीर्थक्षेत्रों का दर्शन-पूजन करते हैं। वास्तव में देखा जाए तो किसी पदार्थ का अच्छा-बुरापन, अच्छे-बुरे पदार्थ के संसर्ग से ही होता है।

विशेषार्थ – यद्यपि तीर्थक्षेत्र की भूमि भी साधारण भूमि ही होती है; परन्तु उस भूमि पर तीर्थकर आदि महापुरुषों का विहार या गर्भादि कल्याणक

सम्पन्न होते हैं, अतः वह भूमि वन्दनीय और पूजनीय बन जाती है और तीर्थक्षेत्र कहलाने लगती है। साधक जीव उन महापुरुषों के गुणानुराग से ही क्षेत्र के दर्शन-पूजन करते हैं। इस भावना से ही जीवन्धरकुमार भी तीर्थक्षेत्रों का दर्शन-पूजन कर रहे हैं।

जीवन्धरकुमार का सम्मान -

अथ सम्भावयामास यक्षी सा धर्मरक्षिणी ।

धर्ममूर्तिममुं तत्र सम्यक्कशिपुदानतः ॥४०॥

अन्वयार्थ - (अथ) इसके अनन्तर (तत्र) वहाँ पर (धर्मरक्षिणी सा यक्षी) धर्म की रक्षा करनेवाली प्रसिद्ध यक्षिणी ने (अमुं धर्ममूर्तिं) इन धर्ममूर्ति जीवन्धरकुमार का (कशिपुदानतः) अन्न वस्त्रादिक के दान से (सम्यक्) भले प्रकार (सम्भावयामास) आदर-सत्कार किया।

सरलार्थ - तीर्थयात्रा करते समय तीर्थक्षेत्र पर ही तीर्थ की रक्षा करनेवाली किसी यक्षिणी ने जीवन्धरकुमार को अन्न और वस्त्रादि देकर उत्तम पद्धति से उनका सम्मान किया।

विशेषार्थ - अबतक पाठकों ने जीवन्धरकुमार से उपकृत यक्षेन्द्र ने कृतज्ञतावश उनका आदर-सत्कार और सम्मान किया था - यह जाना है।

यहाँ प्रकरण ही दूसरा है - तीर्थक्षेत्र की रक्षिका यक्षिणी पर न तो जीवन्धरकुमार ने कोई उपकार किया है, न उससे किसी प्रकार की याचना की और न उसका स्मरण भी किया है; फिर भी यक्षिणी ने उनका सम्मान किया।

यहाँ आचार्य यह बात स्पष्ट करना चाहते हैं कि जिसे पूर्वबद्ध पुण्य का उदय हो - ऐसे सज्जन और धार्मिक प्रवृत्ति के मनुष्यों की सहायता एवं सम्मान यक्ष-यक्षिणी स्वयं करते हैं। उनसे याचना करने की आवश्यकता ही नहीं है और न उनकी पूजा-अर्चना करने की। मनुष्य को मात्र सच्चे देव-शास्त्र-गुरु का सच्चा उपासक होना चाहिए, शेष सब अपने पुण्य-पाप के अनुसार अपने आप होता रहता है।

धर्मात्मा पुरुषों की पूजा -

दैवतेनापि पूज्यन्ते धार्मिकाः किं पुनः परैः ।

अतो धर्मरताः सन्तु शर्मणे स्पृहयालवः ॥४१॥

अन्वयार्थ - [अत्र नीतिः] (दैवतेन अपि) देवता से भी (धार्मिकाः) धार्मिक पुरुष (पूज्यन्ते) पूजे जाते हैं (परैः पुनः किं) औरों का तो फिर कहना ही क्या है ? (अतः) इसलिए (शर्मणे स्पृहयालवः) सुख की वाञ्छा करनेवाले पुरुष (धर्मरताः सन्तु) धर्म में प्रीति करने वाले हों।

सरलार्थ - देवगति के देव भी धर्मात्मा पुरुषों की पूजा करते हैं, तो अन्य सामान्य पुरुष धर्मात्मा का आदर-सत्कार और सहयोग करें तो इसमें क्या आश्चर्य है ? अतएव सुख की कामना करनेवाले सभी व्यक्तियों को धर्म को ही स्वीकार करना चाहिए। आप भी धर्म की प्रीति बढ़ाओ और धर्म में ही मग्न हो जाओ।

विशेषार्थ - धर्म के महत्त्व को सर्वत्र स्वीकार किया गया है। धर्म की अनेक परिभाषाएँ हैं। उनका भाव समझकर जीवन धर्ममय बनाना चाहिए। (१) दया को धर्म कहा गया है। (२) सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय धर्म है। (३) वस्तु के स्वरूप का दूसरा नाम धर्म है। (४) जो जीव को संसार दुःखों से निकालकर उत्तम सुख में स्थापित करे, वह धर्म है। (५) सम्यग्दर्शन को धर्म का मूल कहा है। (६) चारित्र को ही वास्तविक धर्म कहते हैं। (७) वीतराग परिणामों को भी धर्म कहा है। (८) सच्चे देव-शास्त्र-गुरु का श्रद्धान ही धर्म है। (९) आत्म-श्रद्धान ही निश्चय धर्म है। धर्म की इन परिभाषाओं पर गम्भीरता से विचार करें तो उनमें कोई अन्तर भाषित नहीं होता। सभी एक-दूसरे की पूरक हैं और सच्चे सुख का मार्ग प्रशस्त करती हैं।

उपकथा-११

जीवन्धरकुमार का चन्द्राभा नगरी में पहुँचना -

ततः पल्लवदेशस्थां चन्द्राभाख्यां क्रमात्पुरीम् ।

भेजे शुभनिमित्तेन सनिमित्ता हि भाविनः ॥४२॥

अन्वयार्थ – (ततः) तदनन्तर (क्रमात्) क्रम से (पल्लवदेशस्थां) पल्लव देश में स्थित (चन्द्राभाख्यां पुरीं) चन्द्राभा नाम की नगरी को इन जीवन्धरकुमार ने (शुभनिमित्तेन) शुभ निमित्त से (भेजे) प्राप्त किया।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (भाविनः) भविष्य में होनेवाली बातें (सनिमित्ताः) अवश्य कुछ न कुछ निमित्तवाली [भवति] होती हैं।

सरलार्थ – सुखपूर्वक यात्रा करते हुए जीवन्धरकुमार पल्लव देश की चन्द्राभा नगरी में पुण्योदय से पहुँच गए; क्योंकि भविष्य में होनेवाले कार्य शुभ निमित्तपूर्वक ही होते हैं।

विशेषार्थ – ‘कारणानुविधायिनि कार्याणि’ शुभ कार्य के लिए शुभ निमित्त और अशुभ कार्य के लिए अशुभ निमित्त सहज ही मिल जाते हैं। यह वस्तुव्यवस्था का स्वरूप है। जीवन्धरकुमार शुभ निमित्तपूर्वक चन्द्राभा नगरी में पहुँचे।

जीवन्धरकुमार द्वारा सर्पविष दूर करना –

राज्ञो धनपतेः पुत्रीमहिदष्टामजीवयत्।

निर्हेतुकान्यरक्षा हि सतां नैसर्गिको गुणः ॥४३॥

अन्वयार्थ – वहाँ चन्द्राभा नगरी में उन जीवन्धरकुमार ने (अहिदष्टां) साँप से डसी हुई (राज्ञः धनपतेः) राजा धनपति की (पुत्रीं) पुत्री को (अजीवयत्) जीवनदान दिया।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (निर्हेतुका) बिना प्रयोजन के (अन्यरक्षा) दूसरों की रक्षा करना ही (सतां) सज्जन पुरुषों का (नैसर्गिकः गुणः) स्वाभाविक गुण [अस्ति] है।



सरलार्थ – उस चन्द्राभा नगरी में धनपति नामक राजा की पद्मा नाम की

पुत्री सर्प के द्वारा डसे जाने से मरणासन्न अवस्था में थी। जीवन्धरकुमार ने विषहान मन्त्र द्वारा सर्प के विष को दूर कर राजकन्या को जीवनदान दिया; क्योंकि बिना कारण ही दूसरों की रक्षा करना सज्जन पुरुषों का स्वाभाविक गुण है।

विशेषार्थ – जिस दिन जीवन्धरकुमार चन्द्राभा नगरी में पहुँचे, उसी दिन राजकुमारी पद्मा को सर्प ने डस लिया था। वह मरणासन्न स्थिति में थी। जब इस बात का पता जीवन्धरकुमार को लगा तो वे स्वयं उसके पास पहुँच गए और अपने विषनाशक मन्त्र से क्षणमात्र में ही राजकुमारी को निर्विष कर जीवनदान दिया। सज्जन परोपकार के कार्य निरपेक्षभाव से ही करते हैं।

जीवन्धरकुमार का स्वागत –

लोकपालस्तदालोक्य तज्ज्येष्ठस्तमपूजयत् ।

प्राणप्रदायिनामन्या न ह्यस्ति प्रत्युपक्रिया ॥४४॥

अन्वयार्थ – (तज्ज्येष्ठः लोकपालः) उस पुत्री के बड़े भाई लोकपाल ने (तत् आलोक्य) यह देखकर (तं अपूजयत्) जीवन्धरकुमार की पूजा की।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (प्राणप्रदायिनां) प्राणों को बचानेवाले पुरुषों का (अन्या प्रत्युपक्रिया न अस्ति) पूजा को छोड़कर दूसरा प्रत्युपकार नहीं है।

सरलार्थ – अपनी बहिन पद्मा को जीवन्धरकुमार ने विषरहित किया है – यह जानकर राजकुमारी के बड़े भाई लोकपाल ने जीवन्धरकुमार का हार्दिक स्वागत-सत्कार किया; क्योंकि जीवनदान देनेवाले महापुरुषों का हार्दिक सत्कार के अतिरिक्त अन्य बाह्य द्रव्यों से प्रत्युपकार हो ही नहीं सकता।

पूज्य-पूजक का सहज सुमेल –

पूज्या अपि स्वयं सन्तः सज्जनानां हि पूजकाः ।

पूज्यत्वं नाम किं नु स्यात्पूज्यपूजाव्यतिक्रमे ॥४५॥

अन्वयार्थ – [अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (स्वयं पूज्याः अपि) स्वयं पूजे जाते हुए भी (सन्तः) सज्जन पुरुष (सज्जनानां) सज्जन पुरुषों के (पूजकाः) पूजक (भवन्ति) होते हैं; क्योंकि (पूज्यपूजाव्यतिक्रमे) पूज्य पुरुषों की पूजा का उल्लंघन करने पर (पूज्यत्वं नाम किं नु स्यात्) उनमें पूज्यपना कैसे रह सकता है ? नहीं रह सकता है।

सरलार्थ – स्वयं दूसरे से पूजनीय होने पर भी सज्जन पुरुष अन्य सज्जन पुरुषों के पूजक होते हैं; क्योंकि पूज्य पुरुषों की पूजा का उल्लंघन होने पर पूज्यपना भी कायम नहीं रह सकता।

विशेषार्थ – यद्यपि महापुरुष अपने से छोटे सामान्य पुरुषों से सहज ही अतिशय रीति से पूजनीय होते हैं; फिर भी वे महापुरुष अपने से बड़ों का आदर-सत्कार/बहुमान करते ही रहते हैं। यदि वे इस नियम को भंग करके उनका सम्मान नहीं करेंगे तो वे स्वयं पूज्यपने को प्राप्त नहीं होंगे। अतः इसी नियम को सार्थक करते हुए राजकुमार लोकपाल ने जीवन्धरकुमार का अत्यन्त आदर-सत्कार किया।

बुद्धिमानों की नम्रता फलदायक –

प्राज्ञेषु प्रह्वतावश्यमात्मवश्योचिता मता।

प्रह्वताऽपि धनुष्काणां कार्मुकस्येव कामदा ॥४६॥

अन्वयार्थ – (आत्मवश्या) स्वाधीन (प्रह्वता) नम्रता (प्राज्ञेषु) बुद्धिमान पुरुषों में (अवश्यं) अवश्य ही (उचिता) उत्तम (मता) मानी गई है।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (प्रह्वता अपि) नम्रता भी (धनुष्काणां) धनुर्धारियों के (कार्मुकस्य इव) धनुष की नम्रता के सदृश (कामदा) इच्छित कार्यों को सिद्ध करनेवाली होती [भवति] है।

सरलार्थ – जैसे धनुष की नम्रता धनुर्धारियों के मनोरथ सिद्ध करने वाली होती है, वैसे ही बुद्धिमानों में आत्मा को वश में रखने वाली नम्रता आवश्यक है, जिससे उनके मनोरथों की सहज सिद्धि होती है।

विशेषार्थ – जिसप्रकार धनुष की नम्रता धनुर्धारियों के लक्ष्य को वेधकर इच्छित कार्य सिद्ध कर देती है; उसीप्रकार बुद्धिमानों की नम्रता भी अपेक्षित मनोरथ को पूर्ण करती है। अतः महापुरुषों में नम्रता होना आवश्यक है। इसीलिए राजकुमार लोकपाल ने भी जीवन्धरकुमार के समक्ष नम्रता व्यक्त करके अपनी महानता का परिचय दिया।

शरीर से ही मनुष्य की महानता का अनुमान –

वपुर्वीक्षणमात्रेण निरणाय्यस्य वैभवम्।

वपुर्वक्ति हि माहात्म्यं दौरात्म्यमपि तद्विदाम् ॥४७॥

अन्वयार्थ – उस लोकपाल ने (वपुः वीक्षणमात्रेण) शरीर के देखने मात्र से ही (अस्य वैभवं) इन जीवन्धरकुमार के वैभव का (निरणायि) निर्णय किया।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (वपुः) शरीर (तद्विदां) शरीर के लक्षणों को जाननेवाले पुरुषों के सामने (माहात्म्यं दौरात्म्यं वक्ति) सज्जनता और दुर्जनता कह देता है।

सरत्नार्थ – राजकुमार लोकपाल ने जीवन्धरकुमार के शरीर मात्र को देखकर ही उनके वैभव का निर्णय कर लिया; क्योंकि शरीर के लक्षणों को जाननेवाले शरीर को देखकर ही मनुष्य की सज्जनता और दुर्जनता का निर्णय कर लेते हैं।

विशेषार्थ – शरीर के लक्षणों को देखकर ही चतुर पुरुष, मनुष्य के स्वभाव का परिचय प्राप्त कर लेते हैं। अतः राजकुमार लोकपाल ने जीवन्धरकुमार के शरीर को देखकर ही उनकी महानता और सज्जनता का निर्णय कर लिया। शब्दों से बिना बोले ही शरीर को देखकर अनुमान से भी बहुत कुछ यथार्थ जानना हो जाता है।

कन्या के साथ आधा राज्य का मिलना -

अर्धराज्यं च कन्यां च पार्थिवः स्वामिने ददौ ।

पात्रतां नीतमात्मानं स्वयं यान्ति हि सम्पदः ॥४८॥

अन्वयार्थ - (पार्थिवः) राजा धनपति ने (स्वामिने) जीवन्धरकुमार के लिए (अर्धराज्यं) आधा राज्य (च) और (कन्यां) कन्या (ददौ) दे दी ।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (सम्पदः) सम्पत्तियाँ (पात्रतां नीतं) पात्रता को प्राप्त (आत्मानं) आत्मा को (स्वयं यान्ति) स्वयं प्राप्त हो जाती हैं ।

सरलार्थ - चन्द्राभा नगरी के राजा धनपति ने जीवन्धरकुमार की योग्यता देखकर उन्हें अपना आधा राज्य और राजकुमारी पद्मा को ससम्मान सौंप दिया; क्योंकि योग्यता प्राप्त पुरुषों को धन-सम्पत्ति स्वयं ही प्राप्त होती है। इसप्रकार भी कह सकते हैं कि सम्पत्ति स्वयं ही योग्य पुरुषों को खोज लेती है।

राजकुमारी पद्मा का स्वीकार -

तिलोत्तमासुतां पश्चाल्लोकपालसमर्पिताम् ।

पर्यणैषीत्पवित्रोऽयं पद्माख्यां तां यवीयसीम् ॥४९॥

• अन्वयार्थ - (पश्चात्) पश्चात् (अयं पवित्रः) इन पवित्र जीवन्धरकुमार ने (लोकपालसमर्पितां) लोकपाल द्वारा दी हुई (तिलोत्तमासुतां) तिलोत्तमा की पुत्री (यवीयसीं) युवती (तां पद्माख्यां) उस पद्मा नाम की कन्या को (पर्यणैषीत्) ब्याहा ।

सरलार्थ - जीवन्धरकुमार ने राजकुमार लोकपाल द्वारा प्रदत्त धनपति राजा एवं तिलोत्तमा रानी की युवा सुपुत्री पद्मा से विधिपूर्वक विवाह किया ।

इति श्रीवादीभसिंहसूरिविरचिते क्षत्रचूडामणौ

पद्मालम्भो नाम पञ्चमो लम्बः ।

छठवाँ लम्ब

धर्मात्माओं की भोगों में अनासक्ति -

अथोपयम्य पद्मां तां रमयन्नप्ययात्ततः ।

असक्तो हि सुखं भुङ्क्ते कृतार्थोऽपि जनः कृती ॥१॥

अन्वयार्थ - (अथ) इसके पश्चात् (तां पद्मां) उस पद्मा नाम की कन्या से (उपयम्य) विवाह करके (रमयन् अपि) उसके साथ सुख भोगते हुए भी जीवन्धरकुमार (ततः अयात्) वहाँ से चले गए।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (कृतार्थः अपि) भोग सामग्री से कृतार्थ होने पर भी (कृती जनः) धर्मात्मा पुरुष (असक्तः सन्) अनासक्त रहते हुए (सुखं भुङ्क्ते) सुख का भोग करते हैं।

सरलार्थ - राजकुमारी पद्मा के साथ विवाह करने के उपरान्त जीवन्धरकुमार उसके साथ पंचेन्द्रियजन्य सुख का भोग भोगते हुए एक दिन चन्द्राभा नगरी से किसी से कुछ कहे बिना ही निकल गए; क्योंकि धर्मात्मा पुरुष भोग-सामग्री होने पर भी उसमें आसक्त नहीं होते अर्थात् विरक्त रहकर सुख का भोग करते हैं।

विशेषार्थ - धर्मात्मा पुरुष भोग भोगते हुए भी जल से भिन्न कमल की भाँति ही रहते हैं। ज्ञानी और अज्ञानी दोनों की भोग भोगने की बाह्य क्रिया तो देखने में एक-सी ही लगती है; परन्तु दोनों के परिणामों में जमीन-आसमान का अन्तर होता है।

अज्ञानी मिथ्यादृष्टि तो जैसे बिल्ली चूहे में आसक्त रहती है, मार पड़ने पर भी वह चूहे को नहीं छोड़ती; वैसे ही अज्ञानी जीव भोगों में आसक्त रहता है और उनके छूटने पर वह महादुःखी होता है।

जैसे हिरण घास खाते समय थोड़ी-सी भी आहट होने पर घास को छोड़कर भाग जाता है; वैसे ही ज्ञानी जीव भोगों में अनासक्त रहते हैं।

इसीकारण ज्ञानी जीव भोगों को स्वयं छोड़ने के लिए तत्पर रहते हैं। कदाचित् भोग छूट भी जाएँ तो दुःखी नहीं होते। (देखिए समयसार की गाथा क्रमांक १६७ निर्जरा अधिकार)

आसक्त पद्मा का दुःखी होना -

पद्मा तु तद्वियोगेन दुःखसागरसादभूत्।
तत्त्वज्ञानविहीनानां दुःखमेव हि शाश्वतम् ॥२॥

अन्वयार्थ - (तु पुनः) फिर (पद्मा) पद्मा (तद्वियोगेन) जीवन्धरकुमार के वियोग से (दुःखसागरसात् अभूत्) दुःख के सागर में डूब गई।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (तत्त्वज्ञानविहीनानां) तत्त्वज्ञान रहित जीवों को (शाश्वतं) निरन्तर (दुःखं एव स्यात्) दुःख ही रहता है।

सरलार्थ - किन्तु आसक्त पद्मा अपने पतिदेव जीवन्धरकुमार के वियोग से दुःखरूपी समुद्र में डूब गई; क्योंकि तत्त्वज्ञान रहित जीवों को सदा दुःख ही रहता है।

विशेषार्थ - जिस वस्तु का संयोग होता है, उसका नियम से वियोग होता ही होता है - यह वस्तुस्वरूप न जानने के कारण पद्मा अत्यन्त दुःखी हुई। जिसे दुःख नहीं चाहिए, उसे वस्तुस्वरूप का ज्ञान प्राप्त करना ही चाहिए, अन्य कोई सुखी होने का उपाय नहीं है।

बुद्धिमान के कार्य नियम से पूर्ण होते हैं -

लोकपालजनैर्नायं रोद्धुं शेके गवेषिभिः।
प्रतिहन्तुं न हि प्राज्ञैः प्रारब्धं पार्यते परैः ॥३॥

अन्वयार्थ - (गवेषिभिः) ढूँढनेवाले (लोकपालजनैः) लोकपाल के नौकर-चाकर (अयं) इन जीवन्धरकुमार को (रोद्धुं) रोकने में (न शेके) समर्थ नहीं हुए।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (प्राज्ञैः प्रारब्धं) बुद्धिमानों के द्वारा

आरम्भ किए कार्य में (परैः प्रतिहन्तु न पार्यते) दूसरे विघ्न डालने में समर्थ नहीं होते।

सरलार्थ – पद्मा के भाई राजकुमार लोकपाल ने अपने सेवकों द्वारा अज्ञात रीति से गए हुए जीवन्धरकुमार की खोज कराई। सेवक उनसे मिले और चन्द्राभा नगरी को वापिस लाने का प्रयास भी किया; परन्तु वे जीवन्धरकुमार की अगली यात्रा को रोक नहीं सके; क्योंकि बुद्धिमानों द्वारा प्रारम्भ किया गया कार्य दूसरों से रुकना असम्भव ही होता है।

विशेषार्थ – बुद्धिमान व्यक्ति विचारपूर्वक जिस कार्य को करने का निर्णय लेते हैं और प्रारम्भ कर देते हैं, वे उसे पूर्ण करके ही छोड़ते हैं। जीवन्धरकुमार उन्हीं बुद्धिमानों में से एक हैं। उन्होंने जिस उद्देश्य से यात्रा करने का निर्णय लिया है, उसे उनके उद्देश्य की पूर्ति होने तक कोई रोक नहीं सका।

जीवन्धरकुमार द्वारा तीर्थ-वन्दना –

सत्वरं गत्वरः स्वामी तीर्थस्थानान्यपूजयत्।

पावनानि हि जायन्ते स्थानान्यपि सदाश्रयात् ॥४॥

अन्वयार्थ – (सत्वरं) शीघ्र (गत्वरः) चलनेवाले (स्वामी) जीवन्धर कुमार ने (तीर्थस्थानानि) तीर्थस्थानों की (अपूजयत्) पूजा की।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (स्थानानि अपि) स्थान भी (सदाश्रयात्) महात्मा पुरुषों के आश्रय से (पावनानि जायन्ते) पवित्र हो जाते हैं।

सरलार्थ – शीघ्र गति से गमन करनेवाले जीवन्धरकुमार ने अनेक तीर्थक्षेत्रों की पूजा और वन्दना की। अरहन्तादि महापुरुषों से सम्बन्ध रखनेवाले स्थान भी पवित्र हो जाते हैं।

विशेषार्थ – तीर्थक्षेत्रों की वन्दना/अर्चना का मानव जीवन में विशेष महत्त्व है। तीर्थक्षेत्र क्या हैं? कहाँ हैं? – इस पर विचार करें तो ज्ञात होता

है कि तीर्थक्षेत्र की भूमि भी साधारण भूमि जैसी ही होती है; किन्तु उस भूमि पर तीर्थकर-आदि महापुरुषों का विहार अथवा पंचकल्याणकों में से कोई एक या अनेक कल्याणक होते हैं, उनके प्रताप से वह भूमि पूजनीय और वन्दनीय हो जाती है। उन्हीं स्थानों को तीर्थक्षेत्र कहते हैं। साधक जीव उन महापुरुषों के गुणानुराग से ही वहाँ दर्शन-पूजन करने जाते हैं।

महापुरुषों के संसर्ग से भूमि का तीर्थक्षेत्र बन जाना -

सद्भिरध्युषिता धात्री सम्पूज्येति किमद्भुतम् ।

कालायसं हि कल्याणं कल्पते रसयोगतः ॥५॥

अन्वयार्थ - [अत्र नीतिः] (सद्भिः अध्युषिता) यदि महापुरुषों के निवास से (धात्री) पृथ्वी (सम्पूज्या) पूजनीय हो जाती है तो (इति किं अद्भुतं) इसमें क्या आश्चर्य है ? (हि) निश्चय से (कालायसं) काला लोहा भी (रसयोगतः) रस-प्रक्रिया से (कल्याणं) स्वर्णरूप (कल्पते) हो जाता है।

सरलार्थ - सज्जन अर्थात् श्रेष्ठ महापुरुष तीर्थकरादि पंचपरमेष्ठियों के निवास/सहवास से वह भूमि पूजनीय तीर्थक्षेत्र बन जाती है, इसमें कुछ आश्चर्य नहीं है; क्योंकि काला लोहा भी रसायन के सम्बन्ध से मूल्यवान् स्वर्ण बन जाता है।

संगति का प्रभाव -

सदसत्सङ्गमादेव सदसत्त्वे नृणामपि ।

तस्मात्सत्सङ्गताः सन्तु सन्तो दुर्जनदूरगाः ॥६॥

अन्वयार्थ - [अत्र नीतिः] (सत् असत्सङ्गमात् एव) सज्जनों और दुर्जनों के समागम से ही (नृणां) मनुष्यों के (सदसत्त्वे) सज्जनता और दुर्जनता (जायेते) उत्पन्न होती है। (तस्मात्) इसलिए (सन्तः) सज्जन पुरुष (दुर्जनदूरगाः सन्तः) दुर्जनों से दूर रहते हुए (सत्सङ्गताः सन्तु) सज्जनों से ही समागम करनेवाले होंगे।

सरलार्थ – सज्जनों और दुर्जनों की संगति/समागम से ही मनुष्य को सज्जनता और दुर्जनता की प्राप्ति होती है। अतः सज्जन पुरुषों को दुर्जनों से दूर रहकर सज्जन पुरुषों की संगति करना उचित है।

उपकथा-१२

जीवन्धरकुमार का तपस्वियों के आश्रम में पहुँचना -

याजंयाजमटन्नेव तीर्थस्थानानि जीवकः ।

क्रमेणारण्यमध्यस्थं तापसाश्रममाश्रयत् ॥७॥

अन्वयार्थ – (जीवकः) जीवन्धरकुमार (अटन् एव) घूमते-फिरते ही (तीर्थस्थानानि) तीर्थस्थानों की (याजंयाजं) अधिक रीति से पुनः पुनः पूजा कर (क्रमेण) क्रम से (अरण्यमध्यस्थं) वन के मध्य में स्थित (तापसाश्रमं) तपस्वियों के आश्रम में (आश्रयत्) पहुँचे।

सरलार्थ – जीवन्धरकुमार भ्रमण करते हुए एवं तीर्थक्षेत्रों की पुनः पुनः वन्दना करते हुए पल्लवदेश के चित्रकूट पर्वत पर स्थित तपस्वियों के आश्रम में पहुँच गए।

जीवन्धरकुमार की दयाभावना -

असत्तपो विलोक्यासीदनुकम्पी तपस्विनाम् ।

निर्व्याजं सानुकम्पा हि सार्वः सर्वेषु जन्तुषु ॥८॥

अन्वयार्थ – जीवन्धरकुमार वहाँ पर (तपस्विनां) तपस्वियों के (असत्तपः विलोक्य) झूठे/मिथ्यातप को देखकर (अनुकम्पी आसीत्) दयायुक्त हुए।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (सार्वः पुरुषाः) सबका हित करनेवाले पुरुष (सर्वेषु जन्तुषु) सम्पूर्ण प्राणियों पर (निर्व्याजं) निष्कपट (सानुकम्पा भवन्ति) दया करनेवाले होते हैं।

सरलार्थ – तापस-आश्रम में तपस्वियों को मिथ्यातप तपते हुए देखकर जीवन्धरकुमार उन पर अत्यन्त दयालु हो उठे। सर्वहितैषी सज्जन पुरुष समस्त प्राणियों पर समदृष्टि से दया करते हैं।

विशेषार्थ – मिथ्यातप/पंचाग्नि तप तपनेवालों पर जीवन्धरकुमार ने अत्यन्त दयावन्त होकर उनके भले के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण उपदेश दिया।

ज्ञानियों की अज्ञानियों पर सहज ही दयादृष्टि –

अतत्त्वज्ञेऽपि तत्त्वज्ञैर्भवितव्यं दयालुभिः ।

कूपे पिपतिषुर्बालो न हि केनाऽप्युपेक्षते ॥६॥

अन्वयार्थ – [अत्र नीतिः] (अतत्त्वज्ञे अपि) तत्त्वज्ञानरहित पुरुषों पर भी (तत्त्वज्ञैः) तत्त्वज्ञानियों को (दयालुभिः) दयावान (भवितव्यं) होना चाहिए। (हि) निश्चय से (कूपे पिपतिषुः) कुएँ में गिरनेवाले (बालः) बालक की (केन अपि) कोई भी (न उपेक्षते) उपेक्षा नहीं करता है; हर कोई उसको गिरने से बचाता है।

सरलार्थ – तत्त्वज्ञानियों को तत्त्वज्ञान से रहित जीवों पर दया करना ही चाहिए। जैसे कुएँ में गिरते हुए बालक को बचाने के लिए सभी मनुष्य प्रयास करते हैं, कोई उपेक्षा नहीं करता।

विशेषार्थ – तत्त्वज्ञ को ही ज्ञानी कहते हैं। ज्ञानी स्वयं विवेकशील तो होते ही हैं। यदि वे नासमझों को नहीं समझाएँगे तो उन्हें कौन समझाएगा ? सम्यग्दर्शन की प्राप्ति में देशनालब्धि का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

समझानेवाले के निमित्त से समझनेवाले को देशनालब्धि होती है, अतः ज्ञानियों का कर्तव्य है कि अज्ञानियों को करुणाभाव से तत्त्वज्ञान अवश्य कराएँ। इसीकारण ज्ञानी जीवन्धरकुमार ने अज्ञानी तपस्वियों को समझाने का प्रयास किया।

जीवन्धरकुमार द्वारा तपस्वियों को तत्त्वबोध –

तानप्यबूबुधत्तत्त्वं तत्त्वज्ञः सोऽयमादरात् ।

भव्यो वा स्यान्न वा श्रोता पारार्थ्यं हि सतां मनः ॥१०॥

अन्वयार्थ – (तत्त्वज्ञः) तत्त्वों के स्वरूप को जाननेवाले (सः अयं) इन

जीवन्धरकुमार ने (आदरात्) आदरपूर्वक (तान् अपि) उन तपस्वियों को भी (तत्त्वं अबूबुधत्) सत्यार्थ तत्त्व का बोध कराया।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (श्रोता भव्यः वा स्यात् न वा) सुननेवाला भव्य हो या अभव्य, (सतां मनः) सज्जन पुरुषों का मन तो (पारार्थ्य एव प्रवर्तते) दूसरों के उपकार करने में ही प्रवर्तित होता है।

सरलार्थ – वस्तुस्वरूप जाननेवाले जीवन्धरकुमार ने प्रीतिपूर्वक और मधुर वचनों से उन तपस्वियों को सत्यार्थ तत्त्व का बोध कराया; क्योंकि सुननेवाला/श्रोता भव्य हो या अभव्य, सज्जन पुरुषों की भावना तो सबका उपकार करने की ही होती है।

प्राणीवध सदा वर्जनीय –

न हिंस्यात्सर्वभूतानीत्यस्मिन्प्रवचने सति ।

तप्यध्वं किं बुधा यूयं हिंसामात्रफलं तपः ॥११॥

अन्वयार्थ – (बुधाः) हे पण्डितो ! (न हिंस्यात् सर्वभूतानि) किसी भी प्राणी की हिंसा मत करो (इति प्रवचने सति) ऐसे वेद-वाक्य के रहने पर (यूयं) तुम लोग (हिंसामात्रफलं) हिंसा ही है फल जिसका ऐसे (तपः) तप को (किं तप्यध्वं) क्यों तपते हो ?

सरलार्थ – हे विद्वान तपस्वियो ! ‘किसी प्राणी को नहीं मारना चाहिए’ – इसप्रकार का शास्त्रीय वेद-वाक्य होने पर भी आप सब लोग इस हिंसामात्र फलवाले तप को क्यों कर रहे हो ?

विशेषार्थ – यहाँ जीवन्धरकुमार द्वारा तपस्वियों को दिया गया उद्बोधन समझना आवश्यक है। यद्यपि जीवन्धरकुमार यह जानते हैं कि ये तपस्वी अज्ञानी हैं; फिर भी उन्हें ‘विद्वान’ शब्द से सम्बोधित कर रहे हैं। इसमें मर्म की बात यह है कि जिन्हें समझाना हो, उनके प्रति मधुर शब्दों का प्रयोग करना आवश्यक है।

‘वेद-वाक्य’ का प्रमाण देने का प्रयोजन यह है कि पहले उन्हें

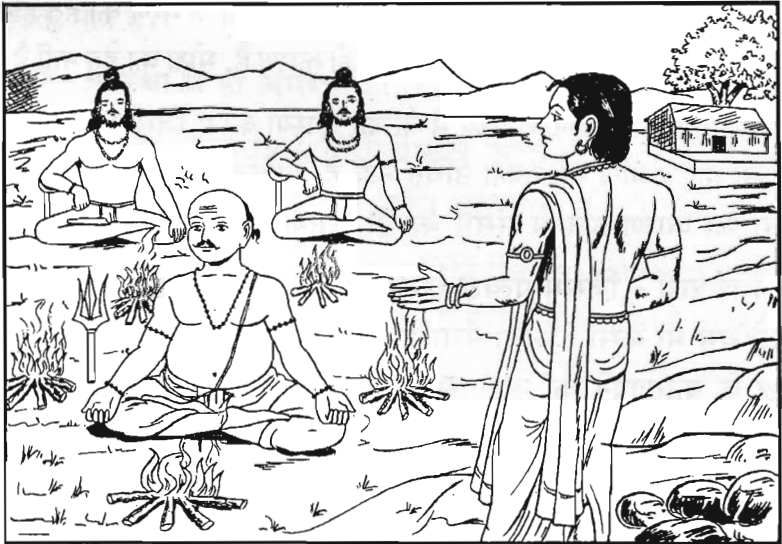
उनके श्रद्धेय ग्रन्थों का उदाहरण देकर ही समझाना उचित है। इसप्रकार के कथन को सुनकर जब श्रोता की जिज्ञासा बढ़ती है, तब मूल तत्त्व को समझाना सुलभ होता है। तप को हिंसामात्र फलवाला कहा है, उसे आगे प्रत्यक्ष उदाहरण द्वारा स्पष्ट करते हैं।

पंचाग्नि तप में प्रत्यक्ष हिंसा -

जलावगाहने लग्नाञ्जटायां काष्ठगानपि।

नश्यतः पश्यतां जन्तून्पश्यताग्नौ पुनश्च्युतान् ॥१२॥

अन्वयार्थ - (जलावगाहने) जल में स्नान करते समय (जटायां लग्नान्) जटाओं में लगे हुए (काष्ठगान् अपि) और लकड़ियों में प्रविष्ट (पुनः) फिर पंचाग्नि तप करते हुए (अग्नौ च्युतान्) अग्नि में गिरे हुए (पश्यतां पुरतः) प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर हो रहे (नश्यतः) प्राणरहित होते हुए (जन्तून्) प्राणियों को (यूयं पश्यत) तुम लोग देखो।



सरलार्थ - आप जब प्रातः नदी में स्नान करते हैं, तब जल में छोटे-छोटे जीव जटाओं में उलझ कर मरते हैं - यह आप प्रत्यक्ष देख लीजिए।

पंचाग्नि तप के लिए जब आप अपने चारों ओर लकड़ियाँ जलाते हैं, तो उन लकड़ियों में होनेवाले जीव तो जलते ही हैं तथा उस अग्नि में अनेक जीव (कीट-पतंगे) चारों ओर से आ-आकर मरते हैं। उन सभी मरते हुए जीवों को आप प्रत्यक्ष ही अपनी आँखों से देख लीजिए।

विशेषार्थ – चारों दिशाओं में चार अग्नि के कुण्ड और ऊपर से आकाश में तपता हुआ सूर्य – इन पाँचों के बीच बैठकर तपस्या करना, पंचाग्नि तप कहलाता है।

पंचाग्नि तप हिंसा का आयतन –

पञ्चाग्निमध्यमस्थानं ततो नैवोचितं तपः ।

जन्तुमारणहेतुत्वादाजवञ्जव-कारणम् ॥१३॥

अन्वयार्थ – (ततः) इसलिए (पञ्चाग्निमध्यमस्थानं) पंचाग्नि के मध्य में है स्थिति जिसकी (एतादृशं तपः) ऐसा तप (उचितं न एव) करना उचित नहीं है; क्योंकि यह तप (जन्तुमारणहेतुत्वात्) प्राणियों के मरण का हेतु होने से (आजवञ्जवकारणं) उलटा संसार का ही कारण है, मोक्ष का हेतु नहीं है।

सरलार्थ – पंचाग्नि के मध्य में बैठकर तपस्या करना जिसका स्वरूप है – ऐसा यह पंचाग्नि तप तपना उचित नहीं है; क्योंकि पंचाग्नि तप जीव-हिंसा का कारण होने से संसार का ही कारण है।

विशेषार्थ – जिसमें प्रत्यक्ष हिंसा हो रही हो, वह तप कैसा ? और उससे धर्म भी कैसा ? अतः पंचाग्नि तप संसार का ही कारण है; इसमें मोक्ष के कारणपने का आभास भी नहीं है।

सच्चे तप का स्वरूप –

तत्तपो यत्र जन्तूनां सन्तापो नैव जातुचित् ।

तच्चारम्भनिर्वृत्तौ स्यान्न ह्यारम्भो विहिंसनः ॥१४॥

अन्वयार्थ – [अत्र नीतिः] (यत्र) जिसमें (जन्तूनां) जीवों को

(जातुचित्) कभी भी (सन्तापः) सन्ताप (न एव जायते) उत्पन्न होता ही नहीं (तत् तपः) वह ही सच्चा तप है। (तत् च) और वह तप (आरम्भनिर्वृत्तौ स्यात्) आरम्भ की सर्वथा निर्वृत्ति होने पर होता है। (हि) निश्चय से (आरम्भः) आरम्भ (विहिंसनः न स्यात्) हिंसारहित नहीं होता।

सरलार्थ – जिसमें किसी भी जीव को किंचित मात्र भी सन्ताप/क्लेश/दुःख नहीं होता है, वही सच्चा तप है और वह तप आरम्भ के सर्वथा छूट जाने पर ही होता है। वास्तव में देखा जाए तो कोई भी आरम्भ हिंसा से रहित हो ही नहीं सकता।

विशेषार्थ – जीव को आरम्भादि चार प्रकार की हिंसा से पाप होता है। गृहस्थी में रसोई बनाना, झाड़ू लगाना, कपड़े धोना आदि कार्यों में सावधानी रखते हुए भी जो हिंसा होती है, उसे आरम्भी हिंसा कहते हैं। स्नान करने और पंचाग्नि तप में आरम्भी और उद्योगी दोनों प्रकार की हिंसा होती है। पंचाग्नि तप तो पुण्य का भी कारण नहीं है, अतः इससे मोक्षप्राप्ति की कल्पना करना तो मूढ़ता मात्र है।

मुनि-अवस्था में ही आरम्भ का अभाव –

आरम्भविनिर्वृत्तिश्च निर्ग्रन्थेष्वेव जायते ।

न हि कार्यपराचीनैर्मृग्यते भुवि कारणम् ॥१५॥

अन्वयार्थ – [अत्र नीतिः] (आरम्भविनिर्वृत्तिः च) और आरम्भ का त्याग (निर्ग्रन्थेषु एव जायते) निर्ग्रन्थ पदधारी मुनियों में ही होता है। (हि) निश्चय से (भुवि) संसार में (कार्यपराचीनैः) कार्य से विमुख पुरुष (कारणं न मृग्यते) कारण की खोज नहीं करते।

सरलार्थ – आरम्भ की निर्वृत्ति अर्थात् त्याग, निर्ग्रन्थ मुनि-अवस्था में ही होता है; क्योंकि जिन्हें संसार में रहते हुए भी सांसारिक कार्यों से कोई भी प्रयोजन नहीं है, वे उन कार्यों से विमुख हैं तो वे उनके कारणों की खोज नहीं करते; अतः पाप से रहित होते हैं।

विशेषार्थ – बाह्य और अन्तरंग परिग्रह से रहित निर्ग्रन्थ मुनिराज

को ही आरम्भ का त्याग होता है। उनको परिग्रह विषयक सांसारिक कुछ कार्य करना ही नहीं है, तो उन्हें आरम्भादिक कैसे होंगे ? अर्थात् नहीं होंगे।

सम्यक् तप निर्ग्रन्थ अवस्था में ही -

नैर्ग्रन्थ्यं हि तपोऽन्यत्तु संसारस्यैव साधनम् ।

मुमुक्षूणां हि कायोऽपि हेयः किमपरं पुनः ॥१६॥

अन्वयार्थ - [अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (नैर्ग्रन्थ्यं तपः) बाह्याभ्यन्तर परिग्रह रहित मुनिपना ही वास्तविक तप है (अन्यत्) इसके अतिरिक्त तप (तु) तो (संसारस्य एव साधनं) जन्म-मरणरूप संसार का ही साधन है। (हि) निश्चय से (मुमुक्षूणां) मोक्ष के चाहनेवाले पुरुषों को (कायः अपि) शरीर भी (हेयः) छोड़ने योग्य है (अपरं पुनः किं वक्तव्यं) अन्य का तो फिर कहना ही क्या है ?

सरलार्थ - वास्तव में देखा जाए तो बाह्य और अन्तरंग परिग्रह से रहित मुनिपना ही सच्चा तप है। इसे छोड़कर अन्य सब तप जन्म-मरणरूप संसार के ही कारण हैं। निश्चय से तो मोक्ष चाहनेवाले पुरुषों को शरीर का ममत्व भी छोड़ने योग्य है तो अन्य परिग्रह का फिर कहना ही क्या ?

विशेषार्थ - जीव को सब परिग्रहों में अत्यन्त निकट का परिग्रह अपना शरीर ही है। मुनि अवस्था में शरीर को ही हेय कहा गया है तो अन्य परिग्रहों के स्वीकारने की बात ही नहीं है। धन-धान्य, दुकान-मकान, स्त्री-पुत्रादिक के समान ही मुनिराज ने अपने शरीर का त्याग किया है अर्थात् उसमें अपनापन छोड़ दिया है; फिर भी शरीर ऐसा परिग्रह है, जिसका त्याग करने पर भी वह मुनिराज के साथ रहता है। रहता है तो रहने दो, पर उनका राग उसके प्रति टूट गया है; अतः शरीर के प्रति हेय बुद्धि ही उसका त्याग है।

परिग्रह ही संसार -

ग्रन्थानुबन्धी संसारस्तेनैव न परिक्षयी ।

रक्तेन दूषितं वस्त्रं नहि रक्तेन शुध्यति ॥१७॥

अन्वयार्थ – [अत्र नीतिः] (ग्रन्थानुबन्धी संसारः) जिस राग-द्वेषादि परिग्रह के कारण संसार है (तेन एव न परिक्षयी भवति) उसी परिग्रह से उसका नाश नहीं हो सकता अर्थात् परिग्रह से तो संसार की वृद्धि ही होती है, मोक्ष की प्राप्ति कदापि नहीं होती। (हि) निश्चय से (रक्तेन) रुधिर से (दूषितं वस्त्रं) मैला वस्त्र (रक्तेन न शुध्यति) रुधिर से ही शुद्ध नहीं हो सकता।

सरलार्थ – जैसे खून से मलिन हुआ वस्त्र खून से ही धोने पर निर्मल/स्वच्छ नहीं हो सकता; वैसे ही राग-द्वेषादि अन्तरंग और स्त्री-पुत्रादिक बाह्य परिग्रह से बढ़नेवाला संसार, इन परिग्रहों को ग्रहण करते रहने से नष्ट कैसे हो सकता है ? अर्थात् नष्ट नहीं होता।

विशेषार्थ – जैसे रक्त से सने मलिन वस्त्र को स्वच्छ करने के लिए मलिनता के विरोधी निर्मल जल, सोड़ा, साबुन आदि आवश्यक हैं; वैसे ही आस्रव-बन्ध करानेवाले राग-द्वेषादि परिग्रहरूप मलिन परिणामस्वरूप संसार के नाश के लिए संवर-निर्जरा करानेवाले वीतराग परिणाम/शुद्ध परिणाम ही आवश्यक हैं।

तत्त्वज्ञान रहित नग्नता फलदाता नहीं –

तत्त्वज्ञानविहीनानां नैर्ग्रन्थ्यमपि निष्फलम् ।

न हि स्थाल्यादिभिः साध्यमन्नमन्यैरतण्डुलैः ॥१८॥

अन्वयार्थ – [अत्र नीतिः] (तत्त्वज्ञानविहीनानां) यथार्थ तत्त्वज्ञान से रहित जीवों के (नैर्ग्रन्थ्यं अपि) मुनिधर्म भी (निष्फलं) निष्फल है। (हि) निश्चय से (अतण्डुलैः) चावलादि के बिना (अन्यैः स्थाल्यादिभिः) अन्य बटलोई, जल, अग्नि आदि साधनों द्वारा (अन्नं साध्यं न भवति) अन्नपाकरूप साध्य की सिद्धि नहीं हो सकती।

सरलार्थ – जैसे चावलरूप उपादान कारण बिना मात्र बटलोई, जल, अग्नि, रसोड़या आदि निमित्त कारणों से साध्य भात/पका चावल प्राप्त नहीं हो सकता; वैसे ही यथार्थ तत्त्वज्ञान से रहित मात्र नग्नता निष्फल है, मोक्ष प्रदाता नहीं है।

विशेषार्थ – ‘नग्न शरीर’ – यह जीवादि छह द्रव्यों में से पुद्गल द्रव्य की पर्याय है और सात तत्त्वों में अजीवतत्त्व है। ‘मोक्ष’ यह जीव द्रव्य की शुद्ध पर्याय/अवस्था है।

सात तत्त्वों में अत्यन्त सुखरूप मोक्षतत्त्व है। अजीव-तत्त्व अर्थात् पुद्गल की पर्याय कारण हो और ‘मोक्ष’ जीव द्रव्य की पर्यायरूप कार्य उत्पन्न हो – यह कैसे सम्भव है ? अर्थात् तत्त्वज्ञान रहित मात्र शरीर की नग्नता व्यर्थ है।

मोक्षरूप पर्याय के कारण संवर-निर्जरा दोनों तत्त्व हैं। ये दोनों जीव की शुद्ध पर्यायें हैं। अतः मोक्षप्राप्ति के लिए संवर-निर्जरारूप मोक्षमार्ग ही प्रगट करना चाहिए।

अपेक्षित/योग्य उपादान कारण न हो और कितने ही अनुकूल निमित्त मिलें तो भी कार्य का होना सम्भव नहीं है; अतः निमित्त के पीछे दौड़ने में कुछ भी लाभ नहीं है, अपनी आत्मा की योग्यता बढ़ाना ही सच्चा उपाय है।

सम्यग्ज्ञान और मिथ्याज्ञान का यथार्थ स्वरूप –

तत्त्वज्ञानं च जीवादितत्त्वयाथात्म्यनिश्चयः।

अन्यथाधीस्तु लोकेऽस्मिन् मिथ्याज्ञानं तु कथ्यते ॥१६॥

अन्वयार्थ – [अत्र नीतिः] (जीवादितत्त्वयाथात्म्यनिश्चयः) जीवादिक सात तत्त्वों के असाधारण स्वरूप का संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय रहित निश्चय करना ही (तत्त्वज्ञानं च भवति) सम्यग्ज्ञान/तत्त्वज्ञान कहलाता है। (तु पुनः) और (अस्मिन् लोके) इस लोक में (अन्यथा धीः) उपर्युक्त तत्त्वों का विपरीत ज्ञान ही (मिथ्याज्ञानं कथ्यते) मिथ्याज्ञान कहलाता है।

सरलार्थ – इस लोक में जीवादि सात तत्त्वों का यथार्थ निर्णय करना ही सम्यग्ज्ञान है और इन्हीं सात तत्त्वों का अयथार्थ निर्णय होना ही मिथ्याज्ञान है।

विशेषार्थ – प्रयोजनभूत कार्य की सिद्धि होने पर ही किया गया प्रयत्न सफल कहलाता है। जैसे – धान के कूटनेरूप परिश्रम चावलों की प्राप्ति होने पर ही सफल कहलाता है।

ज्ञानार्जन करने का फल हेयोपादेय का परिज्ञान होना है; किन्तु ज्ञानार्जन करने पर भी हेयोपादेय का ज्ञान नहीं हुआ तो ज्ञानार्जन के लिए किया गया परिश्रम निष्फल है। इसीप्रकार तत्त्वज्ञान करने पर उसका फल वीतरागता/सच्चा सुख प्राप्त नहीं हुआ तो तत्त्वों का निर्णय करना ही निष्फल रहा।

सात तत्त्वों की सामान्य परिभाषाएँ –

१. **जीवतत्त्व** – ज्ञान-दर्शन स्वभावी अर्थात् ज्ञानानन्द स्वभावी आत्मा को ही जीवतत्त्व कहते हैं।

२. **अजीवतत्त्व** – ज्ञानानन्द स्वभावी आत्मा से रहित समस्त पदार्थों को अजीवतत्त्व कहते हैं।

३. **आस्रवतत्त्व** – आत्मा में उत्पन्न होनेवाले मोह-राग-द्वेषरूप शुभाशुभ विकारी भावों को भावास्रव कहते हैं और उनके निमित्त से ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मों का स्वयं आना; उसे द्रव्यास्रव कहते हैं।

४. **बन्धतत्त्व** – मोह-राग-द्वेष, पुण्य-पाप आदि विभाव भावों में आत्मा का रुक जाना; सो भावबन्ध है और उसके निमित्त से पुद्गल का स्वयं कर्मरूप बँधना; सो द्रव्यबन्ध है।

५. **संवरतत्त्व** – ज्ञानानन्दस्वभावी आत्मा के लक्ष्यरूप शुद्ध (वीतरागी) भावों से शुभाशुभ विकारी भावों का रुकना; वह भावसंवर है और तदनुसार नए द्रव्यकर्मों का स्वयं आना रुक जाना; वह द्रव्यसंवर है।

६. **निर्जरातत्त्व** – ज्ञानानन्दस्वभावी आत्मा के लक्ष्य के बल से स्वभाव स्थिरता की वृद्धि द्वारा आंशिक शुद्धि की वृद्धि ही भावनिर्जरा है और उसका निमित्त पाकर जड़कर्मों का अंशतः खिर जाना; वह द्रव्यनिर्जरा है।

७. **मोक्षतत्त्व** – ज्ञानानन्दस्वभावी आत्मा के लक्ष्य के बल से शुद्धि की

पूर्णता (पूर्ण वीतरागता) ही भावमोक्ष है और निमित्त कारणरूप द्रव्यकर्म का सर्वथा नाश हो जाना; वह द्रव्यमोक्ष है।

उपर्युक्त सात तत्त्वों का स्वरूप अयथार्थ जानना ही मिथ्याज्ञान है। जैसे-पुण्य से संवर-निर्जरा मानना, शरीर की क्रिया से धर्म मानना, निजात्म तत्त्व को शुद्ध नहीं मानना, मोक्ष में सुख का अभाव मानना - आदि।

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चरित्र का स्वरूप -

आप्तागम - पदार्थाख्यतत्त्ववेदनतद्रुची।

वृत्तं च तद्द्वयस्यात्मन्यस्खलद्वृत्तिधारणम् ॥२०॥

अन्वयार्थ - [अत्र नीतिः] (आप्तागमपदार्थाख्यतत्त्ववेदनतत् रुची) आप्त, आगम और पदार्थ - इन तीनों के यथार्थ ज्ञान को ही सम्यग्ज्ञान कहते हैं और इनमें रुचि अर्थात् श्रद्धा होने को ही सम्यग्दर्शन कहते हैं। (च) और (तद्द्वयस्य आत्मनि) इन दोनों के आत्मा में (अस्खलद्वृत्तिधारणं) स्थिरवृत्ति धारण करने को (वृत्तं कथ्यते) सम्यक्चारित्र कहते हैं।

सरलार्थ - आप्त, आगम और पदार्थ के यथार्थ ज्ञान को सम्यग्ज्ञान कहते हैं। उक्त तीनों की रुचि अर्थात् तीनों की यथार्थ श्रद्धा करना सम्यग्दर्शन है तथा सम्यग्ज्ञानपूर्वक आत्मा में लीनता/स्थिरवृत्ति धारण करना सम्यक्चारित्र कहलाता है।

विशेषार्थ - जो वीतरागी, सर्वज्ञ और हितोपदेशी हैं; वे आप्त हैं। आप्त का कहा हुआ पूर्वापर अविरोधी उपदेश ही आगम है। १६वें श्लोक के विशेषार्थ में कहे हुए जीवादि सात तत्त्व और उन सात तत्त्वों में पुण्य और पाप को मिलाने से नौ पदार्थ होते हैं। इसप्रकार आप्त, आगम और पदार्थ के यथार्थ ज्ञान को सम्यग्ज्ञान कहते हैं। ये तीनों ही मेरे आत्मा को कल्याणकारक हैं। मैं उनको उत्तम, मंगल और शरणभूत मानता हूँ - ऐसी दृढ़ श्रद्धा को ही सम्यग्दर्शन कहते हैं। यथार्थ श्रद्धा के साथ अपने व्यक्त ज्ञान को निज शुद्धात्मा में संलग्न करते हुए आनन्द का अनुभव करना, वही सम्यक्चारित्र है।

रत्नत्रय ही सच्चा मोक्षमार्ग -

इति त्रयी तु मार्गः स्यादपवर्गस्य नापरम् ।

बाह्यमन्यत्तपः सर्वं तत्त्रयस्यैव साधनम् ॥२१॥

अन्वयार्थ - [अत्र नीतिः] (तु) और (इति त्रयी) यह सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का समुदाय ही (अपवर्गस्य) मोक्ष का (मार्गः) उपाय (स्यात्) है, (अपरं न) इससे भिन्न और दूसरा कोई उपाय नहीं है। (अन्यत् सर्वं) इससे भिन्न और सब (बाह्यं तपः) बाह्य तप (तत् त्रयस्य एव साधनं) इन्हीं तीनों के साधन हैं।

सरलार्थ - सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का समुदाय अर्थात् तीनों की एकता ही मोक्ष प्राप्ति का उपाय है। अन्य कोई भी उपाय/साधन नहीं है। इससे भिन्न अनशनादि सब बाह्य तप हैं, जो इन तीनों के साधन अर्थात् निमित्त कारण हैं, वे भी बाह्य तप में गर्भित हैं।

विशेषार्थ - रत्नत्रय को ही मोक्षमार्ग, वीतरागता, शुद्धि, सच्चा सुख - इत्यादि कहा जाता है। अणुव्रत, महाव्रत या अनशनादि बाह्य तप आदि रत्नत्रय के उत्पादक कारण नहीं हैं, अपितु ज्ञापक कारण हैं। ज्ञापक कारण को निमित्त कारण भी कहते हैं।

बाह्य तप के बिना अन्तरंग तप नहीं होता -

न च बाह्यतपोहीनमाभ्यन्तरतपो भवेत् ।

तण्डुलस्यैव विक्लिच्छिर्न हि वह्न्यादिकं विना ॥२२॥

अन्वयार्थ - [अत्र नीतिः] (बाह्यतपोहीनं) बाह्य तप के बिना (आभ्यन्तरतपः) अभ्यन्तर तप (न च भवेत्) नहीं हो सकता। (हि) निश्चय से (यथा वह्न्यादिकं विना) जैसे अग्नि के बिना (तण्डुलस्य विक्लिच्छिः न) चावलों का पाक नहीं हो सकता।

सरलार्थ - जैसे अग्नि, जल, बटलोई आदि बाह्य साधनों के बिना

चावल नहीं पक सकते/उनका भात नहीं बन सकता; वैसे ही बाह्य तप के बिना अन्तरंग तप हो ही नहीं सकता।

विशेषार्थ – यहाँ अन्तरंग तप का अर्थ वीतरागता और बाह्य तप का अर्थ पुण्य परिणाम से है। साधक अवस्था में पुण्य-परिणाम के बिना वीतरागता प्रगट नहीं हो सकती है – ऐसा कथन व्यवहार नय से है।

वीतरागता का ज्ञान राग परिणामपूर्वक होता है। राग के अभावपूर्वक वीतरागता प्रगट होती है – ऐसा यहाँ समझना चाहिए। राग अर्थात् पुण्य, साधक की भूमिका में जब वीतरागता होती है, तब भूमिकानुसार राग अर्थात् अणुव्रत, महाव्रत, अनशनादिरूप पुण्य-परिणाम अवश्य होते हैं। (इसके स्पष्टीकरण के लिए मोक्षमार्ग-प्रकाशक के अध्याय ७ संवर तत्त्व का अन्यथारूप प्रकरण तथा प्रवचनसार की गाथा क्रमांक ५ की टीका का अवलोकन कीजिए।)

मिथ्यादर्शनादि मोक्ष का उपाय नहीं –

तत्रयं च न मोक्षार्थमाप्ताभासादिगोचरम्।

ध्यातो गरुडबोधेन न हि हन्ति विषं बकः ॥२३॥

अन्वयार्थ – [अत्र नीतिः] (च) और (आप्ताभासादिगोचरं) झूठे आप्त, आगम, पदार्थ और (तत् त्रयं) वे मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र (मोक्षार्थं न) मोक्ष के साधन नहीं हैं। (हि) निश्चय से (गरुडबोधेन ध्यातः बकः) यह गरुड़ है – इस बुद्धि से ध्यान किया हुआ बगुला (विषं न हन्ति) विष को दूर नहीं कर सकता।

सरलार्थ – जैसे सर्प का विष 'गरुड़' के ध्यान करने से ही नष्ट होता है, बगुले को गरुड़ मानकर उसका ध्यान करने से विष दूर नहीं होता; वैसे ही मिथ्यादेव, मिथ्याशास्त्र और कल्पित पदार्थों की श्रद्धा करनेवालों को मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र से दुःखमय संसाररूपी विष को नष्ट नहीं किया जा सकता अर्थात् मिथ्यादर्शनादि मोक्ष का उपाय नहीं है।

विशेषार्थ – गरुड़ पक्षी के ध्यान के निमित्त से सर्प का विष दूर हो जाता है; यह निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध जगत प्रसिद्ध है; किन्तु कोई मनुष्य बगुले को गरुड़ पक्षी मानकर उसका ध्यान करे तो सर्प का विष नहीं उतरेगा।

इसीप्रकार सच्चे देव-शास्त्र-गुरु के निमित्त से संसार का नाशक मोक्ष का उपाय प्राप्त होता है; लेकिन मिथ्यादेवादिक के निमित्त से उत्पन्न मिथ्याश्रद्धानादि से मोक्षमार्ग प्राप्त नहीं हो सकता।

सर्वज्ञ कथित तप ही तपने योग्य -'

सर्वदोषविनिर्मुक्तं सर्वज्ञोपज्ञमञ्जसा ।

तप्यध्वं तत्तपो यूयं किं मुधा तुषखण्डनैः ॥२४॥

अन्वयार्थ – [अत्र नीतिः] (यत् तपः) जो तप (सर्वदोषविनिर्मुक्तं) सम्पूर्ण दोषों से रहित (सर्वज्ञोपज्ञं) सर्वज्ञ का कहा हुआ हो (यूयं) तुम लोग (तत् तपः) उस तप को (अञ्जसा तप्यध्वं) भले प्रकार तपो (मुधा तुषखण्डनैः किं) वृथा भूसे को कूटने से क्या लाभ ?

सरलार्थ – अतः हे तपस्वियों ! आप लोग हिंसादिक सर्व प्रकार के दोषों से रहित, सर्वश्रेष्ठ, सच्चे और सर्वज्ञ देव के द्वारा उपदिष्ट सुखदायक तप का ही आचरण करो। सर्वज्ञ भाषित तप को छोड़कर अन्य प्रकार का तप करना भूसे को कूटने के समान व्यर्थ है; उससे कोई लाभ नहीं होगा, अपितु हानि अवश्य होगी।

विशेषार्थ – असत्य कथन के दो कारण होते हैं – अज्ञान और कषाय। 'सर्वज्ञ देव' का अर्थ ही यह है कि वे सबको जानते हैं, अतः वे अज्ञानी नहीं हैं और वे 'वीतरागी' हैं, अतः कषायी नहीं हैं; इसलिए उनका सर्व कथन सत्य ही होता है। अतएव सर्वज्ञ कथित तप का ही आचरण करना लाभदायक है।

स्वयं दुःखी व्यक्ति दूसरों को सुखी नहीं बना सकता -

रागादिदोषसंयुक्तः प्राणिनां नैव तारकः ।

पतन्तः स्वयमन्येषां न हि हस्तावलम्बनम् ॥२५॥

अन्वयार्थ - [अत्र नीतिः] (रागादिदोषसंयुक्तः) रागादि दोषों से सहित देव (प्राणिनां तारकः न एव) प्राणियों को संसार-सागर से पार नहीं कर सकता। (हि) निश्चय से (स्वयं पतन्तः) आप ही गिरनेवाला (अन्येषां) दूसरों को (हस्तावलम्बनं न भवति) अपने हाथ का सहारा देनेवाला नहीं हो सकता।

सरलार्थ - जैसे जो कोई व्यक्ति स्वयं ही किसी गड्ढे में गिर रहा हो, वह उसी गड्ढे में गिरनेवाले अन्य व्यक्ति को अपने हाथ का सहारा देकर कैसे बचा सकता है? वैसे ही जो देव स्वयं ही राग-द्वेष, काम-क्रोधादि दोषों से युक्त होकर संसार में दुःखी हो रहा हो, जो संसाररूपी गड्ढे में स्वयं गिर रहा हो, वह अन्य जीवों को संसाररूपी गड्ढे में गिरने से कैसे रोक सकता है? रोक ही नहीं सकता। संसाररूपी समुद्र से पार नहीं उतार सकता।

विशेषार्थ - वीतरागी और सर्वज्ञ भगवान ही एक ऐसे महापुरुष हैं, जो रागादि दोषों से रहित हैं और अनन्त सुखी हैं। वे ही हमें संसार-सागर के दुःखों से पार उतारने में निमित्त हो सकते हैं। सर्वज्ञ कथित तत्त्वज्ञान ही जीवों को संसार-समुद्र के दुःखों से तारने में समर्थ निमित्त है।

सच्चे देव नाना प्रकार की क्रीड़ाएँ करनेवाले नहीं हो सकते -

न च क्रीडा विभोस्तस्य बालिशेष्वेव दर्शनात्।

अतृप्तश्च भवेत्तृप्तिं क्रीडया कर्तुमुद्यतः ॥२६॥

अन्वयार्थ - [अत्र नीतिः] (तस्य विभोः) उस ईश्वर के (क्रीडा न च) क्रीडा नहीं हो सकती; क्योंकि क्रीडा तो (बालिशेषु एव दर्शनात्) बालकों में ही देखी जाती है। (च) और (अतृप्तः) जो अतृप्त पुरुष है (क्रीडया तृप्तिं कर्तुं) वह क्रीडा से तृप्ति करने के लिए (उद्यतः भवेत्) उद्यत होता है।

सरलार्थ - सच्चे देव को क्रीडाओं से क्या प्रयोजन? क्रीड़ाएँ तो बालकों और अज्ञानियों के जीवन में देखने को मिलती हैं। अतृप्त अर्थात् दुःखी जीव ही नाना प्रकार की क्रीड़ाएँ करके सुख प्राप्त करने का प्रयास करते रहते हैं।

विशेषार्थ – कुछ लोगों की मान्यता है कि ईश्वर रागादि विकारों से रहित होने पर भी क्रीड़ा के रूप में जगत का निर्माण करते हैं। उनसे कहते हैं कि अज्ञानी और बालकों में देखी जानेवाली क्रीड़ाएँ उन सर्वज्ञ, कृतकृत्य परमात्मा में कैसे सम्भव हो सकती हैं ?

दूसरी बात यह भी है कि दुःखी जीव ही तरह-तरह की क्रीड़ाएँ करके सुख प्राप्त करने के प्रयास में रहते हैं। यह बात मनुष्यों में भी प्रत्यक्ष देखने को मिलती है, ईश्वर तो सर्वथा पूर्ण सुखी है। वे क्रीड़ाएँ करने का कठोर और अनावश्यक कष्ट क्यों उठाएँगे? अतः क्रीड़ा करनेवाले देव, सच्चे देव हो ही नहीं सकते।

सच्चे देव की स्वच्छन्द प्रवृत्ति नहीं हो सकती –

स्वैराचारस्वभावोऽपि नेश्वरस्यैश्यहानितः ।

अप्यस्मदादिभिर्द्वेष्यं सर्वोत्कर्षवतः कुतः ॥२७॥

अन्वयार्थ – [अत्र नीतिः] (ऐश्यहानितः) ईश्वरपने की हानि होने से (ईश्वरस्य) ईश्वर के (स्वैराचारस्वभावः अपि न) स्वेच्छाचार स्वभाव भी नहीं है (अपि च) क्योंकि (सर्वोत्कर्षवतः) सर्वोत्कर्षवान उस ईश्वर के (अस्मदादिभिः सह) हम लोगों के साथ (कुतः द्वेष्यं) द्वेषना कैसे हो सकता है ?

सरलार्थ – ईश्वरपने का अभाव होने से सच्चे देव के जीवन में, जैसे क्रीड़ाएँ नहीं हो सकतीं; वैसे ही स्वेच्छाचार की प्रवृत्ति भी नहीं हो सकती; क्योंकि हम जैसे सामान्य व्यक्ति भी स्वेच्छाचार की प्रवृत्ति को अच्छा नहीं मानते, तो सर्वोत्कर्षशाली ईश्वर के स्वेच्छाचार की प्रवृत्ति कैसे हो सकती है ? अर्थात् नहीं हो सकती है।

विशेषार्थ – स्वेच्छाचार स्वभाव, स्वच्छन्दता, अविचारित कार्य, उटपटांग प्रवृत्ति, उन्मत्त चेष्टा आदि शब्द एकार्थवाची हैं। सामान्य जन भी जिन कार्यों को दोषयुक्त मानते हैं, वैसे अविचारित कार्य ईश्वर द्वारा कैसे सम्भव हैं ? कुछ

उदाहरण निम्नप्रकार हैं, जैसे - (१) किसी को दुःखी बनाना और किसी को अतिशय सुख-सुविधाएँ प्रदान करना। (२) कुछ मनुष्यों को पागल और कुछ को असाधारण विद्वान बनाना। (३) दुनिया में तरह-तरह के रोग उत्पन्न करना। (४) स्वयं निम्न कोटि पशुओं में जन्म लेना। (५) पराई स्त्रियों के साथ संसर्ग रखना। (६) सज्जनों को दुःख देनेवाले दुर्जन उत्पन्न करना। (७) अपने भक्तों तथा स्वयं को कष्ट देनेवाले दुष्ट उत्पन्न करना। (८) भक्तों को कष्ट देनेवाले, धर्म का विनाश करनेवाले अधार्मिक व्यक्तियों को उत्पन्न करना - आदि हजारों उदाहरण दिए जा सकते हैं, जो प्रत्यक्ष ज्ञानगम्य हैं।

ईश्वर जगत का कर्ता नहीं -

अदोषश्चेदकृत्यं च कृतिनः किमु कृत्यतः ।

स्वैराचारविधिर्दृष्टो मत्त एव न चोत्तमे ॥२८॥

अन्वयार्थ - (चेत्) यदि वह ईश्वर (अदोषः) निर्दोष (च) और (अकृत्यं) कृत्यरहित है तो फिर (कृतिनः) कृतकृत्य उस ईश्वर को (कृत्यतः किमु) जगतरूप कार्य करने से क्या फल ?

[अत्र नीतिः] (स्वैराचारविधिः) स्वेच्छाचार प्रवृत्ति भी (मत्ते एव दृष्टः) उन्मत्त पुरुषों में ही देखी जाती है (उत्तमे न) उत्तम पुरुषों में नहीं।

सरलार्थ - ईश्वर सर्व दोषों से रहित - निर्दोष है अर्थात् सर्व सुख सम्पन्न और परिपूर्ण है तो उसे करने योग्य कार्य क्या रहा ? ऐसे 'कृतकृत्य' ईश्वर को जगत का निर्माण करने का क्या प्रयोजन रहा ? दूसरी बात यह भी है कि अविचारित कार्य करने की प्रवृत्ति उन्मत्त पुरुषों में ही पाई जाती है, उत्तम विचारवान पुरुषों में नहीं।

कुछ तपस्वियों में विवेक की जागृति -

इति प्रबोधिताः केचिद्बभूवुस्तेषु धार्मिकाः ।

मृत्स्ना ह्यार्द्रत्वमायाति नोपलं जलसेचनात् ॥२९॥

अन्वयार्थ – (इति प्रबोधिताः) इसप्रकार धर्म से प्रबोधित (तेषु) उनमें से (केचित् धार्मिकाः बभूवुः) कुछ लोग धर्मात्मा पुरुष बन गए।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (जलसेचनात्) जल के सींचने से (मृत्स्ना) अच्छी मिट्टी ही (आर्द्रत्वं आयाति) गीली होती है (उपलं न) पत्थर कभी गीला नहीं होता। ठीक ही है – उपदेश पात्रों में ही फलित होता है, कुपात्रों को उपदेश देने से कुछ फल नहीं होता।

सरलार्थ – जैसे जल सिंचन से मिट्टी गीली और नरम हो जाती है, किन्तु पत्थर कभी गीला और नरम/मृदु नहीं होता। इसीप्रकार जीवन्धर कुमार के पूर्वोक्त सम्बोधन से कुछ तपस्वियों ने यथार्थ धर्म स्वीकार किया, कुछ ने नहीं।

विशेषार्थ – जीवन्धरकुमार के वस्तुपरक यथार्थ सम्बोधन से/पूर्वोक्त उपदेश से जो सुपात्र थे, उन्होंने ही यथार्थ धर्म स्वीकार किया, अन्य अपात्रों ने नहीं। उपदेश तो सबने सुना था, पर अपात्र जीव जैसे के तैसे रहे। वास्तव में कार्य तो उपादान की योग्यता से होता है, निमित्त क्या कर सकता है? कार्य तो उपादान में ही होता है और उस समय संयोगरूप अनुकूल पर वस्तुओं पर निमित्तपने का आरोप आता है।

सज्जनों के स्वभाव की अलौकिकता –

धर्माश्रितान्समालोक्य तापसान्मुमुदे कृती।

प्रीतये हि सतां लोके स्वोदयाच्च परोदयः ॥३०॥

अन्वयार्थ – (कृती) विद्वान् जीवन्धरकुमार (धर्माश्रितान् तापसान् समालोक्य) धर्मयुक्त उन तपस्वियों को देखकर (मुमुदे) अत्यन्त आनन्दित हुए।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (लोके) इस लोक में (सतां) सज्जन पुरुषों को (सोदयात्) अपने अभ्युदय से (परोदयः) दूसरे का अभ्युदय ही (प्रीतये भवति) आनन्ददायक होता है।

सरलार्थ – जीवन्धरकुमार के उपदेश से अनेक तपस्वियों ने परम सत्य जिनधर्म स्वीकार किया – यह जानकर विद्वान जीवन्धरकुमार को अत्यन्त आनन्द हुआ; क्योंकि सज्जनों को अपने अभ्युदय से भी अधिक दूसरों का अभ्युदय आनन्ददायी होता है।

विशेषार्थ – जो जीव मन्दकषायी, सज्जन, विवेकी और धार्मिक प्रवृत्ति के होते हैं, उन्हें दूसरों का उत्कर्ष आनन्ददायक होता है। जीवन्धरकुमार इन सब गुणों से अलंकृत हैं और उनमें अन्य विशेष गुण भी हैं, अतः उन्हें भी तपस्वियों का उत्कर्ष देखकर अत्यन्त आनन्द हुआ।

संसार की सर्वोत्तम सम्पत्ति –

बोधिलाभात्परा पुंसां भूतिः का वा जगत्त्रये ।

किम्पाकफलसङ्काशैः किं परैरुदयच्छलैः ॥३१॥

अन्वयार्थ – [अत्र नीतिः] (जगत्त्रये) तीनों लोकों में (पुंसां) पुरुषों को (बोधिलाभात्) सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्र की प्राप्ति से (परा) उत्कृष्ट (का वा भूतिः) और कौन-सा ऐश्वर्य है ? (किम्पाकफलसङ्काशैः उदयच्छलैः) विषवृक्ष के फल के समान प्राप्त काल में छलनेवाले (परैः किं) धन सम्पत्ति आदि और इन्द्रिय विषयादिक से क्या फल ?

सरलार्थ – तीनलोक और तीनकाल में जिनधर्म अर्थात् रत्नत्रय की प्राप्ति ही सर्वोत्तम सम्पत्ति है। अन्त में अर्थात् फलकाल में विषवृक्ष के फल सदृश अतिशय दुःखदायक धन, पुत्रादिक से कुछ भी लाभ नहीं मिलता।

विशेषार्थ – ‘किंपाकफल’ का अर्थ विषवृक्ष का फल है। यह फल देखने में अत्यन्त सुन्दर और खाने में अत्यन्त मधुर और अनुपम होता है; परन्तु जो उसे खाएगा, उसका नियम से मरण ही होता है। ऐसा फल तो मरण के लिए ही उपयोगी है, जीवित रहने और उत्कर्ष के लिए नहीं।

धन, पुत्रादिक भी किंपाकफल के समान ही प्राणनाशक हैं। उनकी

प्राप्ति से कुछ भी लाभ नहीं है। अतः मात्र जिनधर्म ही संसार में सर्वोत्कृष्ट सम्पत्ति है।

जीवन्धरकुमार की आगामी यात्रा का वर्णन -

ततस्तस्माद्विनिर्गत्य देशे दक्षिणनामके।

सहस्रकूटमाश्रित्य श्रीविमानं नुनाव सः ॥३२॥

अन्वयार्थ - (ततः) इसके अनन्तर (सः) उन जीवन्धरकुमार ने (तस्मात्) उस तापस आश्रम से (विनिर्गत्य) निकलकर (दक्षिणनामके देशे) दक्षिण नाम के देश में (सहस्रकूटं) सहस्रकूट नाम के (श्रीविमानं) जिनालय को (आश्रित्य) प्राप्त होकर (नुनाव) स्तुति प्रारम्भ की।

सरलार्थ - जीवन्धरकुमार तपस्वियों को धर्मोपदेश देकर आगामी यात्रा के लिए उस आश्रम से प्रस्थान कर गए। चलते-चलते दक्षिण देश के सहस्रकूट जिनमन्दिर के द्वार पर पहुँच कर जिनेन्द्र भगवान की स्तुति करने लगे।

विशेषार्थ - कूट शब्द का अर्थ शिखर होता है। जिस मन्दिर में एक हजार शिखर हों, उसे सहस्रकूट जिनमन्दिर कहते हैं।

जिनेन्द्र भगवान से सम्यग्ज्ञानरूपी दीप की कामना -

भगवन्दुर्णयध्वान्तैराकीर्णे पथि मे सति।

सज्ज्ञानदीपिका भूयात्संसारावधिवर्धिनी ॥३३॥

अन्वयार्थ - [अत्र नीतिः] (भगवन्) हे भगवान ! (दुर्णयध्वान्तैः) दुर्नयरूपी अन्धकार से (आकीर्णे) व्याप्त (मे पथि सति) मेरा मार्ग होने पर (संसारावधिवर्धिनी) मोक्ष को देनेवाला (सज्ज्ञानदीपिका भूयात्) सम्यग्ज्ञानरूपी दीपक आपके प्रसाद से मुझे प्राप्त हो।

सरलार्थ - हे भगवान ! मेरा जीवन दुर्नयरूपी अन्धकार से व्याप्त है। अतः सम्यग्ज्ञानरूपी दीपक के समान आप मेरे मोक्षमार्ग को प्रकाशित करें।

विशेषार्थ – हे जिनेन्द्र भगवान ! लोक में मोक्ष और मोक्षमार्ग तो अनादिकाल से ही है, किन्तु मेरी पुरुषार्थहीनता के कारण और मिथ्यात्व के निमित्त से मुझे मेरा मोक्षमार्ग स्पष्ट दिखाई नहीं दे रहा है; विस्मृत-सा हो गया है। मेरा सौभाग्य है कि मैं आपको अपने हस्त-दीपक के समान प्राप्त कर चुका हूँ; जिससे मुझे मेरा मोक्षमार्ग स्पष्ट दिखाई देने लगा है। मेरी तो यही विनय है कि आप सदैव मेरे लिए मार्गदर्शक बने रहें।

भगवान की भक्ति मुक्ति-प्रदायिनी सिद्ध हो –

जन्मजीर्णाटवीमध्ये जनुषान्धस्य मे सती ।

सन्मार्गे भगवन्भक्तिर्भवतान्मुक्तिदायिनी ॥३४॥

अन्वयार्थ – [अत्र नीतिः] (भगवन्) हे भगवान ! (जन्मजीर्णाटवी-मध्ये) जन्मरूपी अत्यन्त पुराने वन में (जनुषान्धस्य) जन्म से अन्धे (मे) मुझे (मुक्तिदायिनी) मुक्ति देनेवाली (सन्मार्गे सती) सन्मार्ग में उत्तम [ते] (भक्तिः भवतात्) आपकी भक्ति होवे।

सरलार्थ – जन्मरूपी अनादिकालीन अतिशय पुराने भयंकर वन में जन्मांध मैं महादुःख भोगता हुआ भटक रहा हूँ। हे भगवान ! मैं आपसे विनती करता हूँ कि आपकी मुक्तिदायिनी भक्ति मुझे मोक्षमार्ग में प्राप्त होवे।

विशेषार्थ – जन्म-मरण की परम्परा अनादिकालीन है। अतः संसाररूपी यह भयंकर वन बहुत पुराना है और इस वन में भटकनेवाले जीव जन्मान्ध हैं अर्थात् अनादि से अज्ञानी ही हैं। अब भक्त भगवान से समर्पित भाव से भक्ति से मुक्ति की कामना करता है; अन्य पंचेन्द्रिय के भोगों की नहीं। वास्तव में भक्ति परम्परा से मुक्ति का कारण है।

भगवान हमारे मन को शान्ति प्रदान करें –

स्वान्तशान्तिं ममैकान्तामनेकान्तैकनायकः ।

शान्तिनाथो जिनः कुर्यात्संसृतिक्लेशशान्तये ॥३५॥

अन्वयार्थ – (अनेकान्तैकनायकः) अनेकान्त मत के अद्वितीय नायक (शान्तिनाथः जिनः) शान्तिनाथ जिनेन्द्र (संसृतिक्लेशशान्तये) संसार के दुःखों की शान्ति के लिए (एकान्तां) हमेशा स्थिर रहनेवाली (मम स्वान्तशान्तिं) मेरे हृदय की शान्ति को (कुर्यात्) करें।

सरलार्थ – अनेकान्त के अद्वितीय नायक हे शान्तिनाथ भगवान ! मेरे ही राग-द्वेष के कारण उत्पन्न होनेवाले मेरे दुःख को दूर करें। मुझे सुखी बनाएँ और मेरे मन को शान्ति प्रदान करें।

विशेषार्थ – जीवन्धरकुमार भगवान शान्तिनाथ की भक्ति कर रहे हैं। भक्ति के समय भक्त की ऐसी ही रागजन्य भाषा निकलती है। मन्दिर में मूलनायक भगवान शान्तिनाथ विराजमान हैं। अतः उनके निमित्त से भक्त उनको सम्बोधन कर भक्ति कर रहा है। भक्त को तो सभी जिनेन्द्र भगवान समान हैं, पर राग की भाषा ही ऐसी है।

भगवान शान्तिनाथ जिनेन्द्र ही शान्ति दे सकते हैं – ऐसी श्रद्धा मिथ्यात्व है। यहाँ भगवान शान्तिनाथ को अनेकान्त का अद्वितीय नायक भी कहा है, पर सभी जिनेन्द्र भगवान शान्तिदायक हैं और सभी अनेकान्त के अद्वितीय नायक हैं। जिस समय जिनकी स्तुति चल रही है, उनकी अपेक्षा से ऐसा ही कहा जाएगा, यह तो भक्ति का स्वरूप है।

जैनदर्शन में अपेक्षा समझना आवश्यक है। अपेक्षा समझे बिना सही निर्णय नहीं होगा। भगवान दुःख दूर करें, भवसमुद्र से पार लगाएँ – आदि विनय और बहुमान की भाषा है। इसे ही व्यवहार नय का कथन कहते हैं।

भक्ति करते ही जिनमन्दिर के किवाड़ों का खुलना –

इति स्तोत्रेण तच्चासीदुद्घाटितकवाटकम् ।

मुक्तिद्वारकवाटस्य भेदिना किं न भिद्यते ॥३६॥

अन्वयार्थ – (इति स्तोत्रेण) इसप्रकार स्तुति करने से (तत्

उद्घाटितकवाटकं आसीत्) वह जिनमन्दिर खुले हुए किवाड़ोंवाला हो गया अर्थात् उस जिनमन्दिर के किवाड़ खुल गए।

[अत्र नीतिः] ठीक ही है ! (मुक्तिद्वारकवाटस्य भेदिना) मोक्षरूपी द्वार के किवाड़ों का भेदन करनेवाले स्तवन से (किं न भिद्यते) किसका भेदन नहीं हो सकता ?



सरलार्थ – जीवन्धरकुमार द्वारा उपर्युक्त भक्ति करते समय अनेक वर्षों से बन्द सहस्रकूट जिनालय के किवाड़ स्वयमेव ही खुल गए। यह उचित ही है; क्योंकि मोक्षरूपी महल के द्वार खोलनेवाले स्तवन से अन्य सब बन्धनों का भेदन होना स्वाभाविक है।

विशेषार्थ – उस सहस्रकूट जिनमन्दिर के किवाड़ अनेक वर्षों से बन्द थे। जीवन्धरकुमार द्वारा उक्त प्रकार से स्तुति करने मात्र से अन्य किसी भी तरह के प्रयत्न किए बिना सहज ही किवाड़ खुल गए। जहाँ जिनेन्द्र भगवान की यथार्थ भक्ति से मुक्ति की प्राप्ति होती है तो उस भक्ति के निमित्त से सहस्रकूट जिनमन्दिर के किवाड़ खुल जाना कुछ आश्चर्यकारक नहीं है।

जीवन्धरकुमार का समताभाव -

अन्याशक्यमिदं मान्यो वितन्वन्न विसिष्मिये ।

लोकमालोकसात्कुर्वन्न हि विस्मयते रविः ॥३७॥

अन्वयार्थ - (मान्यः) माननीय जीवन्धरकुमार ने (अन्याशक्यं इदं वितन्वन्) दूसरों के लिए अशक्य इस कार्य को करते हुए भी उनको (न विसिष्मिये) कुछ भी आश्चर्य नहीं हुआ ।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (रविः) सूर्य (लोकं) संसार को (आलोकसात् कुर्वन्) प्रकाशमय करता हुआ स्वयं कुछ भी (न विस्मयते) आश्चर्ययुक्त नहीं होता है ।

सरलार्थ - अपने अलौकिक प्रकाश से समस्त संसार को प्रकाशमय करनेवाला सूर्य न तो आश्चर्यचकित होता है और न गर्व करता है। उसीप्रकार दूसरों को अशक्य - ऐसे किवाड़ों को खोलने का काम करने पर भी जीवन्धरकुमार को न तो आश्चर्य हुआ और न कुछ गर्व उत्पन्न हुआ ।

अपरिचित व्यक्ति का जीवन्धरकुमार के पास आना -

तावता तं समासाद्य प्रणतः कोऽपि पिप्रिये ।

स्वमनीषितनिष्पत्तौ किं न तुष्यन्ति जन्तवः ॥३८॥

अन्वयार्थ - (तावता) उसी समय (प्रणतः कः अपि) कोई विनयी पुरुष (तं समासाद्य) जीवन्धरकुमार के पास आकर (पिप्रिये) अत्यन्त प्रसन्न हुआ ।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (स्वमनीषितनिष्पत्तौ) अपने इच्छित कार्य की सफलता पर (जन्तवः) प्राणी (किं न तुष्यन्ति) क्या सन्तोषित नहीं होते ? [किन्तु तुष्यन्ति एव] किन्तु सन्तुष्ट होते ही हैं ।

सरलार्थ - सहस्रकूट जिनालय के किवाड़ खुलते ही तत्काल एक अपरिचित व्यक्ति जीवन्धरकुमार के पास आकर अतिशय आनन्द व्यक्त करने लगा । कारण चिर प्रतीक्षित अपने कार्य की सफलता होने से किसे

अतिशय आनन्द और सन्तुष्टि नहीं होती अर्थात् सबको अतिशय आनन्द होता ही है।

विशेषार्थ – किस महापुरुष के आने पर इस सहस्रकूट जिनालय के किवाड़ खुलते हैं ? – यह जानने के लिए 'सुभद्र' नामक सेठ ने अपने गुणभद्र नामक नौकर को नियुक्त किया था। वह गुणभद्र नौकर जीवन्धरकुमार के निमित्त से किवाड़ खुलते ही अपनी इच्छापूर्ति हो जाने से तुरन्त उनके निकट आया और अपनी अतिशय प्रसन्नता व्यक्त करने लगा।

जीवन्धरकुमार द्वारा अपरिचित का परिचय पूछना –

स्वामी तु तं समालोक्य कस्त्वमार्येति पृष्टवान् ।

प्रभूणां प्राभवं नाम प्रणतेष्वेकरूपता ॥३६॥

अन्वयार्थ – (तु) फिर (स्वामी) जीवन्धरकुमार ने (तं समालोक्य) उसको देखकर (आर्य) हे आर्य ! (त्वं कः) तुम कौन हो (इति पृष्टवान्) इसप्रकार पूछा।

[*अत्र नीतिः*] (हि) निश्चय से (प्रणतेषु एकरूपता) विनयी पुरुषों में दूसरे को अपने समान समझना ही (प्रभूणां) बड़े पुरुषों की (प्राभवं नाम) प्रभुता अर्थात् बड़प्पन है।

सरलार्थ – अत्यन्त विनयपूर्वक व्यवहार करनेवाले उस आगन्तुक व्यक्ति से जीवन्धरकुमार पूछते हैं— हे सज्जन पुरुष ! आपका शुभनाम क्या है ? कृपया अपना परिचय दीजिए। यह योग्य ही है कि विनयशील मनुष्य के साथ समानता और सम्मान का व्यवहार करना महापुरुषों की महानता है।

विशेषार्थ – अपने प्रति सम्मान और विनय का भाव प्रगट करनेवाले के प्रति, व्यक्ति अपरिचित होने पर भी महापुरुष सम्मान और समानता का भाव रखते हैं। अतः जीवन्धरकुमार ने आगन्तुक व्यक्ति से ससम्मान उसका परिचय पूछ लिया।

अपरिचित व्यक्ति द्वारा अत्यधिक प्रसन्नता व्यक्त करना -

पृष्ठः सोऽप्युत्तरं वक्तुमुपादत्त कृतत्वरः ।

समीहितेऽपि साहाय्ये प्रयत्नो हि प्रकृष्यते ॥४०॥

अन्वयार्थ - (पृष्ठः सः अपि) पूछे हुए उसने भी (कृतत्वरः) शीघ्रतापूर्वक (उत्तरं वक्तुं उपादत्त) उत्तर देना प्रारम्भ किया।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (समीहिते साहाय्ये) इच्छित कार्य में सहायक (सति अपि) होने पर ही (प्रयत्नः प्रकृष्यते) प्रयत्न बढ़ता है।

सरलार्थ - जीवन्धरकुमार द्वारा उस अपरिचित व्यक्ति से परिचय पूछने पर उसने भी शीघ्रता से हर्षपूर्वक अपना परिचय देना प्रारम्भ किया; क्योंकि इच्छित कार्य की पूर्ति में सहायक मिलने पर उत्साह बढ़ता ही है।

विशेषार्थ - सुभद्र सेठ का वह सेवक स्वयं ही जीवन्धरकुमार से वार्तालाप करने के लिए लालायित था। जब जीवन्धरकुमार ने स्वयं ही उसका परिचय पूछकर गुणभद्र को वार्तालाप करने का अवसर प्रदान किया तो वह उत्साहपूर्वक अपना परिचय देने लगा।

उपकथा-१३

अपरिचित व्यक्ति द्वारा राजा और राजधानी का परिचय -

इह क्षेमपुरी नाम राजधानी विराजते ।

नरपतिस्तु देवान्तो राजा तत्पुरनायकः ॥४१॥

अन्वयार्थ - (इह) यहाँ (क्षेमपुरी नाम) क्षेमपुरी नाम की (राजधानी) राजा की प्रधान नगरी (विराजते) सुशोभित है (तु) और (तत् पुरनायकः) उस नगरी का स्वामी (देवान्तः नरपतिः राजा) [अस्ति] नरपतिदेव नाम का राजा है।

सरलार्थ - अपरिचित व्यक्ति ने जीवन्धरकुमार से कहा - हे महाभाग ! यह क्षेमपुरी नामक राजधानी है, जो अतिसुन्दर और सब प्रकार से शोभायमान नगरी है। इस नगरी में 'नरपतिदेव' नाम का राजा राज्य करता है।

नगर सेठ और सेठानी का परिचय -

तस्य श्रेष्ठिपदप्राप्तः सुभद्रस्तस्य गेहिनी ।

नाम्ना तु निर्वृतिः पुत्री क्षेमश्रीरित्यभूत्तयोः ॥४२॥

अन्वयार्थ - (तस्य श्रेष्ठिपदप्राप्तः सुभद्रः) उस राजा के श्रेष्ठिपद पर नियत सुभद्र नाम का सेठ है (तु) और (निर्वृतिः नाम्ना गेहिनी) [अस्ति] निर्वृति नाम की उसकी स्त्री है। (तयोः क्षेमश्री इति नाम्ना पुत्री अभूत्) उन दोनों के क्षेमश्री नाम की पुत्री है।

सरलार्थ - अपरिचित व्यक्ति ने जीवन्धरकुमार से कहा - राजा नरपतिदेव के नगर सेठ का नाम 'सुभद्र' है और उनकी सेठानी का नाम 'निर्वृति' है। इन दोनों की 'क्षेमश्री' नाम की अत्यन्त सुन्दर कन्या है।

क्षेमश्री के जन्म समय की घटना -

जन्मलग्ने च दैवज्ञास्तत्पतिं तमजीगणन् ।

स्वयंविघटितद्वारो येनायं स्याज्जिनालयः ॥४३॥

अन्वयार्थ - (जन्मलग्ने) इस कन्या के जन्म-समय में (येन) जिस पुरुष के निमित्त से (अयं जिनालयः) यह जिनमन्दिर (स्वयंविघटितद्वारः स्यात्) स्वयं खुले हुए द्वारवाला हो जाएगा (तं तत्पतिं) वही उसका पति होगा (इति दैवज्ञाः अजीगणन्) ऐसा ज्योतिषियों ने निश्चय किया है।

सरलार्थ - कन्या क्षेमश्री के जन्म के समय उपस्थित ज्योतिषियों ने कहा था कि जिस महापुरुष के आने पर इस सहस्रकूट जिनमन्दिर के किवाड़ स्वयमेव ही खुल जाएँगे, वही पुरुष इस कन्या का पति होगा।

अपरिचित व्यक्ति द्वारा अपना नाम बताना -

तत्परीक्षाकृतेऽत्रैव गुणभद्रसमाह्वयः ।

प्रेष्योऽहं प्रेरितस्तिष्ठन्भवन्तं दृष्टवानिति ॥४४॥

अन्वयार्थ - (तत्परीक्षाकृते) उस पुरुष की परीक्षा करने के लिए (प्रेरितः)

भेजा गया (अत्र एव तिष्ठन्) यहाँ पर ठहरे हुए (गुणभद्रसमाह्वयः प्रेष्यः अहं) गुणभद्र नाम मुझ किंकर ने (भवन्तं) आपको (दृष्टवान्) देखा (इति) ऐसा जीवन्धरकुमार को उसने कहा।

सरलार्थ – कुमारी क्षेमश्री के होनेवाले पति की परीक्षा करने के लिए मुझे श्रेष्ठिवर सुभद्र ने इस सहस्रकूट जिनमन्दिर पर नियुक्त किया है। आज मैंने आपके निमित्त से स्वयं ही जिनमन्दिर के किवाड़ खुलते हुए देख लिया है।

गुणभद्र का तुरन्त ही अपने स्वामी के पास जाना –

इत्युक्त्वा स पुनर्नत्वा गत्वा सत्वरमात्मनः ।

स्वामिने स्वामिवृत्तान्तममन्दप्रीतिरब्रवीत् ॥४५॥

अन्वयार्थ – (सः) उस गुणभद्र ने (इति उक्त्वा) पूर्वोक्त उत्तर देकर (पुनः नत्वा) फिर से नमस्कार कर (आत्मनः स्वामिने) अपने मालिक के पास (सत्वरं गत्वा) शीघ्र जाकर (अमन्दप्रीतिः) अत्यन्त प्रीतिपूर्वक (स्वामिवृत्तान्तं अब्रवीत्) जीवन्धरकुमार का वृत्तान्त कहा।

सरलार्थ – जीवन्धरकुमार के प्रश्न का उत्तर देने के पश्चात् उनको आदरपूर्वक नमस्कार करके गुणभद्र तीव्र गति से सेठ सुभद्र के पास पहुँचा और उन्हें जीवन्धरकुमार से सम्बन्धित उपर्युक्त समाचार अत्यन्त आनन्दपूर्वक सुनाया।

सेठ सुभद्र का सहस्रकूट जिनालय पर आना –

भद्रवार्ता ततः शृण्वन् सुभद्रोऽपि समागतः ।

तत्क्षणे च तमद्राक्षीज्जिनपूजाकृतक्षणम् ॥४६॥

अन्वयार्थ – (ततः) इसके अनन्तर (सुभद्रः अपि) सुभद्र सेठ भी (भद्रवार्ता शृण्वन्) इस उत्तम बात को सुनकर (समागतः) उसी समय वहाँ आए (च) और (तत्क्षणे) उससमय (जिनपूजाकृतक्षणं) जिनेन्द्र पूजा में उत्कंठित ऐसे (तं अद्राक्षीत्) उन जीवन्धरकुमार को देखा।

सरलार्थ – गुणभद्र नौकर से उक्त समाचार सुनकर सेठ सुभद्र तुरन्त ही सहस्रकूट जिनालय पर आए और वहाँ अति उत्साहपूर्वक जिनेन्द्र भगवान की पूजा करते हुए जीवन्धरकुमार को देखा।

सुभद्र सेठ को जीवन्धरकुमार के वैभव का परिज्ञान होना –

न गात्रमात्रमद्राक्षीद्विभवं चास्य वैश्यराट्।

सौगन्धिकस्य सौगन्ध्यं शपथात्किं प्रतीयते ॥४७॥

अन्वयार्थ – (वैश्यराट्) वैश्यपति सुभद्र ने (अस्य गात्रमात्रं न अद्राक्षीत्) इनके शरीरमात्र को ही नहीं देखा (किन्तु विभवं च अद्राक्षीत्) किन्तु उनके वैभव को भी देख लिया।

[अत्र नीतिः] (किं सौगन्धिकस्य सौगन्ध्यं) क्या सुगन्धित पदार्थ की सुगन्ध (शपथात् प्रतीयते) शपथ खाने से ही मालूम पड़ती है ? नहीं, उसकी सुगन्ध तो स्वयं मालूम हो जाती है।

सरलार्थ – जिसप्रकार सुगन्धित पदार्थ (कस्तूरी, रक्तकमल इत्यादि) की सुगन्ध बताने के लिए शपथ खाने की आवश्यकता नहीं होती, किन्तु सुगन्धित पदार्थ के सामने आने पर उसकी सुगन्ध सर्वत्र फैल ही जाती है; उसीप्रकार श्रेष्ठिवर सुभद्र ने जीवन्धरकुमार के शरीर को देखकर ही उनके वैभव का परिज्ञान कर लिया।

विशेषार्थ – पूजा करते हुए जीवन्धरकुमार को देखकर ही गुणग्राही सुभद्र ने उनकी कुलीनता, शौर्य, दूरदर्शिता, पुण्य-वैभव और राजकुमार होने का ज्ञान कर लिया।

सेठ सुभद्र और जीवन्धरकुमार का परस्पर मिलन –

इज्यान्तेऽभूद्यथायोग्यमुपचारः परस्परम्।

सतां हि प्रह्वता शास्ति शालीनामिव पक्वताम् ॥४८॥

अन्वयार्थ – (इज्यान्ते) पूजा के बाद (तयोः परस्परं) उन दोनों का परस्पर (यथायोग्यं) यथायोग्य (उपचारः अभूत्) व्यवहार हुआ।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (शालीनां इव) धान्यों के सदृश (सतां प्रह्वता) सज्जन पुरुषों की नम्रता (पक्वतां शास्ति) उनकी योग्यता और बड़प्पन को प्रगट करती है।

सरलार्थ - जिसप्रकार धान्य के पौधों को झुका हुआ देखकर उनकी परिपक्वता का ज्ञान हो जाता है; उसीप्रकार महापुरुषों की विनम्रता उनकी योग्यता का परिचय करा देती है। जीवन्धरकुमार द्वारा जिनेन्द्र भगवान की पूजन कर लेने के पश्चात् एक-दूसरे की विशिष्ट योग्यता का परिचय प्राप्त हुआ।

विशेषार्थ - जब दो महापुरुष परस्पर एक-दूसरे से मिलते हैं, तब शाब्दिक सम्भाषण के बिना भी केवल परस्पर मेल-मिलाप से ही एक-दूसरे की विशिष्टता/महानता का परिज्ञान हो जाता है।

जीवन्धरकुमार का सेठ सुभद्र के घर जाना -

तद्वेश्म तस्य निर्बन्धादथ बन्धुप्रियो गतः।

सख्यं साप्तपदीनं हि लोके सम्भाव्यते सताम् ॥४९॥

अन्वयार्थ - (अथ) इसके अनन्तर (बन्धुप्रियः) बन्धुओं के प्यारे जीवन्धरकुमार (तस्य निर्बन्धात्) उस सेठ के आग्रह करने से (तद्वेश्म गतः) उसके घर गए।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (लोके) संसार में (सतां सख्यं) सज्जन पुरुषों की मित्रता (साप्तपदीनं सम्भाव्यते) दूसरों के साथ सात पग चलने मात्र से ही सम्भव हो जाती है।

सरलार्थ - दोनों में परस्पर जय-जिनेन्द्र का व्यवहार होने के पश्चात् सुभद्र के अत्यन्त प्रेमपूर्वक आग्रह से सबके प्रिय जीवन्धरकुमार, सेठ के साथ उनके घर पर गए। यह उचित ही हुआ; क्योंकि इस जगत में सात पग साथ चलने मात्र से ही सज्जनों में मित्रता हो जाती है।

विशेषार्थ – सात पग चलने का अर्थ अति अल्प परिचय । सज्जन लोग सरलस्वभावी और गुणग्राही होते हैं । अल्पकाल में ही परस्पर विचारों से परिचित हो जाते हैं । अतः दो सज्जनों की मित्रता में देर नहीं लगती । यही कारण है कि सुभद्र और जीवन्धरकुमार में सहज मित्रता हो गई ।

जीवन्धरकुमार द्वारा विवाह की स्वीकृति देना –

कन्यायाः करपीडां च तद्वैन्यादन्वमन्यत ।

आश्रयन्तीं श्रियं को वा पादेन भुवि ताडयेत् ॥५०॥

अन्वयार्थ – (च) और जीवन्धरकुमार ने (तद्वैन्यात्) उस सेठ की दीनतापूर्वक प्रार्थना से (कन्यायाः) कन्या के (करपीडां) अपने साथ विवाह को (अन्वमन्यत) स्वीकार किया ।

[अत्र नीतिः] (भुवि) संसार में (कः वा) कौन पुरुष (आश्रयन्तीं श्रियं) अपने आश्रय को प्राप्त होनेवाली लक्ष्मी को (पादेन ताडयेत्) चरणों से ठुकराता है, कोई नहीं ।

सरलार्थ – घर पहुँचने के पश्चात् सेठ ने जीवन्धरकुमार का उचित आदर-सत्कार किया । तत्पश्चात् सेठ सुभद्र ने अत्यन्त विनम्रता के साथ जीवन्धरकुमार को क्षेमश्री के जन्म के समय ज्योतिषियों के द्वारा कहे हुए वचनों का परिज्ञान कराया तथा अत्यन्त प्रेम और आग्रहपूर्वक क्षेमश्री से विवाह करने का पुनः पुनः निवेदन किया । जीवन्धरकुमार ने भी परिस्थितियों का अवलोकन कर अपनी स्वीकृति प्रदान कर दी । ठीक ही है कि अपने आप प्राप्त होती हुई लक्ष्मी को सभी आश्रय देते हैं, कोई भी नहीं ठुकराता ।

जीवन्धरकुमार और क्षेमश्री का विवाह सम्पन्न होना –

अथ भद्रतरे लग्ने सुभद्रेण समर्पिताम् ।

क्षेमश्रियं पवित्रोऽयमुपयेमे यथाविधि ॥५१॥

अन्वयार्थ - (अथ) इसके अनन्तर (अयं पवित्रः) इन पवित्र जीवन्धरकुमार ने (भद्रतरे लग्ने) शुभ समय में (सुभद्रेण समर्पितां) सुभद्र सेठ द्वारा दी हुई (क्षेमश्रियं) क्षेमश्री नाम की कन्या को (यथाविधि उपयेमे) विधिपूर्वक ब्याहा।

सरलार्थ - सेठ सुभद्र द्वारा अर्पित कुमारी क्षेमश्री का शुभ-विवाह यथाविधि सम्माननीय जीवन्धरकुमार के साथ शुभ-बेला में शास्त्रोक्त विधि से सम्पन्न हुआ।

इति श्रीवादीभसिंहसूरिविरचिते क्षत्रचूडामणौ
क्षेमश्रीलम्भो नाम षष्ठो लम्बः ।

(मुनिवर) सामने आए उपसर्ग को छोड़कर नहीं जाते, क्योंकि मुनि की तो सिंहवत् वृत्ति है। जबतक मुनि के परिणाम ध्यान में स्थिर रहते हैं, तबतक तो ध्यान को छोड़कर अन्य कार्य नहीं विचारते हैं। ध्यान से परिणाम नीचे आए हों, तब शास्त्राभ्यास करते हैं वा दूसरों को कराते हैं तथा अपूर्व जिनवाणी के अनुसार ग्रन्थ का अवलोकन करते हैं।

तथा शास्त्राभ्यास करते-करते परिणाम स्थिर होने लग जाँएँ तो शास्त्राभ्यास को छोड़कर ध्यान में लग जाते हैं। सो शास्त्राभ्यास से ध्यान का फल बहुत है। इसलिए नीचे के ओछे कार्य छोड़ ऊँचे कार्य में लगना उचित ही है।

ध्यान में उपयोग की स्थिरता अल्पकाल रहती है और शास्त्राभ्यास में उपयोग की स्थिरता बहुत काल रहती है। इसलिए मुनि महाराज ध्यान भी धारण करते हैं और शास्त्र भी वाँचते हैं और उपदेश भी देते हैं। आप स्वयं गुरु से पढ़ते हैं, औरों को पढ़ाते हैं अथवा चर्चा करते हैं। मूलग्रन्थों के अनुसार अपूर्व ग्रन्थों को जोड़ते हैं।

- ज्ञानानन्द श्रावकाचार, पृष्ठ-९०

सातवाँ लम्ब

ज्ञानीजीव का भोगों में अनासक्तपना -

अथ वध्वा तथा साकमनुबोभूय भूयसीम् ।

सुखतातिं ततो यातुं विततान मतिं कृती ॥१॥

अन्वयार्थ - (अथ) क्षेमश्री के विवाहानन्तर (कृती) पुण्यशाली जीवन्धरकुमार ने (तथा वध्वा साकं) उस स्त्री के साथ (भूयसीं सुखतातिं) बहुत सुख परम्परा का (अनुबोभूय) अनुभवन करके (ततः यातुं) वहाँ से जाने के लिए-(मतिं विततान) बुद्धि की।

सरलार्थ - क्षेमश्री से विवाह करने के पश्चात् कुछ काल पर्यन्त जीवन्धरकुमार ने उसके साथ रहकर अनेक प्रकार के पंचेन्द्रियजन्य भोगों का आनन्द लिया और फिर क्षेमपुरी नगरी से अन्यत्र यात्रा पर जाने का विचार किया।

विशेषार्थ - सम्यग्दृष्टि जीव की दशा और दिशा कुछ अलौकिक ही होती है। उनके भोग परिणाम अत्यन्त शिथिल होते हैं, उन्हें वे सहज ही छोड़ सकते हैं। वास्तव में देखा जाए तो वे यथायोग्य पंचेन्द्रिय के विषय-भोग के समय भी ज्ञाता-दृष्टा ही रहते हैं; भले ही बाह्य क्रिया मिथ्यादृष्टि जैसी ही देखने में आती है। जीवन्धरकुमार का भोगपरिणाम तो पहले से ही शिथिल था, अब और अधिक शिथिल हो गया है; अतः उन्होंने क्षेमपुरी नगरी से अन्यत्र यात्रा पर जाने का विचार किया।

जीवन्धरकुमार का क्षेमपुरी नगर से गमन -

अकथयन्नथ स्वामी गणरात्रात्यये गतः ।

न हि मुग्धाः सतां वाक्यं विश्वसन्ति कदाचन ॥२॥

अन्वयार्थ - (अथ) इसके अनन्तर (स्वामी) जीवन्धरकुमार(गणरात्रा-त्यये) बहुत रात्रियों (दिनों) के बीत जाने पर (अकथयन्) बिना कहे हुए ही वहाँ से (गतः) चले गए।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (मुग्धाः) भोले मनुष्य (सतां) महापुरुषों के (वाक्यं) वचन को (कदाचन) कभी (न विश्वसन्ति) प्रमाण/सत्य नहीं मानते।

सरलार्थ – क्षेमपुरी नगरी में रहते हुए जीवन्धरकुमार के अनेक दिन सुखपूर्वक बीते। एक दिन वे किसी को सूचना दिए बिना ही क्षेमपुरी नगरी से आगे की यात्रा के लिए निकल पड़े; क्योंकि 'भोले जीव सज्जनों के वचनों पर कभी विश्वास नहीं करते हैं।'

विशेषार्थ – 'मैं अब आगे यात्रा के लिए निकलनेवाला हूँ' – ऐसा यदि जीवन्धरकुमार अपने मित्र अथवा परिवारजनों से कहते तो किसी को उनका विचार विश्वसनीय ही नहीं लगता अथवा वे उनकी यात्रा में बाधा उत्पन्न कर सकते थे। कुमार दोनों में से एक भी आपत्ति नहीं चाहते थे; अतः किसी को बिना कुछ समाचार दिए ही यात्रा पर निकलना योग्य समझकर क्षेमपुरी नगरी से निकल गए।

आसक्ति ही दुःखदाता –

तद्वियोगादभूत्पत्नी दग्धरज्जु - समद्युतिः।

प्राणाः पाणिगृहीतीनां प्राणनाथो हि नापरम् ॥३॥

अन्वयार्थ – (पत्नी) जीवन्धरकुमार की क्षेमश्री नाम की स्त्री (तद्वियोगात्) उनके वियोग से (दग्धरज्जुसमद्युतिः) जली हुई रस्सी के समान कान्तिहीन (अभूत्) हो गई।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (पाणिगृहीतीनां) विवाहिता स्त्रियों के (प्राणाः) प्राण (प्राणनाथ) उनके पति ही हैं (अपरं न) और कोई नहीं।

सरलार्थ – जीवन्धरकुमार की पत्नी क्षेमश्री अपने पति के वियोग से आकुलित होकर अत्यन्त दुःखी हुई। वह उनके वियोग में जली हुई रस्सी के समान काली और कृश हो गई; क्योंकि विवाहिता स्त्रियों के प्राण उनके पतिदेव ही होते हैं।

विशेषार्थ – जो अपने अस्तित्व या सुख का आधार दूसरे द्रव्य को मानेगा, उसे अपेक्षित द्रव्य का अभाव या वियोग होने पर स्वाभाविक रूप से दुःख होगा ही। अतः हमें अपने सुख के लिए अन्य द्रव्य का आश्रय खोजना भ्रम है।

निज शुद्धात्मा का आश्रय ही एकमेव सच्चे सुख का साधन है। सुख का सागर तो मैं स्वयं हूँ – ऐसा स्वीकार करना ही सदा-सदा के लिए सुखी होने का उपाय है।

क्षेमश्री ने अपना सुख जीवन्धरकुमार के संयोग में माना था; अतः वह उनका वियोग होते ही अत्यन्त दुःखी हो गई।

पर की अपेक्षा ही परम दुःख –

सुभद्रोऽपि पवित्रं तमन्विष्याधिमयोऽभवत् ।

बहुयत्नोपलब्धस्य प्रच्यवो हि दुरुत्सहः ॥४॥

अन्वयार्थ – (सुभद्रः अपि) सुभद्र नाम के सेठ भी (तं पवित्रं) उन पवित्र जीवन्धरकुमार को (अन्विष्य) ढूँढकर उनके न मिलने पर (आधिमयः अभवत्) मानसिक पीडा से ग्रस्त हुआ।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (बहुयत्नोपलब्धस्य) बहुत यत्न से प्राप्त वस्तु का (प्रच्यवः) हाथ से निकल जाना (दुरुत्सहः) अतीव दुःखकर होता है।

सरलार्थ – सेठ सुभद्र भी अपने जामात जीवन्धरकुमार की खोज की। उन्हें उनका संयोग न हो सका; अतः वे भी अतिशय दुःखी हुए; क्योंकि अत्यन्त कठोर प्रयत्नपूर्वक प्राप्त हुए पदार्थ का वियोग जीव को असह्य ही हो जाता है।

विशेषार्थ – सुभद्र सेठ ने जीवन्धरकुमार को अपने जमाई के रूप में प्राप्त करने के लिए अनेक वर्षों तक एक नौकर को सहस्रकूट जिनालय पर नियुक्त

किया था। बहुत लम्बी प्रतीक्षा के पश्चात् उन्हें जीवन्धरकुमार की प्राप्ति हुई थी, पर अकस्मात् उनका वियोग में वे दुःखी हुए। वास्तव में देखा जाए तो जीव को पर की अपेक्षा ही परम दुःख है।

जीवन्धरकुमार द्वारा आभूषणों का त्याग -

स्वामी स्वाभरणत्यागमैच्छद्गच्छन्नतुच्छधीः ।

विवेकभूषितानां हि भूषा दोषाय कल्पते ॥५॥

अन्वयार्थ - (अतुच्छधीः) श्रेष्ठ बुद्धिवाले जीवन्धरकुमार ने (गच्छन्) जाते समय (स्वाभरणत्यागं ऐच्छत्) अपने आभूषण त्यागने की इच्छा की।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (विवेकभूषितानां) विवेक से भूषित पुरुषों के (भूषा) भूषण-आभरणादि (दोषाय) दोष के लिए ही (कल्पते) माने गए हैं।

सरलार्थ - क्षेमपुरी से प्रस्थान करने के पश्चात् विवेकशील जीवन्धरकुमार को अपने आभूषण दानस्वरूप देने का विचार आया; क्योंकि भेदज्ञान से शोभायमान विवेकीजनों को आभूषण दोषरूप ही लगते हैं।

विशेषार्थ - सज्जनों का आभूषण तो विवेक है। वे अपने विवेक से ही शोभायमान होते हैं। जड़ शरीर को सुन्दर दिखाने का उन्हें भाव नहीं रहता है। विवाह के समय पहिनाये आभूषण जीवन्धरकुमार के शरीर पर थे, उन्हें त्यागने का भाव कुमार को उत्पन्न हुआ। वे आभूषण उन्हें भाररूप लगने लगे।

दूसरा विचार यह भी हो सकता है कि यात्रा के समय आभूषणों के निमित्त से चोरादिक से आपत्ति आ सकती है; अतः यात्रा निराकुल भाव से करने के लिए आभूषणों का त्याग उचित भी है।

धर्मात्मा को ही दान देना श्रेष्ठ -

धार्मिकाय तदाकल्पं दातुं च समकल्पयत् ।

स्थाने हि बीजवद्दत्तमेकं चापि सहस्रधा ॥६॥

अन्वयार्थ – (तदा) उस समय (सः) उन जीवन्धरकुमार ने (धार्मिकाय) धार्मिक पुरुष के लिए (आकल्पं) भूषण (आभरण) (दातुं) देने का (समकल्पयत्) संकल्प किया।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (स्थाने) योग्य स्थान में (बीजवत्) बीज के सदृश (दत्तं एकं च अपि) दी हुई एक वस्तु भी (सहस्रधा फलति) हजार गुनी फलती है।

सरलार्थ – जिसप्रकार अच्छी उपजाऊ भूमि में बोया गया बीज अनेक गुणित फलित होता है; उसीप्रकार सुपात्र जीव को दिया हुआ अल्प दान भी हजार गुना फल देता है। जीवन्धरकुमार ने निश्चित कर लिया कि किसी पात्र जीव को ही अपने आभूषणों का दान देना है।

विशेषार्थ – सुपात्र को दिया हुआ दान सहस्र गुना फल देता है। इसका रहस्य यह है कि जब दाता सुपात्र की खोज करता है, तब पात्र का निर्णय करने के लिए शास्त्र का आधार खोजता है, विचार करना पड़ता है। विचार के समय स्वयं मनन-चिन्तन भी चलता है। इससे दाता को विशेष जाति का पुण्य-कर्म बँधता है।

दाता को पुण्य का विशेष फल मिलता है। शास्त्र का यह वचन कि 'सुपात्र को दिया हुआ दान सहस्र गुना फल देता है' – यह परम सत्य है।

उपकथा-१४

भवितव्यतानुसार ही भावों का होना –

तावता सन्यधात्कोऽपि सन्निधेस्तस्य सन्निधौ ।

भागधेयविधेया हि प्राणिनां तु प्रवृत्तयः ॥७॥

अन्वयार्थ – (तावता) इतने में ही (कः अपि) कोई पुरुष (सन्निधेः तस्य) सज्जनों के उपकारक उन जीवन्धरकुमार के (सन्निधौ) पास (सन्यधात्) आया।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (प्राणिनां प्रवृत्तयः) प्राणियों की सारी प्रवृत्तियाँ (भागधेयविधेयाः भवन्ति) उनके भाग्य के अनुकूल हुआ करती हैं।

सरलार्थ — इतने में कोई सज्जन पुरुष, जीवन्धरकुमार के सामने आता है; क्योंकि भवितव्यतानुसार ही जीव के भाव होते हैं।

विशेषार्थ — सामने आया हुआ सज्जन पुरुष एक निर्धन किसान है। उसे सहज ही जीवन्धरकुमार के सामने आने का भाव हुआ। स्वभाव, निमित्त आदि पाँचों समवाय प्रत्येक कार्य के समय होते ही हैं। यहाँ उनमें से भवितव्य की मुख्यता से कथन किया गया है। अन्य चार समवाय भी यहाँ उपस्थित हैं; पर उनकी विवक्षा अभी यहाँ नहीं है।

जीवन्धरकुमार का कृषक से प्रश्न —

आगच्छन्तमपृच्छच्च पामरं पार्श्वमात्मनः ।

कुतः कुत्र प्रयासि त्वं स्वास्थ्यं चास्ति न वेति च ॥८॥

अन्वयार्थ — जीवन्धरकुमार ने (आत्मनः पार्श्व) अपने समीप (आगच्छन्तं) आए हुए (पामरं) उस ग्रामीण पुरुष से (अपृच्छत्) पूछा। (त्वं) तुम (कुतः आगतः) कहाँ से आए हो ? (च) और (कुत्र प्रयासि) कहाँ जाओगे ? (ते स्वास्थ्यं अस्ति न वा) तुम कुशल हो अथवा नहीं ? (इति) इसप्रकार पूछा।

सरलार्थ — अपने समीप आनेवाले कृषक से जीवन्धरकुमार ने प्रेमपूर्वक प्रश्न पूछा — हे सज्जन ! आप कहाँ से आ रहे हैं ? और कहाँ जाना है ? आपका स्वास्थ्य तो अच्छा है न ?

कृषक की तत्परता —

प्रीतः प्रत्यब्रवीत्सोऽपि प्रश्रयेण समाश्रितः ।

मुखदानं हि मुख्यानां लघूनामभिषेचनम् ॥९॥

अन्वयार्थ — (सः अपि) उसने भी (प्रीतः) [सन्] प्रसन्न होकर (प्रश्रयेण समाश्रितः) विनयपूर्वक (प्रत्यब्रवीत्) उनके प्रश्न का उत्तर दिया।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (मुख्यानां) बड़े मनुष्यों का (मुखदानं) छोटे आदमियों से प्रीतिपूर्वक बोलना (लघूनां अभिषेचनम्) [भवति] छोटे आदमियों के लिए राज्याभिषेक के समान होता है।

सरलार्थ – कृषक अत्यन्त प्रसन्न होकर उत्तर देने को तत्पर हुआ; क्योंकि महापुरुषों का सामान्य व्यक्ति से प्रीतिपूर्वक बोलना ही उन्हें राज्याभिषेक के समान होता है।

विशेषार्थ – सामान्य व्यक्ति पुण्यवान पुरुषों के साथ स्वयं वार्तालाप करने को उत्सुक रहता है। ऐसी स्थिति में जीवन्धरकुमार द्वारा परिचय पूछने पर कृषक के आनन्द की सीमा न रही, उसने प्रसन्नतापूर्वक अपना परिचय देना आरम्भ किया।

कृषक और कुमार का वार्तालाप –

इतस्ततो मया मह्य गम्यते कार्यकाम्यया।

स्वास्थ्यं स्वास्थ्यतमं भूयात्कार्येऽप्यार्यदृशो मम ॥१०॥

अन्वयार्थ – (मह्य) हे पूज्य ! (मया) मैं (कार्यकाम्यया) कार्य की इच्छा से (इतस्ततः) इधर-उधर (गम्यते) जा रहा हूँ। (मम कार्ये) मेरे कार्य में (आर्यदृशः) आपके दर्शन से (स्वास्थ्यं) सुख (स्वास्थ्यतमं भूयात्) और भी अधिक सुख होवे।

सरलार्थ – हे सम्माननीय महापुरुष ! मैं अपने कार्य से ही इधर-उधर, आता-जाता रहता हूँ। आप जैसे असाधारण मनुष्य के दर्शन से, मुझे और अधिक सुख की प्राप्ति हो – ऐसा आपसे नम्र निवेदन है। मुझे तो आपका आशीर्वाद ही चाहिए।

सुख का स्वरूप –

इत्युक्तेन कुमारेण प्रत्युक्तो वृषलः पुनः।

स्वास्थ्यं नाम न कृष्यादिजायमानं कृषीवल ॥११॥

अन्वयार्थ – (इत्युक्तेन कुमारेण) कृषक द्वारा कुमार से इसप्रकार कहे

जाने पर कुमार ने (पुनः वृषलः प्रत्युक्तः) फिर उस किसान से कहा—
(कृषीवल) हे किसान !

[अत्र नीतिः] (कृष्यादि जायमानं) खेती आदि कर्मों से उत्पन्न सुख
(न स्वास्थ्यं नाम) सच्चा सुख नहीं है।

सरलार्थ — कृषक के विनम्रतापूर्वक सरल वचन सुनकर जीवन्धरकुमार ने
उसे वात्सल्यपूर्वक समझाया — हे कृषक ! खेती आदि कर्मों/उद्योगों से
उत्पन्न होनेवाला सुख सच्चा सुख नहीं है।

षट्कर्मोत्पन्न सुख का स्वरूप —

षट्कर्मोपस्थितं स्वास्थ्यं तृष्णाबीजं विनश्वरम् ।

पापहेतुः परापेक्षि दुरन्तं दुःखमिश्रितम् ॥१२॥

अन्वयार्थ — [अत्र नीतिः] (षट्कर्मोपस्थितं स्वास्थ्यं) असि, मसि,
कृषि, सेवा, शिल्प और वाणिज्य — इन छह कर्मों से उत्पन्न सुख (तृष्णाबीजं)
तृष्णा का कारण (विनश्वरं) विनाशशील (पापहेतुः) पाप का कारण
(परापेक्षी) दूसरे की अपेक्षा रखनेवाला (दुरन्तं) अन्त में दुःख देनेवाला
(दुःखमिश्रितं) और दुःख से मिश्रित है।

सरलार्थ — असि, मसि, कृषि, सेवा, शिल्प और वाणिज्य — इन
छह प्रकार के कर्मों/उद्योगों से उत्पन्न सुख तृष्णा का कारण, विनश्वर,
पाप का उत्पादक, दूसरों की अपेक्षा रखनेवाला और अन्त में दुःख
देनेवाला है और दुःख से मिला हुआ है।

विशेषार्थ — कर्म शब्द का अर्थ यहाँ उद्योग से है। छह प्रकार के उद्योगों/
आजीविका के साधनों का स्वरूप निम्नप्रकार है —

१. असिकर्म — सेना में सैनिक बनकर धन कमानेरूप उद्यम करना। इस
काम में मनुष्य का मरण कभी भी हो सकता है। हाथ में असि अर्थात् तलवार
लेकर हमेशा लड़ने का काम करना, जहाँ मरण निश्चित है; फिर भी वहाँ
मनुष्य अनेक वर्षों तक जीता है — यह आश्चर्य है।

२. **मसिकर्म** – किसी सेठ साहूकार की दुकान पर, कार्यालय या कारखानों में लिखा-पढ़ी का काम करके धन कमाना – इसे मसिकर्म कहते हैं। इसमें मालिक तथा अधिकारी की आज्ञा में रहने से पराधीनता है। वहाँ पराधीनता का दुःख भोगना अनिवार्य है।

३. **कृषिकर्म** – खेती करने को कृषिकर्म कहते हैं। इस कार्य में गर्मी, वर्षा, ठण्ड तीनों ऋतुओं की विषम परिस्थिति में ही प्रकृति के प्रकोप को सहते हुए काम करके कष्ट उठाने पड़ते हैं। इस कार्य में अति प्रतिकूल वातावरण में भी काम करना अनिवार्य होता है; तो भी धन प्राप्ति का कोई निश्चित भरोसा नहीं रहता।

४. **सेवाकर्म** – सेवक के रूप में दूसरों की नौकरी करना, सम्पन्न लोगों के यहाँ झाड़ू लगाना, रसोई बनाना, पानी भरना – आदि काम करके आजीविका प्राप्त करना सेवाकर्म कहलाता है। श्रम करना तो अनिवार्य रहता ही है और साथ ही साथ हीन भावना से मानसिक दुःख उठाना पड़ता है।

५. **शिल्पकर्म** – पीतल, पत्थर, लोहा आदि पदार्थों पर कलाकृति तैयार करनेरूप कार्य तथा महल, मन्दिर आदि बनाने का कार्य शिल्पकर्म कहलाता है। ग्राहकों की प्रसन्नता और मालिकों की इच्छा पर यह कार्य अवलम्बित रहता है।

६. **वाणिज्यकर्म** – जीवनोपयोगी अनाज, कपड़ा, सोना-चाँदी आदि वस्तुओं के क्रय-विक्रय का काम करके धन कमाने को वाणिज्यकर्म कहते हैं। सुख-सुविधा युक्त अपने घर को छोड़कर वस्तुओं के क्रय-विक्रय के लिए देश-विदेश की यात्रा करने में अनेक प्रकार के कष्ट उठाने पड़ते हैं।

पूर्वोक्त छह प्रकार का उद्योग करने पर धन की प्राप्ति होती है। धन से पंचेन्द्रिय के भोग/उपभोग की वस्तुएँ प्राप्त होती हैं। भोग्य वस्तुओं के संयोग से रागी जीव की आकुलता कथंचित मिटती है; उसे यहाँ षट्कर्मों से उत्पन्न सुख कहा है। यह सुख वास्तव में सुख नहीं है; अपितु तृष्णा का बीज होने से, दुःखरूप ही है। इसका खुलासा इसप्रकार है –

(१) तृष्णा का बीज – यह सुख तृष्णा का शमन नहीं करता, अपितु तृष्णा को बढ़ाता है।

(२) विनश्वर – नाशवान है अर्थात् कुछ समय तक ही टिकता है।

(३) पापहेतु – जो इस सुख को भोगता है, उसे पापकर्म का आस्रव व बन्ध होता है।

(४) परापेक्षी – यह सुख अन्य जड़ द्रव्यों तथा इन्द्रियों की अपेक्षा रखता है।

(५) दुरन्त – यह सुख जाते समय जीव को दुःख ही देता है। वास्तव में प्रत्यक्ष दुःखरूप है। अज्ञानी भ्रम से इस दुःख को ही सुख मान लेता है।

(६) दुःख मिश्रित – इन्द्रिय सुख मात्र सुखरूप/सुखमय ही नहीं है; अपितु उसमें दुःख का अंश भी मिला हुआ है।

इसप्रकार षट्कर्मों के निमित्त से होनेवाला सुख हेय है/छोड़ने योग्य है। अतः इन्द्रियजन्य सुखों के लिए जान की बाजी लगाकर प्रयत्न करने में कुछ सार नहीं है। पूर्वकृत पुण्योदय से जो कुछ सहज ही पंचेन्द्रियों के विषयों का संयोग रहता है, उसमें ही सन्तोष प्राप्त करके आत्मोत्पन्न सुख की प्राप्ति के लिए वस्तुस्वरूप को समझना आवश्यक है।

आत्मोत्पन्न सुख का स्वरूप –

आत्मोत्थमात्मना साध्यमव्याबाधमनुत्तरम् ।

अनन्तं स्वास्थ्यमानन्दमतृष्णामपवर्गजम् ॥१३॥

अन्वयार्थ – [अत्र नीतिः] (आत्मोत्थं स्वास्थ्यं) अपनी आत्मा से उत्पन्न हुआ सुख (आत्मना साध्यं) आत्मा के द्वारा साध्य, (अव्याबाधं) बाधारहित, (अनुत्तरं) सर्वोत्कृष्ट, (अनन्तं) अनन्त, (आनन्दं) आनन्दमय, (अतृष्णं) तृष्णारहित और (अपवर्गजम्) मोक्ष में होनेवाला है।

सरलार्थ – अपनी आत्मा से या आत्मा में ही उत्पन्न होनेवाला

सुख आत्मा के द्वारा साध्य है। जो बाधारहित, सर्वोत्तम, अनन्त, आनन्दमय, तृष्णारहित और मोक्षस्वरूप है।

विशेषार्थ – आत्मोत्पन्न सुख की जो विशेषताएँ श्लोक में वर्णित की हैं, उनकी संक्षिप्त व्याख्या निम्नानुसार है –

१. **आत्मा के द्वारा साध्य** – आत्मोत्पन्न सुख अन्य जड़ द्रव्य या इन्द्रियों की अपेक्षा रखनेवाला नहीं है। स्वयं साध्य है, स्वावलम्बी है। उसे पर के अवलम्बन की अपेक्षा नहीं है।

२. **बाधारहित** – आत्मोत्पन्न सुख में किसी प्रकार की कोई बाधा नहीं है, उस पर किसी का आवरण नहीं है। जैसे चक्षु इन्द्रिय के द्वारा कोई इष्ट वर्ण देखकर आनन्द मना रहा हो, उसी समय कोई वस्तु बीच में आ जाए तो चक्षु इन्द्रियजन्य आनन्द बाधित होता है; किन्तु आत्मोत्पन्न सुख में कभी कोई बाधा उत्पन्न नहीं होती।

३. **सर्वोत्तम** – आत्मोत्पन्न सुख की तुलना करनेवाला संसार में अन्य कोई सुख ही नहीं है, अतः यही सर्वोत्तम सुख है।

४. **अनन्त** – अनन्त शब्द के दो अर्थ होते हैं – १. अन् + अन्त = अनन्त – अन् = नहीं, अन्त = नाश। जिसका कभी नाश न हो, वह अनन्त। २. अन् + अन्त = अनन्त – अन् = नहीं, अन्त = मर्यादा। जिसकी कोई मर्यादा/सीमा नहीं। जिसकी कभी सीमा नहीं आएगी, जो असीम रहेगा, वह अनन्त।

५. **आनन्दमय** – पूर्ण तृप्ति, समाधान, सन्तोष, निराकुलता ही जिसका सर्वस्व है – ऐसा आनन्दमय आत्मोत्पन्न सुख।

६. **तृष्णारहित** – इच्छाओं के अभावरहित, आकुलतारहित, वर्तमान में कुछ चाहिए – इस भावना से रहित, पूर्ण सन्तुष्टिजनक आत्मोत्पन्न सुख।

७. **अपवर्गजम्** – मोक्ष में अनन्त सिद्ध भगवन्तों को जिस जाति का अनुपम सुख मिलता है, उसी जाति का आत्मोत्पन्न सुख है। **सम्यग्दृष्टि का सुख भले ही सिद्धों की अपेक्षा मात्रा में कम हो, किन्तु जाति तो वही है।**

अतः आत्मोत्पन्न सुख उपादेय है, उसकी प्राप्ति के लिए सदा प्रयत्नपरायण रहना, प्रत्येक पात्र जीव का प्रथम कर्तव्य है।

मोक्ष-प्राप्ति का उपाय -

तदपि स्वपरज्ञाने याथात्म्यरुचिमात्रके ।

परित्यागे च पूर्णे स्यात्परमं पदमात्मनः ॥१४॥

अन्वयार्थ - [अत्र नीतिः] (तत् अपि) और वह (आत्मनः परमं पदं) आत्मा का परम पद अर्थात् मोक्ष (याथात्म्यरुचिमात्रके) यथार्थ रुचिरूप सम्यग्दर्शन (स्वपरज्ञाने) स्व और पर के भेद-विज्ञानरूप सम्यग्ज्ञान (च) और (पूर्णे परित्यागे) परिपूर्ण सम्यक्चारित्र के होने पर ही (स्यात्) होता है।

सरलार्थ - आत्मा की यथार्थ रुचिरूप सम्यग्दर्शन, भेदविज्ञानरूप सम्यग्ज्ञान और आत्मरमणतारूप सम्यक्चारित्र के परिपूर्ण होने पर आत्मा को परम पद अर्थात् मोक्ष पद प्राप्त होता है।

विशेषार्थ - श्लोक में सम्यक्चारित्र पूर्ण होने पर ही मोक्ष होता है - यह अंश अतिमहत्त्वपूर्ण है। सम्यग्दर्शनादि की एकरूपता तो मोक्षमार्ग है और सम्यक्चारित्र पूर्ण होने पर साक्षात् मोक्ष होता है। इसका अभिप्राय निम्नानुसार समझना -

जब बारहवें गुणस्थान में वीतरागता पूर्ण होती है, तब चारित्र पूर्ण होता है। उसके पश्चात् तेरहवें गुणस्थान में सम्यग्ज्ञान केवलज्ञानरूप परिणत होकर ज्ञान पूर्ण होता है और लघु अन्तर्मुहूर्त बीत जाने पर परमपद/मोक्ष प्राप्त होता है।

स्व-पर भेदज्ञान का स्वरूप -

स्वमपि ज्ञानदृक्सौख्यसामर्थ्यादिगुणात्मकम् ।

परं पुत्रकलत्रादि विद्धि गात्रमलं परैः ॥१५॥

अन्वयार्थ - [अत्र नीतिः] [त्वं] और तू (स्वं) अपनी आत्मा को (ज्ञानदृक्सौख्यसामर्थ्यादिगुणात्मकं) अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख

और अनन्तवीर्यादि गुणात्मक (विद्धि) जान तथा (पुत्रकलत्रादि परं विद्धि) पुत्र, स्त्री आदिक को पर जान। (परैः अलं) और तो क्या (गात्रं अपि परं विद्धि) अपने शरीर को भी पर जान।

सरलार्थ – आप अपनी आत्मा को अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख और अनन्तवीर्यादि गुणात्मक जानो; पुत्र, मित्र, कलत्रादि को पर जानो। आत्मा से भिन्न ऐसी अन्य वस्तुओं की चर्चा से बस होओ। आत्मा से अभिन्न प्रतीत होनेवाले और जन्म से ही सदा साथ रहनेवाले शरीर को भी आप से भिन्न ही जानो।

विशेषार्थ – आचार्य श्री कुन्दकुन्द रचित नियमसार ग्रन्थ की गाथा क्रमांक ४७ का ही भाव यहाँ ग्रन्थकार श्री वादीभसिंहसूरि ने बताया है। नियमसार गाथा का भाव – जैसे सिद्ध आत्मा हैं वैसे ही भवलीन संसारी जीव हैं, जिससे वे संसारी जीव सिद्ध आत्माओं की भाँति जन्म-जरा-मरण से रहित और आठ गुणों से अलंकृत हैं।

देहासक्ति से पुनः पुनः देह प्राप्ति –

एवं भिन्नस्वभावोऽयं देही स्वत्वेन देहकम् ।

बुध्यते पुनरज्ञानादतो देहेन बध्यते ॥१६॥

अन्वयार्थ – [अत्र नीतिः] (एवं भिन्नस्वभावः) इसप्रकार भिन्न स्वभाव को धारण करनेवाला (अयं देही) यह आत्मा (अज्ञानात्) अज्ञानता से (देहकं) शरीर को (स्वत्वेन बुध्यते) निजत्व बुद्धि से जानता है। (अतः) इसलिए (पुनः) फिर से (देहेन) देह से (बध्यते) बाँधता है।

सरलार्थ – इसप्रकार पुत्र, मित्र, कलत्र और देह से भिन्न स्वभाव को धारण करनेवाला यह आत्मा अज्ञान के कारण देह को ही आत्मा मानता है; अतएव देह मिलने योग्य कर्म को बाँधता है अर्थात् पुनः देह धारण करता है।

विशेषार्थ – देह अर्थात् शरीर अचेतन/जड़ पुद्गल की पर्याय/अवस्था

है — ऐसा शास्त्र के आधार से जानकर और मनुष्यादि के मरण के समय शरीर से जीव प्रत्यक्ष ही भिन्न होता है — ऐसा प्रत्यक्ष अनुभव करने पर भी शरीर विषयक एकत्वबुद्धि नहीं छूटती; इसे ही अज्ञान या मिथ्यात्व कहते हैं। इसी मिथ्या एकत्व को छोड़ने के लिए अपने आत्मा में ही एकत्व करना विधिरूप कार्य है, जो हमें सर्व सामर्थ्य से करना चाहिए; जिससे शरीर में एकत्वबुद्धि स्वयं ही सहज छूट जाती है।

अज्ञान ही संसार भ्रमण का कारण —

अज्ञानात्कायहेतुः स्यात्कर्माज्ञानमिहात्मनाम् ।

प्रतीके स्यात्प्रबन्धोऽयमनादिः सैव संसृतिः ॥१७॥

अन्वयार्थ — [अत्र नीतिः] (इह) इस संसार में (आत्मनां) जीवों के (अज्ञानात्) अज्ञान से (कायहेतुः) शरीर का कारणभूत (कर्म स्यात्) कर्म बँधता है (प्रतीके) और फिर शरीर के होने पर (अज्ञानं स्यात्) अज्ञान होता है। (अयं प्रबन्धः) यह अज्ञान और शरीर की परम्परा (अनादिः) अनादिकाल से है (सा एव संसृतिः) और इसी को संसार कहते हैं।

सरलार्थ — इस संसार में आत्मा को अज्ञान से शरीर के कारणभूत कर्म का बन्ध होता है और फिर शरीर में एकत्व होने से अज्ञान होता है। इसप्रकार अज्ञान और कर्म-बन्ध की परम्परा अनादिकाल से चली आ रही है; इसी को तो संसार कहते हैं।

विशेषार्थ — यहाँ कोई प्रश्न करे कि श्लोक में प्रथम अज्ञान से कर्म का बन्ध होता है — ऐसा क्यों बताया है ? कर्मोदय से अज्ञान होता है — ऐसा क्यों नहीं बताया ? शास्त्रों में तो अज्ञान और कर्म दोनों ही अनादिकाल से जीव के साथ रहते हैं — ऐसा वर्णन आता है। इन प्रश्नों का उत्तर निम्नप्रकार है —

आपका यह कहना तो सत्य है कि अज्ञान और कर्म दोनों ही संसारी जीव के साथ अनादिकाल से ही हैं; परन्तु श्लोक में अज्ञान से कर्मबन्ध होता है — ऐसा कहने का अभिप्राय निम्नानुसार है —

१. कर्म ने जीव को कभी अज्ञानी नहीं बनाया है, किन्तु जीव ने ही अपने अपराध से अज्ञान को गले लगाया है।

२. अज्ञान और कर्म की परम्परा को नष्ट करने के लिए हमारे अधिकार क्षेत्र में अज्ञान का परिहार करना ही है; कर्म से लड़ना नहीं। अतएव हम जो कर सकते हैं, उसी को प्रथम स्थान दिया है, जो नहीं कर सकते उसकी बात ही क्या करना ?

३. अज्ञानी पहले से ही ऐसी मान्यता रखता है कि 'कर्म ही बलवान है।' उसकी इस मिथ्या मान्यता का ही निरसन करने के लिए वस्तुस्वरूप का यथार्थ परिचय कराकर कि जीव अपने अपराध से ही कर्म बाँधता है। कहा भी है - कर्म विचारे कौन, भूल मेरी अधिकाई। वास्तव में अज्ञान के कारण ही कर्मबन्ध होता है।

जहाँ शास्त्रों में ऐसा कथन आता है कि 'कर्मोदय से अज्ञान होता है।' वहाँ वह कथन व्यवहार नय का समझना चाहिए। वहाँ भी अपराध तो जीव का ही रहता है। जब जीव अपने अपराध से अज्ञानी होता है, तब कर्मबन्ध होता है। जीव स्वभाव से तो अज्ञानी नहीं है, जीव तो मात्र ज्ञानमय है।

निजात्मतत्त्व का स्वीकार ही कर्तव्य -

स्वं स्वत्वेन ततः पश्यन्परत्वेन च तत्परम्।

परत्यागे मतिं कुर्याः कार्यैरन्यैः किमस्थिरैः ॥१८॥

अन्वयार्थ - [अत्र नीतिः] (ततः) इसलिए (स्वं स्वत्वेन पश्यन्) आत्मा को आत्मपने से और (तत्परं) आत्मा से भिन्न शरीर को (परत्वेन पश्यन्) भिन्नपने से देखता हुए (परत्यागे) पर वस्तु के त्याग में (मतिं कुर्याः) बुद्धि को कर (च) और (अन्यैः अस्थिरैः कार्यैः किं) दूसरे नष्ट होनेवाले कार्यों से क्या लाभ ?

सरलार्थ - इसलिए हे कृषक ! तुम ज्ञान-दर्शन स्वरूप अपने आत्म-तत्त्व को ही स्वीकार करो। निज आत्मतत्त्व से भिन्न शरीरादि को पररूप

से स्वीकारते हुए, परवस्तु के त्याग का निर्णय करो। पर वस्तुओं के सम्बन्ध से कभी भी आत्मा का हित नहीं हो सकता।

त्यागी धर्मात्माओं के दो भेद -

परत्यागकृतो ज्ञेयाः सानगारा अगारिणः ।

गात्रमात्रधनाः पूर्वे सर्वसावद्यवर्जिताः ॥१६॥

अन्वयार्थ - (परत्यागकृतः) परवस्तु के त्याग करनेवाले (सानगाराः) एक अनगार/मुनिराज (अगारिणः) और दूसरे गृहस्थ/श्रावक (ज्ञेयाः) जानने चाहिए। (पूर्वे) प्रथम मुनि (सर्वसावद्यवर्जिताः) सम्पूर्ण पापों से रहित (गात्रमात्रधनाः सन्ति) शरीर मात्र परिग्रह रखनेवाले होते हैं अर्थात् शरीर को छोड़कर उनके दूसरा कोई परिग्रह नहीं होता।

सरलार्थ - परवस्तु का त्याग करनेवालों के दो भेद होते हैं - (१) मुनिराज (२) श्रावक। जो समस्त पापों और परिग्रह से रहित होते हैं, वे मुनिराज हैं। उनके पास शरीर के अतिरिक्त बाह्य परिग्रह नहीं होता।

विशेषार्थ - मुनिराज के पास अहिंसा का उपकरण पीछी, शुद्धि का साधन कमण्डल और ज्ञान का सहायक शास्त्र ही होता है; फिर भी इन वस्तुओं के प्रति उनकी आसक्ति नाम मात्र की भी नहीं रहती; क्योंकि कोई इन्हें उठाकर भी ले जाए तो वे मना नहीं करते हैं।

मुनि-धर्म धारण करना सबके वश की बात नहीं -

मूलोत्तरादिकान्वोढुं त्वं न शक्तो हि तद्गुणान् ।

न हि वारणपर्याणं भर्तुं शक्तो वनायुजः ॥२०॥

अन्वयार्थ - (हि) निश्चय से (त्वं) तुम (मूलोत्तरादिकान् तद्गुणान्) मूलगुण और उत्तर-गुणरूप मुनिराज के व्रतों को (वोढुं) धारण करने के लिए (न शक्तः) समर्थ नहीं हो।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (वनायुजः) पारसी देश का सवारी का

श्वेत घोड़ा भी (वारणपर्याणं) हाथी के पलान के भार को (भर्तु) धारण करने के लिए (न शक्तः) समर्थ नहीं है।

सरलार्थ – हे कृषक ! जैसे घोड़ों में सर्वाधिक शक्तिशाली घोड़ा भी उतना वजन नहीं ढो सकता, जितना हाथी ढो सकता है। उसीप्रकार तुम जैसे बलिष्ठ कृषक भी उन व्रतों को धारण नहीं कर सकते, जिन व्रतों को मुनिराज धारण करते हैं।

अल्पशक्ति धारक श्रावक होते हैं –

अतस्त्वमधुना धर्मं गृहाण गृहमेधिनाम् ।

न ह्यारोढुमधिश्रेणिं यौगपद्येन पार्यते ॥२१॥

अन्वयार्थ – (अतः) इसलिए (अधुना) इससमय (त्वं) तुम (गृहमेधिनां) गृहस्थों के (धर्म) धर्म को (गृहाण) स्वीकार करो।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (यौगपद्येन) एक ही साथ (अधिश्रेणिं) ऊँची नसैनी पर (आरोढुं) आरोहण करने के लिए (न पार्यते) कोई भी समर्थ नहीं है।

सरलार्थ – साधारण मनुष्य जीना अथवा नसैनी के बीच की सीढ़ियों को छोड़कर एकदम ऊपर नहीं चढ़ सकता है, सीढ़ियों पर क्रमपूर्वक ही चढ़ा जाता है। इसलिए इस समय तुम श्रावक-धर्म को ही स्वीकार करो।

विशेषार्थ – आचार्य कुन्दकुन्द आदि महा-सामर्थ्यशाली पुरुषों ने अपने जीवन में प्रथम श्रावक धर्म को स्वीकार किए बिना ही सीधे दिगम्बर साधु जीवन को स्वीकार किया था। ऐसा सामर्थ्य साधारण जीवों में नहीं होता। अतः उन्हें तो प्रथम अणुव्रतों का स्वीकार करना लाभप्रद होता है। इसप्रकार जीवन्धरकुमार ने कृषक को सुखी होने के उपाय की शिक्षा दी।

श्रावक का स्वरूप –

त्रिचतुः पञ्चभिर्युक्ता गुणशिक्षाणुभिर्व्रतैः ।

तत्त्वधीरुचिसम्पन्नाः सावद्या गृहमेधिनः ॥२२॥

अन्वयार्थ - (त्रिचतुःपञ्चभिः) क्रम से तीन, चार, पाँच (गुणशिक्षाणुभिः व्रतैः) गुणव्रत, शिक्षाव्रत और अणुव्रतों से (युक्ताः) सहित (तत्त्वधीरुचिसम्पन्नाः) सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शन सम्पन्न (सावद्याः) कुछ दोषसहित (गृहमेधिनः सन्ति) श्रावकव्रतधारी होते हैं।

सरलार्थ - जो सम्यग्दर्शन एवं सम्यग्ज्ञान सहित होकर पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत, चार शिक्षाव्रत के धारक तथा किञ्चित् पाप प्रवृत्ति से सहित होते हैं, उन्हें श्रावक कहते हैं।

विशेषार्थ - आगम ग्रन्थों में 'श्रावक' की विभिन्न परिभाषाएँ मिलती हैं। जैसे - प्रथमानुयोग में मात्र जैन कुलोत्पन्न मनुष्य को ही श्रावक कहते हैं। करणानुयोग में सम्यग्दर्शन सहित चतुर्थ गुणस्थानवर्ती व्रतरहित जीव को श्रावक कहते हैं। सम्यग्दर्शन एवं दो कषाय चौकड़ी के अभावपूर्वक व्यक्त वीतराग परिणतिवाले व्रती को भी श्रावक कहा जाता है। अष्ट मूलगुणों के धारक जीव को श्रावक नाम से जाना जाता है। आत्मानुभूति सहित मनुष्य या तिर्यच को भी श्रावक कहते हैं।

सम्यग्दर्शन - सम्यग्दर्शन की शास्त्रों में अनेक परिभाषाएँ मिलती हैं। जैसे - (१) रत्नकरण्ड श्रावकाचार में सच्चे देव-शास्त्र-गुरु के श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहा है। (२) तत्त्वार्थसूत्र ग्रन्थ के प्रथम अध्याय के दूसरे सूत्र में सात तत्त्वों की सच्ची श्रद्धा का नाम सम्यग्दर्शन कहा है। (३) आपा-पर के श्रद्धान को भी सम्यग्दर्शन कहा गया है। (४) 'छहढाला' की तीसरी ढाल में पर द्रव्यों से भिन्न अपनी आत्मा की श्रद्धा करने को सम्यग्दर्शन बताया है। (५) मोक्षमार्गप्रकाशक के आठवें अधिकार में जिन-जिन जीवों को शंका-कांक्षादिक नहीं हुए; उनको सम्यक्त्व हुआ कहते हैं। (६) समयसार कलश क्रमांक ६ में पर से भिन्न निज आत्मा के श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहा है। (७) पुरुषार्थसिद्ध्युपाय के श्लोक क्रमांक २१६ में एक आत्मा के निश्चित श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहते हैं। (सम्यग्दर्शन की इन सब परिभाषाओं का यथार्थ अभिप्राय मोक्षमार्गप्रकाशक के नववें अधिकार में स्पष्ट किया है, वहाँ से समझने का कष्ट करें।)

सम्यग्ज्ञान – सम्यग्ज्ञान की भी शास्त्रों में अनेक परिभाषाएँ मिलती हैं। जैसे – (१) सम्यग्दर्शन सहित ज्ञान को सम्यग्ज्ञान कहते हैं। (२) वस्तु के यथार्थ ज्ञान को सम्यग्ज्ञान कहा है। (३) जीवादि सात तत्त्वों की वस्तुस्थिति जानने को सम्यग्ज्ञान कहा है। (४) प्रथमानुयोग के शास्त्रों में स्थूलदृष्टि से जैन-शास्त्रों के जानने को ही सम्यग्ज्ञान कहा है। (५) संशयादिक रहित तत्त्वज्ञान को भी सम्यग्ज्ञान कहा है।

अष्ट मूलगुणों का कथन –

अहिंसा सत्यमस्तेयं स्वस्त्रीमितवसुग्रहौ ।

मद्यमांसमधुत्यागैस्तेषां मूलगुणाष्टकम् ॥२३॥

अन्वयार्थ – (तेषां) उन गृहस्थ पुरुषों के (मद्यमांसमधुत्यागैः सह) मद्यत्याग, मांसत्याग और मधुत्याग सहित (अहिंसा) हिंसा न करना (सत्यं) सच बोलना (अस्तेयं) चोरी न करना (स्वस्त्रीमितवसु ग्रहौ) स्वस्त्री सन्तोष और परिमितवस्तु का संग्रह (इति मूलगुणाष्टकं) ये आठ मूलगुण कहलाते हैं।

सरलार्थ – मद्य-मांस-मधु का त्याग, स्थूल हिंसा के त्यागरूप अहिंसाणुव्रत, स्थूल असत्य त्यागरूप सत्याणुव्रत, स्थूल चोरी के त्यागरूप अचौर्याणुव्रत, स्वदारसन्तोषरूप ब्रह्मचर्याणुव्रत और सीमित परिग्रह रखने रूप परिग्रहपरिमाणुव्रत – ये श्रावक के आठ मूलगुण हैं।

विशेषार्थ – प्रश्न – मूल श्लोक में तो अणुव्रत की बात नहीं आई; आप अपने मन से ही अणुव्रत का कथन क्यों करते हैं ?

उत्तर – श्लोक में अष्ट मूलगुण की बात आई है तथा श्लोक के द्वितीय पाद में 'स्वस्त्रीमित' शब्द से स्वदार सन्तोष का अर्थ स्पष्ट होता है। पूर्व श्लोक २२ में भी 'गृहमेधिनः' शब्द आया है, वह गृहस्थ का द्योतक है। इन अनेक कारणों से अहिंसादिव्रत का अणुव्रतरूप ही अर्थ स्पष्ट होता है।

शास्त्र का अर्थ, प्रकरण के अनुसार ही लगाना चाहिए; यह अपेक्षा भी शास्त्राभ्यासी को ध्यान में रखना आवश्यक है।

प्रश्न – पाँच अणुव्रतों को मूलगुणों में किस प्रकार सम्मिलित किया है; पाँच उदम्बर फलों के त्याग को लेना चाहिए था ?

उत्तर – दूसरी सदी के आचार्य समन्तभद्र जो श्रावकाचार के प्रथम प्रणेता हैं, उन्होंने पाँच अणुव्रतों को ही मूलगुणों में सम्मिलित किया है। तदनुसार दसवीं सदी के आचार्य वादीभसिंह सूरि ने भी पाँच पापों के स्थूल त्याग को मूलगुणों में लिया है। आचार्य शिवकोटि ने भी श्रावक के मूलगुणों में पाँच अणुव्रतों को लिया है।

प्रश्न – अणुव्रत किसे कहते हैं ?

उत्तर – हिंसा, असत्य, चोरी, कुशील एवं परिग्रह – इन पाँचों पापों के एकदेश/आंशिक त्याग को अणुव्रत कहते हैं।

गुणव्रतों के नाम –

भोगोपभोगसंहारोऽनर्थदण्डव्रतान्वितः ।

गुणानुबृंहणाद् ज्ञेयो दिग्ब्रतेन गुणव्रतम् ॥२४॥

अन्वयार्थ – (गुणानुबृंहणात्) अणुव्रतों के वर्धक होने से (दिग्ब्रतेन सह) दिग्ब्रत के साथ (अनर्थदण्डव्रतान्वितः) अनर्थदण्डव्रतसहित (भोगोपभोगसंहारः) भोगोपभोगपरिमाणव्रत (गुणव्रतं) गुणव्रत (ज्ञेयं) जानना चाहिए।

सरलार्थ – दिग्ब्रत, अनर्थदण्डव्रत और भोगोपभोग संहार/भोगोपभोग परिमाणव्रत को गुणव्रत कहते हैं। जो व्रत अणुव्रतों की अभिवृद्धि में सहायक होते हैं एवं उनमें दृढ़ता लाते हैं, उन्हें गुणव्रत कहते हैं।

शिक्षाव्रतों के नाम –

सप्रोषधोपवासेन व्रतं सामायिकेन च ।

देशावकाशिकेन स्याद् वैयावृत्यं तु शिक्षकं ॥२५॥

अन्वयार्थ – (वैयावृत्यं) वैयावृत्य (सप्रोषधोपवासेन) प्रोषधोपवास

सहित (सामायिकेन) सामायिक (च) और (देशावकाशिकेन) देशावकाशिक व्रत के साथ (शिक्षकं व्रतं स्यात्) ये चार शिक्षाव्रत कहलाते हैं।

सरलार्थ – प्रोषधोपवास, सामायिक, देशव्रत और वैयावृत्य – इन चारों को शिक्षाव्रत कहते हैं।

विशेषार्थ – जिनसे मुनिव्रत पालन करने का अभ्यास बना रहे, उसे शिक्षाव्रत कहते हैं।

गुणव्रतों का स्वरूप

परिच्छिन्नदिशि प्राप्तिं त्यागं निष्फलदुष्कृतेः ।

मितान्नस्त्र्यादिकत्वं च कृत्यं विद्धि गुणव्रते ॥२६॥

अन्वयार्थ – (गुणव्रते) गुणव्रत में (परिच्छिन्नदिशि प्राप्तिं) मर्यादित दिशाओं में जाना, (निष्फलदुष्कृतेः) निष्प्रयोजन पापों का (त्यागं) त्याग (च) और (मितान्नस्त्र्यादिकत्वं) परिमित अन्न, स्त्री आदि भोगोपभोग पदार्थों का सेवन (इति कृत्यं) यह कार्य (विद्धि) जानो।

सरलार्थ – दशों दिशाओं की मर्यादा कर आजन्म उनके बाहर जाने के त्याग को दिग्ब्रत कहते हैं। निष्प्रयोजन पाप के त्याग को अनर्थदण्डव्रत कहते हैं। अन्नादि भोग योग्य और स्त्री आदि उपभोग योग्य वस्तुओं का परिमाण/मर्यादा करना सो भोगोपभोगपरिमाणव्रत है।

विशेषार्थ – तत्त्वार्थसूत्र शास्त्र में भोगोपभोगपरिमाणव्रत को शिक्षाव्रत के अन्तर्गत लिया गया है और यहाँ गुणव्रत में गर्भित किया है। तत्त्वार्थसूत्र शास्त्र में देशव्रत को गुणव्रतों में गर्भित किया है और यहाँ शिक्षाव्रत में लिया है।

अनर्थदण्ड – बिना प्रयोजन किए जानेवाले पापों को अनर्थदण्ड कहा जाता है। इसके अनेक शास्त्रों में (१) पापोपदेश (२) हिंसादान (३) अपध्यान (४) दुःश्रुति और (५) प्रमादचर्या – इसप्रकार पाँच भेद किए हैं। इनका अर्थ उनके नामों से ही स्पष्ट होता है। विशेष अर्थ अन्य श्रावकाचार ग्रन्थों से जान लेना चाहिए।

शिक्षाव्रतों का स्वरूप -

सञ्चारस्यावधिर्नित्यं सचिह्ना चात्मभावना ।

दानाद्यैरुपवासश्च पर्वादिष्वन्यतः कृती ॥२७॥

अन्वयार्थ - (अन्यतः) शिक्षाव्रत में (सञ्चारस्य नित्यं अवधिः) गमन की नित्य मर्यादा करना (सचिह्ना आत्मभावना) कुछ चिह्न द्वारा विशिष्ट काल निश्चित कर सब जीवों में समतादि भावों सहित आत्मा का चिन्तन करना और (दानाद्यैः) मुनि दानादि सहित (पर्वादिषु उपवासः) अष्टमी-चतुर्दशी आदि पर्व के दिनों में उपवास करना ही (कृती) कृत्य जानो।

सरलार्थ - जीवनपर्यन्त ली गई दिग्ब्रत की मर्यादाओं में से भी घड़ी, घण्टा, मास, वर्ष आदि समय तक एवं बाग, बाजार आदि के चिह्न सहित जाने-आने की मर्यादा को सीमित करना, सो देशव्रत है।

आत्मा की भावना अर्थात् अपने व्यक्त ज्ञान को 'त्रिकाली निज भगवान् आत्मा' में संलग्न करना ही सामायिक है।

आहारादि चार प्रकार के दानों के माध्यम से मुनिराज तथा व्रती एवं अविरत सम्यग्दृष्टि श्रावकरूप अतिथियों की सेवा करने को वैयावृत्य अथवा अतिथि-संविभागव्रत कहते हैं।

शाश्वत पर्व-अष्टमी और चतुर्दशी के पहले और पश्चात् के दिनों में एकासनपूर्वक अष्टमी और चतुर्दशी को उपवास रखकर, एकान्तवास में रहकर, सम्पूर्ण सावद्योग को छोड़कर एवं सर्व इन्द्रियों के विषयों से विरक्त होकर धर्मध्यान में संलग्न रहना, सो प्रोषधोपवासव्रत है।

अणुव्रतादिक की महिमा -

अणुव्रती व्रतैरैतैः क्वचिद्देशे क्वचित्क्षणे ।

महाव्रती भवेत्तस्माद् ग्राह्यं धर्ममगारिणाम् ॥२८॥

अन्वयार्थ - (अणुव्रती) अणुव्रती श्रावक (एतैः व्रतैः) इन व्रतों से

(क्वचिदेशे) किसी देश (क्वचित्क्षणे) व किसी समय में (महाव्रती भवेत्) उपचार से महाव्रती हो जाता है (तस्मात्) इसलिए (अगारिणां धर्मं ग्राह्यं) गृहस्थधर्म का ग्रहण करना चाहिए।

सरलार्थ – अणुव्रती अर्थात् देशविरतश्रावक इन गुणव्रत और शिक्षाव्रतों के कारण किसी अनुकूल देश और योग्यकाल में महाव्रतधारी अर्थात् मुनिराज भी हो सकता है। अतएव हे कृषक ! तुम श्रावक धर्म को स्वीकार करो, तुम्हारा कल्याण होगा।

विशेषार्थ – सुखार्थी एक सामान्य कृषक के सामने आने पर जीवन्धरकुमार को उसे उपदेश देने का भाव उत्पन्न होता है। इस घटना से हम निर्णय कर सकते हैं कि – जिसकी भली होनहार होती है तथा जिसे तत्त्व/धर्म सुनने-समझने का समय आ जाता है, उसे समझानेवाला सहज ही मिल जाता है। सुननेवाला तैयार हो तो सुनानेवाला नहीं मिलेगा – यह बात हो ही नहीं सकती। विशिष्ट कार्य के लिए उपादान तैयार हो तो निमित्त मिल ही जाता है। अतः निमित्त खोजने की आकुलता करना समझदारी का काम नहीं है। (प्रवचनसार, पहला अध्याय गाथा १६ टीका एवं भावार्थ देखें।)

कृषक द्वारा व्रतों का स्वीकार –

इत्युक्तः प्रत्यगृहणाच्च स धर्मं गृहमेधिनाम् ।

कः कदा कीदृशो न स्याद्भाग्ये सति पचेलिमे ॥२९॥

अन्वयार्थ – (इत्युक्तः सः) इसप्रकार उपदेशित उस किसान ने (गृहमेधिनां धर्मं प्रत्यगृहणाच्च) गृहस्थ धर्म का स्वीकार किया।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (भाग्ये पचेलिमे सति) उत्तम भाग्य के उदय होने पर (कः) कौन (कदा) किस समय (कीदृशः न स्यात्) कैसा नहीं हो जाता है ?

सरलार्थ – उपर्युक्त प्रकार से कृषक ने जीवन्धरकुमार से धर्म का उपदेश सुनकर श्रावक के व्रतों को स्वीकार किया। यह योग्य ही है कि – पूर्वबद्ध पुण्यकर्मों

के उदय आने पर कौन, कब और कैसा महान बनेगा – यह कह नहीं सकते। साधारण मनुष्य भी अकल्पित महानता को प्राप्त कर लेता है।

विशेषार्थ – एक कृषक, ब्रती श्रावक हो गया। एक अजैन मनुष्य जैन ही नहीं, ब्रती जैन हो गया। प्रत्येक आत्मा स्वभाव से तो भगवान है ही; वह पुरुषार्थपूर्वक पर्याय में भी सिद्ध अवस्था प्रगट करने की पर्यायगत योग्यता भी प्राप्त कर सकता है। जहाँ ऐसी अलौकिक योग्यता प्रत्येक जीव में है तो सामान्य कृषक का ब्रती श्रावक होने में विशेष आश्चर्य नहीं होना चाहिए।

बाह्य अनुकूल संयोग मिलाने में जीव का कुछ कर्तव्य नहीं, वह तो पूर्वबद्ध पुण्य के उदयानुसार होता रहता है।

जीवन्धरकुमार द्वारा आभूषण दान –

अत्यादारान्निजाहार्यममुष्मै दानविद्ददौ ।
नादाने किन्तु दाने हि सतां तुष्यति मानसम् ॥३०॥



अन्वयार्थ – (दानवित्) दान के ज्ञाता उन जीवन्धरकुमार ने (अति आदरात्) अत्यन्त आदर से (निजाहार्य अमुष्मै ददौ) अपने आभूषण उस किसान को दिए।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (सतां मानसं) सज्जन पुरुषों का हृदय (दाने तुष्यति) दूसरों को दान देने में ही सन्तोषित होता है (किन्तु आदाने न) न कि दूसरों से दान लेने में।

सरलार्थ – जीवन्धरकुमार ने अपनी भावनानुसार स्वान्तःसुखाय अपने आभूषण उस कृषक को अत्यन्त आदरपूर्वक दान स्वरूप प्रदान कर दिए; क्योंकि सज्जन-पुरुष दान देने में ही प्रसन्न रहते हैं, दान लेने में नहीं।

विशेषार्थ – दान देने में लोभ कषाय की मन्दता रहती है और लेने में लोभ कषाय की तीव्रता। सज्जन पुरुष तो कषाय के अभाव की ही भावना रखते हैं। यदि कषायों का अभाव करनेरूप सर्वोत्कृष्ट कार्य नहीं बन पाए तो कषाय की मन्दता को ही अपेक्षाकृत अच्छा मानते हैं। अतः दान देने में प्रसन्नता का अनुभव करते हैं। सज्जनों की प्रशस्तकार्यों में दान देने की प्रवृत्ति से ही जगत में अनेक परोपकार करनेवाली बड़ी-बड़ी संस्थाएँ चल रही हैं और पात्र जीवों को यथासमय सहायता मिल रही है और मिलती रहेगी।

कृषक का अति आनन्दित होना –

अनर्घ्याकल्पलाभाच्च धर्मलाभाच्च पिप्रिये ।

तादात्विकसुखप्रीतिः संसृतौ हि विशेषतः ॥३१॥

अन्वयार्थ – [सः] वह किसान (अनर्घ्याकल्पलाभात्) बहुमूल्य आभूषणों के लाभ से (च) और (धर्मलाभात्) धर्म के लाभ से (पिप्रिये) अत्यन्त प्रसन्न हुआ।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (संसृतौ) संसार में जीवों को (तादात्विकसुखप्रीतिः) तात्कालिक विषय-सुखों की प्रीति (विशेषतः भवति) विशेष रीति से होती है।

सरलार्थ – इस जगत में मनुष्य को तात्कालिक लाभ की प्राप्ति अतिशय आनन्द देनेवाली होती है। कृषक को तत्काल धर्म लाभ के साथ ही आभूषणों की प्राप्ति होने से विशेष आनन्द हुआ।

जीवन्धरकुमार की शादी में मिले हुए सर्व अलंकार गरीब कृषक को मिल जाने से गरीब वह अतिशय सुख का अनुभव कर रहा है।

पुण्यरूप परिणामों से तो तत्काल पुण्यकर्म का बन्ध होता है, पर उनका फल तत्काल नहीं मिलता, उनका फल अनेक वर्ष व्यतीत होने के बाद/अनेक भव निकल जाने के बाद भी मिलता है। इस कारण जिससमय बाह्य संयोगों की अनुकूलतारूप पूर्वपुण्य का फल मिलता है, उससमय यह फल किस पुण्यकर्म का है – इसका निर्णय जीव को नहीं हो सकता। अतः किसान को तो अलंकारों की प्राप्ति से ही विशेष सुख हुआ है।

जीवन्धरकुमार का अन्यत्र प्रस्थान –

तं विसृज्य ततः स्वामी तस्य स्मृत्यैव निर्ययौ ।

प्रत्यक्षे च परोक्षे च सन्तो हि समवृत्तिकाः ॥३२॥

अन्वयार्थ – (ततः) इसके अनन्तर (स्वामी) जीवन्धरकुमार (तं विसृज्य) उसको छोड़कर (तस्य स्मृत्वा एव) उसका स्मरण करते हुए ही वहाँ से (निर्ययौ) चल पड़े।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (सन्तः) सज्जन पुरुष (प्रत्यक्षे) सामने (च) और (परोक्षे) पीठ पीछे – दोनों अवस्थाओं में (समवृत्तिकाः भवन्ति) एक-सा व्यवहार करनेवाले होते हैं।

सरलार्थ – जीवन्धरकुमार अपने उपदेश से जैन व्रती श्रावक बने हुए उस कृषक को वहीं छोड़कर मन में उसकी पात्रता का विचार करते हुए आगे निकल गए; क्योंकि सज्जन पुरुष सबके साथ प्रत्यक्ष और परोक्ष में समान व्यवहार करते हैं। अतः जीवन्धरकुमार कृषक को वहीं छोड़ने के पश्चात् भी उसका विचार करते हुए आगे बढ़ गए।

विशेषार्थ – सज्जन पुरुष मायादि कषायों से रहित सरल स्वभावी होते हैं। गुणग्रहण का ही उनका भाव रहता है। स्वयं दूसरों पर उपकार तो करते हैं; परन्तु उनसे कुछ अपेक्षा नहीं रखते, निरपेक्ष ही रहते हैं।

अज्ञानी मनुष्य समागम में आए हुए व्यक्ति से अपेक्षा रखते हैं और अपेक्षा की पूर्ति न होने के कारण दुःखी होते हैं। अतएव सबसे निरपेक्ष रहने में शान्ति और समाधान की सहज प्राप्ति होती है।

जंगल में सुख-शान्ति का अनुभव -

अथारण्ये क्वचिच्छ्रान्तो निषण्णो निरुपद्रवः ।

शरण्यं सर्वजीवानां पुण्यमेव हि नापरम् ॥३३॥

अन्वयार्थ - (अथ) इसके अनन्तर (श्रान्तः) थके हुए (क्वचिद् अरण्ये) किसी वन में (निरुपद्रवः) उपद्रवरहित (निषण्णः) होकर बैठ गए।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (पुण्यं एव सर्वजीवानां) पुण्य ही सब जीवों का (शरण्यं) रक्षक है (अपरं न) और कोई नहीं।

सरलार्थ - जीवन्धरकुमार पदयात्रा की थकान मिटाने के लिए वन में अकेले ही सुखपूर्वक बैठ गए; क्योंकि इस जगत में सब जीवों का रक्षक एकमात्र पुण्य (पूर्वबद्ध पुण्योदय) ही है; और अन्य कोई नहीं।

विशेषार्थ - जीवन्धरकुमार ने क्षेमपुरी नगरी के सेठ श्री सुभद्र की कन्या क्षेमश्री से विवाह के पश्चात् कुछ समय तक उस नगरी में सुखपूर्वक जीवन बिताया। उसके पश्चात् अगली यात्रा के लिए अकेले ही पैदल चल दिए। पदयात्रा में थकान स्वाभाविक है; अतः उनको विश्राम करना आवश्यक था। पुण्यवान व्यक्ति का पुण्य सदैव उसके आगे-आगे चलता है। उनको मार्ग में कुछ भी उपद्रव और कष्टों का सामना नहीं करना पड़ा। व्यक्ति को अनुकूलताएँ उसके पुण्य के उदय से ही होती हैं, उनमें अन्य कोई कारण नहीं हो सकता।

जीवन्धरकुमार का वर्तमानकालीन जीवन पुण्य परिणाममय है और उन्हें पूर्वकृत पुण्य का उदय भी चल रहा है। अतः उन्हें सर्वत्र अनुकूलता ही अनुकूलता है।

वास्तव में देखा जाए तो कोई किसी का रक्षक नहीं है; प्रत्येक द्रव्य अपने अस्तित्व गुण से स्वयं सुरक्षित ही है। यहाँ पुण्य को व्यवहार से जीव का रक्षक कहा है।

उपकथा-१५

वन में एकाकी युवती को देखकर कुमार का मुँह फेरना -

तत्र चैकाकिनीं रामां पश्यन्नासीत्पराङ्मुखः ।

अपदोषानुषङ्गा हि करुणा कृतिसम्भवा ॥३४॥

अन्वयार्थ - (तत्र च) और उस वन में जीवन्धरकुमार ने (एकाकिनीं रामां) अकेली एक स्त्री को (पश्यन्) देखकर (पराङ्मुखः आसीत्) उधर से मुँह फेर लिया।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (कृतिसम्भवा) विद्वानों से उत्पन्न (करुणा) दया (अपदोषानुषङ्गा) दोषों के सम्बन्ध से रहित होती है। जिसमें किसी भी दोष की आशंका न हो - ऐसी दया ही विद्वान लोग किया करते हैं।

सरलार्थ - जीवन्धरकुमार ने अचानक उस वन में अपने सामने आई हुई एक तरुण स्त्री को देखा। उन्होंने तत्काल ही अपना मुख उसकी ओर से मोड़ लिया; क्योंकि विद्वानों की दया/करुणा निर्दोष ही रहती है।

विशेषार्थ - जीवन्धरकुमार ने वन में अकेली युवा स्त्री को देखकर उसकी सहायता करने की भावना से कुछ नहीं पूछा; क्योंकि अकेली स्त्री से एकान्त में बात करने से कुछ दोष/अपवाद भी हो सकता है।

सच्चा उपकार तो वही कहलाता है जिसमें अपना भी भला निहित हो। दूसरों का भला करते समय अपनी हानि की सम्भावना हो तो वह उपकार किस काम का ? अतः जीवन्धरकुमार ने अपने विवेक का ही परिचय दिया।

विद्याधरी युवती की मनःस्थिति -

सा तु जाता वृषस्यन्ती वृषस्कन्धस्य वीक्षणात् ।

अप्राप्ते हि रुचिः स्त्रीणां न तु प्राप्ते कदाचन ॥३५॥

अन्वयार्थ - (सा तु) और वह (वृषस्कन्धस्य) बैल के समान श्रेष्ठ

कन्धेवाले पराक्रमी जीवन्धरकुमार को (वीक्षणात्) देखने से (वृषस्यन्ती जाता) काम से पीड़ित हो गई।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (स्त्रीणां रुचिः) स्त्रियों की प्रीति (अप्राप्ते स्यात्) अप्राप्त पुरुष में ही होती है (तु प्राप्ते) किन्तु प्राप्त पुरुष में (कदाचन न) कभी भी नहीं होती।

सरलार्थ – बैल के समान पुष्ट कन्धोंवाले जीवन्धरकुमार को देखकर वह विद्याधरी तरुण स्त्री काम विकार से अन्ध हो गई; क्योंकि सामान्य स्त्री की रुचि अप्राप्त पुरुष में ही होती है, सहज प्राप्त पति में नहीं।

विशेषार्थ – उदाहरण के लिए शूर्पणखा की रुचि अपने पति में न होकर अप्राप्त लक्ष्मण में हुई थी। पिंगला रानी की रुचि अपने पति राजा भर्तृहरि में न होकर क्रोधी एवं कुबड़े महावत में हुई थी। शास्त्रों में ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं।

जीवन्धरकुमार की मनोदशा –

अश्वस्यन्तीं विभाव्यैनामाकूतज्ञो व्यरज्यत ।

अनुरागकृदज्ञानां वशिनां हि विरक्तये ॥३६॥

अन्वयार्थ – (आकूतज्ञः) पर के अभिप्राय को जाननेवाले जीवन्धरकुमार (एनां अश्वस्यन्तीं) उसको पर पुरुषाभिलाषिणी (विभाव्य) जानकर (व्यरज्यत) उससे विरक्त हो गए।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (अज्ञानां) मूर्ख पुरुषों को (अनुरागकृत् वस्तु) प्रिय लगनेवाली वस्तु (वशिनां) जितेन्द्रिय पुरुषों को (विरक्तये) विराग के लिए [भवति] होती है।

सरलार्थ – दूसरों के मन के विचारों को जानने में कुशल जीवन्धरकुमार उस विद्याधरी युवती को कामासक्त जानकर उससे विरक्त हो गए; क्योंकि जो वस्तु अज्ञानियों को रागवर्धक होती है, वही वस्तु जितेन्द्रिय जीवों को वैराग्य का कारण हो जाती है।

शरीर का निन्द्य स्वरूप और अज्ञानी का मोह -

पृथक्चेदङ्गनिर्माणं चर्ममांसमलादिकम् ।

सजुगुप्सेऽत्रतत्पुञ्जे मूढात्मा हन्त मुह्यति ॥३७॥

अन्वयार्थ - [अत्र नीतिः] (चेत्) यदि (अङ्गनिर्माणं पृथक्) [स्यात्] शरीर की रचना का पृथक्-पृथक् विश्लेषण करें तो फिर (चर्ममांसमलादिकं) चमड़ा, मांस और मलादिक को (विहाय) छोड़कर (अन्यत्) शरीर में और कुछ भी (अवशिष्टं न भवेत्) शेष न रहे। (हन्त) बड़े खेद की बात है कि तो भी (मूढात्मा) मूर्ख अज्ञानी पुरुष (सजुगुप्से) घृणासहित (तत्पुञ्जे अत्र) चमड़ा और मांसादिक के ढेररूप इस शरीर में (मुह्यति) मोहित होते हैं।

सरलार्थ - बाहर से सुन्दर दिखनेवाले इस शरीर का अन्तर विवेचन किया जाए तो इसमें चमड़ा, मांस और मलादि अशुचि पदार्थों के ही दर्शन होंगे। पर अत्यन्त खेद की बात है कि इस चमड़ा, मांस एवं मलादि के पिण्ड शरीर को अज्ञानी जीव सुन्दर मानकर उस पर मोहित होता है।

शरीर सम्बन्धी मोह पर विचार -

दुर्गन्धमलमांसादिव्यतिरिक्तं विवेचने ।

नेक्षते जातु देहेऽस्मिन्मोहे को हेतुरात्मनाम् ॥३८॥

अन्वयार्थ - [अत्र नीतिः] (विवेचने सति) भली-भाँति विचार करने पर (अस्मिन् देहे) इस शरीर में (दुर्गन्धमलमांसादिव्यतिरिक्तं) दुर्गन्ध-मल-मांसादिक के सिवाय (जातु न ईक्षते) और कुछ भी दिखाई नहीं देता। (तथापि) तो भी (आत्मनां) जीवों का (अस्मिन् मोहे) देह पर मोह होने में (कः हेतु) क्या हेतु है ?

सरलार्थ - जीव से सहित या रहित होने पर भी इस शरीर में दुर्गन्धित मल-मांसादिक के अतिरिक्त अन्य कुछ भी देखने में नहीं आता; तथापि जीव इस शरीर से मोह करता है, इसका कारण क्या है ? इसका विचार करना चाहिए।

शरीर सम्बन्धी मोह का कारण -

अज्ञानमशुचेर्बीजं ज्ञात्वा व्यूहं च देहकम् ।

आत्मात्र सस्पृहो वक्ति कर्माधीनत्वमात्मनः ॥३९॥

अन्वयार्थ - [अत्र नीतिः] (अज्ञानं) अज्ञानस्वरूप (अशुचेः बीजं) अपवित्र मल-मूत्रादिक का कारण (व्यूहं) तर्कणारहित विचारशून्य (देहकं) शरीर को (ज्ञात्वा अपि) जानकर भी (अत्र सस्पृहः आत्मा) इसमें चाह करनेवाला आत्मा (आत्मनः कर्माधीनत्वं वक्ति) अपनी कर्माधीनता को ही बताता है ।

सरलार्थ - यह शरीर ज्ञानरहित, जड़, अपवित्रता का जनक और हिताहित के विचार से रहित है - ऐसा जानकर भी आत्मा शरीर से मोह/राग करता है, इससे तो आत्मा का कर्माधीनपना ही प्रतिलक्षित होता है ।

विशेषार्थ - श्लोक में आया हुआ 'कर्माधीनत्व' शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। शरीर से मोह करनेवाला अज्ञानी जीव स्वयमेव ही प्रसन्नतापूर्वक कर्म के आधीन हो गया है/हो रहा है। कर्म ने जीव को अपने आधीन नहीं बनाया है।

लौकिक जीवन में भी मनुष्य प्रयत्नपूर्वक नौकरी खोज-खोजकर किसी को अपना मालिक बनाता है और जब कभी अपने कार्य विशेष या यात्रा आदि को जाने के लिए मालिक अवकाश नहीं देता है तो यह कहता फिरता है कि मालिक हमें नहीं छोड़ता है, पर मालिक की अधीनता को तो स्वयं इसने ही स्वीकारा है।

इसी तरह जीव ने स्वयं राग-द्वेष करके कर्मों का बन्ध किया है और अब उन कर्मों के उदयकाल में उनके निमित्त से स्वयं अपने परिणाम बिगाड़ता है। अपराध स्वयं करता है और आरोप कर्म पर लगाता है। (देखिए मोक्षमार्गप्रकाशक, अध्याय ९ पृष्ठ क्रमांक ३११ पर स्पष्ट उल्लेख है - अपराध स्वयं करता है दोष कर्मों को देता है - ऐसी अनीति जैनधर्म में तो सम्भव नहीं।)

जीवन्धरकुमार का दूर जाने का विचार -

मदीयं मांसलं मांसममीमांसेयमङ्गना ।

पश्यन्ती पारवश्यान्धा ततो याम्यात्मनेऽथवा ॥४०॥

अन्वयार्थ - (अमीमांसा) विचारशून्य (इयं अङ्गना) यह स्त्री (मांसलं मदीयं मांसं) हृष्ट-पुष्ट मेरे शरीर को (पश्यन्ती) देखकर (पारवश्यान्धा) काम की पराधीनता से अन्ध [जाता] हो गई है। (ततः) इसके हित के लिए (अथवा) अथवा (आत्मने) अपनी आत्मा के हित के लिए (यामि) मैं यहाँ से जाता हूँ।

सरलार्थ - जीवन्धरकुमार विचार कर रहे हैं कि विवेकहीन यह विद्याधरी युवती मेरे हृष्ट-पुष्ट एवं सुन्दर शरीर को देखकर कामान्ध हो गई है। अतः इसके शील की रक्षा के लिए और अपने हित की दृष्टि से मैं स्वयं ही इस वन को छोड़कर अन्यत्र चला जाता हूँ।

विशेषार्थ - मार्ग में गमन करते समय अपनी ओर कोई अविवेकी साँड़ ऊधम मचाता हुआ और हुंकार करता हुआ आ रहा हो तो विवेकशील मनुष्य को स्वयं अपना रास्ता बदलकर सुरक्षित मार्ग से चले जाने में ही हित है। अतः जीवन्धरकुमार का वहाँ से अन्यत्र दूर जाने का विचार योग्य ही है।

स्त्री-पुरुष के सान्निध्य का सामान्य स्वरूप -

अङ्गारसदृशी नारी नवनीतसमा नराः ।

तत्तत्सान्निध्यमात्रेण द्रवेत्पुंसां हि मानसम् ॥४१॥

अन्वयार्थ - [अत्र नीतिः] (नारी) स्त्री (अङ्गारसदृशी) जलते हुए कोयले के समान है और (नराः) पुरुष (नवनीतसमाः) मक्खन के समान हैं (तत्) इसलिए (हि) निश्चय से (तत्सान्निध्यमात्रेण) स्त्रियों की समीपता मात्र से ही (पुंसां) पुरुषों का (मानसं) हृदय (द्रवेत्) पिघल जाता है।

सरलार्थ - स्त्री जलते हुए कोयले/जाज्वल्यमान अग्नि के समान है

और पुरुष मक्खन के समान है। अग्नि के समक्ष मक्खन का पिघलना सहज ही होता है; वैसे ही स्त्री के समीप होने पर पुरुष सहज ही कामातुर हो जाता है; अतः पुरुषों को स्त्रियों से दूर रहना ही उचित है।

विशेषार्थ – आचार्यश्री श्लोक में नीति द्वारा सामान्य लोगों को समझा रहे हैं, निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्धों का ज्ञान करा रहे हैं, जो उचित ही है। इस समय हमें यह समझना भी आवश्यक है कि जब साधु को स्त्रीपरिषह होता है, तब वे अपने निज भगवान् आत्मा के ध्यान से स्त्रीपरिषह पर विजय प्राप्त करके स्त्री परिषहजयी हो जाते हैं।

मात्र साधु ही नहीं, चारित्रवान् गृहस्थ भी स्त्रीपरिषह पर विजय पाने में समर्थ होते हैं – सेठ सुदर्शन का कथानक इस बात को स्पष्ट करता है। रानी द्वारा सेठ सुदर्शन पर आपत्ति आई थी; पर सेठ सुदर्शन गृहस्थ होने पर भी अडिग रहे, विचलित नहीं हुए। विवेकशील पुरुषों को विपरीत निमित्त को टालने का ही भाव आता है, जो स्वयं के हितरूप है। अतः जीवन्धरकुमार का वहाँ से अन्यत्र चले जाने का विचार उपयुक्त ही है।

स्त्रियों के संसर्ग से दूर ही रहना –

संलापवासहासादि तद्वर्ज्यं पापभीरुणा ।

बालया वृद्धया मात्रा दुहित्रा वा व्रतस्थया ॥४२॥

अन्वयार्थ – [अत्र नीतिः] (तस्मात्) इसलिए (पापभीरुणा) पाप से डरनेवाले पुरुषों को (बालया) बाल कन्या से (वृद्धया) वृद्ध स्त्री से (मात्रा) माता से (वा) अथवा (दुहित्रा) पुत्री से और (व्रतस्थया) व्रत पालन करनेवाली श्राविका से (संलापवासहासादि) भी बोलना, साथ में रहना और हँसी आदि करना (वर्ज्यं) छोड़ देना चाहिए।

सरलार्थ – पाप से भयभीत विवेकशील पुरुषों को केवल युवा स्त्री से ही नहीं तो बालिका, वृद्ध स्त्री, अपनी माता, पुत्री तथा व्रतधारिणी ब्रह्मचारिणी, आर्यिकादि से भी एकान्त में निरर्थक वार्तालाप, हँसी-मजाकादि नहीं करना चाहिए, सदा सावधान रहना चाहिए।

जीवन्धरकुमार अन्यत्र जाने को उद्यत -

इति वैराग्यतर्केण ततो यातुं प्रचक्रमे ।

भेतव्यं खलु भेतव्यं प्राज्ञैरज्ञोचितात्परम् ॥४३॥

अन्वयार्थ - (इति वैराग्यतर्केण) इसप्रकार वैराग्योत्पादक विचार से जीवन्धरकुमार (ततः) वहाँ से (यातुं) जाने के लिए (प्रचक्रमे) तैयार हुए।

[अत्र नीतिः] (खलु) निश्चय से (प्राज्ञैः) बुद्धिमान पुरुषों को (अज्ञोचितात्) अज्ञानी पुरुषों के अयोग्य कार्यों से (परं) अत्यन्त (भेतव्यं भेतव्यं) भयभीत रहना चाहिए।

सरलार्थ - उपर्युक्त प्रकार से वैराग्यमय विचार करते हुए जीवन्धरकुमार उस विद्याधरी युवती से दूर जाने को उद्यत हुए; क्योंकि अज्ञानियों के अयोग्य कार्यों से ज्ञानी मनुष्यों को भयभीत ही रहना चाहिए।

विद्याधरी युवती की प्रतिक्रिया -

विरक्तमेव रक्ता सा निश्चिकाय विपश्चितम् ।

निसर्गादिङ्गितज्ञानमङ्गनासु हि जायते ॥४४॥

अन्वयार्थ - (रक्ता सा) उस आसक्त स्त्री ने (विपश्चितं) विद्वान् जीवन्धरकुमार के व्यवहार को देख 'ये मुझसे (विरक्तं एव) अत्यन्त विरक्त हैं' - ऐसा (निश्चिकाय) निश्चय किया।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (अङ्गनासु) स्त्रियों में (इङ्गित ज्ञानं) शरीर की चेष्टा से मन के भावों को जान लेने का ज्ञान (निसर्गात् एव जायते) स्वभाव से ही होता है।

सरलार्थ - कामान्ध/कामासक्त विद्याधरी युवती ने विवेकी/तत्त्वज्ञ जीवन्धरकुमार के हाव-भाव देखकर 'ये मुझसे उदास और विरक्त हैं' - यह निर्गम्य कर लिया; क्योंकि शरीर की चेष्टा से मन के विचारों को जानने का विशिष्ट ज्ञान/इंगित ज्ञान स्त्रियों में स्वभाव से ही होता है।

विद्याधरी युवती का परिचय देने के लिए उद्यत होना -

तस्य स्वान्तं वशीकर्तुं स्वोदन्तमियमूचिषी ।

प्रतारणविधौ स्त्रीणां बहुद्वारा हि दुर्मतिः ॥४५॥

अन्वयार्थ - (इयं) इस स्त्री ने (तस्य) उनके (स्वान्तं) हृदय को (वशीकर्तुं) वश में करने के लिए (स्वोदन्तं) अपना वृत्तान्त (ऊचिषी) कहा ।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (स्त्रीणां) स्त्रियों की (दुर्मतिः) खोटी बुद्धि दूसरों को (प्रतारणविधौ) ठगने में (बहुद्वारा भवति) अनेक प्रकार से चलती है ।

सरलार्थ - तत्त्वज्ञ और विरक्त जीवन्धरकुमार को वश में करने के उद्देश्य से विद्याधरी युवती ने अपना वृत्तान्त सुनाना प्रारम्भ किया; क्योंकि स्त्रियाँ दूसरों को ठगने की अनेक कलाएँ जानती हैं ।

युवती का परिचय -

विद्धि दीनां महाभाग मां विद्याधरकन्यकाम् ।

स्यालेनात्र बलान्नीतां त्यक्तामात्मप्रियाभयात् ॥४६॥

अन्वयार्थ - (महाभाग) हे महाभाग ! (मां) मुझे (स्यालेन) मेरे भाई के साले से (बलात्) जबरदस्ती से (नीतां) लाई गई और (आत्मप्रियाभयात्) अपनी स्त्री के भय से (अत्र) यहाँ इस वन में (त्यक्तां) छोड़ी हुई (मां) मुझ (दीनां) गरीब (अनाथ) को (विद्याधरकन्यकां) विद्याधर की कन्या (विद्धि) समझो ।

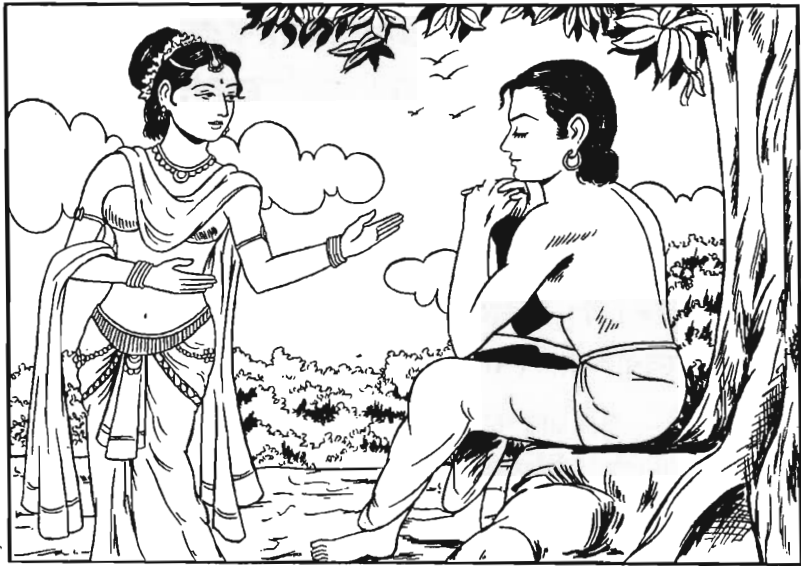
सरलार्थ - युवती कहती है कि - “हे भाग्यवान ! मैं विद्याधर कन्या हूँ। मेरी इच्छा के विरुद्ध मेरे भाई के साले ने मेरा हरण कर लिया है और अब अपनी पत्नी के भय से मुझे यहाँ जंगल में अकेला छोड़ दिया है।”

युवती की शरण के लिए याचना -

अनङ्गतिलकां नाम्ना पुंसां तिलक रक्ष माम् ।

अशरण्यशरण्यत्वं वरेण्ये वर्ततामिति ॥४७॥

अन्वयार्थ – (पुंसां तिलक) हे पुरुषों के भूषण ! (नाम्ना अनङ्गतिलकां मां) अनंगतिलका नाम की मुझ विद्याधर कन्या की (रक्ष) रक्षा करो। (अशरण्यशरण्यत्वं) जिनको कोई शरण नहीं है उनका शरणपना (वरेण्ये) पुरुषों में श्रेष्ठ आप में (वर्ततां) है। (इति) ऐसा उसने कहा।



सरलार्थ – “हे पुरुषोत्तम ! मेरा नाम अनंगतिलका है। आप मेरी रक्षा करो, मुझे सहारा दो; क्योंकि शरणहीन लोगों को शरण/सहारा देने का विशिष्ट गुण महापुरुषों में होता है। आप तो महापुरुष हैं ही।”

एक पुरुष का आर्तस्वर –

तावदार्तस्वरः कोऽपि शुश्रुवे श्रुतशालिना।

क्व प्रयाता प्रिये प्राणा मम यान्तीति दुःसहः ॥४८॥

अन्वयार्थ – (तावत्) इतने में ही (श्रुतशालिना) शास्त्र में प्रवीण उन जीवन्धरकुमार ने (प्रिये) हे प्यारी ! (क्व) कहाँ (प्रयाता) चली गई हो (मम) मेरे (प्राणाः) प्राण (यान्ति) निकल रहे हैं। (इति) इसप्रकार (कः अपि) किसी पुरुष का (दुःसहः) दुःसह (आर्तस्वरः) दुःखद स्वर (शुश्रुवे) सुना।

सरलार्थ – इतने में ही “हे प्रिये ! तुम कहाँ हो ? कहाँ चली गई हो ? तुम्हारे वियोग में मेरे प्राण निकल रहे हैं !” – इसप्रकार असह्य एवं दयनीय आर्तस्वर (दुःखी मनुष्य का चीत्कार) विद्वान् जीवन्धरकुमार को सुनाई दिया।

विद्याधरी का तुरन्त ही गमन –

योषाप्येषा मिषेणास्मान्निमेषादिव निर्ययौ ।

मायामयी हि नारीणां मनोवृत्तिर्निसर्गतः ॥४९॥

अन्वयार्थ – (एषा) यह (योषा) स्त्री (अपि) भी (मिषेण) किसी बहाने से (अस्मात्) इन जीवन्धरकुमार के पास से (निमेषात् इव) क्षणमात्र में ही (निर्ययौ) चली गई।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (नारीणां) स्त्रियों की (मनोवृत्तिः) चित्तवृत्ति (निसर्गतः) स्वभाव से ही (मायामयी) छलकपट करनेवाली होती है।

सरलार्थ – अपने पति का आर्तस्वर सुनकर वह विद्याधरी स्त्री तुरन्त ही कोई बहाना बनाकर जीवन्धरकुमार का सामीप्य छोड़कर अन्यत्र चली गई; क्योंकि स्त्रियों की मनोवृत्ति स्वभाव से ही मायामयी होती है।

दुःखी पुरुष का आगमन –

आर्तस्वरकरोऽप्याह दैन्यं मान्यस्य वीक्षणात् ।

शोच्याः कथं न रागान्धा ये तु वाच्यान् बिभ्यति ॥५०॥

अन्वयार्थ – (आर्तस्वरकरः अपि) दुःखित शब्द को करनेवाले ने भी (मान्यस्य) माननीय जीवन्धरकुमार के (वीक्षणात्) देखने से (दैन्यं) दीनतापूर्वक (आह) कहा।

[अत्र नीतिः] (ये तु) जो पुरुष (वाच्यात्) अपवाद से वा निन्दा से (न) नहीं (बिभ्यति) डरते हैं (ते) वे (रागान्धाः) राग से अन्धे पुरुष (कथं) कैसे (न शोच्याः) शोचनीय दशा को प्राप्त नहीं होते हैं ? अर्थात् उनकी दशा अत्यन्त शोचनीय होती है, दयनीय होती है।

सरलार्थ – आर्तस्वर का उच्चारण करनेवाला/दुःखद चीत्कार करनेवाला

अपरिचित व्यक्ति महापुरुष जीवन्धरकुमार को देखकर दीनतापूर्वक कहने लगा; क्योंकि अपनी दीन अवस्था से संकोच नहीं करनेवाले, शर्मिन्दा नहीं होनेवाले मनुष्यों की स्थिति अत्यन्त शोचनीय होती है।

आगन्तुक का निवेदन -

उदन्योपद्रुतामत्र मान्य ! भार्या पतिव्रताम् ।

पानीयार्थमवस्थाप्य नाद्राक्षं प्रस्थितागतः ॥५१॥

अन्वयार्थ - (मान्य) हे माननीय ! (अहं) मैं (उदन्योपद्रुतां) प्यास से व्याकुल (पतिव्रतां भार्या) अपनी पतिव्रता स्त्री को (अत्र) यहाँ पर (अवस्थाप्य) बिठलाकर (पानीयार्थ) पानी लाने के लिए (प्रस्थितागतः) गया था, वहाँ से लौटने पर (न अद्राक्षं) मैंने उसे वहाँ नहीं देखा, अर्थात् उसे वहाँ नहीं पाया।

सरलार्थ - “हे सम्मानीय महापुरुष ! मैं अपनी पतिव्रता एवं प्यासी पत्नी को यहाँ छोड़कर उसके लिए पानी लाने गया था। मैं वापिस आने पर देखता हूँ कि वह यहाँ नहीं है, न जाने कहाँ चली गई ?”

आगन्तुक का पुनः निवेदन -

विद्याप्यविद्यमानैव मम विद्याधरोचिता ।

मर्त्योत्तम भवानत्र कर्तव्यं कथयेदिति ॥५२॥

अन्वयार्थ - (मर्त्योत्तम) हे मनुष्यों में श्रेष्ठ ! (मम) मेरी (विद्याधरोचिता) विद्याधरों के योग्य (विद्या अपि) विद्या भी (अविद्यमाना इव) अविद्यमान के सदृश हो गई अर्थात् स्त्री के वियोग से मैं अपनी सब विद्याएँ भूल गया हूँ। (भवान्) आप (अत्र) इस विषय में (कर्तव्यं) करने योग्य उपाय को (कथयेत्) कहिये। (इति) ऐसा विद्याधर ने कहा।

सरलार्थ - हे पुरुषोत्तम ! प्रिय पत्नी के वियोग के कारण मेरी विद्याधरों के योग्य सभी विद्याएँ नष्ट-सी हो गई हैं; अतः आप मुझे कुछ उचित मार्गदर्शन दीजिए।

विशेषार्थ – शोक करना तीव्र कषाय से होता है। तीव्र कषाय से व्यक्त ज्ञान भी लुप्त-सा हो जाता है। इसीकारण उसे विद्याधर की विद्याएँ भी लुप्त-सी हो गई हैं। अतः ज्ञान का विकास चाहनेवालों को किसी भी कषाय से व्यथित नहीं होना चाहिए। कषाय के प्रसंग आने पर भी तत्त्वज्ञान के आधार से स्वस्थ अर्थात् शान्त रहने का ही प्रयास करना उपयुक्त है।

जीवन्धरकुमार की मनःस्थिति –

पुरन्ध्रीष्वति – सन्धानादभैषीदभयङ्करः ।

वचनीयाद्धि भीरुत्वं महतां महनीयता ॥५३॥

अन्वयार्थ – (अभयङ्करः) निर्भय (पुरन्ध्रीषु) स्त्रियों में विद्यमान (अतिसन्धानात्) ठग विद्या से (अभैषीत्) डर गए।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (वचनीयात् भीरुत्वं) निन्द्य, बुरी बातों से भयपना (महतां) बड़े पुरुषों का (महनीयता) बड़प्पन है।

सरलार्थ – निर्भय जीवन्धरकुमार, अपरिचित तथा स्त्री में अति आसक्त उस विद्याधर का कथन सुनकर स्त्रियों में स्वाभाविक रहनेवाली ठग विद्या से अत्यधिक भयभीत हो गए; क्योंकि निन्दाजनक कार्यों में भीरुता दिखाना ही महापुरुषों की महानता है।

विशेषार्थ – इस विद्याधर के कथन से उस स्त्री द्वारा स्वयं ही दिया हुआ सब परिचय असत्य है – ऐसा निर्णय जीवन्धरकुमार ने सहज ही कर लिया और स्त्रियों का विश्वास करना आपत्तिजनक है; – यह भी निश्चित हुआ।

जीवन्धरकुमार का सम्बोधन –

नभश्चरं पुनश्चैनं स विपश्चिदबोधयत् ।

अपश्चिमफलं वक्तुं निश्चितं हि हितार्थिनः ॥५४॥

अन्वयार्थ – (पुनः) फिर (सः विपश्चित्) उन पण्डित जीवन्धरकुमार ने (एनं नभश्चरं) इस विद्याधर को (अबोधयत्) समझाया।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (हितार्थिनः) दूसरों का हित करनेवाले पुरुष (निश्चितं) निश्चितरूप से (अपश्चिमफलं) सर्वोत्तम फल देनेवाली बात (वक्तुं) कहने की (इच्छति) इच्छा करते हैं।

सरलार्थ – तदनन्तर विद्वान् जीवन्धरकुमार ने उस दुःखी विद्याधर को समझाया; क्योंकि परहित की वांछा रखनेवाले सज्जन पुरुष निश्चित रूप से सर्वोत्तम फलदायक तत्त्वज्ञान को ही समझाना चाहते हैं।

विशेषार्थ – जो जिसके पास होता है, वह उसी वस्तु को देता है – इस प्रसिद्ध वचन के अनुसार जीवन्धरकुमार के पास सार्वभौम और सार्वकालिक सुखदायक तत्त्वज्ञान ही है, उसे ही देने की उनकी भावना हो गई है। मिथ्यादृष्टि जीवों को मोक्षमार्ग का उपदेश देकर उनका उपकार करना यही उत्तम उपकार है।

जीवन्धरकुमार का उपदेश –

भवदत्त ! मुधातोऽसि विद्यावित्तो भवन्नपि ।

न विद्यते हि विद्यायामगम्यं रम्यवस्तुषु ॥५५॥

अन्वयार्थ – (भवदत्त) हे भवदत्त ! (त्वं) तू (विद्यावित्तः) विद्यारूपी धनवाला (भवन् अपि) होनेपर भी क्यों (मुधा) व्यर्थ (आर्तः असि) दुःखी हो रहा है ?

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (विद्यायां) [सत्यां] विद्या के होने पर (रम्य-वस्तुषु) सुन्दर पदार्थों में (अगम्यं) दुष्प्राप्य (न विद्यते) कुछ भी नहीं है।

सरलार्थ – हे भवदत्त विद्याधर ! आप तो अनेक विद्यारूपी धन को धारण करनेवाले साक्षात् विद्याधर हो। आपको किसी प्रकार की चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं है। आप व्यर्थ ही दुःखी हो रहे हो; क्योंकि जिसके पास विद्यारूपी धन है, उसे अनेक सुन्दर वस्तुओं में से एक भी अप्राप्य नहीं है। आपको धैर्य धारण करना चाहिए।

विशेषार्थ – आपको अपनी प्रिय पत्नी का वियोग हुआ है – यह बात

सत्य होने पर भी आप अपनी विद्याओं का उपयोग करके थोड़े ही समय में उसे बिना परिश्रम के प्राप्त कर सकोगे। अतः स्त्री के वियोग में इतना अधीर होना उचित नहीं है और इसकी आवश्यकता भी नहीं है।

विद्वान-अविद्वान का स्वरूप -

नभश्चर न कश्चित्स्याद्विपश्चिदविपश्चितोः ।

विनिश्चलशुचोर्भेदो यतश्चन कुतश्चन ॥५६॥

अन्वयार्थ—(नभश्चर) हे विद्याधर ! [अत्र नीतिः] (यतश्चन कुतश्चन) इधर-उधर से [विपत्तौ सत्यां] विपत्ति आ जाने पर (विनिश्चलशुचोः) निश्चल रहना और शोक करना बस यही क्रमशः विद्वान और मूर्ख की पहचान है। इसके सिवाय (विपश्चिदविपश्चितोः) विद्वान और मूर्ख में (कश्चित् भेदः न) और कुछ भी भेद नहीं है।

सरलार्थ - हे विद्याधर ! विद्वज्जन विपत्ति आने पर भी धैर्य धारण करते हैं और विशेष लाभ होने पर भी गर्व नहीं करते हैं। अविद्वान/मूर्ख लोग अल्प आपत्ति से ही अधीर हो जाते हैं और अल्प लाभ में ही फूल जाते हैं। विद्वान और अविद्वान में यही अन्तर है।

यदि विपत्ति और सम्पत्ति आने पर दोनों समान रूप से अधीर और प्रसन्न हों, तो फिर इन दोनों में कोई अन्तर नहीं रहेगा। हे भवदत्त विद्याधर ! आप अनेक विद्याओं के धनी और विद्वान हैं, आपको इसप्रकार चंचल-चित्त होना शोभा नहीं देता।

पातिव्रत्य की दुर्लभता -

परं सहस्रधीभाजि स्त्रीवर्गे का पतिव्रता ।

पातिव्रत्यं हि नारीणां गत्यभावे तु कुत्रचित् ॥५७॥

अन्वयार्थ - [अत्र नीतिः] (परं सहस्रधीभाजि स्त्रीवर्गे) हजारों प्रकार की बुद्धि को धारण करनेवाले स्त्रीसमूह में (का पतिव्रता) पातिव्रत्य धर्म कहाँ से हो सकता है ? अर्थात् नहीं हो सकता। (हि) निश्चय से

(कुत्रचित्) कहीं पर (गत्यभावे तु) उपाय के अभाव से (नारीणां पातिव्रत्यं भवेत्) स्त्रियों का पातिव्रत्य धर्म सुरक्षित रह सकता है।

सरलार्थ – हजारों प्रकार की विलक्षण बुद्धि की धारक स्त्रीसमूह में पातिव्रत्य कहाँ रहेगा ? अर्थात् ऐसी स्थिति में पातिव्रत्य अत्यन्त दुर्लभ है। वास्तव में देखा जाए तो सरलता से भ्रष्ट होने के अवसर न मिलने के कारण स्त्रियों में पातिव्रत्य कहीं-कहीं पर पाया जा सकता है।

विशेषार्थ – भवदत्त विद्याधर के आने के पूर्व ही जीवन्धरकुमार को उसकी पत्नी की कुटिलता, मायाचारी, कामान्धता तथा असत्यादि का प्रत्यक्ष अनुभव हो चुका था। वे अब विद्याधर की आसक्ति को भी जान रहे हैं। इसप्रकार जीवन्धरकुमार को पातिव्रत्य की दुर्लभता भासित होना स्वाभाविक ही है।

इस प्रकरण में स्त्री को प्रतीक मानकर पातिव्रत्य की दुर्लभता बताई जा रही है। पातिव्रत्य के समान एक पत्नीव्रत के धारकों की दुर्लभता भी समझनी चाहिए।

भवदत्त विद्याधर के स्त्री विषयक आसक्तिभाव को कम करने के अभिप्रायवश ही जीवन्धरकुमार ने प्रकरण के अनुसार उपदेश दिया है, जो उचित ही है। आगे के श्लोकों में भी स्त्री विषयक राग-भाव को कम करने के लिए किया गया कथन भी अत्यन्त मार्मिक है।

शास्त्रों में पुरुष की प्रधानता से ही उपदेश होता है। पुरुष के मन में स्त्री विषयक राग न रहे, अतः स्त्री का निन्दामूलक कथन अधिक आता है। यहाँ स्त्री विषयक राग की निन्दा की गई है – ऐसा समझना चाहिए।

स्त्री का स्वरूप –

मदमात्सर्यमायेर्ष्यारागरोषादिभूषिताः ।

असत्याशुद्धिकौटिल्यशाठ्यमौढ्यधनाः स्त्रियः॥५८॥

अन्वयार्थ – [अत्र नीतिः] (स्त्रियः) स्त्रियाँ (मदमात्सर्यमायेर्ष्या-रागरोषादिभूषिताः) घमण्ड, डाह, छल-कपट, प्रीति, विरोध और क्रोध से भूषित और (असत्याशुद्धिकौटिल्यशाठ्यमौढ्यधनाः) झूठ, अपवित्रता, कुटिलता, शठता और मूर्खता हैं धन जिसके – ऐसी होती हैं।

सरलार्थ – स्त्रियों में घमण्ड, मात्सर्य, ईर्ष्या, मायाचारी, राग-द्वेष, मोह, क्रोध, झूठ, अपवित्रता, कुटिलता और मूर्खता आदि दोष स्वभाव से ही होते हैं।

स्त्री के स्वरूप का पुनः कथन –

निर्घृणे निर्द्रये क्रूरे निर्व्यवस्थे निरङ्कुशे ।

पापे पापनिमित्ते च कलत्रे ते कुतः स्पृहा ॥५९॥

अन्वयार्थ – (निर्घृणे) घृणासहित (निर्द्रये) दयाहीन (क्रूरे) दुष्ट (निर्व्यवस्थे) अव्यवस्थित (निरङ्कुशे) स्वच्छंद (पापे) पापरूप (च) और (पापनिमित्ते) पाप की कारणभूत (कलत्रे) स्त्री में (ते स्पृहा) तेरी इच्छा (कुतः भवेत्) कैसे होती है ?

सरलार्थ – हे भवदत्त विद्याधर ! घृणित, निर्दय, दुष्ट, व्यवस्थारहित, स्वच्छंद, पापरूप और पाप की कारणभूत स्त्री से प्रेम और उसका विश्वास भी नहीं रखना चाहिए।

विशेषार्थ – स्त्री में ममत्व और आसक्ति रखने से आज तक किसी को कुछ लाभ नहीं हुआ है, हानि अवश्य हुई है। जीवन्धरकुमार के पिता राजा सत्यन्धर की दयनीय स्थिति का कारण स्त्री सम्बन्धी आसक्ति ही रहा है। रावण के नरक-गमन का मूल कारण रावण का सीता विषयक आसक्ति भाव ही समझना चाहिए। शास्त्रों में स्त्री विषयक राग के कारण पुरुषों के पतन के हजारों उदाहरण मिल जाएँगे।

यहाँ स्त्री अर्थात् भोग्य पत्नी के राग और आसक्ति भाव की निन्दा की गई है। माता, बहिन और सुता के रूप में स्त्री का जो पवित्र स्वरूप है, उसकी निन्दा यहाँ नहीं समझना चाहिए।

जीवन्धरकुमार के उपदेश का परिणाम –

इत्युपादिष्टमेतस्य हृदये नासजत्तराम् ।

जठरे सारमेयस्य सर्पिषो न हि सज्जनम् ॥६०॥

अन्वयार्थ – (इति उपादिष्टं) इसप्रकार यह उपदेश (एतस्य हृदये) इस विद्याधर के मन में (न असज्जतरां) नहीं लगा अर्थात् उनके हृदय में जीवन्धरकुमार के उपदेश ने कुछ भी असर नहीं किया।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (सारमेयस्य जठरे) कुत्ते के पेट में (सर्पिषः सञ्जनं न भवति) घी का ठहरना नहीं होता है।

सरलार्थ – जैसे कुत्ते के पेट में घी नहीं पचता, घी से कुत्ते को वमन हो जाता है। वैसे ही अपात्र जीवों के हृदय में सज्जनों का उपदेश स्थान नहीं पाता। तदनुसार उपर्युक्तप्रकार से जीवन्धरकुमार द्वारा दिया गया उपदेश भवदत्त विद्याधर के हृदय में कुछ भी असर नहीं कर सका अर्थात् भवदत्त का स्त्री-मोह कम नहीं हुआ।

विशेषार्थ – अपात्र जीव को दिया गया उपदेश अकार्यकारी अर्थात् निष्फल हो जाता है। भगवान महावीर का जीव जब तीर्थकर भगवान आदिनाथ के समवशरण में 'मारीचि' के भव में था, तब उसकी अपात्रता होने से अपने ही दादा तीर्थकर आदिनाथ का दिव्यध्वनिरूप उपदेश अकार्यकारी रहा।

जब वही जीव सिंह की पर्याय में आया, तब अपनी पात्रता के कारण चारणऋद्धिधारी मुनिराजों का उपदेश कार्यकारी रहा। यहाँ भवदत्त विद्याधर की अपात्रता के कारण जीवन्धरकुमार का उपदेश व्यर्थ ही गया – ऐसा समझना चाहिए।

सुननेवाले की पात्रता हो तो सुनानेवाले का निमित्त मिल ही जाता है। वास्तविकरूप से देखा जाए तो आत्मा ही आत्मा का गुरु है। (इष्टोपदेश, श्लोक क्रमांक ३४ देखिए)

भवदत्त की दयनीय दशा –

स्वामी तु तस्य मौढ्येन सुतरामन्वकम्पत ।

उत्पथस्थे प्रबुद्धानामनुकम्पा हि युज्यते ॥६१॥

अन्वयार्थ – (तु) किन्तु (स्वामी) जीवन्धरकुमार (तस्य) उसकी (मौढ्येन) मूर्खता पर (सुतरां) अत्यन्त (अन्वकम्पत) दयायुक्त हुए।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (उत्पथस्थे) खोटे मार्ग में चलनेवाले मनुष्यों पर (प्रबुद्धानां) बुद्धिमान पुरुषों का (अनुकम्पा) दया करना ही (युज्यते) उचित है।

सरलार्थ – भवदत्त विद्याधर के मोह परिणाम को जानकर जीवन्धरकुमार को उस पर बहुत दया आई; क्योंकि मिथ्यामार्ग पर चलनेवाले मनुष्यों पर बुद्धिमानों को दया करना ही योग्य है।

विशेषार्थ – प्रत्येक वक्ता का धर्मोपदेश सहजता से होता है; जिसे जिज्ञासु सुनते हैं। श्रोता उपदेश ग्रहण करें अथवा न करें; वक्ता को कुछ राग-द्वेष नहीं होता है। वक्ता तो अपने विकल्प की पूर्ति के लिए सुनाता है। मैं पर को समझा नहीं सकता – ऐसा निर्णय वक्ता को पहले से ही होता है। धर्मोपदेश तो उसके स्वाध्याय का एक अंग है, वह तो 'स्वान्तः सुखाय' ही सुनाता है।

मैं सामनेवाले को सुनाऊँगा और समझाकर ही रहूँगा – ऐसा विपरीत भाव तो अनन्तानुबन्धी कषाय के तीव्र उदय से ही होता है। जीवन्धरकुमार तो तद्भव मोक्षगामी हैं, उन्हें विपरीत परिणाम तो हो ही नहीं सकता।

मन की चंचलता का स्वरूप –

ततस्तस्माद्विनिर्गत्य कमप्याराममाश्रयत् ।

अदृष्टपूर्वदृष्टौ हि प्रायेणोत्कण्ठते मनः ॥६२॥

अन्वयार्थ – (ततः) इसके अनन्तर (तस्मात्) उस स्थान से (विनिर्गत्य) निकलकर जीवन्धरकुमार ने (कं अपि) किसी (आरामं) बगीचे का (आश्रयत्) आश्रय लिया अर्थात् वे किसी बगीचे में पहुँचे।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (अदृष्टपूर्वदृष्टौ) पहले नहीं देखी हुई वस्तु के देखने में (प्रायेण) प्रायः (मनः उत्कण्ठते) मन उत्कण्ठित हुआ करता है।

सरलार्थ – जीवन्धरकुमार उस वन में से निकल कर अन्य किसी मनोहर बगीचे में प्रवेश करते हैं; क्योंकि मनुष्य का मन पहले नहीं देखी हुई वस्तु को देखने में प्रायः उत्कण्ठित रहता है।

विशेषार्थ – आत्मानुशासन में मन की चंचलता, समयसार में ज्ञेय लुब्धता और मोक्षमार्गप्रकाशक में जानने की इच्छा भी दुःख का एक कारण है – ऐसा निरूपित किया है।

उपकथा-१६

आम्रफल तोड़कर लाने का असफल प्रयास –

तत्राम्रफलमाक्रष्टुं धनुषा कोऽपि नाशकत् ।

अशक्तैः कर्तुमारब्धं सुकरं किं न दुष्करम् ॥६३॥

अन्वयार्थ – (तत्र) उस बगीचे में (कः अपि) उस देश के राजकुमारों में से कोई भी राजकुमार (धनुषा) धनुष से (आम्रफलं) किसी आम्रफल को (आक्रष्टुं) तोड़कर वापस लाने में (न अशकत्) समर्थ नहीं हुआ।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (अशक्तैः) असमर्थ पुरुषों द्वारा (कर्तु आरब्धं) करने के लिए आरम्भ किया हुआ (सुकरं) सरल काम भी (किं दुष्करं न) क्या दुःसाध्य नहीं होता है ? अपितु दुःसाध्य होता ही है।

सरलार्थ – उसी बगीचे में एक राजकुमार अपने बाण से आम्रफल गिराने का पुनः पुनः प्रयास कर रहा था; तथापि वह उस कार्य में सफल नहीं हो पाया; क्योंकि असमर्थ मनुष्य को सरल काम भी कठिन हो जाता है।

विशेषार्थ – धनुर्विद्या में अपरिपक्व राजकुमार आम्रफल तोड़कर वापस लाने में असमर्थ रहा। यह दृश्य बहुत देर से जीवन्धरकुमार मौन रहकर देख रहे थे। जब असफल राजकुमार ने जीवन्धरकुमार की ओर देखा, तब जीवन्धरकुमार ने हँसते हुए धनुष लेने के लिए अपने हाथ बढ़ाए और उस राजकुमार ने भी तत्काल सहर्ष धनुष-बाण जीवन्धरकुमार को सौंप दिए।

जीवन्धरकुमार का प्रथम प्रयास ही सफल -

स्वामी तु तत्फलं विद्धमादत्त सशिलीमुखम् ।

तत्तन्मात्रकृतोत्साहैः साध्यते हि समीहितम् ॥६४॥

अन्वयार्थ - (तु) परन्तु (स्वामी) जीवन्धरकुमार ने (विद्धं तत्फलं) बाण से छेदित उस फल को (सशिलीमुखं) बाण सहित (आदत्त) ग्रहण कर लिया ।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (तत्तन्मात्रकृतोत्साहैः) प्रत्येक कार्य में उत्साह व निपुणता युक्त पुरुष ही (समीहितं) इच्छित कार्य को (साध्यते) सफल करते हैं ।

सरलार्थ - धनुर्विद्या में निपुण और उत्साहमूर्ति जीवन्धरकुमार ने उस आम्रफल को बाण सहित ग्रहण किया; क्योंकि उत्साह तथा तत्परता से काम करनेवाले चतुर लोग अपना इच्छित कार्य तत्काल और सहज ही सिद्ध कर लेते हैं ।

विशेषार्थ - जो व्यक्ति उत्साह तथा तत्परता से काम करता है, उसकी चतुराई में चार चाँद लग जाते हैं अर्थात् उत्साह और तत्परता के साथ ही चतुराई फलदायी होती है ।

जीवन्धरकुमार की सफलता का परिणाम -

अपराद्धपृषत्कोऽपि दृष्ट्वा व्यस्मेष्ट तत्कृतिम् ।

अपदानमशक्तानामद्भुताय हि जायते ॥६५॥

अन्वयार्थ - (अपराद्धपृषत्कः अपि) लक्ष्य से च्युत है बाण जिसका ऐसा वह राजकुमार (तत्कृतिं दृष्ट्वा) जीवन्धरकुमार की बाण निपुणता को देखकर (व्यस्मेष्ट) अत्यन्त आश्चर्ययुक्त हुआ ।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (अपदानं) स्वयं जिसको न कर सके ऐसा उत्तम कार्य दूसरे के द्वारा कर दिया जाना (अशक्तानां) अशक्त पुरुषों को (अद्भुताय) आश्चर्य के लिए (जायते) होता है ।

सरलार्थ – दूसरे के प्रशंसनीय तथा उत्तम कार्य देखकर असमर्थ लोगों को अत्यन्त आश्चर्य होता है। अतः लक्ष्य का भेदन न कर सकनेवाला राजकुमार अलौकिक महापुरुष जीवन्धरकुमार के सफल कार्य को देखकर अत्यन्त आश्चर्यचकित हुआ।

राजकुमार की दीनता –

स्वामिनोऽयं स्ववृत्तान्तं सकातर्यं समभ्यधात् ।

सन्निधाने समर्थानां वराको हि परो जनः ॥६६॥

अन्वयार्थ – (अयं) जिसका बाण खाली गया, उस राजकुमार ने (स्वामिनः) जीवन्धरकुमार से (सकातर्यं) दीनतापूर्वक डरते हुए (स्ववृत्तान्तं) अपना वृत्तान्त (समभ्यधात्) कहा।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (समर्थानां) समर्थ पुरुषों के (सन्निधाने) समक्ष (परः जनः) असमर्थ मनुष्य (वराकः भवति) तुच्छ/दीन हो जाता है।

सरलार्थ – धनुर्विद्या के परिपक्व ज्ञान से रहित राजकुमार दीनता धारण करके धनुर्विद्या में निष्णात जीवन्धरकुमार को अपना परिचय देना चाहता है; क्योंकि अनेक गुणों के आगार, पुण्योदय तथा पुण्य परिणाम एवं प्रभावादि से सामर्थ्य-सम्पन्न व्यक्ति के सामने अन्य सामान्य जन स्वयमेव ही किंकरवत् दीन हो जाते हैं।

विशेषार्थ – कभी-कभी प्रभावी व्यक्ति के विचार तथा कार्यपद्धति से किसी का मेल न बैठता हो तो वह सामान्य मनुष्य अन्य लोगों के सामने विरोध व्यक्त भी करता है। विरोध प्रगट करने के विचार से प्रभावी व्यक्ति के पास तक चला जाता है; किन्तु वहाँ जाकर सामर्थ्यशाली व्यक्ति के प्रभाव से कुछ नहीं कह पाता और हाँ में हाँ मिलाकर दीन बन जाता है।

जीवन्धरकुमार ऐसे ही प्रभावशाली व्यक्ति थे; अतः जब स्वयं राजकुमार भी दीन हो गया, तो अन्य सामान्य जन की बात ही क्या है ?

राजकुमार का नम्र निवेदन -

कर्तव्यं वा न वा प्रोक्तं मया कार्मुककोविद ।

कर्णकट्वपि मद्वाक्यमाकर्णयितुमर्हसि ॥६७॥

अन्वयार्थ - (कार्मुककोविद) हे धनुर्विद्या में प्रवीण जीवनधरकुमार ! (मया प्रोक्तं) मुझसे कहा हुआ (कर्तव्यं) करने योग्य है (वा न वा) अथवा नहीं यह आप जाने (किन्तु कर्णकटु अपि) किन्तु कानों को अप्रिय भी (मद्वाक्यं) मेरे वचन (आकर्णयितुं अर्हसि) आप अवश्य सुनें।

सरलार्थ - हे धनुर्विद्याप्रवीण महापुरुष ! मेरे नम्र निवेदन के अनुरूप कार्य करना अथवा न करना - यह विषय तो दूर ही रहने दो, वह तो आपकी इच्छा के ऊपर निर्भर है। मेरी तो मात्र इतनी विनय है कि मेरे वचन कदाचित् आपको सुनने में मधुर न लगें तो भी आप कृपावन्त होकर सुनने का कष्ट करेंगे तो मुझ पर आपका महान उपकार होगा।

उपकथा-१७

नगरी का परिचय -

एतन्मध्यमदेशस्था हेमाभा स्यादियं पुरी ।

क्षत्रियो दृढमित्रः स्यात्तत्प्रिया नलिनाह्वया ॥६८॥

अन्वयार्थ - (एतन्मध्यमदेशस्था) इस मध्यदेश में स्थित (इयं) यह (हेमाभा) हेमाभा नाम की नगरी (स्यात्) है। उसका राजा (दृढमित्रः क्षत्रियः) दृढमित्र नाम का क्षत्रिय है (तत्प्रिया नलिनाह्वया स्यात्) और उसकी स्त्री का नाम नलिना है।

सरलार्थ - इस मध्यदेश में ही हेमाभा नाम की अतिशय शोभायमान समृद्ध नगरी है। उस नगरी के राजा दृढमित्र हैं, जो क्षत्रिय कुलोत्पन्न हैं और उनकी रानी का नाम नलिना है।

राजकुमार का परिचय -

सुमित्राद्यास्तयोः पुत्रास्तेष्वप्यन्यतमोऽस्म्यहम् ।

वयसैव वयं पक्वा विश्वेऽपि न तु विद्यया ॥६९॥

अन्वयार्थ – और (तयोः) उन दोनों के (सुमित्राद्याः पुत्राः) [अभवन्] सुमित्र आदि कई पुत्र हैं। (तेषु) उनमें से (अहं) मैं भी (अन्यतमः अस्मि) एक हूँ (वयं विश्वेऽपि) हम सब (वयसा एव पक्वाः) उम्र से ही बड़े हो गए हैं; (तु) परन्तु (न विद्या) विद्या से बड़े नहीं हैं।

सरलार्थ – उन राजा-रानी के सुमित्र, धनमित्र आदि अनेक पुत्र हैं, उनमें से मैं भी एक हूँ। हम सब उम्र में तो बड़े हो गए हैं; परन्तु विद्या से विहीन हैं।

विशेषार्थ – उम्र के बड़े होने में तो जीव का कुछ कर्तव्य है नहीं; क्योंकि व्यवहार कालद्रव्य के निमित्त से उम्र तो स्वयं बढ़ती ही रहती है। शरीर की वृद्धि पुद्गल की स्कन्धरूप अवस्थाओं में से एक अवस्था, जिससे औदारिकादि शरीर बनते हैं। इसी से औदारिकादि शरीर की वृद्धि होती है।

मात्र ज्ञान गुण ही जीव के अनन्त गुणों में एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विशेष गुण है। ज्ञान में परिवर्तन ही जीव का कार्य है।

राजकुमार की जीवन्धरकुमार से विशेष विनती –

तातपादोऽयमस्माकं चापविद्याविशारदम् ।

विचिनोति न चेद्दोष एषोऽप्यालोक्यतामिति ॥७०॥

अन्वयार्थ – (अस्माकं) हमारे (अयं तातपादः) यह पूज्य पिता (चापविद्याविशारदं) धनुर्विद्या में पण्डित पुरुष को (विचिनोति) खोज रहे हैं। (चेत्) यदि (दोषः न) आप कुछ दोष न समझें तो (एषः अपि) इनको भी (आलोक्यतां) देखें अर्थात् उनसे मिलें। (इति) ऐसा कुमार ने कहा।

सरलार्थ – हमारे पिताश्री राजा दृढमित्र हम सब भाइयों को सम्पन्न बनाने के अभिप्राय से धनुर्विद्या के जानकार एक विद्वान की खोज कर रहे हैं। यदि आप उचित समझें तो हमारे पिताजी से मिल लीजिए। मैं स्वयं आपके साथ रहूँगा।

इष्ट पदार्थों का संयोग भाग्य से ही –

तद्व्याहारे विसंवादो विदुषोऽप्यस्य नाजनि ।

विधिर्घटयतीष्टार्थैः स्वयमेव हि देहिनः ॥७१॥

अन्वयार्थ – (तद्व्याहारे) उस कुमार के कथन में (अस्य विदुषः अपि) इन विद्वान् जीवन्धरकुमार को भी (विसंवादः) कुछ भी विरोध (न अजनि) नहीं लगा।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (विधिः) कर्म (देहिनः) देहधारी मनुष्यों को (स्वयं एव) अपने आप ही (इष्टार्थैः) इष्ट पदार्थों से (घटयति) सम्बन्ध करा देता है।

सरलार्थ – उस राजकुमार के विनयसहित आग्रहपूर्ण निवेदन का जीवन्धरकुमार निषेध नहीं कर पाए और राजा दृढमित्र से मिलने के लिए राजकुमार के साथ चल दिए; क्योंकि कर्म प्राणियों को इष्टानिष्ट पदार्थों का स्वयं सम्बन्ध करा देता है।

विशेषार्थ – आगम में कर्म के मूल भेद ज्ञानावरणादि आठ बताए हैं। उनमें चार घातिया और चार अघातिया कर्म हैं। अघातिया कर्म के चार भेद हैं – (१) वेदनीय (२) आयु (३) नाम और (४) गोत्रकर्म। इनमें से यहाँ वेदनीय कर्म की मुख्यता से कथन है।

वेदनीय कर्म के साता वेदनीय और असाता वेदनीय दो भेद हैं। इसके पुद्गल-विपाकी और जीव-विपाकी भी दो भेद कहे जाते हैं। यहाँ वेदनीय कर्म के पुद्गल-विपाकी कर्म की चर्चा अपेक्षित है।

पुद्गल-विपाकी वेदनीय कर्म के निमित्त से जीव को इष्टानिष्ट पदार्थों का संयोग-वियोग होता है। पदार्थों के संयोग-वियोग में जीव कुछ नहीं कर सकता। जीव के राग-द्वेषरूप विकल्पों की सीमा तो अपने जीव-द्रव्य तक ही सीमित है। जीव, अन्य जीव-द्रव्य और पुद्गलादि पाँच अजीव द्रव्यों में कुछ भी नहीं कर पाता है। यह वस्तु व्यवस्था की वास्तविक स्थिति है।

यहाँ जीवन्धरकुमार को राजा दृढमित्र की पुत्री कनकमाला के होनेवाले संयोग में उनका वेदनीय कर्म ही निमित्तरूप से कार्य कर रहा है। इसमें जीवन्धरकुमार का कुछ कर्तव्य नहीं है।

एक जीव अन्य अनन्त जीव और पुद्गलादि पाँचों द्रव्यों के संयोग-वियोग में कुछ भी करने में समर्थ नहीं है। जीव के साथ अन्य जीव और पुद्गलादि के संयोग-वियोग में निमित्त तो वेदनीय कर्म है और उपादान में तो संयोग में आने-जानेवाले उन जीवादि द्रव्यों को ही जानना चाहिए।

राजा दृढमित्र के मिलन का परिणाम -

पार्थिवं च ततः पश्यंस्तद्वश्योऽभूच्च सम्मतेः ।

अनुसारप्रियो न स्यात्को वा लोके सचेतनः ॥७२॥

अन्वयार्थ - (ततः) तदनन्तर जीवन्धरकुमार (पार्थिवं पश्यन्) राजा को देखकर (सम्मतेः) उनके द्वारा आदर सत्कार मिलने से (तद्वश्यः) उनके वशीभूत (अभूत्) हो गए।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (लोके) लोक में (कः वा) कौन (सचेतनः) प्राणी (अनुसारप्रियः न स्यात्) अपने अनुकूल मनुष्य से प्रेम करनेवाला नहीं होता है ?

सरलार्थ - राजा दृढमित्र से जीवन्धरकुमार के मिलने पर दृढमित्र ने जीवन्धरकुमार का अभूतपूर्व एवं हार्दिक स्वागत-सत्कार किया। सत्कार से प्रभावित एवं प्रसन्न होकर जीवन्धरकुमार स्वयमेव ही उनके अधीन हो गए; क्योंकि अपने अनुकूल प्रवर्तन करनेवाले व्यक्तियों से सभी प्रेम करते हैं।

विशेषार्थ - जो राग-द्वेष से रहित होते हैं, उन वीतरागी पुरुषों को तो प्रसन्न और अप्रसन्न नहीं किया जा सकता; क्योंकि उनके पास प्रसन्न और अप्रसन्न होनेवाला कषाय भाव ही नहीं रहा। अतः भगवान महावीर प्रसन्न हों अथवा सिद्ध भगवान कृपा करें - आदि शब्दों का प्रयोग तो अपने अज्ञान का ही सूचक है।

हम अरहन्त, तीर्थंकर और सिद्ध भगवन्तों की पूजन उनको प्रसन्न करने के लिए नहीं; अपितु अपने पाप परिणामों के परिहार और उन जैसा बनने के लिए करते हैं।

जीवन्धरकुमार तो अभी वीतरागी नहीं हैं, वे तो सामान्य गृहस्थ हैं। इस कारण राजा के विशेष आदर-सत्कार के निमित्त से और वे स्वयं अपने राग परिणाम से राजा से प्रभावित होकर उनके अधीन हो गए।

राजा दृढमित्र की चतुराई -

महीक्षिता क्षणात्तस्य माहात्म्यमपि वीक्षितम् ।

वपुर्वक्ति हि सुव्यक्तमनुभावमनक्षरम् ॥७३॥

अन्वयार्थ - (महीक्षिता अपि) राजा ने भी (क्षणात्) क्षणमात्र में (तस्य माहात्म्यं) उनका माहात्म्य अर्थात् बड़प्पन (वीक्षितं) देख लिया।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (वपुः) शरीर (अनुभावं) मनुष्य के प्रभाव को (अनक्षरं) बिना शब्द कहे हुए ही (सुव्यक्तं) स्पष्टरूप से (वक्ति) व्यक्त कर देता है।

सरलार्थ - किसी के परिचय कराए बिना ही मात्र जीवन्धरकुमार के शरीर-सौष्ठव को देखकर ही राजा दृढमित्र ने उनके प्रभावशाली व्यक्तित्व को जान लिया; क्योंकि शब्दोच्चारण के बिना ही शरीर की आकृति मनुष्य के प्रभाव को परिलक्षित करा देती है।

विशेषार्थ - पुण्योदयी मनुष्य का शारीरिक गठन ही विशेष प्रभावक होता है। अतः शरीर को देखकर ही शरीरधारी जीव की विशेषता लोगों के ज्ञान में स्पष्ट हो जाती है।

जीव के परिणामों का और शरीर का सहज निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध रहता है। इसी कारण जीव जब पूर्ण वीतरागी हो जाता है, तब उसका शरीर अल्प कालावधि में ही स्फटिकमणि के समान बादर निगोदिया जीवों से रहित परम औदारिक हो जाता है।

राजा दृढमित्र का निवेदन -

सुतविद्यार्थमत्यर्थं पार्थिवस्तमयाचत ।

आराधनैकसम्पाद्या विद्या न हान्यसाधना ॥७४॥

अन्वयार्थ – (पार्थिवः) राजा ने (सुतविद्यार्थ) अपने पुत्रों को विद्या सिखाने के लिए (तं) उनसे (अत्यर्थ) अत्यन्त (अयाचत) प्रार्थना की।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (विद्या) विद्या (आराधनैक सम्पाद्या) गुरु की आराधना/सेवा-शुश्रुषा से ही प्राप्त होती है (अन्यसाधना न) और दूसरे साधनों से नहीं।

सरलार्थ – राजा दृढमित्र ने अपने अज्ञानी पुत्रों को शिक्षित करने के लिए जीवन्धरकुमार से अत्यन्त विनीतभाव से निवेदन किया; क्योंकि विद्या, गुरु की सेवा-शुश्रुषा करने से ही प्राप्त होती है, अन्य साधनों से नहीं।

विशेषार्थ – गुरु की सेवा-शुश्रुषा करने का भाव मन्दकषायी जीवों को ही होता है, तीव्रकषायी जीव किसी की सेवा नहीं करता, वह किसी को बड़ा मान ही नहीं सकता। मन्दकषाय का दूसरा नाम पुण्य-परिणाम है। पुण्य-परिणाम से ज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम होता है, जिससे ज्ञान में अभिवृद्धि होती है; ऐसा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है।

प्रश्न – वर्तमान काल में गुरु की सेवा-शुश्रुषा और विनय करने का भाव ही नहीं रहा; फिर भी ज्ञान प्राप्त होता हुआ देखने में आता है, अतः 'विद्या ददाति विनयम्' विनय से ही विद्या प्राप्त होती है – यह सूत्र असत्य प्रतीत होने लगा है।

उत्तर – 'आजकल शिष्यों में अविनय का भाव प्रत्यक्ष देखने में आता है' – यह स्थूलबुद्धियों का कथन है। सर्वथा ऐसा नहीं है; फिर भी जो वर्तमान में अविनयी है, उसने पूर्वजन्म में जो मन्दकषाय का भाव किया था, उससे वर्तमानकाल में ज्ञान का विकास हुआ है – ऐसा समझना चाहिए। वर्तमानकालीन उद्धत, अविनयी, कषाय परिणामों से ज्ञान विकसित हुआ है या हो रहा है – ऐसा नहीं है। अभी का अविनयरूप तीव्रकषाय का फल भविष्य में मिलेगा।

जीवन्धरकुमार का निर्णय –

अभ्यर्थनबलान्तस्य कुमारोऽप्यभ्युपागमत् ।

स्वयं देया सती विद्या प्रार्थनायां तु किं पुनः ॥७५॥

अन्वयार्थ – (तस्य अभ्यर्थनबलात्) उस राजा के बार-बार प्रार्थना करने से (कुमारः अपि) जीवन्धरकुमार ने भी (अभ्युपागमत्) उन राजकुमारों को विद्या पढ़ाना स्वीकार कर लिया।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (सती विद्या) समीचीन/निर्दोष विद्या जब (स्वयं देया) अपने आप ही देने योग्य है, (प्रार्थनायां तु) तब प्रार्थना करने पर तो (पुनः) फिर (किं वक्तव्यं) कहना ही क्या है।

सरलार्थ – जीवन्धरकुमार ने भी राजकुमारों को पढ़ाने हेतु किए गए राजा के निवेदन को सहर्ष स्वीकार कर लिया; क्योंकि – उत्तम और निर्दोष विद्या बिना माँगे ही दूसरों को देना चाहिए; फिर कदाचित् कोई पात्र जीव विद्या की याचना करे तब तो विद्यादान अवश्य करना ही चाहिए।

विशेषार्थ – आहारादि चार दानों में ज्ञानदान अर्थात् विद्यादान ही सर्वोत्तम दान है। अरहन्त से मोक्षमार्ग का ज्ञान मिलने के कारण ही हम परमेष्ठियों में सर्वप्रथम अरहन्त परमेष्ठी को नमस्कार करते हैं। साधुओं में भी जिनसे ज्ञान प्राप्त होता है – ऐसे आचार्य एवं उपाध्याय को भी हम प्रथम नमस्कार करते हैं। मोक्षमार्गरूप रत्नत्रय में भी सम्यग्ज्ञान को मध्य में रखा है; क्योंकि तत्त्वज्ञान के बिना श्रद्धा तथा आचरण सम्यक् नहीं होते हैं।

लौकिक जीवन में भी ज्ञान की महिमा सर्वविदित ही है। अतः जीवन्धरकुमार ने भी विद्यादान करने का निर्णय लिया।

परोपकार का स्वरूप –

पवित्रोऽपि सुतान्विद्यां स प्रापयदवञ्चितम् ।

कृतार्थानां हि पारार्थ्यमैहिकार्थपराङ्मुखम् ॥७६॥

अन्वयार्थ – (सः पवित्रः अपि) उन पवित्र जीवन्धरकुमार ने भी (सुतान्) उन राजा के कुमारों को (अवञ्चितं विद्यां प्रापयत्) सच्चे हृदय से विद्या सिखाई।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (कृतार्थानां) कृतकृत्य पुण्यवान पुरुषों

का (पारार्थ्य) परोपकार करना (ऐहिकार्थपराङ्मुखं) इस लोक सम्बन्धी प्रयोजन से रहित होता है।

सरलार्थ – अनेक विद्याओं से सम्पन्न जीवन्धरकुमार ने उन सभी राजकुमारों को अत्यन्त सरल हृदय से ज्ञानदान देना प्रारम्भ किया; क्योंकि परोपकार करनेवाले महापुरुषों का परोपकार इहलोक और परलोक सम्बन्धी सभी प्रयोजनों से रहित अत्यन्त निरपेक्ष होता है।

विशेषार्थ – ज्ञानी जीव ज्ञान-सम्पादन तथा ज्ञानदान का कार्य स्वान्तः सुखाय अर्थात् आत्मकल्याण की भावना से प्रेरित होकर हमेशा करते रहते हैं। अतः कोई भी लौकिक-अभिलाषा उनके हृदय में नहीं रहती। सामान्यजनों को ज्ञानियों की इस प्रवृत्ति को अपनाना बहुत कठिन लगता है; परन्तु ऐसी बात नहीं है, प्रयत्न करने पर क्या सिद्ध नहीं होता ? अर्थात् सब सिद्ध होता है।

जो व्यक्ति ज्ञानी के अभिप्राय और श्रद्धा से सोचेगा तो परोपकार की वास्तविकता उसके ख्याल में आएगी। जिस कार्य में सहजता हो तथा बिना किसी पूर्वाग्रह के जिनवाणी गर्भित परम सत्य तत्त्व को स्व-पर कल्याण को ऊर्ध्व रखते हुए समझाने की भावना हो, तो कुछ भी असम्भव नहीं है।

जीवन्धरकुमार तो ज्ञानी पुरुष थे, अतः उनका ज्ञानदानरूप उपकार निरपेक्ष ही हो रहा था।

विद्या का विनय से ही प्राप्त होना –

प्रश्रयेण बभूवुस्ते प्रत्यक्षाचार्यरूपकाः ।

विनयः खलु विद्यानां दोग्ध्री सुरभिरञ्जसा ॥७७॥

अन्वयार्थ – (ते) वे राजकुमार (प्रश्रयेण) जीवन्धरकुमार गुरु की विनय करने से (प्रत्यक्षाचार्यरूपकाः बभूवुः) धनुर्विद्या में साक्षात् जीवन्धरकुमार के समान हो गए।

[अत्र नीतिः] (खलु) निश्चय से (अञ्जसा विनयः) यथार्थ गुरु की विनय (विद्यानां) विद्याओं को (दोग्ध्री) देनेवाली (सुरभिः) सच्ची कामधेनु है।

सरलार्थ – दृढमित्र राजा के सभी राजकुमार अपने विद्यागुरु जीवन्धरकुमार के प्रति अतिशय विनय भाव रखते थे और उनकी यथायोग्य सेवा-शुश्रुषा करते हुए विद्याध्ययन करते थे। वे अल्पकाल में ही जीवन्धरकुमार के समान अतिशय विद्वान हो गए। वास्तव में देखा जाए तो गुरु की सच्ची विनय ही विद्याओं को देनेवाली कामधेनु है।

राजा दृढमित्र का अत्यन्त आनन्दित होना –

वीक्ष्य तानतृपद्भूपो विद्यानां पारदृश्वनः।

पुत्रमात्रं मुदे पित्रोर्विद्यापात्रं तु किं पुनः ॥७८॥

अन्वयार्थ – (भूपः) राजा (विद्यानां पारदृश्वनः) विद्या में पारगामी (तान्) उन पुत्रों को (वीक्ष्य) देखकर (अतृपत्) अत्यन्त प्रसन्न हुए।

[अत्र नीतिः] ठीक ही है (पित्रोः) माता-पिता को (पुत्रमात्रं) मात्र पुत्र ही (मुदे) हर्ष के लिए होता है, फिर यदि वह (विद्यापात्रं) विद्या का पात्र हो तो (किं पुनः वक्तव्यं) फिर कहना ही क्या है।

सरलार्थ – सभी पुत्र अतिशय विद्वान हो गए हैं – यह जानकर राजा दृढमित्र अत्यन्त प्रसन्न हुए; क्योंकि माता-पिता को जब मात्र पुत्र ही आनन्ददायक होता है, तब विद्यासम्पन्न और अनेक असाधारण गुण सम्पन्न विद्वान पुत्र विशेष आनन्द उत्पन्न करानेवाला क्यों नहीं होगा ? होगा ही।

विशेषार्थ – पुत्र की प्राप्ति को ही आनन्द का कारण मानने में राग परिणाम की मुख्यता है और ज्ञान की उपेक्षा है। पुत्रों को ज्ञानवान-विद्वान जानकर आनन्दित होने में राग की उपेक्षा और ज्ञान की मुख्यता है। विवेकी माता-पिता तो ज्ञानवान पुत्रों को ही आनन्द का कारण मानते हैं।

जीवन्धरकुमार का सम्मान –

अतिमात्रं पवित्रं तं धात्रिपः समभावयत्।

असम्भावयितुर्दोषो विदुषां चेदसम्मतिः ॥७९॥

अन्वयार्थ – फिर (धात्रिपः) राजा ने (पवित्रं तं) जीवन्धरकुमार का (अतिमात्रं) अत्यन्त (समभावयत्) सम्मान किया।

[अत्र नीतिः] (चेत्) यदि (विदुषां) विद्वानों का (असम्मतिः स्यात्) सम्मान न होवे तो (असम्भावयितुः) इसमें सम्मान नहीं करनेवाले का ही (दोषः) दोष है।

सरलार्थ – राजा दृढमित्र ने राजकुमारों को विद्वान बनानेवाले जीवन्धरकुमार का अत्यन्त कृतज्ञतापूर्वक हार्दिक और राजकीय ठाट-बाट से एवं निष्कपट भाव से विशेष आदर-सत्कार किया; क्योंकि यदि विद्वानों का सत्कार नहीं किया जाए तो सत्कार न करनेवालों का ही दोष है, न कि विद्वान का।

विशेषार्थ – सम्पूर्ण जगत को दिखनेवाला सूर्य यदि उल्लू को नहीं दिखता तो इसमें उल्लू का ही दोष है, सूर्य का किंचित् मात्र दोष नहीं है। वैसे ही कोई विद्वान का आदर-सत्कार न करे तो विद्वत्ता का मूल्यांकन न करनेवाले अज्ञानी का ही दोष है, विद्वान की कमी इसका कारण नहीं।

राजा दृढमित्र ने जीवन्धरकुमार का सत्कार करके अपने को ही निर्दोष बनाया है, जीवन्धरकुमार पर कुछ उपकार नहीं किया है। विद्वानों का आदर करना तो सज्जन और गुणग्राही मनुष्य का एक महत्त्वपूर्ण और आवश्यक कर्तव्य है।

जीवन्धरकुमार का उपकार –

महोपकारिणः किं वा कुर्यामित्यप्यतर्कयत्।

विद्याप्रदायिनां लोके का वा स्यात्प्रत्युपक्रिया ॥८०॥

अन्वयार्थ – (महोपकारिणः) महान उपकारी (अस्य) इनका (अहं किं वा कुर्यां) मैं क्या उपकार करूँ ? (इति सः अतर्कयत्) इसप्रकार उसने विचार किया।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (लोके) इस संसार में (विद्याप्रदायिनां) विद्यादान करनेवालों का (का वा) क्या (प्रत्युपक्रिया) प्रत्युपकार (स्यात्) हो सकता है ?

सरलार्थ – मेरे पुत्रों को ज्ञान देकर महान उपकार करनेवाले जीवन्धरकुमार का मैं प्रत्युपकार किसप्रकार और कैसे करूँ ? इसप्रकार राजा पुनः पुनः विचार कर रहा है; क्योंकि विद्यादान देनेवाले का प्रत्युपकार इस जगत में कोई किसी वस्तु द्वारा कर ही नहीं सकता।

विशेषार्थ – ज्ञानदान का उपकार महनीय उपकार है। उसका प्रत्युपकार जड़ द्रव्यों से कैसे हो सकेगा ? अतः ज्ञानदान का प्रत्युपकार तो कोई विशेष ही होना चाहिए – ऐसा राजा सोचने लगा।

राजा दृढमित्र का निर्णय –

कन्याविश्राणनं तस्मै करणीयमजीगणत् ।

शक्यमेव हि दातव्यं सादरैरपि दातृभिः ॥८१॥

अन्वयार्थ – फिर (सः) उस राजा ने (तस्मै) उन जीवन्धरकुमार के लिए (कन्याविश्राणनं) अपनी कन्या देना (करणीयं) योग्य है (अजीगणत्) – ऐसा निश्चय किया।

[**अत्र नीतिः**] (हि) निश्चय से (सादरैः) आदरसहित (दातृभिः) दाताओं को (अपि) भी (शक्यं एव) अपने लिए शक्य एवं योग्य वस्तु ही (दातव्यं) देना चाहिए।

सरलार्थ – राजा दृढमित्र ने महान परोपकारी जीवन्धरकुमार को अपनी कन्या देने का निश्चय किया; क्योंकि पात्र के प्रति दाता की कितनी भी श्रद्धा या भक्ति क्यों न हो, फिर भी दाता को अपनी शक्ति के अनुसार योग्य वस्तु ही देना चाहिए।

विशेषार्थ – दाता को अपनी शक्ति अनुसार देय वस्तु ही देना चाहिए – ऐसा नियम शास्त्रों में कहा है तथा यह बात भी महत्त्वपूर्ण है कि वस्तु ऐसी हो, जिससे दाता और पात्र दोनों की शोभा बढ़े और समाज में शान्ति स्थापित हो।

जीवन्धरकुमार की स्वीकृति –

अभ्युपाजीगमत्पुत्रीं परिणेतुममुं पुनः ।

उदाराः खलु मन्यन्ते तृणायेदं जगत्त्रयम् ॥८२॥

अन्वयार्थ – (पुनः) फिर वह राजा (पुत्रीं परिणेतुं) पुत्री को ब्याह देने के लिए (अमुं) जीवन्धरकुमार के पास (अभ्युपाजीगमत) आया।

[अत्र नीतिः] (खलु) निश्चय से (उदाराः) उदार पुरुष (इदं जगत्त्रयं) इस जगत्त्रय को (तृणाय) तृण के समान (मन्यन्ते) मानते हैं।

सरलार्थ – राजा दृढमित्र ने अपनी पुत्री का विवाह सम्बन्ध जीवन्धरकुमार से करने की स्वीकृति प्रदान की, क्योंकि उदारचित्त महापुरुष इस तीन लोक की सम्पत्ति को भी तृण के समान तुच्छ समझते हैं।

विशेषार्थ – कन्या प्रदान करने का कार्य तीन व्यक्तियों की उपस्थिति में ही सम्भव है। वे तीन व्यक्ति हैं – (१) दाता (२) पात्र और (३) देय वस्तु कन्या। इन तीन व्यक्तियों के बिना कन्या प्रदान करने का कार्य सम्भव ही नहीं है। अतः राजा का जीवन्धरकुमार से स्वीकृति प्राप्त करना योग्य ही है।

जिनधर्म में वीतरागता के पोषक चार ही दान बताये हैं – (१) आहारदान (२) औषधदान (३) अभयदान और (४) ज्ञानदान। इनमें ज्ञानदान सर्वोत्तम है।

राजकन्या से विवाह सम्पन्न –

ततः कनकमालाख्यां कन्यां राज्ञा समर्पिताम्।

पर्यणैषीत्पवित्रोऽयं पवित्रामग्निसाक्षिकम् ॥८३॥

अन्वयार्थ – (ततः) इसके अनन्तर (अयं पवित्रः) इन पवित्र जीवन्धरकुमार ने (राज्ञा समर्पितां) राजा दृढमित्र द्वारा प्रदान की गई (पवित्रां) पवित्र (कनकमालाख्यां) कनकमाला नाम की (कन्यां) कन्या को (अग्निसाक्षिकं) अग्नि की साक्षीपूर्वक (पर्यणैषीत्) ब्याहा।

सरलार्थ – तदनन्तर राजा दृढमित्र द्वारा समर्पित राजकन्या 'कनकमाला' के साथ जीवन्धरकुमार का विवाह अग्नि की साक्षीपूर्वक सानन्द सम्पन्न हुआ।

इति श्रीवादीभसिंहसूरिविरचितौ क्षत्रचूडामणौ

कनकमालालम्भो नाम सप्तमो लम्बः समाप्तः।

आठवाँ लम्ब

जीवन्धरकुमार का आदर्श गृहस्थ जीवन -

अथ तत्करपीडान्तेऽसक्तस्वान्तोऽभवत्सुधीः ।

तीरस्थाः खलु जीवन्ति न हि रागाब्धिगाहिनः ॥१॥

अन्वयार्थ - (अथ) फिर (तत्करपीडान्ते) कनकमाला से विवाह के अनन्तर (सुधीः) बुद्धिमान जीवन्धरकुमार (असक्तस्वान्तः) उसमें अधिक अनुराग युक्त नहीं (अभवत्) हुए।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (तीरस्थाः) रागरूपी समुद्र के तट पर स्थित पुरुष (जीवन्ति) जीते हैं; किन्तु (खलु रागाब्धिगाहिनः) विषयरागरूपी समुद्र में अवगाहन करनेवाले (न जीवन्ति) नहीं जीते हैं अर्थात् संसार में वे ही पुरुष सुखी हैं, जो विषय-भोगों की तृष्णा में तटस्थ रहते हैं; उनमें तन्मय नहीं होते।

सरलार्थ - कनकमाला से विवाह करने के पश्चात् भी जीवन्धरकुमार अनासक्त भाव से अपनी पत्नी के साथ जीवन-यापन करने लगे; क्योंकि रागरूपी समुद्र के किनारे रहनेवाले मनुष्य ही सुखी रहते हैं; रागरूपी समुद्र में गोते लगानेवाले मनुष्य आकुल-व्याकुल होकर दुःख को प्राप्त होते हैं।

विशेषार्थ - गृहस्थ जीवन में राग परिणाम तो रहेगा; पर यदि वह राग परिणाम मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी-कषाय के साथ का हो, तो जीव को आकुलतारूप दुःख का वेदन कराता है। उस जीव के मिथ्या-मान्यता रहती है कि संसार के चेतन-अचेतन परद्रव्य सुखरूप ही हैं। इस मिथ्या-मान्यता को ही यहाँ रागरूपी समुद्र में गोते लगाना कहा है।

यदि गृहस्थ की श्रद्धा यथार्थ हो तो उसे मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी कषायजन्य राग नहीं रहता; अपितु अप्रत्याख्यानावरणादि शेष तीन कषायजन्य राग ही रहता है। ऐसा श्रावक रागरूपी समुद्र के किनारे स्थित है, वह संयोगजन्य

अनुकूल-प्रतिकूल बाह्य पदार्थों के बीच में साम्यभाव से सहज जीवन-यापन करता है। परद्रव्य सुख-दुःख दौंतां नहीं है – ऐसी उसकी दृढ़ श्रद्धा रहती है। अतः उसे आत्मोत्पन्न अनुपम सुख का अनुभव होता है। सम्यक् श्रद्धा होने से सिद्ध भगवान को जिस जाति का अनाकुल सुख सदैव रहता है, उसी जाति के अल्प सुख का आनन्द श्रावक भी लेता है।

जीवन्धरकुमार सम्यग्दृष्टि श्रावक हैं, उन्हें यथार्थ श्रद्धा है। अतः उन्हें सीमित राग होने से पत्नी कनकमाला में भी मर्यादित ही राग है। यह राग भूमिका के अनुकूल होने से भूमिका का बाधक नहीं है। अतः यहाँ रागजन्य दुःख का निषेध भी नहीं किया गया है। 'जितना राग, उतना दुःख' जिनवाणी के इस कथन को यथायोग्य समझना चाहिए। तत्त्वरसिक मनुष्यों को ज्ञानधारा और कर्मधारा का समीचीन ज्ञान होता है।

ससुराल पक्ष का सहज वात्सल्यभाव –

स्यालानां तत्र वात्सल्यादवात्सीत्सुचिरं सुधीः ।

वत्सलेषु च मोहः स्याद्वात्सल्यं हि मनोहरम् ॥२॥

अन्वयार्थ – (तत्र) उस हेमाभा नगरी में (सुधीः) बुद्धिमान जीवन्धरकुमार (स्यालानां) अपने सालों के (वात्सल्यात्) प्रेम से (सुचिरं) चिरकाल तक (अवात्सीत्) स्थित रहे।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (वत्सलेषु) प्रेमियों में (मोहः स्यात्) मोह हो ही जाता है; क्योंकि (वात्सल्यं) प्रेमभाव (मनोहरं) मन को हरनेवाला [भवति] होता है।

सरलार्थ – जीवन्धरकुमार ने अपने सालों के वात्सल्य और स्नेहपूर्ण व्यवहार के कारण बहुत समय तक हेमाभा नगरी में निवास किया। स्नेहीजनों से मनुष्य का प्रेम हो ही जाता है। रागी जीवों को वात्सल्य-भाव मनोहारी प्रतीत होता ही है।

विशेषार्थ – हेमाभा नगरी जीवन्धरकुमार की ससुराल बन ही चुकी है।

जमाई को ससुराल स्वर्ग जैसा प्रिय लगता है। इस कारण जीवन्धरकुमार बहुत समय तक वहाँ रहे। उनके साले भी उनके विद्यार्थी रह चुके थे तथा वे जीवन्धरकुमार के प्रति बहुत स्नेह और वात्सल्य भाव रखते थे एवं उनका आदर-सत्कार भी बहुत करते थे; अतः कुमार का उनसे स्नेह होना स्वाभाविक है। रागी जीवों को राग करने के लिए कुछ शिक्षा तो लेनी-देनी नहीं पड़ती; क्योंकि राग करना तो उनका पर्यायगत स्वभाव बन जाता है। फिर राग करने में बाह्य अनुकूलता का संयोग हो, तो राग बढ़ता ही है। राग के वशीभूत जीवन्धरकुमार हेमाभा नगरी में निवास कर रहे हैं।

अनुकूलता में दीर्घकाल भी क्षण जैसा -

यापितोऽपि महाकालस्तस्य नोद्वेगमातनोत् ।

वत्सलैः सह संवासे वत्सरो हि क्षणायते ॥३॥

अन्वयार्थ - (यापितः) बीते हुए (महाकालः अपि) बहुत समय ने भी (तस्य) उन जीवन्धरकुमार को (उद्वेगं) कुछ भी खेद भाव (न आतनोत्) नहीं किया।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (वत्सलैः सह) प्रियजनों के साथ (संवासे) रहने में (वत्सरः अपि) एक वर्ष भी (क्षणायते) क्षण के समान बीत जाता है।

सरलार्थ - शिष्य-साले तथा पत्नी कनकमाला के साथ आनन्दपूर्वक रहते हुए बहुत समय व्यतीत हो गया, तथापि जीवन्धरकुमार को नाम मात्र का भी खेद उत्पन्न नहीं हुआ; क्योंकि प्रियजनों के साथ सुखपूर्वक रहने पर वर्षों की कालावधि भी क्षणमात्र जैसी प्रतीत होती है।

विशेषार्थ - बाह्य अनुकूलता होने पर रागी जीव को दीर्घकाल भी कुछ क्षणों जैसा ही लगता है। इसी कारण स्वर्ग और भोगभूमि में असंख्यात वर्षों का दीर्घ काल कब व्यतीत हो जाता है - इसका कुछ पता ही नहीं चलता। प्रतिकूलताओं में जीवों को अल्प समय बिताना भी बहुत कठिन लगता है।

उपकथा-१८

अपरिचित महिला का जीवन्धरकुमार के प्रति स्नेह -

कदाचित्कापि तत्प्रान्तं समन्दस्मितमासदत् ।

नैसर्गिकं हि नारीणां चेतः सम्मोहि चेष्टितम् ॥४॥

अन्वयार्थ - (कदाचित्) एक दिन (का अपि) कोई स्त्री (तत्प्रान्तं) उनके समीप (समन्दस्मितं) कुछ हँसती हुई (आसदत्) पहुँची।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (नारीणां) स्त्रियों की (चेष्टितं) चेष्टाएँ (नैसर्गिकं) स्वभाव से ही (चेतः सम्मोहि) चित्त को मोहित करनेवाली होती हैं।

सरलार्थ - एक समय जीवन्धरकुमार अपने महल में अकेले बैठे हुए थे, उसी समय अकस्मात् एक महिला मन्द-स्मित करती हुई उनके पास आई; क्योंकि दूसरों के चित्त को आकर्षित करने का प्रयास करना स्त्रियों के क्रिया-कलापों में स्वाभाविक होता है।

विशेषार्थ - जैसे पानी ढलान की ओर स्वाभाविक गति से जाता है, दीपक की लौ आकाश की ओर जाती है - यह उनका स्वभाव ही है; वैसे ही स्त्रियों में दूसरों के चित्त को आकर्षित करने की चेष्टा/प्रयत्न स्वाभाविक ही होता है।

अपरिचित महिला से जीवन्धरकुमार की वार्ता -

अप्राक्षीत्तां च साकूतां किमायातेति सादरः ।

विवक्षालिङ्गितं हि स्यात्प्रष्टुः प्रश्नकुतूहलम् ॥५॥

अन्वयार्थ - (सादरः) कुमार ने आदरसहित (किं आयाता) तुम यहाँ क्यों आई हो (इति) इसप्रकार (साकूतां तां) किसी मतलब से आई हुई उस स्त्री से (अप्राक्षीत्) पूछा।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (प्रष्टुः) पूछनेवाले के (प्रश्नकुतूहलं) प्रश्न में कुतूहल (विविक्षालिङ्गितं) कुछ कहने की इच्छा से युक्त (स्यात्) होता है।

सरलार्थ — अपरिचित महिला के सामने आने पर जीवन्धरकुमार ने आदरपूर्वक उसके आने का कारण पूछा; क्योंकि प्रश्नकर्ता कुतूहलवश जो कुछ भी पूछता है, वह कुछ जानने की इच्छा से ही पूछता है। जिसे कुछ जानने की इच्छा नहीं होती, वह प्रश्न पूछता ही नहीं है।

विशेषार्थ — अनेक प्रकार की इच्छाओं में अज्ञात को जानने की इच्छा भी अल्पज्ञों को रहती ही है। यहाँ भी जीवन्धरकुमार ने अकस्मात् आई हुई महिला से आगमन का कारण जानने की तीव्र अभिलाषा से प्रश्न पूछ ही लिया।

अपरिचित महिला द्वारा उत्तर —

अत्र चायुधशालायां चैकदैवाविशेषतः।

स्वामिन्स्वामिनमद्राक्षमित्यसौ प्रत्यभाषत ॥६॥

अन्वयार्थ — (असौ) उस स्त्री ने (इति) इसप्रकार (प्रत्यभाषत) प्रत्युत्तर दिया कि (स्वामिन्) हे स्वामी जीवन्धरकुमार (अत्र) यहाँ राजभवन में (च) और (आयुधशालायां) आयुधशाला में (एकदा एव) एक ही समय में (स्वामिनं) आपको (अविशेषतः) एकरूप से (अद्राक्षं) देखा है।

सरलार्थ — हे जीवन्धरकुमार ! आपको एक ही काल में यहाँ राजभवन में और वहाँ आयुधशाला में देखकर मुझे अत्यन्त आश्चर्य हो रहा है। इसका क्या कारण है ? मैं यही जानने के लिए आपके पास आई हूँ। कृपया इस विषय को स्पष्ट करने का कष्ट करें।

महिला से उत्तर सुनकर जीवन्धरकुमार को आश्चर्य —

अतिमात्रं पवित्रोऽयमचित्रीयत तच्छ्रुतेः।

अयुक्तं खलु दृष्टं वा श्रुतं वा विस्मयावहम् ॥७॥

अन्वयार्थ — (अयं पवित्रः) पवित्र जीवन्धरकुमार (तच्छ्रुतेः) उसकी बात सुनने से (अतिमात्रं) अत्यन्त (अचित्रीयत) आश्चर्य युक्त हुए।

[अत्र नीतिः] (खलु) निश्चय से (दृष्टं) देखी हुई (वा) अथवा (श्रुतं वा) सुनी हुई (अयुक्तं) अनहोनी बात (विस्मयावहं) आश्चर्य करनेवाली होती है।

सरलार्थ – उस स्त्री से अपने प्रश्न का उत्तर सुनकर पवित्र एवं विचारवन्त जीवन्धरकुमार को अतिशय आश्चर्य हुआ; क्योंकि जब मनुष्य अनहोनी/ असम्भव जैसी वस्तु को देखता है या सुनता है, तब उसे आश्चर्य होता ही है।

जीवन्धरकुमार की मनःस्थिति –

नन्दाद्वयः किमिहायात इत्ययं पुनरौहत।

संसारविषये सद्यः स्वतो हि मनसो गतिः ॥८॥

अन्वयार्थ – (पुनः) फिर (अयं) इन जीवन्धरकुमार ने (किं) क्या (इह) यहाँ (नन्दाद्वयः) मेरा छोटा भाई नन्दाद्वय (आयातः) आ गया है ? (इति) इसप्रकार (औहत) विचार किया।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (संसारविषये) संसार के विषयों में (मनसः गतिः) मन की प्रवृत्ति (सद्यः) शीघ्र (स्वतः) अपने आप [स्यात्] हो जाती है।

सरलार्थ – ‘यहाँ मेरा छोटा भाई नन्दाद्वय अवश्य आया होगा’ – ऐसा विचार उसी क्षण जीवन्धरकुमार के मन में आया; क्योंकि मन की प्रवृत्ति संसार के विषयों में अतिशीघ्र और स्वयमेव ही होती है।

विशेषार्थ – आगन्तुक स्त्री का यह कथन सुनकर कि “मैं आपको यहाँ राजभवन में और आयुधशाला में एक ही समय में देख रही हूँ”, जीवन्धरकुमार चंचल-चित्त हो गए और अपने भाई नन्दाद्वय के आगमन की सम्भावना पर विचार करने लगे।

यहाँ हमें यह विचारना चाहिए कि नन्दाद्वय और जीवन्धरकुमार जुड़वा भाई तो हैं नहीं; सगे भाई भी नहीं, चचेरे भाई भी नहीं, मौसेरे भाई भी नहीं।

इतना ही नहीं वे परस्पर जाति भाई भी नहीं; क्योंकि जीवन्धरकुमार क्षत्रिय पुत्र हैं और नन्दाद्वय वैश्य पुत्र है। दोनों में इतना अन्तर होने पर भी देखनेवाले को एक जैसे ही भासित होना महान आश्चर्य की बात है। इस शारीरिक समानता में नामकर्म के उदय का आश्चर्यजनक स्वरूप हमारी समझ में आता है।

जीवन्धरकुमार का आयुधशाला की ओर गमन -

प्रागेव तन्मनोवृत्तेः प्रययौ तत्र तद्वपुः ।

आस्थायां हि विना यत्नमस्ति वाक्कायचेष्टितम् ॥९॥

अन्वयार्थ - (तत्र) उस आयुधशाला में (तद्वपुः) उन जीवन्धरकुमार का शरीर (तन्मनोवृत्तेः) उनके मन के व्यापार से (प्राक् एव) पहले ही (प्रययौ) नन्दाद्वय के कारण पहुँच गया।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (आस्थायां) किसी वस्तु की आस्था रहने पर (यत्नं विना) बिना यत्न के भी (वाक्कायचेष्टितं) वचन और शरीर की चेष्टा (अस्ति) हो जाती है।

सरलार्थ - भाई नन्दाद्वय के आगमन की सम्भावना के कारण जीवन्धरकुमार का शरीर उनके मन के पहले ही आयुधशाला में पहुँच गया; क्योंकि आन्तरिक प्रेम होने पर प्रयत्न किए बिना ही वचन और शरीर की प्रवृत्ति होती है।

विशेषार्थ - जीवन्धरकुमार का शरीर मन के पहले ही आयुधशाला में पहुँच गया - इस कथन में अतिशयोक्ति अलंकार का प्रयोग है। मन और ज्ञान से वचन और शरीर की गति कभी तेज हो ही नहीं सकती। नन्दाद्वय के प्रति जीवन्धरकुमार का अतिशय प्रेम है - यह बताने के लिए अतिशयोक्ति अलंकार का प्रयोग किया है।

जीवन्धरकुमार स्वयं राजा के माननीय प्रिय दामाद थे, वे किसी नौकर को आज्ञा देकर नन्दाद्वय को आयुधशाला से राजमहल में बुला सकते थे अथवा सालों और शिष्यों को भेजकर उन्हें बुला सकते थे। स्वयं को शीघ्रता से वहाँ

जाने की आवश्यकता नहीं थी; किन्तु बन्धु-प्रेम की अधिकता के कारण दूसरों के द्वारा बुलाकर लाने की बात उन्हें अच्छी नहीं लगी। राग का स्वरूप ही अद्भुत होता है। अतः जीवन्धरकुमार स्वयं अत्यन्त शीघ्रता से आयुधशाला में पहुँच गए, जो योग्य ही है।

जीवन्धरकुमार और नन्दाद्वय का परस्पर मिलन -

गत्वा तत्र च नन्दाद्वयं पश्यन्सम्मदसादभूत् ।

भ्रातुर्विलोकनं प्रीत्यै विप्रयुक्तस्य किं पुनः ॥१०॥

अन्वयार्थ - (तत्र गत्वा च) और वहाँ जाकर जीवन्धरकुमार (नन्दाद्वयं) नन्दाद्वय को (पश्यन्) देखकर (सम्मदसात् अभूत्) अत्यन्त प्रसन्न हुए।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (भ्रातुः) भाई का (विलोकनं) देखना ही (प्रीत्यै) प्रीति के लिए [भवति] होता है, (विप्रयुक्तस्य) बिछुड़े हुए का तो (किं) फिर कहना ही क्या है? अर्थात् बिछुड़े हुए भाई का मिलना अत्यन्त हर्ष उत्पन्न करनेवाला होता है।

सरलार्थ - जीवन्धरकुमार आयुधशाला में अपने बिछुड़े हुए छोटे भाई नन्दाद्वय को प्रत्यक्ष देखकर अत्यन्त आनन्दित हुए; क्योंकि भाई से मिलना ही प्रसन्नता का कारण है, फिर अनेक वर्षों से बिछुड़े हुए भाई से मिलने पर अत्यधिक प्रसन्नता का होना स्वाभाविक ही है।

महान दुःख का भी तत्काल नाश -

अनुजोऽपि तमालोक्य मुमुचे दुःखसागरात् ।

विस्मृतं हि चिरं भुक्तं दुःखं स्यात्सुखलाभतः ॥११॥

अन्वयार्थ - (अनुजः अपि) छोटा भाई भी (तं) अपने बड़े भाई जीवन्धरकुमार को (आलोक्य) देखकर (दुःखसागरात्) दुःखरूपी समुद्र से (मुमुचे) पार हो गया।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (चिरं भुक्तं) चिरकाल तक भोगे हुए

(दुःखं) दुःख का भी (सुखलाभतः) सुख मिलने पर (विस्मृतं) विस्मरण (स्यात्) हो जाता है।

सरलार्थ – छोटा भाई नन्दाद्वय भी अपने बड़े भाई जीवन्धरकुमार को देखते ही दुःखरूपी सागर से पार हो गया; क्योंकि बहुत समय तक भोगा गया महादुःख भी सुख की प्राप्ति होते ही तत्काल नष्ट हो जाता है।

विशेषार्थ – जैसे किसी पर्वत की गुफा में बहुत समय से व्याप्त अँधेरा प्रकाश के आते ही तत्काल नष्ट हो जाता है, उसे नष्ट होने में बहुत समय नहीं लगता है; वैसे ही बहुत समय से भाई के वियोग का दुःख उनके मिलन मात्र से उसी समय नष्ट हो गया।

वास्तव में देखा जाए तो अनादि काल से अनन्त वर्षों में जिस दुःख को अज्ञानी अपने अज्ञान के कारण भोगता चला आया है, वही दुःख ज्ञानरूपी प्रकाश उत्पन्न होने से तत्काल नष्ट हो जाता है और प्राप्त यथार्थ सुख अनन्त काल तक भोगता रहता है।

अज्ञानजन्य दुःख के नष्ट होते ही प्राप्त यथार्थ सुख कभी भी समाप्त नहीं होता; ऐसा तो यथार्थ सुख का सहज स्वभाव है। अतः जीव का परम कर्तव्य है कि वह यथार्थ श्रद्धा और ज्ञान के द्वारा सच्चा सुख प्राप्त करे – यही महत्त्वपूर्ण कार्य इस मनुष्य भव में करने योग्य है।

अतएव जो जीव एकबार संसार अवस्था से मुक्त/सिद्ध हो जाता है, उसे पुनः संसार अवस्था, जो दुःख से परिपूर्ण है, मिलती ही नहीं है। यह सहज सुखस्वरूप सिद्ध अवस्था का स्वाभाविक स्वरूप है, जो नियम से भविष्य में भी अनन्तानन्त कालपर्यन्त एकरूप ही रहेगा।

जीवन्धरकुमार का नन्दाद्वय से एकान्त में कुछ प्रश्न –

कथमाया इति ज्यायानन्वयुङ्क्त मिथोऽनुजम् ।

वञ्चनं चावमानं च न हि प्राज्ञैः प्रकाश्यते ॥१२॥

अन्वयार्थ – (ज्यायान्) बड़े भाई जीवन्धरकुमार ने (अनुजं) छोटे भाई

से (मिथः) एकान्त में तुम यहाँ (कथं) कैसे (आयाः) आए ? (इति) इसप्रकार (अन्वयुङ्क्त) पूछा।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (प्राज्ञैः) बुद्धिमान पुरुष (वञ्चनं) अपने ठगाए जाने को (च) और (अवमानं च) अपने निरादर को (न प्रकाश्यते) प्रकाशित नहीं करते हैं।

सरलार्थ – “आप यहाँ ‘हेमाभा’ नगरी में कैसे आए ? आपको मेरा पता कैसे चला ?” इसप्रकार जीवन्धरकुमार ने भाई नन्दाद्वय से एकान्त में पूछ ही लिया; क्योंकि बुद्धिमान और चतुर लोग अपना ठगाया जाना एवं अपमान सब के सामने प्रगट नहीं करते।

विशेषार्थ – जीवन्धरकुमार ने काष्ठांगार के बन्धन से सुरक्षित निकल आने आदि के विषय में तो नन्दाद्वय से कुछ नहीं कहा; अपितु नन्दाद्वय से ही आने के विषय में प्रश्न पूछ लिया। यही तो चतुर पुरुषों की चतुरता है।

नन्दाद्वय द्वारा जीवन्धरकुमार के प्रश्नों का उत्तर –

सखेदं ध्यातदुःखोऽयमाचख्यौ वृत्तिमात्मनः ।

ध्यातेऽपि हि पुरा दुःखे भृशं दुःखायते जनः ॥१३॥

अन्वयार्थ – (ध्यातदुःखः) पहले दुःख का जिसने अनुभव किया है ऐसे (अयं) इस नन्दाद्वय ने (आत्मनः) अपना (वृत्तिं) सारा वृत्तान्त (सखेदं) खेद सहित (आचख्यौ) कह दिया।

[अत्र नीतिः] (पुरा) पूर्व के (दुःखे ध्याते अपि) दुःख के स्मरण मात्र से (जनः) मनुष्य (भृशं) अत्यन्त (दुःखायते) दुःखी होता है।

सरलार्थ – नन्दाद्वय भूतकाल के दुःखों का स्मरण करते हुए और पुनः पुनः दुःखी होकर सब समाचार सुनाने लगा; क्योंकि पूर्वकाल में भोगे हुए दुःखों के स्मरण मात्र से ही मनुष्य अतिशयरूप से दुःखी होता है।

विशेषार्थ – जीव जिस पर्याय को अपने ज्ञान का ज्ञेय बनाता है, तब

वह जीव उस पर्यायमय हो जाता है। (प्रवचनसार गाथा - ८-९) ऐसा वस्तु का स्वरूप है।

पूर्व काल में अनुभूत दुःख तो भूतकाल में ही चला गया अर्थात् उसका व्यय हो गया है। उसकी सत्ता ही नहीं रही; फिर भी मनुष्य जब उस नष्ट हुई पर्याय को अपने ज्ञान का ज्ञेय बनाता है। उसका स्मरण करता है, तब प्रत्यक्ष के समान ही वह अनेक बार पुनः पुनः दुःखी होता रहता है।

यहाँ नन्दाद्वय भी अपने भूतकाल के दुःखों का स्मरण करते हुए पुनः दुःखी होकर जीवन्धरकुमार को सब बातें सुना रहा है। अपने को दुःखमय स्वीकार करना ही दुःख है और सुखस्वरूप स्वीकार करना ही सुख है। सुखी होने का सच्चा उपाय संक्षेप में इतना ही है।

नन्दाद्वय का आत्मघात करने भूतकाल का विचार -

पूज्यपाद तदास्माकं पापाद्भवति निर्गते।

मृतकल्पोऽप्यहं मर्तुं सर्वथा समकल्पयम् ॥१४॥

अन्वयार्थ - (पूज्यपाद) हे पूज्यपाद ! (तदा) उससमय (अस्माकं) हमारे (पापात्) पाप के उदय से (भवति) आपके (निर्गते) चले जाने पर (मृतकल्पः अपि) मरे हुए के समान भी (अहं) मैंने (सर्वथा मर्तुं) सर्व प्रकार से मरने के लिए (समकल्पयं) संकल्प कर लिया।

सरलार्थ - हे पूज्यपाद बन्धुवर ! जब हमारे पाप के उदय से आपका हमसे वियोग हुआ था, तब मैंने अत्यन्त दुःखी होकर आत्मघात करने का ही निर्णय कर लिया था।

विशेषार्थ - जब मनुष्य कषाय अथवा नोकषाय के वशीभूत होकर अत्यन्त दुःखी होता है, तब किंकर्तव्यविमूढ़ होकर आत्मघात करने का विचार करता है।

प्रश्न - आत्मघात करने में भी तो दुःखी ही होता है, सुखी तो होता नहीं; फिर मनुष्य आत्मघात क्यों करना चाहता है ?

उत्तर - जब मनुष्य को मरण के दुःख से भी अधिक कषाय और नोकषायों का दुःख प्रतिभासित होता है तब वह मरने से दुःख का नाश होगा - इस मिथ्या कल्पना से सुखी होने के लिए आत्मघात करने को भी उद्यत हो जाता है। (मोक्षमार्ग प्रकाशक, पृष्ठ - ५३, ५४, ५५)

प्रश्न - 'आत्मघाती महापापी' - ऐसा क्यों कहते हैं ?

उत्तर - किसी भी जीव के घात का परिणाम हिंसारूप पाप परिणाम ही है। हिंसा से होनेवाले 'पाप' का क्रम शास्त्रों में निम्नप्रकार से कहा गया है।

एकेन्द्रिय से द्वीन्द्रिय जीव के घात में अधिक पाप है। द्वीन्द्रिय से त्रीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय से चतुरेन्द्रिय और चतुरेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय जीव के घात में अधिक पाप है। इसी क्रम में तिर्यचों से मनुष्यों के घात में अधिक हिंसाजन्य पाप परिणाम है।

प्रश्न - अधिक इन्द्रियवाले जीव के घात में अधिक हिंसा - ऐसा क्यों कहा है ?

उत्तर - एकाधिक इन्द्रियवाले जीव के घात में क्रमशः अधिक तीव्र कषाय होती है, अतः हिंसा भी अधिक होती है। उसमें स्वयं के आत्मघात के भाव में कषाय की सर्वाधिक तीव्रता होती है; अतः 'आत्मघाती-महापापी' - ऐसा जो कहा गया है, वह यथार्थ ही है।

यहाँ नन्दाद्वय ने भी इष्ट-वियोगज आर्तध्यान में जो आत्मघात करने का निर्णय लिया था; उन परिणामों की बात वे कह रहे हैं।

नन्दाद्वय को समय पर सदबुद्धि आना -

विद्याविदितवृत्तान्ता कथंवृत्ता प्रजावती।

इत्यालोच्यैव संस्थाने बोधो मे समजायत ॥१५॥

अन्वयार्थ - (विद्याविदितवृत्तान्ता) विद्या के बल से वृत्तान्त को जाननेवाली (प्रजावती) मेरी भाभी (आपकी पत्नी गन्धर्वदत्ता) का (कथंवृत्ता)

क्या समाचार है ? (इति आलोच्य) इसप्रकार विचार करने से (संस्थाने) योग्य समय में (मे बोधः) मुझे सदबुद्धि (समजायत) उत्पन्न हो गई।

सरलार्थ – मुझे उसी समय अकस्मात् यह सदबुद्धि जागृत हुई कि मैं अपनी भाभी गन्धर्वदत्ता, जो अवलोकिनी नामक विद्या के कारण सभी प्रकार के समाचारों को जानने में समर्थ हैं; उनसे क्यों न मिलूँ ? वह आपके वियोग में अपना समय किसप्रकार व्यतीत कर रहीं होंगी ?

नन्दाह्वय का गन्धर्वदत्ता के पास जाना –

एवं भाविभवद्दृष्टिशम्भरत्वादहं पुनः ।

प्रजावतीगृहं प्राप्य सविषादमवास्थिषम् ॥१६॥

अन्वयार्थ – (पुनः) फिर (एवं) इसप्रकार (भाविभवद्दृष्टिशम्भरत्वात्) भविष्य में आपके दर्शनरूपी सुख की आशा से (अहं) मैं (प्रजावतीगृहं प्राप्य) गन्धर्वदत्ता भाभी के घर जाकर वहाँ (सविषादं) खेद सहित (अवास्थिषं) बैठ गया।

सरलार्थ – मैं तत्काल ही भविष्य में आपके दर्शन-सुख की आशा से आदरणीया भाभी गन्धर्वदत्ता के निवास पर पहुँच गया तथा वहाँ जाकर अतिशय दुःखद स्थिति में बैठ गया।

भाभी गन्धर्वदत्ता द्वारा मन की बात जान लेना –

स्वामिनि स्वामिहीनानां कुतः स्त्रीणां सुखासिका ।

इति वक्तुमुपक्रान्ते हृदयज्ञा तु साभ्यधात् ॥१७॥

अन्वयार्थ – (स्वामिनि) हे स्वामिनि ! (स्वामिहीनानां) अपने स्वामी (निज पति) के बिना (स्त्रीणां) स्त्रियों की (सुखासिका) सुखपूर्वक स्थिति (कुतः) कैसे [स्यात्] हो सकती है ? (इति) इसप्रकार (वक्तुं) कहने के लिए (उपक्रान्ते) मैं प्रारम्भ करनेवाला ही था (तु) कि (हृदयज्ञा) हृदय की बात जाननेवाली (सा) उस गन्धर्वदत्ता ने (अभ्यधात्) कहा।

सरलार्थ – मैं भाभीश्री से पूछनेवाला था कि “हे आदरणीया भाभीजी ! कृपया बताने का कष्ट करें कि पतिविहीन स्त्रियों की स्थिति सुखदायक कैसे हो सकती है ?” इतने में ही मेरे मन के विचारों को जाननेवाली भाभी ने मुझे ही सम्बोधन करना प्रारम्भ कर दिया।

भाभी गन्धर्वदत्ता का सम्बोधन –

अङ्ग किं खिद्यसे ज्यायाननुपद्रव एव ते।

वयमेव महापापा मध्ये दुःखाब्धिपातिताः ॥१८॥

अन्वयार्थ – (अङ्ग) हे वत्स ! (त्वं) तुम (किं) क्यों (खिद्यसे) खेद करते हो (ते) तुम्हारे (ज्यायान्) बड़े भाई जीवन्धरकुमार (अनुपद्रवः एव) सब प्रकार के कष्टों से रहित हैं; किन्तु (वयम् एव महापापाः मध्ये दुःखाब्धिपातिताः) हम महापापी ही दुःखरूपी समुद्र में पड़े हुए हैं।

सरलार्थ – हे वत्स ! हे देवर ! आप क्यों खेद-खिन्न होते हो ? तुम्हारे बड़े भाई (जीवन्धरकुमार) सभी प्रकार की आपत्तियों से रहित एवं सर्वथा प्रसन्नचित्त हैं। आप किसी भी प्रकार की चिन्ता न करें। हम महापापी ही उनके वियोग एवं चिन्ता के कारण दुःखरूपी समुद्र में पड़े हुए हैं।

विशेषार्थ – जब जीव इष्ट वियोग को अपने ज्ञान का ज्ञेय बनाता है, तब स्वयमेव ही दुःखी होता है। जीवन्धरकुमार हमारे इष्ट हैं और वे हमसे दूर चले गए हैं – ऐसा स्मरण करते ही दुःख होना स्वाभाविक है।

जीव स्वयं अपने परिणामों से ही दुःखी होता है, अन्य कोई वस्तु उसे दुःखी नहीं बना सकती। व्यवहार में ऐसा अवश्य कहा जाता है कि अन्य पदार्थ के निमित्त से उसे दुःख हुआ है। इसप्रकार अज्ञानी व्यक्ति इष्ट वियोग और अनिष्ट संयोग में अपनी मिथ्या-भ्रान्ति से स्वयमेव दुःखी होता है।

गन्धर्वदत्ता द्वारा जीवन्धरकुमार का समाचार देना –

प्रतिदेशं प्रतिग्रामं प्रतिगृह्यैव महाते।

विपच्च सम्पदे हि स्याद्भाग्यं यदि पचेलिमम् ॥१९॥

अन्वयार्थ – उनकी तो (प्रतिदेशं) प्रत्येक देश में (च) और (प्रतिग्रामं) प्रत्येक ग्राम में (प्रतिगृह्य एव) आदरपूर्वक स्वागत के साथ (मह्यते) पूजा होती है।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (यदि) अगर (भाग्यं) भाग्य (पचेलिमं) फलोन्मुख हो तो (विपत् च) विपत्ति भी (सम्पदे) सम्पत्ति के लिए (स्यात्) हो जाती है।

सरलार्थ – गन्धर्वदत्ता अपने देवर नन्दाद्वय से कह रही है कि तुम्हारे बड़े भाई (जीवन्धरकुमार) जिस देश और जिस किसी नगर में जाते हैं, वहाँ उनका सभी लोग स्वयमेव हार्दिक आदर-सत्कार करते हैं। यदि किसी के पुण्य का उदय हो तो उसके अनेक संकट भी सम्पत्ति का कारण बन जाते हैं।

विशेषार्थ – पुण्योदय और अनुकूलता का कोई ऐसा ही आश्चर्यकारी निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है कि पुण्य कर्म के उदयकाल में जीव लोहे को स्पर्श करे तो वह भी सोना बन जाता है और पाप का उदय हो तो सोना भी लोहा बन जाता है। जीवन्धरकुमार के पूर्वबद्ध पुण्योदय के कारण उन पर आए हुए सभी संकट सम्पत्तिरूप से ही परिणत हो रहे हैं।

भाभी गन्धर्वदत्ता का नन्दाद्वय को प्रेरणा देना –

द्रष्टुमिच्छसि चेद्वत्स तं जनं तव पूर्वजम्।

किं नु ताम्यसि गम्येत क्व नु पापा हि भामिनी ॥२०॥

अन्वयार्थ – (वत्स) हे वत्स! (चेत्) यदि (तव) अपने (तं पूर्वजं जनं) उन बड़े भाई जीवन्धरकुमार को (द्रष्टुं) देखने की (इच्छसि) इच्छा करते हो तो (किं नु) क्यों (ताम्यसि) दुःखी होते हो? (गम्येत) जाओ। अर्थात् मैं तुम्हें विद्या के प्रभाव से उनके समीप पहुँचा देती हूँ, किन्तु (पापा भामिनी) हम पापिनी स्त्रियों का (क्व) क्या? हम तो जहाँ हैं, वहीं ठीक हैं।

सरलार्थ – ‘आपके भाई तो पूर्णरूप से सुखी तथा सुरक्षित ही हैं।’ फिर भी आपको चिन्ता हो और विश्वास न हो तो तथा स्वयं उनसे प्रत्यक्ष मिलना

या देखना चाहते हो तो दुःखी क्यों होते हो ? मैं आपको अपनी मन्त्र-शक्ति से उनके पास भेज देती हूँ। आप तो पुरुष हैं, अकेले ही उनके पास जा सकते हैं, किन्तु हम पापिनी स्त्रियों का अकेले जाना योग्य नहीं है।

मन्त्रशक्ति से नन्दाद्वय का हेमाभा नगरी में पहुँचना -

इत्युक्त्वा शाययित्वा च शय्यायां साभिमन्त्रितम् ।

मामत्रभवती चात्र सपत्रं प्राहिणोदिति ॥२१॥

अन्वयार्थ - (इति) इसप्रकार (उक्त्वा) कहकर (अत्रभवती) पूज्य भाभी ने (आपकी पत्नी ने) (मां) मुझको (शय्यायां) सेज पर (साभिमन्त्रितं) मन्त्रपूर्वक (शाययित्वा) सुलाकर (सपत्रं) पत्रसहित (अत्र) यहाँ (प्राहिणोत्) भेज दिया। (इति) ऐसा नन्दाद्वय ने जीवन्धरकुमार से कहा।

सरलार्थ - पूर्वोक्त प्रकार से सान्त्वना और प्रेरणा देकर आदरणीया भाभी गन्धर्वदत्ता ने 'स्मरतरंगिणी' नामक शय्या पर मुझे लिटाया और आपके लिए एक पत्र देकर यहाँ आपके पास भेज दिया है।

विशेषार्थ - मन्त्रशक्ति के द्वारा नन्दाद्वय को एक स्थान से दूसरे स्थान पर भेजा गया। यहाँ मन्त्र का निमित्त अवश्य है; पर एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ अच्छा-बुरा कर सकता है - यह समझना मिथ्यात्व है, असत्यार्थ है।

जिनेन्द्र भगवन्तों द्वारा कथित वस्तु-व्यवस्था में जीवद्रव्य अनन्त, पुद्गलद्रव्य अनन्तानन्त, धर्म, अधर्म, आकाश - ये एक-एक और कालद्रव्य असंख्यात हैं।

ये छहों द्रव्य अपने-अपने में स्वतन्त्र हैं। इनमें से एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ नहीं कर सकता। इस परम सत्य को स्वीकार करते हुए, निमित्त की अपेक्षा एक द्रव्य ने दूसरे द्रव्य का अच्छा-बुरा किया - ऐसा कथन शास्त्रों में आता है, उसे व्यवहार नय का कथन जानकर असत्यार्थ ही मानना चाहिए। (मोक्षमार्ग प्रकाशक, अ. ७ पृष्ठ २५०-२५१, अ. २, पृष्ठ २५)

यहाँ नन्दाद्वय का जीवद्रव्य और उसका शरीर पुद्गलद्रव्य — इन दोनों में गमन करने की योग्यता उपादानगत है; अतः उपादानगत गमनरूप क्रिया में मन्त्र निमित्तरूप है — ऐसा समझना चाहिए।

जीवन्धरकुमार का दुःखी होना —

अखिद्यत ततः स्वामी सदयैरनुजोदितैः।

स्नेहपाशो हि जीवानामासंसारं न मुञ्चति ॥२२॥

अन्वयार्थ — (ततः) इसके बाद (स्वामी) जीवन्धरकुमार (सदयैः) दयाजनक (अनुजोदितैः) छोटे भाई नन्दाद्वय के कहे हुए वचनों से (अखिद्यत) अत्यन्त दुःखी हुए।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (आसंसारं) जबतक संसार है तबतक (जीवानां) प्राणियों का (स्नेहपाशः) स्नेहरूपी बन्धन (न) नहीं (मुञ्चति) छूटता है।

सरलार्थ — छोटे भाई नन्दाद्वय के करुणाजनक कथन को सुनकर धैर्यशाली जीवन्धरकुमार भी अत्यन्त दुःखी हुए; क्योंकि गृहस्थ जीवन में मनुष्य को स्त्री-पुत्रादि विषयक स्नेहभाव तो रहता ही है; छूट नहीं पाता।

विशेषार्थ — स्त्री-पुत्रादि के प्रति स्नेह भाव रहना — यह तो गृहस्थ जीवन का स्वरूप है। गृहस्थ जीवन में मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी कषाय चौकड़ी के चले जाने पर भी जबतक अप्रत्याख्यानावरण तथा प्रत्याख्यानावरण कषाय चौकड़ी विद्यमान है, तबतक स्त्री-पुत्रादि के प्रति रागभाव रहना भूमिका के अनुसार स्वाभाविक ही है।

मिथ्यात्व के जाने पर जो रागभाव रहता है, वह रागभाव गृहस्थ को मोक्षमार्ग में अल्प बाधक है। अतः सबसे पहले अनन्त संसार को बढ़ानेवाले मिथ्यात्व/विपरीत मान्यता को नष्ट करने का उपदेश दिया जाता है।

जीवन्धरकुमार को गन्धर्वदत्ता का पत्र -

गुणमालाव्यथाशंसि पत्रं चायमवाचयत्।

चतुराणां स्वकार्योक्तिः स्वमुखात्न हि वर्तते ॥२३॥

अन्वयार्थ - (अयं) फिर जीवन्धरकुमार ने (गुणमालाव्यथाशंसि) गुणमाला की विरहपीड़ा का सूचक (पत्रं च) गन्धर्वदत्ता का भेजा हुआ पत्र (अवाचयत्) पढ़ा।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (चतुराणां) चतुर पुरुषों का (स्वमुखात्) निज मुख से (स्वकार्योक्तिः) अपने कार्य के लिए कहना (न वर्तते) नहीं होता है।

सरलार्थ - जीवन्धरकुमार ने गन्धर्वदत्ता द्वारा प्रेषित वह पत्र पढ़ा, जिसमें 'गुणमाला' के विरह दुःख का वर्णन लिखा हुआ था। बुद्धिमान पुरुष अपने अन्तरंग का अभिप्राय किसी दूसरे के बहाने ही प्रगट करते हैं।

विशेषार्थ - चतुर गन्धर्वदत्ता ने पत्र में अपने दुःख की बात न लिखकर गुणमाला के विरह दुःख का वर्णन विस्तारपूर्वक करके अपने दुःखी होने के अभिप्राय को परोक्ष रूप से प्रगट कर ही दिया। पति के वियोग में पत्नी का दुःखी रहना स्वाभाविक है; तथापि गन्धर्वदत्ता ने अपने विरह के दुःख की बात सीधी नहीं लिखी। यही तो चतुर लोगों की चतुराई होती है; जिसे जीवन्धरकुमार भली-भाँति समझ गए।

गन्धर्वदत्ता के पत्र का प्रभाव -

अन्यापदेशसन्देशात्खेचर्या खेदवानभूत्।

विद्वेषः पक्षपातश्च प्रतिपात्रं च भिद्यते ॥२४॥

अन्वयार्थ - जीवन्धरकुमार (अन्यापदेशसन्देशात्) गुणमाला के बहाने से पत्र में लिखित सन्देश से (खेचर्या) विद्याधरी गन्धर्वदत्ता के लिए ही (खेदवान्) खेदित (अभूत्) हुए।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (विद्वेषः) द्वेषभाव (च) और (पक्षपातः) पक्षपात अर्थात् प्रेमभाव (प्रतिपात्रं) प्रत्येक व्यक्ति की अपेक्षा (भिद्यते) भिन्न-भिन्न होता है।

सरलार्थ – गन्धर्वदत्ता द्वारा गुणमाला के बहाने लिखित समाचारों को पढ़कर जीवन्धरकुमार अपनी विद्याधरी पत्नी गन्धर्वदत्ता के विषय में अधिक दुःखी हुए; क्योंकि प्रेमभाव और द्वेषभाव प्रत्येक व्यक्ति के हृदय के अभिप्राय को व्यक्त कर ही देता है।

विशेषार्थ – देखो विलक्षण बुद्धि की विचित्रता ! जीवन्धरकुमार ने पत्र में तो गुणमाला के विरह दुःख का वर्णन पढ़ा और मन में पत्नी गन्धर्वदत्ता के प्रति अत्यधिक प्रेम उमड़ा।

अभी तक जीवन्धरकुमार ने पाँच विवाह किए हैं। वैसे तो प्रत्येक पत्नी के प्रति उनका स्वाभाविक प्रेम तो था ही, परन्तु गन्धर्वदत्ता के प्रति उनका विशेष प्रेम परिलक्षित होता है।

विवेकी महापुरुषों की विशेषता –

प्रियाशोकश्रुतेर्जातः शोकोऽप्येतस्य नास्फुरत् ।

न हि प्रसादखेदाभ्यां विक्रियन्ते विवेकिनः ॥२५॥

अन्वयार्थ – (प्रियाशोकश्रुतेः) अपनी प्रिया गन्धर्वदत्ता के शोक को सुनने से (एतस्य) इन कुमार के (जातः) उत्पन्न (शोकः अपि) शोक भी (न अस्फुरत्) बाहर प्रगट नहीं हुआ।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (विवेकिनः) विवेकी पुरुष (प्रसाद-खेदाभ्यां) हर्ष से और विषाद से (न विक्रियन्ते) विकारभाव को प्राप्त नहीं होते हैं।

सरलार्थ – पत्र के माध्यम से अपनी प्रिय पत्नी गन्धर्वदत्ता के दुःख का अनुभव कर जीवन्धरकुमार अन्तरंग में अत्यन्त शोक-सन्तप्त हुए; परन्तु उन्होंने अपने अनुज नन्दाढ्य के समक्ष शोक व्यक्त नहीं किया। यह योग्य ही

है; क्योंकि विवेकी पुरुष अपने मन में उत्पन्न होनेवाले हर्ष-विषाद को प्रगट नहीं होने देते।

विशेषार्थ — ‘अध जल गगरी छलकत जाय’ — इस न्याय से सामान्य जन छोटे-छोटे हर्ष और विषाद के कारणों से तत्काल प्रभावित होते हैं और अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करने लगते हैं; किन्तु महापुरुष ऐसा नहीं करते। जीवन्धरकुमार ने धैर्य धारण कर अपनी महानता का परिचय दिया है।

राग की विशालता का विस्तार —

वैवाहिकगृहस्थाश्च ह्यातस्थरनुजं भृशम् ।
बन्धोर्बन्धौ च बन्धो हि बन्धुता चेदवञ्चिता ॥२६॥

अन्वयार्थ — (च) फिर (वैवाहिकगृहस्थाः) राजा दृढमित्र (जीवन्धर के श्वसुर) के घर में रहनेवाले पुरुषों ने (अनुजं) जीवन्धरकुमार के छोटे भाई नन्दाद्वय को (भृशं आतस्थुः) आकर चारों तरफ से घेर लिया।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (चेत्) यदि (अवञ्चिता) अकृत्रिम निष्कपट (बन्धुता स्यात्) बन्धुता हो तो (बन्धोः) बन्धु के (बन्धौ) बन्धु में भी (बन्धः स्यात्) प्रेम हो जाता है।

सरलार्थ — जीवन्धरकुमार के ससुराल पक्ष के लोग भी नन्दाद्वय के साथ अतिशय प्रीति का व्यवहार करने लगे; क्योंकि निष्कपट बन्धुत्व का भाव हो तो सम्बन्धियों के सम्बन्धियों से भी प्रेमभाव उत्पन्न हो जाता है।

विशेषार्थ — मित्र के मित्र भी अपने मित्र होते हैं। मित्र के शत्रु भी अपने शत्रु होते हैं। इतना ही नहीं, अपने शत्रु के शत्रु भी अपने मित्र होते हैं।

अपने निकट के प्रिय सम्बन्धी के सम्बन्धियों से भी उसीप्रकार का लौकिक व्यवहार होता ही है। यह सब विषय-कषायी जीवों के परिचय में है। राग-द्वेष के व्यवहार की कोई सीमा नहीं है; वैसे ही आत्मा का ज्ञानानन्द स्वभाव भी अनादि-अनन्त है अर्थात् असीम है।

उपकथा-१६

अकस्मात् ही ग्वालों का रोना-चिल्लाना प्रारम्भ -

अवस्कन्दाद्गवां गोपा अथाक्रोशन्प्राङ्गणे ।

पीडायां तु भृशं जीवा अपेक्षन्ते हि रक्षकान् ॥२७॥

अन्वयार्थ - (अथ) इसके अनन्तर (गोपाः) बहुत से ग्वाले (गवां अवस्कन्दात्) गायों के पकड़े जाने से (नृपाङ्गणे) राजा के आँगन में (आक्रोशन्) रोने-चिल्लाने लगे ।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (भृशं) अत्यन्त (पीडायां) पीड़ा होने पर (जीवाः) प्राणी (रक्षकान्) अपनी रक्षा करनेवालों की (अपेक्षन्ते) अपेक्षा या आशा किया करते हैं ।

सरलार्थ - कुछ दिनों पश्चात् अनेक ग्वाले एकसाथ राजभवन के सामने आकर, अपनी गायों की चोरी हो जाने से रोने चिल्लाने लगे; क्योंकि जीवन में जब अपने पर आपत्ति आती है, तब मनुष्य रक्षकों की अपेक्षा करता ही है ।

विशेषार्थ - जब सुख-सुविधाओं से सहित, निर्विघ्न जीवन-यापन सहजता से होता रहता है, तब मनुष्य न तो इष्ट मित्रों का स्मरण करता है और न भगवान का । जब कोई विशेष संकट आ पड़ता है, तब वह सहायता की अपेक्षा अवश्य ही करता है ।

इस कारण ग्वालों की आजीविका के साधनरूप गायों की चोरी हो जाने से वे अत्यन्त दुःखी होकर, गायें वापिस मिलें - इस आशा से राजभवन के सामने आकर रोने-चिल्लाने लगे ।

राजा दृढमित्र का संकल्प -

सानुक्रोशं तदाक्रोशं क्षमाधीशो न चक्षमे ।

पातापायान्न चेत्पायात्कुतो लोकव्यवस्थितिः ॥२८॥

अन्वयार्थ - (क्षमाधीशः) राजा (सानुक्रोशं) करुणा को पैदा करने वाला (तदाक्रोशं) उनका रोना (न चक्षमे) सहन नहीं कर सका ।

[अत्र नीतिः] (चेत्) यदि (पातापायात्) पतनरूपी विनाश से (न पायात्) प्रजा की रक्षा न की जाए तो (लोकव्यवस्थितिः कुतः) फिर संसार में राजा और प्रजा की व्यवस्था कैसे रह सकती है ?

सरलार्थ – ग्वालों का अतिशय करुणापूर्ण रुदन राजा दृढ़मित्र को सहन नहीं हुआ। उन्होंने तत्काल ही चोरों से ग्वालों को उनकी गायें वापिस दिलाने का संकल्प किया; क्योंकि यदि राजा ही अपनी प्रिय प्रजा के दुःख का निवारण न करे तो लोक-व्यवहार कैसे चलेगा ?

विशेषार्थ – दुष्ट लोगों द्वारा निरपराधी लोगों को दुःख देना और राजा जैसे समर्थ पुरुषों द्वारा उनके दुःखों का निवारण करना – ऐसा लोकव्यवहार अनादिकाल से चल रहा है और भविष्य में भी चलता रहेगा – ऐसा ही संसार का स्वरूप है।

जीवन्धरकुमार का जंगल की ओर प्रस्थान –

स्वामी श्वशुररुद्धोऽपि गोमोचनकृते ययौ ।

पराभवो न सोढव्योऽशक्तैः शक्तैस्तु किं पुनः ॥२६॥

अन्वयार्थ – (श्वशुररुद्धः अपि) ससुर के रोकने पर भी (स्वामी) जीवन्धरकुमार (गोमोचनकृते) गायों को छुड़ाने के लिए (ययौ) चले गए।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से जब (अशक्तैः) असमर्थ पुरुषों से भी (पराभवः) तिरस्कार (न सोढव्यः) सहन नहीं होता है (शक्तैः) तो समर्थ पुरुषों का तो (किं पुनः) फिर कहना ही क्या है ? अर्थात् वे तिरस्कार कैसे सहन कर सकते हैं ? कभी भी नहीं सह सकते।

सरलार्थ – उक्त समाचार सुनते ही जीवन्धरकुमार ने गायों को चोरों से छुड़ाने हेतु ससुर के रोकने पर भी तुरन्त ही जंगल की ओर प्रस्थान किया। यह उचित ही है; क्योंकि अपने तिरस्कार को असमर्थ जन भी सहन नहीं कर पाते तो फिर समर्थ पुरुष कैसे सहन करेंगे ?

विशेषार्थ – गायों के चुराने में राज्य/शासन की अवहेलना तथा राजा का

तिरस्कार — दोनों ही शामिल हैं। अतः जीवन्धरकुमार जैसे विशिष्ट सामर्थ्यवान् पुरुष को यह तिरस्कार असह्य हुआ। इस कारण वे तुरन्त ही राजा के मना करने पर भी चोरों से गायों को छुड़ाने के लिए जंगल की ओर चल दिए।

चोर और कोई नहीं, जीवन्धरकुमार के मित्र ही थे —

दस्यवोऽपि गवां तत्र मित्राण्येवाभवन्विभोः ।

एधोगवेषिभिर्भाग्ये रत्नं चापि हि लभ्यते ॥३०॥

अन्वयार्थ — (तत्र) वहाँ (गवां दस्यवः अपि) गायों को पकड़नेवाले चोर भी (विभोः) जीवन्धरकुमार के (मित्राणि एव) मित्र ही (अभवन्) थे।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (भाग्ये सति) सद्भाग्य का उदय होने पर (एधोगवेषिभिः अपि) लकड़ी ढूँढ़नेवालों को भी (रत्नं च) रत्न (लभ्यते) मिल जाता है।

सरलार्थ — जीवन्धरकुमार चोरों से गायों को छुड़ाने हेतु जब वन में पहुँचे तो उन्हें यह देखकर आश्चर्य हुआ कि चोर अन्य कोई नहीं, उनके ही मित्र हैं; जो जीवन्धरकुमार से मिलना चाहते थे। चोरी तो एक बहाना मात्र था। वास्तव में पुण्योदय होने पर लकड़हारे को भी रत्नों की प्राप्ति होती है।

विशेषार्थ — जीवन्धरकुमार के मित्रों का तो जीवन्धरकुमार से मिलने का प्रयोजन था, गायें चुराने का नहीं। वे जीवन्धरकुमार के स्वभाव से अच्छी तरह परिचित थे। वे जानते थे कि जीवन्धरकुमार को गायों की चोरी का पता चलेगा तो वे गायों को छुड़ाने अवश्य ही जंगल में आएँगे। इसप्रकार सहज ही मित्र से मिलना हो जाएगा। जीवन्धरकुमार का भी विशिष्ट जाति का पुण्योदय था कि इस प्रसंग में भी मित्रों से उनका सहज मिलना हो गया।

मित्रमिलन का सहज आनन्द —

समोऽभूत्स्वामिमित्रेषु स्नेहश्चान्योन्यवीक्षणात् ।

एककोटिगतस्नेहो जडानां खलु चेष्टितम् ॥३१॥

अन्वयार्थ - (अन्योन्यवीक्षणात्) एक-दूसरे को देखने से (स्वामिमित्रेषु) जीवन्धरकुमार और उनके मित्रों में (समः) एक सरीखा (स्नेहः) प्रेम (अभूत्) उत्पन्न हो गया।

[अत्र नीतिः] (खलु एक कोटिगतस्नेहः) एक कोटि को प्राप्त स्नेह अर्थात् इकतरफा प्रीति (जडानां) मूर्खों की (चेष्टितं) चेष्टा है। बुद्धिमानों की प्रीति इसप्रकार नहीं होती है।

सरलार्थ - एक-दूसरे को परस्पर आँखों से देखने मात्र से ही जीवन्धरकुमार और उनके मित्रों में एक जैसा आनन्द और प्रेम उत्पन्न हुआ; क्योंकि एकांगी अर्थात् इकतरफा प्रीति मूर्ख ही करते हैं, बुद्धिमान नहीं।

विशेषार्थ - मित्रता समान विचारवालों के साथ ही होती है। सामनेवाला व्यक्ति निःस्वार्थ भाव से मेरे ऊपर प्रीति परिणाम रखता है या नहीं, संकट के समय काम आएगा या नहीं - इसीप्रकार भली प्रकार से सोच-विचार कर ही मित्रता करना बुद्धिमानों का काम होता है। मूर्ख व्यक्ति अपनी स्वार्थ की सिद्धि के लिए किसी से भी मित्रता प्रगट करने लगते हैं।

राजा दृढमित्र को आश्चर्य -

जामातरि चमत्कारो राज्ञोऽभून्मित्रवीक्षणात्।

कृतिनोऽपि न गण्या हि वीतस्फीतपरिच्छदाः ॥३२॥

अन्वयार्थ - (मित्रवीक्षणात्) जीवन्धरकुमार के मित्रों को देखने से (राज्ञः) राजा दृढमित्र को (जामातरि) अपने दामाद जीवन्धरकुमार के विषय में (चमत्कारः अभूत्) अत्यन्त आश्चर्य हुआ।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (कृतिनः) पुण्यात्मा पुरुष (वीतस्फीत-परिच्छदाः अपि) समृद्धसेनादिक सामग्री से रहित भी (न गण्याः) नहीं समझने चाहिए अर्थात् उनको बहुत सामग्री युक्त समझना चाहिए।

सरलार्थ - जीवन्धरकुमार की मित्र-मण्डली को देखकर राजा दृढमित्र

को अतिशय आश्चर्य हुआ। वास्तव में देखा जाए तो पुण्यवान महापुरुषों को समृद्धि, परिवार और मित्रों से रहित नहीं समझना चाहिए।

विशेषार्थ – राजा दृढमित्र को अपने जमाई जीवन्धरकुमार के पुण्य-प्रताप, समृद्धि, परिवार और मित्र-मण्डली का पता ही नहीं था। अतः उनको जीवन्धरकुमार की मित्र-मण्डली को देखकर ही अतिशय आश्चर्य हुआ।

भाई और मित्रों के मिलन से जीवन्धरकुमार का आनन्दित होना –

समित्रावरजोऽहृष्यदतिमात्रमसौ कृती।

एकेच्छानामतुच्छानां न ह्यन्यत्सङ्गमात्सुखम् ॥३३॥

अन्वयार्थ – (समित्रावरजः) छोटे भाई और मित्रों सहित (असौ कृती) विद्वान जीवन्धरकुमार (अतिमात्रं) अत्यन्त (अहृष्यत्) हर्षित हुए।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (अतुच्छानां) श्रेष्ठ पुरुषों के (एकेच्छानां) एक-सी इच्छा रखनेवालों के (सङ्गमात्) समागम से बढ़कर (अन्यत्सुखं) और कोई दूसरा सुख (न) नहीं है।

सरलार्थ – अपने मित्रगण और छोटे भाई नन्दाद्वय से मिलकर पुण्य-पुरुष जीवन्धरकुमार को अत्यन्त आनन्द हुआ; क्योंकि समान विचारवाले भाइयों और मित्रों की संगति से महापुरुषों को सर्वाधिक प्रसन्नता होती है।

विशेषार्थ – मनुष्य को इष्ट के संयोग जैसे – माता-पिता, भाई-बहिन, आदि के मिलने पर प्रसन्नता होती ही है; तथापि इन सबसे भी अधिक इष्ट मित्रों के मिलने से प्रसन्नता होती है; उनका संयोग अत्यन्त प्रिय होता है। इसका एकमेव कारण विचारों की समानता ही है।

मित्र की मित्रता में मूल विचारों की एकता ही है। इस मनुष्य को एकबार भोजन-पानादि में अनुकूलता न हो तो चल सकता है; परन्तु अपने विचारों से अनुकूलता रखनेवाले मित्र अधिक अपेक्षित होते हैं। जीवन्धरकुमार को समान विचारधारावाले मित्र मिले हैं, अतः उन्हें विशेष प्रसन्नता हुई है।

मित्रों के सत्कार से जीवन्धरकुमार का विचारमग्न होना -

अयथापुरसन्मानात्समशेत सखीनसौ ।

विशेते हि विशेषज्ञो विशेषाकारवीक्षणात् ॥३४॥

अन्वयार्थ - (असौ) जीवन्धरकुमार ने (अयथापुरसन्मानात्) मित्रों के द्वारा अपना विलक्षण अपूर्व सम्मान होते देख (सखीन) मित्रों पर (समशेत) सन्देह किया ।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (विशेषज्ञः) विशेषता को पहचाननेवाला बुद्धिमान (विशेषाकारवीक्षणात्) विशेष देखने से (विशेते) सन्देह करने लगता है ।

सरलार्थ - अपने मित्रों द्वारा किया गया स्वयं का अपूर्व और विशेष सत्कार देखकर, जीवन्धरकुमार स्वयं अपने मित्रों के प्रति सन्देह करने लगे; क्योंकि विशेष को जाननेवाले विशेषज्ञ-बुद्धिमान पुरुष, विशेषताओं को देखकर सन्देह करने लगते हैं ।

विशेषार्थ - मित्र तो मित्र होता है, उससे विशिष्ट आदर-सत्कार की अपेक्षा नहीं होती, होनी भी नहीं चाहिए। जीवन्धरकुमार के मित्रों ने यहाँ सामान्य व्यवहार से अधिक विशिष्ट जाति के आदर-सत्कार का व्यवहार किया ।

अतएव जीवन्धरकुमार को सन्देह हुआ कि 'कहीं इन्हें मेरे राजकुमार होने का पता तो नहीं लग गया।' जिससे मेरे अनन्य-मित्र होने पर भी ये इस समय मेरा विशेष आदर-सत्कार और सम्मान कर रहे हैं अथवा इस व्यवहार में उनका और कुछ भी अभिप्राय छिपा हुआ हो सकता है।

जीवन्धरकुमार का अपने मित्रों से प्रश्न -

रहस्येव वयस्येषु तन्निदानमचोदयत् ।

एककण्ठेषु जाता हि बन्धुता ह्यवतिष्ठते ॥३५॥

अन्वयार्थ – (रहसि एव) एकान्त में ही जीवन्धरकुमार ने (वयस्येषु) मित्रों से (तन्निदानं) उसका कारण (अचोदयत्) पूछा।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (एककण्ठेषु) एक-से अभिप्रायवाले बन्धुओं में (जाता) उत्पन्न हुई (बन्धुता) मित्रता ही (अवतिष्ठते) स्थिर रहती है।

सरलार्थ – जीवन्धरकुमार ने अपने पुराने स्नेही मित्रों से एकान्त में अपूर्व आदर-सत्कार करने का कारण पूछ ही लिया; क्योंकि सदैव समान व्यवहार करनेवालों में ही मित्रता स्थिर रह सकती है।

विशेषार्थ – मित्रता का मूल आधार ही परस्पर समान प्रेम परिणाम का होना है और समान प्रेम परिणाम का कारण विचारों में समानता का होना है। यदि मित्रता का मूल आधार स्वार्थ हो तो मित्रता टिकती नहीं है; क्योंकि जहाँ स्वार्थ को धक्का लगता है, वहाँ मित्रता को दूटते देर नहीं लगती। जीवन्धरकुमार और उनके मित्रों में एकता के आधार से ही प्रीति उत्पन्न हुई थी। अतः मित्रता स्वाभाविक रूप से स्थिर हो गई थी।

जिन लोगों के जीवन में मित्र बनते और बिल्डुङते हैं, उनके सम्बन्ध में तो यह समझना चाहिए कि उनकी मित्रता की आधारशिला ही गलत है। तीव्र कषायी लोगों की मित्रता को शत्रुता में बदलते देर नहीं लगती। जिसके अधिक मित्र हैं, वह स्वयं मन्दकषायी अर्थात् पुण्य परिणामी है – ऐसा समझना चाहिए। जीवन्धरकुमार का मित्रों से बहुत काल तक वियोग तो रहा, पर उनसे मित्रता अखण्डित रही।

प्रमुख मित्र से प्रश्न का उत्तर –

मुख्यं सख्यं गतस्तेषामाचख्यौ पङ्कजाननः ।

सज्जनानां हि शैलीयं सक्रमारम्भशालिता ॥३६॥

अन्वयार्थ – (तेषां) उनमें से (मुख्यं सख्यं) प्रधान मित्रता को (गतः) प्राप्त (पङ्कजाननः) पद्मास्य नाम का मित्र (आचख्यौ) बोला।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (सक्रमारम्भशालिता) क्रमपूर्वक किसी कार्य का आरम्भ करना (इयं) यह (सज्जनानां शैली) सज्जन पुरुषों की पद्धति है।

सरलार्थ – जीवन्धरकुमार के उन मित्रों में से प्रधान मित्र 'पद्मास्य' ने उनके प्रश्न का उत्तर देना प्रारम्भ किया; क्योंकि क्रमपूर्वक ही कार्य करना सज्जनों की कार्यशैली होती है।

विशेषार्थ – प्रश्न तो जीवन्धरकुमार ने सभी मित्रों से किया था, पर उत्तर मित्रों में प्रधान पद्मास्य ने ही दिया। सभी मित्र समझदार थे, अन्य किसी ने पहले बोलने का उतावलापन नहीं दिखाया। अन्य सभी मित्र मौन रहे, अकेले पद्मास्य ने ही उत्तर दिया। इससे स्पष्ट होता है कि क्रमपूर्वक कार्य करना ही सज्जनों की कार्यशैली होती है।

मित्रमण्डली के प्रमुख पद्मास्य का उत्तर –

स्वामिन्स्वामिवियोगेऽपि युक्ता दग्धासुभिर्वयम् ।

अस्तोकभाविभाग्येन हस्तग्राहं ग्रहादिव ॥३७॥

अन्वयार्थ – (स्वामिन्) हे स्वामी ! (स्वामिवियोगे) आपका वियोग होने पर (दग्धासुभिः) जले हुए प्राणों से (युक्ताः वयं) युक्त होने पर भी हम लोग (अस्तोकभाविभाग्येन) भविष्य में उदय होनेवाले महान भाग्य से (हस्तग्राहं ग्रहात् इव) हस्तावलम्बन देकर ग्रहण किए हुए के सदृश [अजीवाम] जीवित रहे।

सरलार्थ – हे बन्धुवर ! उससमय हमारे पाप के उदय से राजपुरी नगरी से आपंके चले जाने पर हम सभी मित्रगण मृततुल्य हो गए थे; किन्तु वास्तव में देखा जाए तो भविष्य में होनेवाले आपके शुभदर्शनरूपी महासौभाग्य ने ही हमें बलात् जीवित रखा है।

हेमाभा नगरी में आने का कारण -

साश्वासाश्च ततो देव्या दत्तहस्तावलम्बनाः ।

प्रास्थिष्महि धुरं प्राप्ता वयमश्वीयपाणिनाम् ॥३८॥

अन्वयार्थ - (ततः) फिर (देव्या) देवी गन्धर्वदत्ताने (दत्तहस्तावलम्बनाः) सहारा देकर (साश्वासाश्च) आश्वासन दिया। तब (वयं) हम लोग (अश्वीयपाणिनां) घोड़ों को बेचनेवालों के (धुरं प्राप्ताः) मुखिया होकर (प्रास्थिष्महि) वहाँ से चल दिए।

सरलार्थ - तदनन्तर देवी गन्धर्वदत्ता ने जब अपनी विद्या के बल से ऐसा बताया कि आप सुरक्षित और सुखी हैं तथा आपका पता बताकर हमें आश्वस्त किया, तब हम लोग आपके शुभदर्शन की इच्छा से घोड़े बेचनेवालों का भेष बनाकर यहाँ हेमाभा नगरी में आए।

पद्मास्य का प्रवास समाचार -

अतिलङ्घ्य ततोऽध्वानमध्वश्रमविहानये ।

दण्डकारण्यविख्यातं तापसाश्रममाश्रिताः ॥३९॥

अन्वयार्थ - (ततः) इसके अनन्तर (अध्वानं अतिलङ्घ्य) बहुत-सा मार्ग तय करके (अध्वश्रमविहानये) मार्ग की थकावट दूर करने के लिए (दण्डकारण्यविख्यातं) दण्डकारण्य में प्रसिद्ध (तापसाश्रमं) तपस्वियों के आश्रम में (आश्रिताः) पहुँचे।

सरलार्थ - हम लोग राजपुरी नगरी से चलकर बहुत-सा मार्ग तय करने के बाद मार्गजन्य थकावट दूर करने के लिए दण्डकवन में प्रसिद्ध तपस्वियों के आश्रम में पहुँचे।

पद्मास्य आदि को एक माता का दिखाई देना -

दर्शदर्शं ततो दृश्यं विहरन्तोऽत्र विश्वतः ।

अपश्याम क्वचित्काश्चित्पुण्यतः पुण्यमातरम् ॥४०॥

अन्वयार्थ – (अत्र) यहाँ (विश्वतः) चारों ओर (दृश्यं) मनोहर दृश्यों को (दर्श दर्श) देख-देखकर (विहरन्तः) विहार करते हुए (वयं) हम लोगों ने (क्वचित्) किसी स्थान में (पुण्यतः) पुण्योदय से (काञ्चित्) किसी (पुण्यमातरं) पवित्र माता को (अपश्याम) देखा।

सरलार्थ – उस दण्डकवन के आश्रम के चारों ओर के मनोहर एवं दर्शनीय दृश्यों को देखते हुए एकबार हमारे पुण्योदय से हमने एक पवित्र माता को देखा।

हमसे परिचय पूछना –

तन्मात्रा दृष्टमात्रेण कुत्रत्या इति चोदिताः ।

वयमप्युत्तरं वक्तुमुपक्रम्य यथाक्रमम् ॥४१॥

अन्वयार्थ – (तन्मात्रा) उस माता ने (दृष्टमात्रेण) हम लोगों को देखते ही (कुत्रत्याः) तुम कहाँ के रहनेवाले हो ? (इति) इसप्रकार (चोदिताः) पूछा तब (वयं अपि) हम लोगों ने भी (यथाक्रमं) क्रमानुसार (उत्तरं वक्तुं) माता के प्रश्न का उत्तर देते हुए प्रारम्भ करके [इति अवोचाम्] ऐसा कहा।

सरलार्थ – हम लोगों को देखते ही पूज्य माता ने हमसे पूछा – ‘आप लोग कहाँ से आए हैं ?’ तब हमने उन्हें क्रम से निम्नप्रकार अत्यन्त विनयपूर्वक उत्तर देना प्रारम्भ किया।

पद्मास्य द्वारा प्रश्न का उत्तर –

अस्ति राजपुरे कश्चिद्विबुधानामपश्चिमः ।

विशां च जीवकाख्योऽयमेतं जीवातुका वयम् ॥४२॥

अन्वयार्थ – (राजपुरे) राजपुरी नगरी में (विबुधानां) पण्डितों के (च) और (विशां) वैश्यों के (अपश्चिमः) शिरोभूषण (कश्चित्) कोई (अयं) ये (जीवकाख्यः) जीवक (जीवन्धर) नाम के पुरुष रहते हैं और (वयं) हम लोग (एतं जीवातुकाः) उनके अनुजीवी के रूप में सेवक (मित्रगण) हैं।

सरलार्थ – हे माताश्री ! राजपुरी नाम की एक अत्यन्त सुन्दर और सम्पन्न नगरी है। उस अनुपम नगरी में विद्वानों और श्रेष्ठियों में श्रेष्ठ जीवन्धरकुमार नाम के एक महापुरुष रहते हैं। हम उन्हीं महापुरुष के मित्र, शिष्य, अनुयायी और सेवक हैं।

पद्मास्य का उत्तर सुनकर महिला का मूर्च्छित होना –

काष्ठाङ्गाराह्वयः कोऽपि कोपादेनमनेनसम् ।

हन्तुं किलेत्यवोचाम मूर्च्छिता सा च पेतुषी ॥४३॥

अन्वयार्थ – (तत्र) उस नगर में (कः अपि) कोई (काष्ठाङ्गाराह्वयः) काष्ठांगार नाम का राजा (कोपात्) क्रोध से (अनेनसं) निर्दोष (एनं) इन जीवन्धरकुमार को (हन्तुं) मारने के लिए (किल) बस (इति अवोचाम) इतना ही कहा था कि (सा) वह माता (मूर्च्छिता) मूर्च्छित होकर (पेतुषी) गिर पड़ी।

सरलार्थ – उसी राजपुरी नगरी में काष्ठांगार नाम का एक दुष्ट राजा है। हमारे स्वामी जीवन्धरकुमार के पराक्रम, विद्वत्ता, लोकप्रियता और प्रभावादि गुणों के कारण वह मन ही मन जीवन्धरकुमार से जलने लगा। ‘एक दिन उस दुष्ट काष्ठांगार ने निरपराधी जीवन्धरकुमार को मारने के लिए.....’ – इतना वाक्य सुनते ही वह माता मूर्च्छित होकर वहीं जमीन पर गिर पड़ी।

विशेषार्थ – पूज्य माताश्री जीवन्धरकुमार की जन्मदात्री रानी विजया ही थीं। उन्होंने जन्म-काल से ही अपने प्रिय पुत्र जीवन्धर को श्मशान भूमि में ही सेठ गन्धोत्कट को परोक्षरूप से सौंप दिया था। अबतक माता-पुत्र का मिलन हुआ ही नहीं था।

संसार में कैसी पुण्य-पाप की विचित्रता है। तद्भव मोक्षगामी पुण्यशील महापुरुष को भी जन्म से पाप के उदय से जन्मदात्री माता का वियोग सहना अनिवार्य हो जाता है और पुण्योदय से ‘सुनन्दा’ जैसी अन्य माता भी मिल जाती है।

माता विजया का सचेत होकर विलाप करना -

हन्त हन्त हतो नायमम्बेत्यभिहिता मया ।

पिहितासुप्रयाणा सा प्रालपल्लब्धचेतना ॥४४॥

अन्वयार्थ - (हन्त हन्त) हाय ! हाय ! (अम्ब) हे माता ! (अयं) ये जीवन्धरकुमार (न हतः) मारे नहीं गए - जब (मया) मैंने (इति) इसप्रकार (अभिहिता) कहा तब (पिहितासुप्रयाणा) रुक गया है प्राणों का निकलना जिसका ऐसी (लब्धचेतना) सचेत होकर (सा) वह माता (प्रालपत्) प्रलाप करने लगी ।

सरलार्थ - तब हमने कहा कि माताश्री ! आप दुःख मत कीजिए । दुःखी होने की कोई आवश्यकता नहीं है; क्योंकि दुष्ट काष्ठांगार हमारे प्रिय मित्र जीवन्धरकुमार को मार नहीं सका, उसने तो मात्र मारने का प्रयास किया था । तब पूज्य माता जीवित रह सकीं; फिर भी सचेत होकर विलाप करने लगीं ।

जीवन्धरकुमार का चरित्र सुनाना -

अम्भोदालीव दम्भोलीममृतं च मुमोच सा ।

देवी समं प्रलापेन देवोदन्तमिदन्तया ॥४५॥

अन्वयार्थ - (अम्भोदाली) मेघों की पंक्ति (इव) जिस प्रकार (दम्भोली) वज्रपात (च) और (अमृतं) जल को (मुमोच) वर्षाती है; उसीप्रकार (सा देवी) उस माता ने (प्रलापेन समं) प्रलाप के साथ (देवोदन्तं) आपके वृत्तान्त को (इदन्तया) इस रीति से [अकथयत्] कहा । अर्थात् आप की उत्पत्ति आदि की बीती हुई सब कथा उन्होंने खेद के साथ हम लोगों को सुनाई ।

सरलार्थ - जिसप्रकार मेघों की माला जलवृष्टि के साथ-साथ ही कभी-कभी बिजली को भी गिराती है; उसीप्रकार उन पुण्य-मूर्ति माताश्री ने अश्रुजल की धारा छोड़ते हुए आपका चरित्र भी सुनाना प्रारम्भ किया ।

विशेषार्थ – माता विजया केवल विलाप ही नहीं करती थीं, वे विलाप करते-करते हमारे पूछे बिना ही पुत्र-स्नेहवश आपका परिचय भी सुनातीं जाती थीं।

मातृ-हृदय का परिणाम ही ऐसा होता है। पुत्र के वियोग में मात्र उनका रोना ही नहीं होता है, रोने के साथ-साथ पुत्र के गुणों का स्मरण करना और उसका कथन करना दोनों ही साथ-साथ चलते रहते हैं।

माता के कथन से मित्रों का प्रभावित होना –

तन्मुखात्खादिवोत्पन्नां रत्नवृष्टिं तवोन्नतिम् ।

उपलभ्य वयं लब्धाममन्यामहि तन्महीम् ॥४६॥

अन्वयार्थ – (तन्मुखात्) उनके मुख से (तव उन्नतिं) आपकी उन्नति को (खात्) आकाश से (उत्पन्नां) बरसती हुई (रत्नवृष्टिं) रत्नों की वर्षा के (इव) समान (उपलभ्य) सुनकर (वयं) हम लोग (तन्महीम्) उस पृथ्वी को (लब्धां) हाथ में आई हुई (अमन्यामहि) मानने लगे।

सरलार्थ – आकाश से बरसती हुई रत्नों की वर्षा के समान उस पुण्यमूर्ति तथा पवित्र माता विजया के श्रीमुख से आपके उन्नतिसूचक आद्योपान्त समाचार सुनकर हमें अतिशय आनन्द हुआ और हमने मन ही मन यह निश्चय कर लिया कि आपको अपने पिताश्री सत्यन्धर का परम्परागत राज्य अवश्य मिलेगा।

विशेषार्थ – उत्साह, आशा और आत्मविश्वास – ये मनुष्य के अत्यन्त आश्चर्यकारी गुण हैं, जिनके कारण वह कठिनाई से प्राप्त होनेवाली तथा दुर्लभ और अत्यधिक श्रमसाध्य वस्तुओं को अपने हाथ में आ ही गई है – ऐसा मान लेता है। जीवन्धरकुमार के मित्रों की दशा भी यहाँ ऐसी ही हुई।

अभी जीवन्धरकुमार राजपुरी गए ही नहीं हैं, राज्य प्राप्ति की कुछ योजना भी नहीं बनी है, तो भी उनके मित्रों ने, अपने मित्र जीवन्धरकुमार ने राजपुरी का राज्य प्राप्त कर ही लिया – ऐसा मान लिया है।

यदि मनुष्य को भावी आशा की किरण साथ में न हो तो उसका जीवन ही दुःखमय हो जाता है। 'भविष्य में जो होना है वही होता है'; किन्तु मनुष्य की भविष्य में आशा-अपेक्षाओं की पूर्ति हो ही जाएगी - इस भावना से ऐसे दुःख के काल में भी सुखमय स्वप्न देखा करता है। 'आशा' को उत्साह और आत्मविश्वास का साथ मिले तो उसकी आशा-अपेक्षाएँ दिन-दूनी, रात-चौगुनी बढ़ना स्वाभाविक ही है।

मित्र द्वारा समाचारों का समापन -

देववैभवसङ्कीर्त्या ततो देवीं पुनः पुनः ।

आश्वास्यापृच्छ्य तद्देशादिमं देशं गता इति ॥४७॥

अन्वयार्थ - (ततः) तदनन्तर (देववैभवसङ्कीर्त्या) आपके वैभव की महिमा के वर्णन से (देवीं) माता को (पुनः पुनः) बार-बार (आश्वास्य) धीरज बँधाकर (च) और (आपृच्छ्य) पूछकर (तद्देशात्) उस स्थान से (इमं देशं) इस देश को (गताः) आए हैं (इति) ऐसा पद्मास्य ने कहा।

सरलार्थ - इसके पश्चात् हम सब लोगों ने पूज्य माताश्री के सामने आपके पराक्रम, विद्वत्ता, प्रभाव, साहस, लोकप्रियता आदि गुणों का वर्णन करके उन्हें पुनः पुनः धैर्य बँधाया तथा उनकी आज्ञा लेकर हम आपके पास इस देश में आए हैं।

जीवन्धरकुमार की मनःस्थिति का चित्रण -

मातुर्जीवन्मृतिज्ञानात्तत्त्वज्ञः सोऽप्यखिद्यत ।

जीवानां जननीस्नेहो न ह्यन्यैः प्रतिहन्यते ॥४८॥

अन्वयार्थ - (सः तत्त्वज्ञः) तत्त्वों का स्वरूप जाननेवाले उन जीवन्धरकुमार ने (मातुः) माता को (जीवन्मृतिज्ञानात्) जीवित होते हुए भी मृत जानने से (अखिद्यत) अत्यन्त खेद किया।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (जीवानां) प्राणियों का (जननीस्नेहः) मातृ-प्रेम (अन्यैः) दूसरे कारणों से (न प्रतिहन्यते) नष्ट नहीं होता है।

सरलार्थ – जीवन्धरकुमार ने अपनी माता को मृत मान लिया था। जन्मदात्री माता को जीवित होने पर भी मृत मानने के अपराध-बोध से तत्त्वज्ञानी जीवन्धरकुमार भी अतिशय दुःखी हुए; क्योंकि कृतज्ञ मनुष्य का मातृ-प्रेम किसी भी अन्य कारणों से कभी नष्ट नहीं होता।

विशेषार्थ – अपने विद्यागुरु आर्यनन्दी से जीवन्धरकुमार को यह तो ज्ञात हो ही गया था कि मेरी जन्मदात्री माता सुनन्दा नहीं 'विजया' है; तथापि माँ विजया जीवित होंगी – यह विचार भी कभी मन में नहीं आया। जीवन्धरकुमार अपनी मनोकल्पना से ही उन्हें मृत मानते आ रहे थे। 'माता जीवित हैं' – मित्रों से यह जानकर उन्हें अपार हर्ष हुआ, साथ ही अबतक वियोग के स्मरण से दुःख भी हुआ।

कृतज्ञ जीवों के मन में मातृ-स्नेह अटूट होता है; अन्य किसी छोटे-मोटे कारणों से पुत्र का मातृ-प्रेम कभी भी खण्डित नहीं किया जा सकता।

माता से मिलन की तीव्र-उत्कण्ठा –

अत्वरिष्ट च तां द्रष्टुं कौरवो गुरुगौरवः।

अम्बामदृष्टपूर्वा च द्रष्टुं को नाम नेच्छति ॥४६॥

अन्वयार्थ – (गुरुगौरवः) माता और पिता में है पूज्य-बुद्धि जिनकी ऐसे (कौरवः) कुरुवंशी जीवन्धरकुमार ने (तां द्रष्टुं) अपनी उस माता को देखने के लिए (अत्वरिष्ट) शीघ्रता की।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (कः नाम) ऐसा कौन पुरुष है (अदृष्टपूर्वा) जिसने नहीं देखा है पूर्व में जिसको (अम्बां) ऐसी माता को (द्रष्टुं) देखने के लिए (न इच्छति) इच्छा नहीं करता है ? अर्थात् इच्छा करता ही है।

सरलार्थ – गुरुजनों में पूज्य-बुद्धि रखनेवाले कुरुवंशी जीवन्धरकुमार को पूर्व में कभी नहीं देखी गई माताश्री को देखने की अति तीव्र-उत्कण्ठा जागृत हुई। वे उन्हें देखने के लिए शीघ्रता करने लगे – यह स्वाभाविक ही है।

विचारशील मनुष्य पूर्व में कभी न देखी गई माँ को देखने की इच्छा करता ही है।

विशेषार्थ – अपनी माताश्री के जीवित होने के समाचार से जीवन्धरकुमार का मातृ-स्नेह ही जागृत नहीं हुआ; अपितु उनसे मिलने की तीव्र उत्कण्ठा जागृत हुई। विवेकी जन सदैव ही अपनी पुण्यशीला माता के दर्शन की भावना रखते हैं और सदैव उत्सुक बने रहते हैं। फिर यदि उन्होंने अपनी माता को कभी न देखा हो तो उनकी उत्सुकता का कहना ही क्या ?

राग-द्वेष के परस्पर सम्बन्ध के स्वरूप का स्पष्टीकरण –

व्यस्मारि मातरि स्नेहान्मान्येनान्यदशेषतः ।

रागद्वेषादि तेनैव बलिष्ठेन हि बाध्यते ॥५०॥

अन्वयार्थ – (मान्येन) माननीय जीवन्धरकुमार (मातरि स्नेहात्) अपनी माता के स्नेह से (अन्यत्) अन्य सबको (अशेषतः) सर्वथा (व्यस्मारि) भूल गए।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (तेन एव बलिष्ठेन) उस बलवान स्नेह के द्वारा ही (रागद्वेषादि) राग-द्वेष आदि विकार भाव (बाध्यते) नष्ट कर दिए जाते हैं।

सरलार्थ – माननीय जीवन्धरकुमार माता के प्रति अतिस्नेहवश अन्य सब कार्यों को भूल ही गए; क्योंकि अतिशय बलवान राग अन्य सामान्य राग-द्वेष के परिणामों को शिथिल कर खण्डित कर ही देता है।

विशेषार्थ – जीवन्धरकुमार को मातृस्नेह अधिक तीव्र होने से अन्य कषाय परिणाम शिथिल हो गए, यह घटना तो हम यहाँ जान ही रहे हैं। प्रत्येक मनुष्य भी अपने जीवन में इसप्रकार के परिणाम का अनुभव करता रहता है। इतना ही नहीं मोक्षमार्गप्रकाशक ग्रन्थ में तीव्र कषाय के परिणाम को मन्द कषाय उत्पन्न करके भी मोक्षमार्ग में लगाने का उपदेश चरणानुयोगानुसार बताया गया है। (मोक्षमार्गप्रकाशक, अध्याय-८ चरणानुयोग के व्याख्यान का विधान देखिए।)

जीवन्धरकुमार का विशिष्ट विवेक -

अन्वजिज्ञपदात्मीयां गतिं भार्या परानपि ।

आवश्यकेऽपि बन्धूनां प्रातिकूल्यं हि शल्यकृत् ॥५१॥

अन्वयार्थ - उन जीवन्धरकुमार ने (भार्या) अपनी स्त्री और (परान् अपि) अन्य पुरुषों को भी (आत्मीयां गतिं) अपने जाने की बात (अन्वजिज्ञपत्) बता दी ।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (आवश्यके अपि) आवश्यक कार्य में भी (बन्धूनां) बन्धुओं की (प्रातिकूल्यं) प्रतिकूलता (शल्यकृत्) दुःख देनेवाली होती है ।

सरलार्थ - माताजी से मिलने जाने के पूर्व ही अपने निर्गमन का समाचार अपनी पत्नी कनकमाला, अन्य सम्बन्धियों एवं प्रेमीजनों को जीवन्धरकुमार ने स्वयं ही बता दिया; क्योंकि अति आवश्यक कार्य में भी अपने इष्ट-मित्र लोगों की प्रतिकूलता अत्यन्त दुःखदायी होती है ।

विशेषार्थ - अपने अभीष्ट कार्य में विवेकी मनुष्य किसी का भी विरोध नहीं चाहते हैं; अपितु सबका सहयोग चाहते हैं । कार्य नया तथा अत्यावश्यक हो तो भी अपने इष्ट-मित्रों और सम्बन्धियों से कार्य करने के पूर्व चर्चा-वार्ता न करने से विरोध की सम्भावना रहती है । अतः कार्य की सफलता चाहनेवालों का यह प्रथम कर्तव्य है कि वे पहले अपने बन्धु वर्ग को अपने कार्य की योजना प्रेमपूर्वक बतलाकर उनकी अनुकूलता प्राप्त करें ।

जीवन्धरकुमार ने भी अपनी माता से मिलने जाने के पूर्व अपने निर्गमन का कार्यक्रम सबको बतलाकर उनकी अनुकूलता तथा प्रेम प्राप्त कर लिया ।

महापुरुषों की महानता दूसरों को सम्मान देने में ही -

अनुनीयानुगान्बन्धून्प्रसभं प्रययौ ततः ।

अनुनयो हि माहात्म्यं महतामुपबृंहयेत् ॥५२॥

अन्वयार्थ – वे जीवन्धरकुमार (अनुगान्) साथ चलनेवाले (बन्धून्) अपने सालों को (अनुनीय) विनय से समझा-बुझाकर (ततः) वहाँ से (प्रसभं) शीघ्र (प्रययौ) चल दिए।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (अनुनयः) दूसरों का सम्मान करने से ही (महतां) महान पुरुषों की (माहात्म्यं) महानता (उपबृंहयेत्) बढ़ती है।

सरलार्थ – जीवन्धरकुमार को पहुँचाने के लिए उनके इष्टजन, सम्बन्धी साले आदि उनके पीछे-पीछे चलने लगे। उन्होंने सबको रोका तथा यथायोग्य विनय और सम्मानपूर्वक उन्हें वापिस भेजा और स्वयं हेमाभा नगरी से शीघ्र ही चल पड़े; क्योंकि विनयभाव महापुरुषों की महानता को ही बढ़ाता है।

विशेषार्थ – जीवन्धरकुमार राजा के जमाई हैं, बहुत समय से यहाँ रह रहे हैं। उनके साले तो उनके शिष्य बन चुके हैं तथा अन्य लोगों से भी उनके स्नेह-सम्बन्ध बन गए हैं। अतः उनके प्रस्थान के समय उन लोगों का उन्हें पहुँचाने के लिए नगर के बाहर तक साथ-साथ जाना स्वाभाविक ही है।

यहाँ किसी को शंका हो सकती है कि जीवन्धरकुमार ने सालों को वापिस नगरी में भेजने हेतु 'विनयभाव से' बात क्यों कही है ?

इसका उत्तर तो स्वयं ग्रन्थकार ने श्लोक में दिया ही है कि – विनयभाव महापुरुषों की महानता को बढ़ाता है। जैसे वृक्ष फलों के भार से स्वयं ही झुक जाते हैं, वैसे ही गुणी जन अपने विशिष्ट-गुणों के भार से नम्र हो जाते हैं।

विशिष्ट जन विनयभाव का व्यवहार कोई उद्देश्यपूर्वक नहीं करते; अपितु विनयभाव तो उनका स्थायी स्वभाव बन जाता है। उनके विनयभाव में कोई कृत्रिमता नहीं होती। विनयभाव प्रगट करने से सामने वाले का सम्मान तो होता ही है, वह व्यक्ति स्वयं उनका अनुयायी भी बन जाता है। विनम्रता सज्जन पुरुषों का महान गुण है।

माता के दर्शन से उत्पन्न जीवन्धरकुमार की मनोदशा -

प्रसवित्रीं ततः प्रेक्ष्य प्रेमान्धोऽभूद्वन्ध्यधीः ।

तत्त्वज्ञानतिरोभावे रागादि हि निरङ्कुशम् ॥५३॥

अन्वयार्थ - (ततः) इसके अनन्तर उस दण्डकारण्य में (अवन्ध्यधीः) निष्फल नहीं है किसी कार्य में बुद्धि जिनकी ऐसे जीवन्धरकुमार (प्रसवित्रीं) अपनी माता को (प्रेक्ष्य) देखकर (प्रेमान्धः अभूत्) मातृ-प्रेम से अन्धे हो गए ।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (तत्त्वज्ञानतिरोभावे) तत्त्वज्ञानरूपी विचार के छिप जाने पर (रागादि) रागादिक भाव (निरङ्कुशं) बिना रुकावट के प्रबलता से (प्रवर्तते) ही प्रवर्तित हो जाते हैं ।

सरलार्थ - विशिष्ट बुद्धि के धनी जीवन्धरकुमार ने चलते-चलते दण्डकवन जाकर अपनी माताश्री को देखा तो वे मातृ-स्नेह से अत्यन्त भाव विह्वल हो गए; क्योंकि तत्त्वज्ञान का अभाव होने पर राग-द्वेषादि विभाव-भाव निरंकुश हो जाते हैं ।

विशेषार्थ - यद्यपि जीवन्धरकुमार तत्त्वज्ञानी हैं, सम्यग्दृष्टि हैं, विवेकी हैं; तथापि चारित्र मोहवश मातृ-स्नेह उमड़ने के कारण दुःखी हो गए ।

द्वेषभाव दुःखदाता है - ऐसा तो सभी मानते हैं, लेकिन प्रेमभाव भी दुःखद है - यह बात बहुत कम लोग मानते हैं । वस्तुतः तो राग-द्वेष से रहित एक वीतराग भाव ही सुखदाता है । इसीलिए तो कहते हैं कि - पुण्य-पाप तो कर्म हैं, वीतरागता धर्म है ।

माता विजया की मनोदशा -

जातजातक्षणत्यागाज्जातं दुर्जातमक्षिणोत् ।

सुतवीक्षणतो माता सुतप्राणा हि मातरः ॥५४॥

अन्वयार्थ - (माता) जीवन्धरकुमार की माता ने (जात-जातक्षणत्यागात्) पुत्र को जन्मसमय से ही त्याग देने से (जातं) उत्पन्न

(दुर्जातं) दुःख को (सुतवीक्षणतः) पुत्र के देखने से ही (अक्षिणोत्) नष्ट कर दिया अर्थात् भूल गई।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (सुतप्राणाः मातरः) माताओं के प्राण पुत्र ही होते हैं अर्थात् माताओं को पुत्र प्राणों से प्रिय होते हैं।

सरलार्थ – माता विजया युवा पुत्र जीवन्धर को देखते ही जन्मसमय से ही उत्पन्न पुत्र के वियोग के महान दुःख को तत्काल ही भूल गई; क्योंकि माताओं को अपने पुत्र प्राणों से भी अधिक प्यारे होते हैं।

विशेषार्थ – पुत्रजन्म के समय पुत्र की रक्षा का अन्य कोई उपाय न होने से तथा तत्समय समागत देवी की सलाह के अनुसार पुत्रेच्छु गन्धोत्कट सेठ के लिए माता विजया ने श्मशान में ही अपने प्राण जैसे प्रिय पुत्र को दे दिया था। अतएव माता विजया पुत्रजन्म से ही पुत्र के वियोग का असह्य दुःख भोग रही थीं। माता विजया उस असह्य वियोग-पीड़ा को जीवन्धरकुमार को देखते ही पूर्णरूप से भूल गई।

आश्चर्य है कि अनेक वर्षों के वियोगजन्य दुःख को दूर करने के लिए अनेक वर्ष आवश्यक नहीं, मात्र पुत्र-मुख-दर्शन ही पर्याप्त है। उसीप्रकार अनादिकालीन अनन्त वर्षों के संसार-दुःख के नाश के लिए अनन्त वर्ष आवश्यक नहीं, मात्र निज शुद्धात्मा का एक अन्तर्मुहूर्त का अनुभव ही पर्याप्त है।

माता को अपने पुत्र प्राणों के समान प्यारे होते ही हैं। वास्तव में देखा जाए तो पुत्रजन्म के बाद से ही माता का जीवन पुत्र के लिए समर्पित होता है, उसका जीवन पुत्र-पोषण को छोड़कर कुछ दूसरा रहता ही नहीं।

पुत्र-मिलन का आनन्द क्षणस्थायी –

सूनोर्वीक्षणतस्तृप्ता क्षोणीशं तमियेष सा।

लाभं लाभमभीच्छा स्यान्न हि तृप्तिः कदाचन ॥५५॥

अन्वयार्थ – (सूनोः) पुत्र के (वीक्षणतः) देख लेने से (तृप्ता) तृप्त

होकर फिर (सा) वह माता (तं) पुत्र को (क्षोणीशं) राजा होने की (इयेष) इच्छा करने लगीं अर्थात् यह कब राजा होगा – ऐसी माता ने इच्छा की।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (लाभं लाभं अभि) एक वस्तु के प्राप्त हो जाने पर मनुष्य की दूसरी वस्तु की प्राप्ति के लिए (इच्छा स्यात्) इच्छा हुआ ही करती है; परन्तु (तृप्तिः) इच्छा की पूर्ति अर्थात् सन्तोष (कदाचन न) कभी भी नहीं [भवति] होता है।

सरलार्थ – माता विजया पुत्र जीवन्धरकुमार को प्रथमतः देखकर ही तृप्त हो गई थी; किन्तु तुरन्त ही वह सन्ताप को प्राप्त हुई; क्योंकि अब वे अपने पुत्र को राजा के रूप में देखने की चाह करने लगीं। लोभ कषाय का स्वरूप ही ऐसा है कि एक वस्तु की प्राप्ति होने पर दूसरी वस्तु प्राप्त करने की इच्छा उत्पन्न हो ही जाती है; सन्तोष तो कभी रहता ही नहीं।

विशेषार्थ – माता विजया ने जबतक जीवन्धरकुमार को नहीं देखा था, तबतक तो मात्र उसे देखने की इच्छा का ही दुःख था। पुत्र के वियोगजन्य दुःख का अर्थात् इच्छा का अभाव होते ही परम्परागत 'राज्य-प्राप्ति' की इच्छा होने से पुत्र-मिलन के सुख का अभाव हुआ।

इसी विषय को ग्रन्थाधिराज 'समयसार' में वेद्य-वेदक भाव का कभी मिलान न होने से अल्पज्ञ जीव संसार में कभी सुखी हो ही नहीं सकता – ऐसा स्पष्ट किया है।

इच्छा की पूर्ति से सुख प्राप्त करना मात्र दिवास्वप्न है; यह विषय ज्ञानी अच्छी तरह जानते हैं। अतः ज्ञानी कभी इच्छा करते ही नहीं। (समयसार की गाथा २१६ तथा उसकी टीका एवं कलश १४७ और उसका भावार्थ भी देखिए।)

माता विजया का जीवन्धरकुमार से प्रश्न –

कश्चित्पितुः पदं ते स्यादङ्गपुत्रेत्यचोदयत्।

सामग्रीविकलं कार्यं न हि लोके विलोकितम् ॥५६॥

अन्वयार्थ – (अङ्गपुत्र) हे पुत्र ! (कश्चित्) कोई (ते) तुम्हारे (पितुः) पिता का (पदं स्यात्) पद तुझे मिलेगा ? (इति) इसप्रकार जीवन्धरकुमार से उनकी माता ने (अचोदयत्) पूछा।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (लोके) संसार में (सामग्रीविकलं) उत्पादक सामग्री के बिना (कार्यं) कार्य (न विलोकितं) नहीं देखा गया है।

सरलार्थ – अत्यन्त अधीर होकर माता विजया ने जीवन्धरकुमार से प्रश्न पूछ ही लिया – “हे प्रियपुत्र ! मैं तो तुझे राजा के रूप में देखना चाहती हूँ। तू अपने पिता का ‘राज्यपद’ प्राप्त करेगा या नहीं ? क्योंकि संसार में सर्वत्र आवश्यक कारण सामग्री होने पर ही कार्य सफल होते देखे जाते हैं, सामग्री के बिना नहीं।”

विशेषार्थ – जीवन्धरकुमार स्वयं राजपद प्राप्त करने की भावना रखते थे तथा माता विजया ने भी अपनी अपेक्षा स्पष्ट कर दी है; फिर भी कोई कार्य मात्र इच्छा करने से ही पूरा नहीं होता है। कार्य तो आवश्यक अन्तरंग और बाह्य कारण सामग्री के मिलने पर ही होता है।

राजपद की प्राप्तिरूप कार्य के लिए बाह्य कारण-पर्याप्त धन और सेना आदि चाहिए। फिर युद्ध कर उसमें विजय प्राप्त करना भी आवश्यक है। इस समय बाह्य कारण सामग्री कुछ भी तो नहीं है।

माता विजया के मन में जीवन्धरकुमार को राजा के रूप में देखने की तीव्र भावना तो उत्पन्न हुई है, पर कारण सामग्री का अभाव है; अतः प्रश्न उपस्थित हुआ है। इसकारण उन्होंने प्रश्न के माध्यम से अपनी भावना व्यक्त की है, जो स्वाभाविक ही है।

जीवन्धरकुमार का माता को आश्वस्त करना –

अम्ब किं बत खेदेन वाढं स्यादिति सोऽभ्यधात् ।

मुग्धेष्वतिविदग्धानां युक्तं हि बलकीर्तनम् ॥५७॥

अन्वयार्थ – पुत्र ने कहा (वाढं स्यात्) हाँ, अवश्य ! (अम्ब) हे माता!

(बर्त खेदेन किं) व्यर्थ खेद से क्या लाभ ? (इति) इसप्रकार (सः अभ्यधात्) उसने कहा ।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (अतिविदग्धानां) चतुर पुरुषों का (मुग्धेषु) मूढजनों में (बलकीर्तनं) अपने बल का कथन करना (युक्तं स्यात्) उचित ही होता है ।

सरलार्थ – “हे मातेश्वरी ! मैं अवश्य ही राजपद प्राप्त करूँगा । आप चिन्ता मत कीजिए । व्यर्थ शोक करने से क्या लाभ ?” इसप्रकार जीवन्धरकुमार ने माता के प्रश्न का उत्तर दिया । नीतिकारों का भी यही कहना है कि बुद्धिमानों को चाहिए कि भोले मनुष्यों को समझाने के लिए उनके समक्ष अपने बलादि गुणों की अवश्य प्रशंसा करें ।

विशेषार्थ – मैं अपने पिता का राजपद प्राप्त करके ही रहूँगा । मैं दुष्ट काष्ठांगार को अल्प समय में ही पराजित कर दूँगा । मुझे अपने मित्रों का बहुत बड़ा आधार है, धन-सम्पत्ति की भी कोई कमी नहीं है । मैं शीघ्र ही अच्छी सेना तैयार करके काष्ठांगार पर विजय प्राप्त करूँगा । आप थोड़े ही समय में मुझे राजा के रूप में देखेंगी । आप सब चिन्ताएँ छोड़ दीजिए ।

मैंने इसके पहले भी अनेक युद्ध किए हैं और उनमें अपने पराक्रम से विजयश्री प्राप्त की है । मैं अनेक प्रकार की युद्ध कलाओं में पारंगत हूँ । मेरे सामने बड़े-बड़े योद्धा भी नतमस्तक हो चुके हैं । अनेक लोगों ने तो मेरा नाम सुनते ही पराजय स्वीकार कर ली है ।

मैं अनेक प्रकार की मन्त्र-विद्याओं में भी सिद्धहस्त हूँ, उनका प्रयोग भी मैंने अनेकबार किया है । अतः आप किसी प्रकार की कोई चिन्ता मत कीजिए ।

अपने गुणों का वर्णन स्वयं अपने मुँह से करना उचित नहीं है – यह बात जीवन्धरकुमार भी अच्छी तरह से जानते हैं; पर अपनी अधीर तथा भोली माँ को सान्त्वना देने, आश्वस्त करने और समझाने का अन्य कोई साधन नहीं था, अतः अपने पराक्रम का वर्णन कर माता को आश्वस्त किया है ।

उत्तर से उत्पन्न हुई माता की मनोदशा -

पुत्रवाक्येन हस्तस्थां मेने माता च मेदिनीम् ।
मुग्धाः श्रुतविनिश्चेया न हि युक्तिवितर्किणः ॥५८॥

अन्वयार्थ - (च) और (पुत्रवाक्येन) पुत्र के इसप्रकार वचन सुनकर (माता) माता ने भी (मेदिनीं) पृथ्वी को (हस्तस्थां) हाथ में आया हुआ (मेने) समझा।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (मुग्धाः) मूढ पुरुष (श्रुतविनिश्चेयाः) किसी भी विषय का निश्चय केवल सुनने से ही करते हैं; किन्तु (युक्तिवितर्किणः) युक्ति द्वारा किसी कार्य का विचार करने में तत्पर [न भवन्ति] नहीं होते हैं।

सरलार्थ - जीवन्धरकुमार के पूर्वोक्त कथन को सुनकर माता विजया यह मानने लगी कि राजा सत्यन्धर का परम्परागत राज्य हाथ में ही आ गया; क्योंकि भोले मनुष्य किसी भी विषय का निश्चय मात्र सुनने पर ही कर लेते हैं/मान लेते हैं, वे तर्क और युक्तियों से विचार ही नहीं करते।

विशेषार्थ - तर्क और युक्ति तो जागृत ज्ञान का कार्य है। जहाँ रागादि कषाय भावों की मुख्यता हो, वहाँ ज्ञान गौण हो जाता है। माता विजया के मन में तो पुत्र जीवन्धरकुमार को राजपद मिले ही मिले - यह कषाय भाव मुख्यता से चल रहा है, जिसके कारण उनका ज्ञान भी शिथिल हो गया था। अतः तर्क और युक्तियों को अवकाश ही कैसे रहता ? उन्हें अपनी भावनाओं के अनुरूप जीवन्धरकुमार ने जो कहा, वही सत्य लगता था। अतः वह राज्य अपने हाथ में ही आ गया - ऐसा मानने लगी।

माता विजया का पुत्र को मार्गदर्शन करना -

अपायस्थानमस्तोकं दूरक्षं व्याहरद्विभोः ।
अमित्रो हि कलत्रं च क्षत्रियाणां किमन्यतः ॥५९॥

अन्वयार्थ - माता ने (विभोः) जीवन्धरकुमार को (दूरक्षं) कष्टसाध्य

(अस्तोकं) एक बड़ी भारी (अपायस्थानं) विपत्ति से बचने के लिए (व्याहरत्) सावधान किया अर्थात् राज्य की बात कहकर जीवन्धरकुमार को युद्ध के लिए तैयार कर दिया।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (क्षत्रियाणां) क्षत्रियों की (कलत्रं) स्त्री/पत्नी भी (अमित्रः) शत्रु [भवति] हो जाती है (अन्यतः किं) औरों का तो फिर कहना ही क्या है ?

सरलार्थ – अपना प्रिय पुत्र जीवन्धरकुमार राजकार्यों के काल में आनेवाले संकटों के समय पूर्ण सुरक्षित रहे – इस अभिप्राय से माता विजया ने राज-काज में आनेवाली अनेक प्रकार की आपत्तियों का ज्ञान जीवन्धरकुमार को करा दिया; क्योंकि क्षत्रियों (राजाओं) के लिए अपनी स्त्री भी शत्रु हो जाती है तो अन्य मनुष्यों की बात ही क्या कहना ?

विशेषार्थ – इस ग्रन्थ के ही प्रथम लम्ब के श्लोक क्रमांक १५ में ग्रन्थकर्ता श्री वादीभसिंहसूरि ने स्वयं ही कहा है – “राजाओं को अपने हृदय पर भी विश्वास नहीं करना चाहिए, तो फिर अन्य मनुष्यों का तो कहना ही क्या ? अतः स्त्री पर तो विश्वास करने का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता।”

अतएव माता पुत्र को मार्गदर्शन कर रही है, राजनीति समझा रही है कि राजाओं के लिए स्वार्थवश अपनी विवाहिता पत्नी भी शत्रु बन सकती है तो अन्य व्यक्तियों पर विश्वास कैसे रखा जा सकता है ? अतः राजा को सदैव सावधान रहना चाहिए; राजनीति का स्वरूप ही ऐसा है।

माता से मार्गदर्शन प्राप्त करना –

कर्तव्यं च ततो मात्रा मन्त्रितं तेन मन्त्रिणा ।

विचार्यैवेतरैः कार्यं कार्यं स्यात्कार्यवेदिभिः ॥६०॥

अन्वयार्थ – (ततः) इसके अनन्तर (तेन मन्त्रिणा) विचार करनेवाले

उन जीवन्धरकुमार ने (मात्रा) माता के साथ (कर्तव्यं) करने योग्य कार्य का (मन्त्रितं) विचार किया।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (कार्यवेदिभिः) कार्य करने में चतुर पुरुष (इतरैः सह) दूसरों के साथ (कार्यं) कार्य को (विचार्य एव) विचार करके ही (कार्यं स्यात्) कार्य किया करते हैं।

सरलार्थ – इसके पश्चात् विचारशील जीवन्धरकुमार ने पूज्य माता विजया के साथ राजपद की प्राप्ति के लिए भविष्य में करने योग्य कार्यों के विषय में विचार-विमर्श किया; क्योंकि कार्यकुशल मनुष्य को दूसरे अनुभवी लोगों के साथ योग्य-अयोग्य का विचार करके ही महत्त्वपूर्ण कार्य करना चाहिए।

विशेषार्थ – जीवन्धरकुमार युवा हैं और शक्तिशाली हैं, जोश तो उनकी रग-रग में भरा है; तथापि कार्य का अनुभव न होने से होश की कमी है। जोश और होश दोनों के संयोग से ही कोई भी कार्य सफलतापूर्वक सम्पन्न होता है। पूज्य माता विजया को राज-काज का विशेष अनुभव है। अतः जीवन्धरकुमार ने अनुभव का लाभ उठाने के उद्देश्य से माता विजया से गम्भीरता से विचार-विमर्श किया, जो अत्यन्त उचित है।

जीवन्धरकुमार द्वारा अपने सुपुत्रपने को सार्थक सिद्ध करना –

प्राहिणोत्प्रसवित्रीं तां मातुलोपान्तिके कृती।

न हि मातुः सजीवेन सोढव्या स्याददुरासिका ॥६१॥

अन्वयार्थ – फिर (कृती) विद्वान जीवन्धरकुमार ने (तां प्रसवित्रीं) अपनी उस माता को (मातुलोपान्तिके) अपने मामा के समीप (प्राहिणोत्) भेज दिया।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (मातुः दुरासिका) अपनी माता की दुःखी अवस्था (सजीवेन) किसी भी पुत्र से (न सोढव्या) सहन नहीं की जा सकती है।

सरलार्थ – विवेकशील जीवन्धरकुमार ने अपनी आदरणीया माता को अपने मामा के पास भेज दिया; क्योंकि कोई भी कृतज्ञ मनुष्य अपनी माता की दुःखित अवस्था को सहन नहीं कर सकता।

विशेषार्थ – पुत्रों पर प्रत्येक माता का महान उपकार होता है। माता के उपकार को चुकाना किसी से सम्भव नहीं है। प्रत्येक सहृदय तथा कृतज्ञ व्यक्ति अपनी माँ की वृद्धावस्था में सेवा करना चाहता है और उसे सुखी रखने का प्रयत्न करता है।

जीवन्धरकुमार जैसे विचारशील, समर्थ और कृतज्ञ व्यक्ति अपनी माता की दुःखी अवस्था कैसे सहन कर सकते हैं ? अतः उन्होंने वन में स्थित तपस्वियों के आश्रम से अपनी माता को अपने मामा राजा गोविन्दराज के पास ससम्मान पहुँचा दिया।

जीवन्धरकुमार का प्रस्थान –

ततः सपरितोषोऽयं परिव्राजकपार्श्वतः।

निकषा स्वपुरं प्राप्य तदारामे निषण्णवान् ॥६२॥

अन्वयार्थ – (ततः) तदनन्तर (सपरितोषः अयं) सन्तुष्ट यह जीवन्धरकुमार (परिव्राजकपार्श्वतः) दण्डक वन के तपस्वियों के पास से (स्वपुरं) अपने नगर के (निकषा) समीप (प्राप्य) पहुँचकर (तदारामे) वहाँ के बगीचे में (निषण्णवान्) ठहर गए।

सरलार्थ – माता विजया को मामा राजा गोविन्दराज के पास पहुँचाने के पश्चात् जीवन्धरकुमार निश्चिन्त हो गए। तदनन्तर अत्यन्त सन्तोषपूर्वक मित्रों के साथ उस आश्रम से प्रस्थान किया तथा राजपुरी नगरी के पास पहुँच कर एक सुन्दर बगीचे में कुछ काल आनन्दपूर्वक व्यतीत किया।

जीवन्धरकुमार का अकेले ही भ्रमण करना –

तत्र मित्राण्यवस्थाप्य व्यहरत्परितः पुरीम्।

विशृङ्खला न हि क्वापि तिष्ठन्तीन्द्रियदन्तिनः ॥६३॥

अन्वयार्थ – (तत्र) वहाँ पर जीवन्धरकुमार ने (मित्राणि) मित्रों को (अवस्थाप्य) ठहराकर (पुरीं परितः) नगरी के चारों ओर (व्यहरत्) भ्रमण किया।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (विशृङ्खलाः) बन्धनरहित (इन्द्रिय-दन्तिनः) इन्द्रियरूपी हाथी (क्व अपि) कहीं एक जगह पर (न तिष्ठन्ति) स्थिर नहीं रहते हैं।

सरलार्थ – मित्रों को उसी बगीचे में छोड़कर जीवन्धरकुमार स्वयं अकेले ही राजपुरी नगरी में इधर-उधर घूमने लगे; क्योंकि बन्धनरहित इन्द्रियरूपी हाथी किसी भी एक स्थान पर स्थिर नहीं रहते हैं।

विशेषार्थ – हाथी को सांकल का मजबूत बन्धन हो तब ही वह एक स्थान पर स्थिर रह पाता है; उसीप्रकार संयम का मजबूत बन्धन हो तब ही मनुष्य एक स्थान पर स्थिर रहता है, अन्यथा नहीं। जैसे हाथी स्वभाव से ही स्वयमेव बलवान होता है, उसे वश में रखना कठिन है; उसीप्रकार मनुष्य की इन्द्रियाँ भी स्वभाव से स्वयमेव ही बलवान होती हैं; उन्हें वश में रखना अत्यन्त कठिन कार्य है।

यद्यपि जीवन्धरकुमार ज्ञानी, धैर्यवान और सम्यग्दृष्टि हैं, फिर भी संयमी न होने से उनके मन में नगर-भ्रमण की इच्छा हुई है। अतः वे नगर-भ्रमण कर रहे हैं, जो उनकी भूमिका के लिए योग्य है।

ममत्व बुद्धि से प्रेम की उत्पत्ति –

ततो राजपुरीं वीक्ष्य सुतरामतृपत्सुधीः।

ममत्वधीकृतो मोहः सविशेषो हि देहिनाम् ॥६४॥

अन्वयार्थ – (ततः) फिर (सुधीः) बुद्धिमान जीवन्धरकुमार (राजपुरीं) राजपुरी नगरी को (वीक्ष्य) देखकर (सुतरां) अत्यन्त (अतृपत्) सन्तुष्ट हुए।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (देहिनां) प्राणधारियों के (ममत्वधी-

कृतः) ममत्व बुद्धि से किया हुआ (मोहः) मोह (सविशेषः भवति) बहुत अधिक होता है।

सरलार्थ – जीवन्धरकुमार अत्यन्त सुन्दर राजधानी राजपुरी नगरी को देखकर अतिशय आनन्दित हुए; क्योंकि ममत्व बुद्धि से मनुष्य को मोह अधिक होता है।

विशेषार्थ – जीवन्धरकुमार के विचारों में – ‘यह राजपुरी नगरी मेरी है।’ ऐसी ममत्व बुद्धि अखण्डपने से मन में है। अतः उस नगरी को देखकर उन्हें आनन्द भी अधिक हुआ। ‘जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी’ अर्थात् माता और जन्मभूमि मनुष्य को स्वर्ग से भी अधिक प्रिय लगती है – ऐसा यह प्रसिद्ध सूत्र है। जीवन्धरकुमार की जन्मभूमि राजपुरी नगरी ही है।

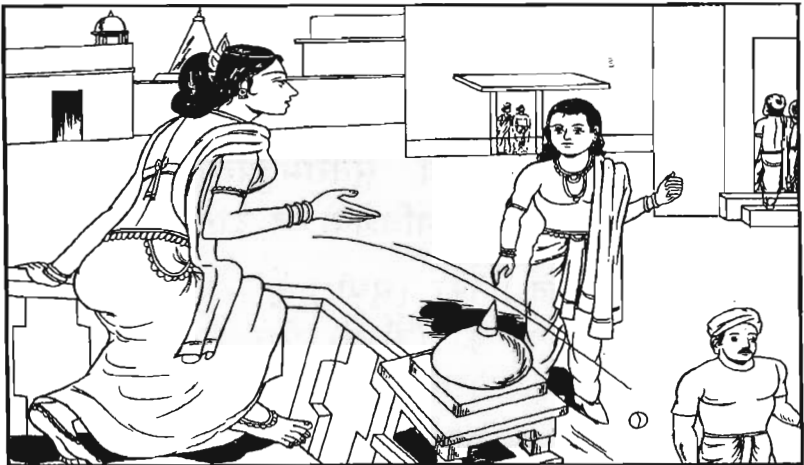
उपकथा-२०

कार्य में निमित्त का उपस्थित हो जाना –

क्रीडन्ती कापि हर्म्याग्रात्पातयामास कन्दुकम् ।

सम्पदामापदां चाप्तिर्व्याजेनैव हि केनचित् ॥६५॥

अन्वयार्थ – उस नगरी में (क्रीडन्ती) क्रीड़ा करती हुई (का अपि)



किसी एक युवा कन्या ने (हर्म्याग्रात्) अपने महल के ऊपर से (कन्दुकं) गेंद (पातयामास) फेकी।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (सम्पदां) सम्पत्ति (च) और (आपदां) विपत्ति की (आप्तिः केनचित्) प्राप्ति में कोई न कोई (व्याजेन एव भवति) निमित्त होता ही है।

सरलार्थ – नगर-भ्रमण के समय जीवन्धरकुमार के सामने किसी अपरिचित युवती ने खेलते हुए अपने महल से एक गेंद फेक दी; क्योंकि – सम्पत्ति और विपत्ति की प्राप्ति में कोई न कोई निमित्त सामने आ ही जाता है।

विशेषार्थ – कार्य की सम्पन्नता में निमित्त का भी एक स्थान है। जब कोई भी कार्य सम्पन्न होता है तो उस कार्य के लिए कारण सामग्री भी आवश्यक होती है। कारण के दो भेद हैं – (१) उपादान कारण (२) निमित्त कारण। जो वस्तु स्वयं कार्यरूप परिणमित होती है, उसे उपादान कारण कहते हैं; जैसे 'घट' के बनने में मिट्टी। जब मूल वस्तु कार्यरूप से परिणमित होती है, तब जिस वस्तु पर अनुकूलता का आरोप आता है, उस उपस्थित अन्य वस्तु को निमित्त कहते हैं। जैसे 'घटरूप' कार्य में कुम्हार, चाक, पानी, चीवर आदि। निमित्त के बिना कोई कार्य होता ही नहीं है; लेकिन निमित्त कार्य का कर्ता है – ऐसा मानना वस्तु-स्वभाव के विरुद्ध है।

यहाँ जीवन्धरकुमार का गेंद फेकनेवाली युवती से विवाह होना है, अतः विवाह में गेंद निमित्त बन रही है।

भवितव्यतानुसार भावों का होना –

उद्वक्त्रस्तद्वर्तीं सूत्यां दृष्ट्वामुह्यदबाह्यधीः।

वशिनां हि मनोवृत्तिः स्थान एव हि जायते ॥६६॥

अन्वयार्थ – (अबाह्यधीः) बाह्य पदार्थों में नहीं है बुद्धि जिनकी ऐसे जीवन्धरकुमार (उद्वक्त्रः) ऊपर को मुख किए हुए (तद्वर्तीं) गेंद से खेलती हुई (सूत्यां) उस युवा कन्या को (वीक्षन्) देखकर (अमुह्यत) उस पर मोहित हो गए।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (वशिनां) जितेन्द्रिय पुरुषों के (मनोवृत्तिः) मन के भाव (स्थाने एव) योग्य स्थान में ही (जायते) प्रवृत्त होते हैं।

सरलार्थ – गेंद के सामने गिरते ही आत्मबुद्धिवाले/एकाग्र बुद्धिवाले जीवनधरकुमार ने ऊपर की ओर दृष्टि उठाई तो गेंद की स्वामिनी कन्या पर दृष्टि पड़ी, दृष्टि पड़ते ही वे कन्या पर मोहित हो गए; क्योंकि जितेन्द्रिय पुरुषों के मन की प्रवृत्ति योग्य स्थान में ही होती है।

विशेषार्थ – जीवनधरकुमार ज्ञानी, विवेकी, सम्यग्दृष्टि, अत्रती गृहस्थ हैं। उन्होंने महाव्रतों को तो ग्रहण किया ही नहीं है, अणुव्रत भी ग्रहण नहीं किए हैं; अतः वे अत्रती हैं। अत्रती को भी अन्याय, अनीति और अभक्ष्य का त्याग तो नियमपूर्वक रहता ही है।

अत्रती सम्यग्दृष्टि श्रावक ६६ हजार विवाह तो कर सकता है; किन्तु एक भी परस्त्री को स्वीकार नहीं कर सकता। यही उसके अन्याय के भोग का त्याग है।

सम्यग्दृष्टि व्रती नहीं होने पर भी अपनी भूमिका के अनुसार इन्द्रियों पर विजय तो प्राप्त करता ही है। इन्द्रिय-विषयों में सुख नहीं है, उसे ऐसा दृढ़ श्रद्धान रहता है, जो मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी कषायों के अभाव से उत्पन्न होता है, यही उसका इन्द्रियजयी होना है। अतः उसकी प्रवृत्ति अयोग्य विषयों में नहीं होती।

राज्य के नियम तथा कुलीन समाज की पवित्र परम्परा का सम्यग्दृष्टि उल्लंघन नहीं करता, यह अनीति का त्याग है।

अनन्तकाय वनस्पति जैसे – आलू, प्याज, लहसुन, शकरकन्द, गाजर, मूली आदि का त्याग, रात्रि भोजन का त्याग, मद्य-मांस-मधु का त्याग, अनछने पानी का त्याग – इत्यादि सभी प्रकार के अभक्ष्यों का त्याग तो सम्यग्दृष्टि के रहता ही है।

पुण्यवान की इच्छा का सफल होना -

तन्मोहादयमध्यास्त तत्सौधाग्रवितर्दिकाम् ।

अञ्जसा कृतपुण्यानां न हि वाञ्छापि वञ्चिता ॥६७॥

अन्वयार्थ - (अयं) यह जीवन्धरकुमार (तन्मोहात्) उस कन्या के प्रेम से (तत्सौधाग्रवितर्दिकाम्) उसके मकान के आगे की चौकी पर (अध्यास्त) बैठ गए।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (अञ्जसा कृतपुण्यानां) किया है अच्छी तरह से पुण्य जिन्होंने ऐसे पुरुषों की (वाञ्छा अपि) इच्छा भी (वञ्चिता न) निष्फल नहीं होती है।

सरलार्थ - युवा जीवन्धरकुमार उस कन्या के मोहवश उसके मकान के आगे के छज्जे पर चले गए; क्योंकि पुण्यवान-पुरुषों की इच्छा विफल नहीं होती।

विशेषार्थ - पुण्यवानों को इच्छित वस्तु की प्राप्ति होती ही है। इसे इसप्रकार भी कहा जा सकता है कि पुण्यवानों को सफल होनेवाली इच्छाएँ ही उत्पन्न होती हैं, अन्य इच्छाएँ नहीं होती। इच्छित वस्तु की प्राप्ति होने पर मनुष्य को जो आनन्द होता है, वही पुण्य है।

पर वस्तु की प्राप्ति को पुण्य कहना उपचार है, यथार्थ नहीं है; किन्तु इच्छानुसार कार्य होने पर मन में जो सन्तोष होता है, उस सन्तोष को ही पुण्य कहते हैं। पुण्य तथा पाप को मुख्यता से 'जीव-विपाकी' कर्म कहते हैं। जिन कर्मों के उदय का, फल जीव के परिणामों पर होता है, उसे जीव-विपाकी कर्म कहा जाता है। (गोम्मटसारकर्मकाण्ड, गाथा ४९) वेदनीय कर्म को पुद्गलविपाकी भी कहा है - यह भी ध्यान देनेयोग्य है।

कन्या के लिए सुयोग्य वर का मिलना -

वैश्येशः कोऽपि तं पश्यन्व्याजहे विकसन्मुखः ।

चिरकाङ्क्षितसम्प्राप्त्या प्रसीदन्ति हि देहिनः ॥६८॥

अन्वयार्थ – इसके अनन्तर (विकसन्मुखः) प्रसन्न है मुख जिसका ऐसे (कः अपि) कोई (वैश्येशः) सेठ (तं) उनको (पश्यन्) देखकर (व्याजहे) बोले।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (देहिनः) प्राणी (चिरकाङ्क्षित-सम्प्राप्त्या) बहुत काल से चाही हुई वस्तु के मिल जाने पर (प्रसीदन्ति) प्रसन्न होते हैं।

सरलार्थ – सागरदत्त श्रेष्ठी के मन में युवा, सुन्दर, उत्साही जीवनधरकुमार को देखकर अत्यन्त प्रसन्नता हुई। उन्होंने स्वयं अपना परिचय देना प्रारम्भ किया; क्योंकि चिरकाल से चाही हुई वस्तु के मिल जाने पर मनुष्य आनन्दित होता ही है।

विशेषार्थ – सागरदत्त सेठ अपनी प्रिय कन्या के लिए सुयोग्य वर की प्रतीक्षा कर रहे थे। वह वर आज अनायास ही स्वयं अपने ही घर पर आ गया है – यह जानकर किस कन्या के पिता को आनन्द नहीं होगा ? अतः वे स्वयं ही निम्नानुसार अपना परिचय देने लगे।

सेठ द्वारा स्वयं ही अपना परिचय देना –

भद्र सागरदत्तोऽहं भवत्येष ममालयः ।

विमला कमलोद्भूता सुता सूत्या च साभवत् ॥६९॥

अन्वयार्थ – (भद्र) हे भद्र ! (अहं) मैं (सागरदत्तः) सागरदत्त नाम का वैश्य हूँ और (एषः) यह (मम आलयः) मेरा घर (भवति) है और (कमलोद्भूता) कमला नाम की मेरी स्त्री से उत्पन्न (विमला) विमला नाम की मेरी (सुता) पुत्री है (सा च) और वह पुत्री भी (सूत्या अभवत्) युवा हो गई है।

सरलार्थ – हे सज्जनोत्तम ! आप मेरे महल में पधारिए। मैं आपके स्वागत के लिए उत्सुक हूँ। मैं इस नगर का सेठ सागरदत्त हूँ, यह मेरा ही घर है। मेरी पत्नी का नाम कमला है, उससे उत्पन्न विमला नाम की एक सुयोग्य कन्या है, जो अब युवा होने से विवाह योग्य हो गई है।

विशेषार्थ – पुण्यवान पुरुष का हर स्थान पर स्वागत और सम्मान होता है। पुण्यवान पुरुषों को अपने पुण्य का पता ही नहीं रहता, पर उनका पुण्य तो उनके आगे-आगे ही चलता रहता है। वे तो अपना जीवन सहजता से जीते हैं, परन्तु पुण्योदय से अघटित घटनाएँ स्वयमेव ही घटित होती रहती हैं। अन्य पुरुषों को तो मात्र पुण्य की विशेषता भासित होती रहती है। जीवन्धरकुमार कन्या के मोहवश सहजता से महल के सामनेवाले छज्जे तक चले गए, वहाँ उस कन्या के पिता से भेंट हुई और उनका स्वागत होने लगा।

ज्ञानी पुरुष अपनी भूमिका के अनुसार उत्पन्न होनेवाले विकारों को हठपूर्वक छिपाने का प्रयास नहीं करते, सहज रहते हैं। योग्यतानुसार शुभाशुभ और शुद्धभाव भी सहज होते रहते हैं; यही तो ज्ञानी की विशेषता है।

ज्योतिषियों की बात –

रत्नजालमविक्रीतं विक्रीयेत यदागमे।

भाविज्ञास्तं पतिं तस्याः समुत्पत्तावजीगणन् ॥७०॥

अन्वयार्थ – (तस्याः) उस कन्या की (समुत्पत्तौ) जन्म के समय में (भाविज्ञाः) ज्योतिष शास्त्रों के जाननेवालों ने (यदागमे) जिसके आने पर (अविक्रीतं) नहीं बिका हुआ (रत्नजालं) रत्नों का समूह (विक्रीयेत) बिक जाएगा (तं) उसको (पतिं) इसका पति (अजीगणन्) जानना।

सरलार्थ – मान्यवर ! इस विमला नाम की कन्या के जन्म के समय ज्योतिषियों ने इसका भविष्य सुनाया था कि जिस व्यक्ति के आने पर आपके अनेक दिनों से बिना बिक्री के पड़े हुए रत्न, बिना कष्ट के बिक जाएँगे, वही व्यक्ति इस कन्या का वर होगा।

ज्योतिषियों का कथन सत्य सिद्ध होना –

भवत्यत्र प्रविष्टे च दृष्टमेतदलं परैः।

भाग्याधिक भवानेव योग्यः परिणयेदिति ॥७१॥

अन्वयार्थ – और (भवति) आपके (अत्र प्रविष्टे) यहाँ प्रवेश करने पर (एतत् दृष्टं) यह सब देखा गया है। (च परैः अलं) और विशेष कहने से क्या? अतएव (भाग्याधिक) हे महाभाग्य ! (योग्यः) योग्य (भवान् एव) आप ही (परिणयेत्) इस कन्या के साथ विवाह करें। (इति) इसप्रकार उसने कहा।

सरलार्थ – हे महाभाग्यवान महापुरुष ! आपका आगमन हमारे घर के सामने होते ही हमारे सभी बहुमूल्य रत्न बिक गए – ऐसा मैंने प्रत्यक्ष अनुभव किया है। अतः अब कन्या के लिए अन्य वर ढूँढ़ने कहीं नहीं जाना है, आप ही इस कन्या के सुयोग्य वर हैं। अतः आप मेरी इस विमला नामक सुयोग्य कन्या का वरण कीजिए।

जीवन्धरकुमार की सहज स्वीकृति –

तन्निर्बन्धादयं चाभूदनुमन्ता तथाविधौ।

वाञ्छितार्थेऽपि कातर्यं वशिनां न हि दृश्यते ॥७२॥

अन्वयार्थ – (अयं) इन जीवन्धरकुमार ने (तन्निर्बन्धात्) उसके अत्यन्त आग्रह करने पर (तथाविधौ) इस विषय में (अनुमन्ता अभूत्) अपनी अनुमति दे दी।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (वाञ्छितार्थे अपि) इच्छित पदार्थ में भी (वशिनां) जितेन्द्रिय पुरुषों के (कातर्यं) अधीरता (न दृश्यते) नहीं देखी जाती है।

सरलार्थ – सेठ सागरदत्त के आग्रहपूर्वक अनुरोध करने पर जीवन्धरकुमार ने उनकी युवा कन्या विमला के साथ विवाह करने की अनुमति प्रदान कर दी; क्योंकि जितेन्द्रिय मनुष्य इच्छित पदार्थ के पाने में भी अधीर नहीं होते।

विशेषार्थ – जिन मनुष्यों को अपने पुण्य पर विश्वास नहीं होता तथा वस्तुव्यवस्था का जिन्हें भान नहीं है; वे ही मनुष्य इच्छित वस्तु के ग्रहण में आकुलता करते हैं, अधीर होते हैं तथा अपना होश खो बैठते हैं।

जीवन्धरकुमार को अपने पुण्य पर भरोसा है। तत्त्वज्ञानी होने से उन्हें वस्तुव्यवस्था का ज्ञान भी है; अतः कन्या विमला अपेक्षित होने पर भी विमला से विवाह के लिए स्वयं प्रस्ताव नहीं रखा, अपितु जब सागरदत्त ने विमला से विवाह करने के लिए विशेष अनुरोध किया तो उन्होंने अपनी स्वीकृति प्रदान कर दी।

विमला के साथ जीवन्धरकुमार का विवाह होना -

अथ सागरदत्तेन दत्तां सत्यन्धरात्मजः ।

व्यवहद्विमलां कन्यां हव्यवाहसमक्षकम् ॥७३॥

अन्वयार्थ - (अथ) इसके अनन्तर (सत्यन्धरात्मजः) सत्यन्धर राजा के पुत्र जीवन्धरकुमार ने (सागरदत्तेन) सागरदत्त से (दत्तां) दी हुई (विमलां) विमला नाम की (कन्यां) कन्या को (हव्यवाहसमक्षकं) अग्नि की साक्षी-पूर्वक (व्यवहत्) वरण किया।

सरलार्थ - वधू पक्ष के आग्रह के पश्चात् राजा सत्यन्धर के सुपुत्र जीवन्धरकुमार ने श्रेष्ठिवर सागरदत्त द्वारा समर्पित उस अपेक्षित कन्या 'विमला' का अग्नि की साक्षी में विधिपूर्वक वरण किया।

इति श्रीवादीभसिंहसूरिविरचिते क्षत्रचूडामणौ

विमलालम्बो नाम अष्टमो लम्बः समाप्तः ।

सर्वज्ञता की अनिवार्यता

सर्वज्ञ बिना तो सर्व पदार्थों का स्वरूप ही नहीं जाना जा सकता। वीतरागता बिना राग-द्वेष को वश में करके यथार्थ उपदेश नहीं दिया जा सकता। अन्य स्थानों में या तो अपनी सर्व प्रकार निंदा का ही उपदेश है या अपनी सर्व प्रकार बढ़ाई व महन्तता का ही उपदेश है। सो ये लक्षण भलीभाँति कुदेव आदि में सम्भवित हैं।

- ज्ञानानन्द श्रावकाचार, पृष्ठ १५

नौवाँ लम्ब

जीवन्धरकुमार का आनन्दपूर्वक रहना -

अथ व्यूढामतिस्निग्धां गाढस्नेहोऽन्वभूदिमाम् ।

वाञ्छिता यदि वाञ्छेयुः ससारैव हि संसृतिः ॥१॥

अन्वयार्थ - (अथ) विमला से विवाहोपरान्त (गाढस्नेहः) अत्यन्त स्नेही जीवन्धरकुमार ने (व्यूढां) नई ब्याही हुई (इमां) इस विमला नाम की पत्नी में (अतिस्निग्धां) बहुत स्नेह का (अन्वभूत्) अनुभव किया।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (वाञ्छिताः) जिनको हम चाहते हैं (यदि) अगर वे भी (वाञ्छेयुः) हमें चाहें तो (संसृतिः) संसार भी (ससारा एव) सार रूप ही लगता है।

सरलार्थ - नव विवाहिता पत्नी 'विमला' जो कि प्रेम करने में अति प्रवीण है, उसके साथ जीवन्धरकुमार अतिशय प्रेमपूर्वक रहने लगे; क्योंकि रागी जीव जिस इच्छित व्यक्ति को चाहता है, यदि वह इच्छित व्यक्ति भी उसे चाहने लगे तो उसे संसार भी सारभूत भासित होने लगता है।

विशेषार्थ - संसार तो निस्सार ही है, उसमें किसी अपेक्षा से कुछ भी सार नहीं है; फिर भी रागी जीव इच्छित पदार्थ पाकर उसे सारभूत समझने लगता है। जीवन्धरकुमार विमला पर मोहित थे, वे उसे विशेष चाहते थे। विमला भी प्रेम करने में प्रवीण थी तथा वह भी जीवन्धरकुमार से विशेष स्नेह रखती थी। अतः दोनों को राग परिणाम की वर्तमान पर्याय में तात्कालिक सारपना भासित होता है। अतः दोनों का समय सानन्द व्यतीत होने लगा।

पूर्व पुण्य के उदय से जब जीव की इच्छानुसार कुछ अनुकूल घटित होने लगता है तब उसे इच्छित वस्तु की प्राप्ति से सुखाभास होने लगता है, उसे ही यहाँ उपचार से सारभूत संसार कहा है, जो उचित ही है।

जितेन्द्रियों का निर्णय पक्का -

ततोऽनुनीय तां हित्वा स मित्रैः समगच्छत ।

अन्यरोधि न हि क्वापि वर्तते वशिनां मनः ॥२॥

अन्वयार्थ - (ततः) फिर (सः) वे जीवन्धरकुमार (तां) उस अपनी स्त्री को (अनुनीय) समझाकर और [तत्र] वहीं (हित्वा) छोड़कर (मित्रैः) अपने मित्रों से (समगच्छत) आकर मिले।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (वशिनां) जितेन्द्रिय पुरुषों का (मनः) मन (क्व अपि) कहीं पर भी (अन्यरोधि) दूसरों से रुकनेवाला (न वर्तते) नहीं होता है।

सरलार्थ - एक दिन जीवन्धरकुमार ने अपनी पत्नी विमला को अपने सम्बन्ध में सब कुछ बता दिया तथा उसे समझाकर, वहीं ससुर सागरदत्त के पास छोड़कर, अपने मित्रों से मिलने के लिए प्रस्थान कर गए; क्योंकि जितेन्द्रिय पुरुषों के मन को कोई आकृष्ट या वशीभूत नहीं कर सकता।

विशेषार्थ - जीवन्धरकुमार अपने मित्रों को राजधानी राजपुरी के एक उद्यान में छोड़कर अकेले ही नगर भ्रमण को आए थे और यहाँ अनपेक्षित 'विमला' से विवाह सम्पन्न हो गया। जीवन्धरकुमार और विमला में परस्पर गाढ़-स्नेह हो गया है; फिर भी विमला उनके मन को ऐसा नहीं जीत सकी कि वे अपने भविष्य की राज्य-प्राप्ति विषयक योजनाओं को छोड़कर, उसके पास ही रह सकें। जीवन्धरकुमार तो जितेन्द्रिय हैं। वे पत्नी विमला को अपनी भावी योजनाओं को बताकर उसको पीहर में छोड़कर अपने मित्रों से मिलने उद्यान की ओर चल पड़े।

मित्रों द्वारा जीवन्धरकुमार का आदर-सत्कार -

वरचिह्नं तमालोक्य बह्वमन्यन्त बान्धवाः ।

ऐहिकातिशयप्रीतिरतिमात्रा हि देहिनाम् ॥३॥

अन्वयार्थ - (बान्धवाः) जीवन्धरकुमार के मित्रों ने (वरचिह्नं) वर के

चिह्नों से युक्त (तं) उन जीवन्धरकुमार को (आलोक्य) देखकर (बहु अमन्यन्त) अत्यन्त आदर-सत्कार किया।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (देहिनां) प्राणियों को (ऐहिकातिशय-प्रीतिः) इस लोक सम्बन्धी अतिशय अर्थात् सांसारिक उत्कर्ष में ही प्रेम (अतिमात्रा भवति) अति मात्रा में होता है।

सरलार्थ – जीवन्धरकुमार को 'वर' चिह्नों से विभूषित देखकर उनके मित्रों ने उनका बहुत आदर-सत्कार किया; क्योंकि इस लोक सम्बन्धी उत्कर्ष होने पर मनुष्यों का प्रेम वृद्धिगत हो ही जाता है।

विशेषार्थ – बगीचे में स्थित मित्रों ने जीवन्धरकुमार को देखते ही जान लिया कि वे एक और नई शादी करके आ रहे हैं। इस विवाह के पूर्व ही जीवन्धरकुमार की पाँच पत्नियाँ थीं। रागी जीव को रागजन्य नया कार्य अच्छा लगता ही है। रागजन्य कार्यों में विवाह का कार्य तो अन्य सब कार्यों से अधिक प्रिय होता है। अतः जीवन्धरकुमार नया विवाह करके आए हैं – यह जानकर मित्रों ने उनका बहुत आदर-सत्कार किया; जो उनकी भूमिका के योग्य ही था।

बुद्धिसेन विदूषक का हास्य-विनोद –

अब्रवीदस्य सोत्प्रासं बुद्धिषेणो विदूषकः ।

बहुद्वारा हि जीवानां पराराधनदीनता ॥४॥

अन्वयार्थ – फिर (अस्य) इन जीवन्धरकुमार के (बुद्धिषेणः) बुद्धिसेन नामक (विदूषकः) विदूषक ने (सोत्प्रासं) हँसकर (अब्रवीत्) कहा।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (पराराधनदीनता) दूसरों की सेवा करने की चतुराई (जीवानां) प्राणियों के (बहुद्वारा) नाना प्रकार की (भवति) होती है।

सरलार्थ – मित्रों के सम्मानजनक व्यवहार के पश्चात् बुद्धिसेन 'विदूषक' ने मन-विनोद करना प्रारम्भ किया; क्योंकि संसारी जीव अपनी आजीविका

के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार के उपायों/कार्य-कलापों का अवलम्बन लेते हैं और दीनता प्रगट करते हैं।

विशेषार्थ – जीवन्धरकुमार के सेवकों में एक बुद्धिसेन नाम का 'विदूषक' भी था। पहले राजा-महाराजा, सेठ-साहूकार और जमींदार आदि अपने मनोरंजन के लिए विनोदप्रिय व्यक्ति को नौकर रखते थे, जो विदूषक कहलाता था।

विदूषक बड़े बुद्धिमान होते थे, वे अपने क्रिया-कलापों तथा वार्तालापों द्वारा उनका मनोरंजन किया करते थे। विदूषक ऐसे विवेकपूर्वक वचन बोलते, जिससे हास्य भी उत्पन्न हो, अपने स्वामी का मनोरंजन भी हो और गौरव भी बना रहे। वे हँसी-हँसी में ही न्याय-नीति और करने योग्य कार्यों की प्रेरणा भी देते थे। उनके व्यंग्य और कटाक्षों का कोई बुरा नहीं मानता था।

बुद्धिसेन विदूषक का व्यंग्य-बाण छोड़ना –

सुलभाः खलु दौर्भाग्यादन्योपेक्षितकन्यकाः ।

व्यूढायां सुरमञ्जर्यां पौरौभाग्यं भवेदिति ॥५॥

अन्वयार्थ – (दौर्भाग्यात्) दुर्भाग्य के कारण (अन्योपेक्षितकन्यकाः) दूसरों से उपेक्षित कन्याएँ (सुलभाः खलु) चाहे जिसको मिल सकती हैं; किन्तु (सुरमञ्जर्यां व्यूढायां) सुरमञ्जरी के साथ विवाह करने पर ही (पौरौभाग्यं) आप महाभाग्यशाली (भवेत्) कहलाएँगे (इति) इसप्रकार विदूषक ने जीवन्धरकुमार से कहा।

सरलार्थ – बुद्धिसेन विदूषक ने जीवन्धरकुमार पर व्यंग्य किया – “भाग्यहीनता के कारण दूसरे महापुरुष जिन कन्याओं से विवाह नहीं करना चाहते, उनके साथ तो चाहे जो विवाह कर सकता है; किन्तु पुरुष मात्र का दर्शन तक न करनेवाली सुरमञ्जरी के साथ विवाह करने पर आप विशेष भाग्यवान कहला सकेंगे।”

विशेषार्थ – इसी ग्रन्थ के चतुर्थ लम्ब में गुणमाला और सुरमञ्जरी की

उपकथा क्रमांक ८ में आई है। दोनों सखियों में अपने-अपने बनाए चूर्ण की श्रेष्ठता पर विवाद उत्पन्न हुआ था, जिसका निराकरण जीवन्धरकुमार ने किया था। गुणमाला के चूर्ण को श्रेष्ठ बताए जाने के कारण सुरमञ्जरी नाराज होकर अपने घर चली गई थी तथा उसने प्रतिज्ञा की थी कि 'मैं पुरुष मात्र का मुँह नहीं देखूँगी।' तथापि मन में जीवन्धरकुमार के साथ विवाह करने का भाव था। उस सुरमञ्जरी के सम्बन्ध में विदूषक ने जीवन्धरकुमार को स्मरण दिलाया है।

व्यंग्य से जीवन्धरकुमार का निर्णय -

तद्वाक्यादयमुद्रोढुमवाञ्छीत्तां च मानिनीम् ।

हेतुच्छलोपलम्भेन जृम्भते हि दुराग्रहः ॥६॥

अन्वयार्थ - (अयं) इन जीवन्धरकुमार ने (तद्वाक्यात्) उस बुद्धिसेन विदूषक के तानेरूप वचनों से (मानिनीं तां) मान करनेवाली उस सुरमञ्जरी को (उद्रोढुं) ब्याहने के लिए (अवाञ्छीत्) इच्छा की।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (हेतुच्छलोपलम्भेन) किसी बहाने के मिल जाने से (दुराग्रहः) मनुष्यों का दुराग्रह (जृम्भते) बढ़ ही जाता है।

सरलार्थ - विदूषक के उपर्युक्त वचन सुनकर जीवन्धरकुमार ने उस मानी कन्या सुरमञ्जरी से विवाह करने का निर्णय लिया; क्योंकि किसी न किसी निमित्त से मनुष्य का दुराग्रह दृढ़ हो जाता है।

विशेषार्थ - यद्यपि जीवन्धरकुमार ने अभी तक छह विवाह कर लिए हैं, पर अभी कषाय और नोकषायों के परिणामों में शिथिलता नहीं आई है। मूल में उनके विचारों में अब भी और विवाह न करने का निर्णय नहीं हुआ है। विदूषक का व्यंग्य तो मात्र निमित्त है। जीवन्धरकुमार को अभी और कन्याओं से विवाह करने का परिणाम विद्यमान है। साथ ही अनुकूल संयोगों की प्राप्ति हो जाए - ऐसे पूर्वबद्ध पुण्य का उदय भी है। अतः अब उन्होंने सुरमञ्जरी के साथ विवाह करने का निर्णय ले ही लिया।

विवाहयोग्य उपायों पर विचार -

तत्राप्यौपायिकं भूयो यक्षमन्त्रं व्यचीचरत् ।

अनपायादुपायाद्धि वाञ्छिताप्तिर्मनीषिणाम् ॥७॥

अन्वयार्थ - (भूयः) फिर (अयं) इन जीवन्धरकुमार ने (तत्र अपि) इस विषय में भी (औपायिकं) उपायभूत (यक्षमन्त्रं) यक्ष के द्वारा दिए हुए मन्त्र का (व्यचीचरत्) स्मरण किया ।

[अत्रनीतिः] (हि) निश्चयसे (मनीषिणां) विद्वानोंको (वाञ्छिताप्तिः) इच्छित वस्तु की प्राप्ति (अनपायात् उपायात्) नाश नहीं होनेवाले स्थिर उपाय से ही [भवति] होती है ।

सरलार्थ - जीवन्धरकुमार ने सोचा कि सुरमञ्जरी के साथ विवाह करने के लिए सुदर्शन यक्षेन्द्र से प्राप्त मन्त्र ही योग्य उपाय है; क्योंकि बुद्धिमानों को इच्छित वस्तु की प्राप्ति अमोघ उपायों से ही होती है ।

विशेषार्थ - जीवन्धरकुमार ने मरणोन्मुख कुत्ते को णमोकार महामन्त्र सुनाया था । उसके फल से वह कुत्ता मरकर देवगति में सुदर्शन यक्षेन्द्र हुआ है । (चतुर्थ लम्ब, उपकथा क्रमांक ७) उस यक्ष ने कृतज्ञतावश जीवन्धरकुमार को तीन मन्त्र दिए हैं - १. कामरूप मन्त्र २. गानविद्या मन्त्र ३. विषहान मन्त्र । (पंचम लम्ब, श्लोक क्रमांक २७) सहसा जीवन्धरकुमार को इन मन्त्रों का स्मरण हो आया और सुरमञ्जरी से विवाह करने के लिए इन मन्त्रों का ही उपयोग करने का विचार किया ।

कामरूप मन्त्र के प्रयोग का निर्णय -

वार्धकं तत्र चोपायमुपायज्ञोऽयमौहत ।

करुणामात्रपात्रं हि बाला वृद्धाश्च देहिनाम् ॥८॥

अन्वयार्थ - (उपायज्ञः) उपाय के जाननेवाले (अयं) इन जीवन्धरकुमार ने (तत्र) उस विषय में (वार्धकं उपायं) बूढ़े का रूप धारण करना अच्छा उपाय (औहत) सोचा ।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (देहिनां) लोगों के (बालाः वृद्धाः च) बालक और वृद्ध (करुणामात्रपात्रं) अपराध हो जाने पर भी करुणा के ही पात्र [भवन्ति] होते हैं।

सरलार्थ – योग्य उपाय जानकर जीवन्धरकुमार ने कामरूप मन्त्र के द्वारा वृद्ध ब्राह्मण का रूप धारण करने का विचार किया; क्योंकि बालक तथा वृद्ध दया के पात्र होते हैं।

विशेषार्थ – अनेक लोगों की सहानुभूति, प्रेम व अपनापन प्राप्त करना हो तो बालक तथा वृद्ध अवस्था अधिक उपयोगी होती है। अतएव पुरुष का मुँह तक न देखने की प्रतिज्ञावाली, मानी सुरमञ्जरी के पास पहुँचने के लिए योग्य उपाय के रूप में वृद्ध का रूप बनाना निश्चित किया। युवा स्त्री भी वृद्ध व्यक्ति से अपने को सुरक्षित समझती है। वृद्ध व्यक्ति विश्वासपात्र भी लगता है।

वृद्ध मनुष्य का रूप धारण करना –

वार्धकं तत्क्षणे चास्य मनुमाहात्म्यतोऽभवत् ।

अनवद्या सती विद्या फलमूकापि किं भवेत् ॥६॥

अन्वयार्थ – (मनुमाहात्म्यतः) मन्त्र की महिमा से (अस्य) इन जीवन्धरकुमार का (तत्क्षणे) उसी समय (वार्धकं) बूढ़े का रूप (अभवत्) हो गया।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (अनवद्या) निर्दोष (सती) समीचीन (विद्या) विद्या (अपि किं) क्या कभी (फलमूका) फलरहित (भवेत्) होती है ? [किन्तु न भवेत्] किन्तु नहीं होती।

सरलार्थ – कामरूप मन्त्र के निमित्त से जीवन्धरकुमार तत्काल ही वृद्ध (के समान) हो गए; क्योंकि समीचीन विद्या कभी निष्फल नहीं होती।

विशेषार्थ – अनेकप्रकार के मन्त्र हैं और उनसे अनेकप्रकार के कार्य होते देखे जाते हैं; परन्तु मन्त्र के निमित्त से कुछ कार्य होता हुआ देखकर एक द्रव्य

दूसरे द्रव्य का कार्य कर सकता है – ऐसा निर्णय करना अर्हत् मत के बाहर है। (समयसार की गाथा ८६ और उसकी टीका देखिए)

वृद्ध वेषधारी का नगर में भ्रमण –

विजहार पुनश्चायं वर्षीयान्परितः पुरीम् ।

अन्वैरशङ्कनीया हि वृत्तिर्नीतिज्ञगोचराः ॥१०॥

अन्वयार्थ – (पुनः च) और फिर (अयं वर्षीयान्) यह बूढ़ा (पुरीं परितः) उस नगरी के चारों ओर (विजहार) विहार करने लगा।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (नीतिज्ञगोचराः) नीतिज्ञ पुरुष की (वृत्तिः) चाल (अन्वैः) दूसरों से (अशङ्कनीया भवति) शंका करने योग्य नहीं होती है।

सरलार्थ – अतिशय वृद्ध वेषधारी जीवन्धरकुमार राजपुरी नगरी में अपनी इच्छानुसार भ्रमण करने लगे; क्योंकि नीतिज्ञ लोगों के व्यवहार में अन्य जन किसी भी प्रकार की आशंका नहीं करते।

विशेषार्थ – जीवन्धरकुमार का वृद्धत्व-वेष कृत्रिम है; परन्तु नगर भ्रमण के समय उनके बनावटीपने को कोई जान नहीं सका। नीतिज्ञ लोगों की प्रवृत्ति सर्वोत्तम ही होती है, अतः उनकी कृत्रिमता को कोई जान नहीं पाता।

वृद्धत्व का अन्यजनों पर प्रभाव –

प्रवयोविप्रवेषं तं वीक्षमाणा विवेकिनः ।

विषयेषु व्यरज्यन्त वार्धकं हि विरक्तये ॥११॥

अन्वयार्थ – (प्रवयोविप्रवेषं) बूढ़े ब्राह्मण के वेषधारी (तं) उसको (वीक्षमाणाः) देखनेवाले (विवेकिनः) विवेकी पुरुष (विषयेषु) इन्द्रियों के विषयों में (व्यरज्यन्त) विरक्त हुए।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (वार्धकं) बुढ़ापा (विरक्तये भवति) विरक्ति के लिए ही होता है।

सरलार्थ – उस अतिवृद्ध ब्राह्मण को देखकर, विवेकी दर्शक गण इन्द्रियों के विषयों से विरक्त होने लगे; क्योंकि वृद्ध अवस्था को देखकर विवेकीजनों को वैराग्य उत्पन्न होता ही है।

विशेषार्थ – बुढ़ापा वैराग्य उत्पन्न कराने के लिए ही होता है; अतः जिस किसी रागी जीव को अपना राग-परिणाम घटाने का भाव हो, उसे वृद्ध पुरुषों के सम्पर्क और सेवा में रहना चाहिए। वृद्धावस्था में सब इन्द्रियाँ शिथिल हो जाती हैं, शरीर का सौन्दर्य नष्ट हो जाता है। मैं शरीर नहीं हूँ, यह विषय सुनने का भाव जागृत होता है।

युवा-अवस्था का जोश गायब होकर धीरे-धीरे होश आना प्रारम्भ होता है। जो लोग युवा-अवस्था के जोश में पुण्य-पाप नहीं मानते, उनके विचारों में भी पुण्य-पाप की स्वीकृति का भाव जागृत होता है। मन्दिर का मुख न देखनेवालों का भी मन्दिर जाना प्रारम्भ हो जाता है। अपने ही अभिमान में चूर एवं किसी से बात भी नहीं करनेवाले मानी स्वभावी व्यक्ति भी अन्य सामान्यजनों से प्रेमपूर्वक बात करना सीख जाते हैं।

बुढ़ापा स्वयं एक रोग है, यदि कदाचित् बुढ़ापे के साथ अन्य कोई रोग शरीर में आ जाए तो उसका दुःख असीम हो जाता है। दुःख असह्य होने पर वह जीव आत्महत्या तक का विचार करने लगता है। भोग-भावना शिथिल होने से दान देने का भाव होने लगता है। तीर्थयात्रा करें, कुछ शास्त्र सुनें – ऐसे परिणाम मन में आने लगते हैं; यदि योग्य समय पर यह जागृति हुई तो भव सफल हो सकता है, अन्यथा पश्चात्ताप करना ही शेष रहता है।

अष्ट द्रव्य से भगवान की पूजन करते समय सर्वप्रथम 'जल' को समर्पित करने के लिए 'जन्म-जरा-मृत्युविनाशनाय जलम्...' कहा जाता है। जरा अर्थात् बुढ़ापा। दौलतरामजी ने छहढाला में कहा है – 'अर्धमृतक सम

बुढ़ापनो ।' बुढ़ाप आने के पूर्व यात्रादि पुण्य-कार्य करने की प्रेरणा शास्त्रों में दी गई है।

'बालक-बूढ़े एक समान' की उक्ति भी यत्र-तत्र प्रयोग में ली जाती है। बचपन में जैसे अज्ञान की अनिवार्यता देखी जाती है तथा हर कोई वस्तु खाने की तीव्र इच्छा होती है, वैसी ही प्रवृत्ति बुढ़ापे में प्रत्यक्ष देखने को मिलती है। यह सब तत्त्वज्ञान के संस्कार न होने से होता है। अतः योग्य समय पर सावधान होकर मनुष्य भव को सफल बना लेना चाहिए।

शरीर के सौन्दर्य का वास्तविक स्वरूप -

माक्षिकापक्षतोऽप्यच्छे मांसाच्छादनचर्मणि ।

लावण्यं भ्रान्तिरित्येतन्मूढेभ्यो वक्ति वार्धकम् ॥१२॥

अन्वयार्थ - [अत्र नीतिः] (वार्धकं) बुढ़ाप (मूढेभ्यः) मूढ़ मनुष्यों से (माक्षिकापक्षतः) मक्खियों के पंखों से भी (अच्छे) पतले (मांसाच्छादन चर्मणि) शरीर के मांस को ढकनेवाले चमड़े में (लावण्यं भ्रान्तिः) सुन्दरता मानना सर्वथा भ्रम है (इति एतत्) इस बात को (वक्ति) कहता है।

सरलार्थ - मांस-मज्जा को ढकनेवाले, मक्खी के पंख से भी पतले चमड़े में सुन्दरता मानना भ्रमभरी मूर्खता है, इस बात को बुढ़ाप सूचित करता है।

विशेषार्थ - शास्त्र के आधार से, अनुभवी सज्जन लोगों के समागम से अथवा तत्त्वज्ञान के बल पर जो शरीरादि का सत्य स्वरूप नहीं समझ पाते तथा विषयों से विरक्त नहीं हो पाते, उन्हें समझाने का काम मानो बुढ़ाप ही करता है। जो महानुभाव बुढ़ापे के संकेत से भी सावधान नहीं हो पाते, उन्हें तो अपने अज्ञान तथा विपरीत मान्यता-रूप मिथ्यात्व का फल भोगना अनिवार्य हो जाता है।

बुद्धिमानों को इशारा ही पर्याप्त है, - इस कथन के अनुसार बुढ़ापे की पदचाप जानकर ही अनेक बुद्धिमान लोग विषय-भोगों से विरक्त होकर संयम

धारण कर लेते हैं। जो अपनी शक्ति के अनुसार मुनिव्रत या अणुव्रत धारण करते हैं, वे जीव धन्य हैं। जो महाव्रत या अणुव्रत धारण करने में समर्थ नहीं हैं, उन्हें भी सम्यग्दर्शन तो प्राप्त कर ही लेना चाहिए; अन्यथा यह सर्वोत्तम मनुष्य भव व्यर्थ ही चला जाएगा।

अज्ञान का स्पष्ट स्वरूप -

प्रतिक्षणविनाशीदमायुः कायमहो जडाः।

नैव बुध्यामहे किन्तु कालमेव क्षयात्मकम् ॥१३॥

अन्वयार्थ - [अत्र नीतिः/] (जडाः) हे मूर्खों ! (इदं) यह (आयुः कायं) आयु और शरीर (प्रतिक्षणविनाशि) क्षण-क्षण में नाश होनेवाला है; किन्तु (अहो) खेद है ! (वयं) हम सब (न एव बुध्यामहे) नहीं जानते हैं (किन्तु कालं एव) किन्तु समय/काल को ही (क्षयात्मकं बुध्यामहे) नष्ट होनेवाला समझते हैं।

सरलार्थ - महान आश्चर्य और खेद की बात है कि आयु और शरीर प्रत्यक्षरूप से क्षण-क्षण में नष्ट होते दिखाई दे रहे हैं; फिर भी अविवेकी इसे नहीं मानते और काल को ही विनश्वर मानते हैं।

विशेषार्थ - आयुर्कर्म किसी का भी हो, वह तो मर्यादित ही होता है अर्थात् सादि-सान्त ही रहता है। भले ही सर्वार्थसिद्धि के देवों और सातवें नरक के नारकियों की आयु ३३ सागर अर्थात् असंख्यात वर्ष की होती है; फिर भी एक दिन आयु समाप्त हो ही जाती है। किसी का आयुर्कर्म अनादि-अनन्त तो होता ही नहीं है।

मनुष्य और तिर्यचों की आयु को तो हम यहाँ प्रत्यक्ष नष्ट होता हुआ देखते हैं; फिर भी अज्ञानी मनुष्य अपने को शाश्वत मानता है। यह देखकर ज्ञानियों को आश्चर्य और खेद होता है। आयुर्कर्म तो कार्माण वर्णारूप पुद्गल की पर्याय है।

शरीर चाहे देव, नारकी, भोगभूमिज मनुष्य-तिर्यच अथवा तीर्थकर,

चक्रवर्ती आदि का भी हो, वह तो प्रतिपल बदलता ही है और आयुर्कर्म के साथ-साथ नियम से नाश को प्राप्त होता है; लेकिन अज्ञानी मनुष्य अपने शरीर-को विनशता हुआ प्रत्यक्ष देखने और जानने पर भी मोहवश अविनश्वर मानता है और नष्ट होने पर दुःखी होता है। शरीर तो आहार वर्गणारूप पुद्गल द्रव्य की पर्याय है। अज्ञानी की दशा देख-देखकर ज्ञानियों को आश्चर्य और खेद होता है।

कालद्रव्य तो अणु के आकारवाला है और वे संख्या की अपेक्षा असंख्यात हैं। आकाश के एक-एक प्रदेश पर एक-एक कालाणु अनादि काल से है और अनन्त काल तक रहेगा — ऐसा अनन्त केवलज्ञानियों ने अनन्त बार, अनन्त जीवों के कल्याण के लिए दिव्यध्वनि के माध्यम से कहा है।

एक-एक कालाणु की समयरूप पर्याय भी अनादिकाल से अनन्त समयरूप व्यतीत हो चुकी है और भूतकालीन अनन्त समयों से सदैव अनन्त गुणित अधिक भावी अनन्त समयरूप पर्याय होती रहेंगी, उनका अन्त आएगा ही नहीं, ऐसा कालद्रव्य और उसकी पर्यायों का स्वरूप है; तथापि मोही जीव अज्ञानवश काल को विनश्वर कहते हैं। यह जानकर ज्ञानियों को आश्चर्य और खेद होता है।

वृद्धावस्था में माँ की भी उपेक्षा होना —

हन्त लोको वयस्यन्ते किमन्यैरपि मातरम्।

मन्यते न तृणायापि मृतिः श्लाघ्या हि वार्धकात् ॥१४॥

अन्वयार्थ — [अत्र नीतिः] (हन्त) खेद है ! (लोकः) मनुष्य (अन्ते वयसि) बुढ़ापे में (मातरं अपि) जन्म देनेवाली माता को भी (तृणाय अपि न मन्यते) तृण के समान भी नहीं समझता है (अन्यैः किं) औरों का तो फिर कहना ही क्या है ? (हि यतः) इसलिए (वार्धकात्) बुढ़ापे से (मृतिः) तो मरना ही (श्लाघ्या) अच्छा है।

सरलार्थ — अत्यन्त खेद की बात है कि मनुष्य, वृद्धावस्था को प्राप्त

अपनी जन्मदात्री माता की भी तृण के समान भी कीमत नहीं समझता है तो अन्य व्यक्तियों की क्या कीमत करेगा ? उन्हें क्या आदर-सम्मान देगा ? अतः बुढ़ापे का जीवन जीने से तो मर जाना ही अच्छा है।

विशेषार्थ — ‘बालक-बूढ़े एक समान’ बुढ़ापा मनुष्य का दूसरा बालपन है; पर दोनों बालपने में अन्तर है — प्रथम बालपने में तो बालक सबका प्यारा, आँखों का तारा होता है। बच्चे को जो-जो देखता है वह बच्चे को प्यार करता है, उसे अपने हाथों में उठाना चाहता है, गोद में बिठाना चाहता है; उसे कुछ न कुछ खिलाने-पिलाने के लिए लालायित रहता है। इस बालक को एक ही व्यक्ति अनेक नामों से, प्यारभरे शब्दों से पुकारता है और बहुमान करता है, लाड़-प्यार जताता है।

दूसरा बालपन में अर्थात् बुढ़ापे में कोई भी व्यक्ति बूढ़े व्यक्ति को देखना भी पसन्द नहीं करता। यदि बलात् वृद्ध व्यक्ति देखने में आ जाए तो बुद्धिपूर्वक किनारा कर लेते हैं। वृद्ध भी इस मनोभावना को समझ लेता है, जिससे उसे अत्यन्त दुःख होता है।

वृद्ध व्यक्ति भले ही अपने माता-पिता क्यों न हों, पुत्र भी मन से स्वयं उनकी सेवा नहीं करता है। यदि वृद्ध मदद की चाह करे, विनती करे, दीन बनकर भोजन-पान की अपेक्षा करे तो भी उसे खिलाने-पिलाने में किसी को रस नहीं रहता है।

वृद्ध व्यक्ति से घर के व अन्य कोई व्यक्ति दो बातें भी नहीं करते हैं और न ही उसकी बात सुनना चाहते हैं। मान-सम्मान के साथ वार्तालाप करना तो सपना बन जाता है। वृद्ध किसी को पुकारे भी तो उसकी सुनी-अनसुनी करना सब की सामान्य बात है।

अतः बुढ़ापे से मर जाना ही अच्छा है, बुढ़ापे में दुःख अधिक और मर जाने में दुःख कम है, अज्ञानी की ऐसी मान्यता को आचार्य बताते हैं। बुढ़ापे के उपेक्षापूर्वक जीने की अपेक्षा मर जाना अज्ञानी को सुखदायक लगता है।

वृद्ध वेषधारी जीवन्धरकुमार का नगर में भ्रमण -

इत्याद्यूहं च हास्यं च जनयन्प्राज्ञबालयोः ।

अगारं सुरमञ्जर्याः वर्षीयान्पुनरासदत् ॥१५॥

अन्वयार्थ - (प्राज्ञबालयोः) बुद्धिमान और बालकों के (इत्यादि) इसप्रकार (ऊहं) विचार (च) और (हास्यं) हास्य को (जनयन्) उत्पन्न करता हुआ (वर्षीयान्) यह बूढ़ा (पुनः) फिर (सुरमञ्जर्याः अगारं) सुरमञ्जरी के घर (आसदत्) पहुँचा।

सरलार्थ - वह बूढ़ा ब्राह्मण नगर में भ्रमण करता हुआ बुद्धिमानों में पूर्वोक्त प्रकार के गम्भीर विचार एवं बालकों में हास्य उत्पन्न करता हुआ कन्या सुरमञ्जरी के घर पहुँच जाता है।

पूछे गए प्रश्न का वृद्ध द्वारा उत्तर -

पृष्टो दौवारिकस्त्रीभिराचष्ट फलमागतेः ।

कुमारीतीर्थमात्मार्थं न ह्यसत्यं सतां वचः ॥१६॥

अन्वयार्थ - (दौवारिकस्त्रीभिः) द्वार की रक्षा करनेवाली स्त्रियों से (पृष्टः) पूछे हुए प्रश्न का इस बूढ़े ने (आगतेः फलं) अपने आने के कारण को (आत्मार्थं) आत्मा के कल्याण के लिए (कुमारीतीर्थं) कुमारी तीर्थ में स्नान करने के लिए आया हूँ (इति) इसप्रकार (आचष्ट) कहा। (हि) निश्चय से (सतां वचः) सज्जन पुरुषों का वचन (असत्यं न) झूठा नहीं [भवति] होता है।

सरलार्थ - कन्या सुरमञ्जरी के द्वार पर नियुक्त स्त्रियों ने उस वृद्ध से प्रश्न किया - आप यहाँ पर क्यों आए हो ? तब बूढ़े व्यक्ति ने प्रश्न के उत्तर में कहा - 'मैं कुमारी तीर्थ को प्राप्त करने आया हूँ।' वास्तव में सज्जनों के वचन असत्य नहीं होते।

विशेषार्थ - वृद्ध व्यक्ति का उत्तर 'मैं कुमारी तीर्थ को प्राप्त करने आया हूँ।' इसका मूल मर्म तो स्त्रियों के कुछ समझ में नहीं आया। यही हमारे प्रश्न का उत्तर है - यह भी वे समझ नहीं पाई। वृद्ध वेषधारी जीवन्धरकुमार का उत्तर तो सत्य

और स्पष्ट है कि मैं कुमारी तीर्थ अर्थात् कन्या सुरमञ्जरी को प्राप्त करने आया हूँ। सज्जन तथा चतुर लोगों की भाषा और भाव समझने की पात्रता हो, तब ही उनके वचनों का अर्थ समझ में आता है, अन्यथा नहीं।

वृद्ध के वचनों का स्त्रियों द्वारा उपहास -

अहसन्नथ तद्वाक्यादङ्गना अप्यसङ्गतात्।

अविवेकिजनानां हि सतां वाक्यमसङ्गतम् ॥१७॥

अन्वयार्थ - (अथ) इसके अनन्तर (अङ्गनाः) द्वार की रक्षा करनेवाली स्त्रियाँ (अपि) भी (असङ्गतात्) असम्बद्ध/बेतुकी (तद्वाक्यात्) उसकी बात से (अहसन्) हँस पड़ीं।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (अविवेकिजनानां) अविवेकी पुरुषों को (सतां वाक्यं) संज्जन पुरुषों का वचन (असङ्गतं) असम्बद्ध [भासते] भासित होता है।

सरलार्थ - वृद्ध व्यक्ति के उत्तर को असम्बद्ध और अप्रकृत समझकर सुरमञ्जरी की द्वारपालिनी स्त्रियाँ, उस वृद्ध व्यक्ति का उपहास करती हुई हँसने लगीं; क्योंकि सज्जनों के वचन अविवेकी लोगों को असंगत लगते हैं।

विशेषार्थ - 'कुमारी तीर्थ' शब्द का सही और सरल अर्थ न समझकर वे किसी तीर्थ विशेष की कल्पना करने लगीं। इस कारण उन्हें हँसी आई; क्योंकि आस-पास कोई 'कुमारी तीर्थ' नाम का प्रसिद्ध स्थल ही नहीं था।

अज्ञानी व्यक्ति वक्ता के अभिप्राय को न समझकर अपने अभिप्राय के अनुसार वक्ता के कथन का अर्थ करना चाहते हैं। इस कारण शास्त्र का सही अर्थ भी नहीं समझ पाते हैं। इसी कारण आचार्य जयसेन स्वामी ने शास्त्र के अर्थ करने की पद्धति समझाई है। (देखिए समयसार, आचार्य श्री जयसेन की संस्कृत १२३ से १२५ पर्यन्त - इसप्रकार शब्द नय, मत, आगम और भावार्थ इन पाँच अर्थों से कथन किया। यह व्याख्यान काल में यथासम्भव सर्वत्र जानते रहना चाहिए।)

अरहन्तादि पाँचों परमेष्ठियों में अरहन्त तथा सिद्ध तो साक्षात् भगवान हैं। आचार्य, उपाध्याय और साधु परमेष्ठी तो महापुरुष तथा सज्जन हैं। उनका परम सत्य कथन – एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ भी अच्छा-बुरा नहीं कर सकता। प्रत्येक आत्मा स्वभाव से अनादि-अनन्त और शुद्ध ही है। कर्म बलवान नहीं, आत्मा ही बलवान है। सच्चा व्यवहार धर्म निश्चय धर्म के साथ ही होता है। पुण्य-पाप तो कर्म हैं, वीतरागता धर्म है। ऐसे अति महत्त्वपूर्ण वचन भी अज्ञानियों को असंगत लगते हैं। अविवेकियों की महिमा का क्या कहना ?

सुरमञ्जरी के घर में वृद्ध का प्रवेश –

अरुद्धः कृपया ताभिरगाहिष्ट च तद्गृहम्।

सर्वथा दग्धबीजाभाः कुतो जीवन्ति निर्घृणाः ॥१८॥

अन्वयार्थ – (ताभिः) उन स्त्रियों से (कृपया) कृपा करके (अरुद्धः) नहीं रोका हुआ वह बूढ़ा (तद्गृहं) सुरमञ्जरी के घर में (अगाहिष्ट) चला गया।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (दग्धबीजाभाः) जले हुए बीज की तरह आभाववाले (सर्वथा निर्घृणाः) सर्वथा दयारहित जीव (कुतः) कैसे (जीवन्ति) जी सकते हैं ?

सरलार्थ – वृद्ध की दशा पर दया करके द्वारपालिनी स्त्रियों ने उसे भीतर जाने से नहीं रोका, तब वह सुरमञ्जरी के घर के भीतर चला गया; क्योंकि सर्वथा दयारहित व्यक्ति कुछ कार्य नहीं कर सकते; जिसप्रकार कि जले हुए बीज से अंकुर उत्पन्न नहीं हो सकता।

विशेषार्थ – द्वारपालिनी स्त्रियों को वृद्ध की दशा देखकर उस पर दया आ गई; अतः उन्होंने उसे सुरमञ्जरी के महल में जाने से नहीं रोका। जिसप्रकार जले हुए बीज से अंकुर उत्पन्न नहीं हो सकते, उसी प्रकार निर्दय व्यक्ति कुछ विशेष कार्य नहीं कर सकता। अतएव उन स्त्रियों ने उस वृद्ध पर दया कर अपने कर्तव्य का ही पालन किया है।

नौकरों की मनोदशा का चित्रण -

अभ्यधुः सुरमञ्जर्याः सुन्दर्यः सभया इदम् ।

सभयस्नेहसामर्थ्याः स्वाम्यधीना हि किङ्कराः ॥१९॥

अन्वयार्थ - फिर (सुन्दर्यः) द्वार-रक्षक सुन्दरियों ने (सभयाः) भयसहित (सुरमञ्जर्याः) सुरमञ्जरी से (इदं अभ्यधुः) यह सब बात कह दी।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (स्वाम्यधीनाः) स्वामी के अधीन (किङ्कराः) नौकर (सभयस्नेहसामर्थ्याः) भय और स्नेह की सामर्थ्यवाले [भवन्ति] होते हैं।

सरलार्थ - द्वारपालिनी स्त्रियों ने भयभीत होकर अपनी स्वामिनी सुरमञ्जरी के पास जाकर उस वृद्ध के महल में प्रवेश का वृत्तान्त कहा; क्योंकि स्वामी के अधीन वृत्तिवाले नौकर अपने स्वामी से डरते हैं और उनसे स्नेह की भावना भी रखते हैं।

विशेषार्थ - द्वारपालिनी स्त्रियों ने वृद्ध को महल में प्रवेश तो दयाभाव से दिया; किन्तु पुरुष-द्वेषी सुरमञ्जरी को यह अनुकूल नहीं हुआ तो वह नाराज हो जाएगी। अपने स्वामी का नाराज होना अच्छा नहीं है। अतः उन्हें भय उत्पन्न हुआ।

मालिक से डरना तथा उसे प्रसन्न रखने का प्रयास करना ही नौकर का स्वरूप है। उसके जीवन में निर्भयता और निश्चिन्तता बनी रहना असम्भव है।

सुरमञ्जरी का भवितव्यतानुसार कार्य करना-

पुरुषद्वेषिणी सापि वर्षीयांसं न्यशामयत् ।

भवितव्यानुकूलं हि सकलं कर्म देहिनाम् ॥२०॥

अन्वयार्थ - (पुरुषद्वेषिणी सा अपि) पुरुषों से द्वेष करनेवाली उस सुरमञ्जरी ने भी (वर्षीयांसं) उस बूढ़े को (न्यशामयत्) बिठा लिया।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (देहिनां) जीवों के (सकलं कर्म) सम्पूर्ण कार्य (भवितव्यानुकूलं भवन्ति) होनहार के अनुसार ही हुआ करते हैं।

सरलार्थ – पुरुषमात्र का दर्शन न चाहनेवाली सुरमञ्जरी ने उस वृद्ध की दयनीय दशा देखकर उसे अपने विशाल महल के एक कमरे में ठहरा दिया; क्योंकि प्राणियों के सब कार्य भवितव्य के अनुसार ही होते हैं।

विशेषार्थ – सुरमञ्जरी का भविष्य में जीवन्धरकुमार से विवाह होना है। उस भवितव्य के अनुसार ही सुरमञ्जरी ने उस वृद्ध पुरुष को आदर के साथ अपने महल के एक कमरे में रहने को स्थान दे दिया।

प्रत्येक प्राणी जो भी कार्य करता है, वह अपने भवितव्यानुसार ही करता है; यह एक स्वाभाविक नियम समझना चाहिए।

सुरमञ्जरी द्वारा उस वृद्ध को भोजन कराना –

बुभुक्षितं तमालक्ष्य भोजयामास सा सती ।

अन्तस्तत्त्वस्य याथात्म्ये न हि वेषो नियामकः ॥२१॥

अन्वयार्थ – (सा सती) उस श्रेष्ठ कन्या ने (तं बुभुक्षितं आलक्ष्य) उस बूढ़े को भूखा समझकर (भोजयामास) भोजन कराया।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (वेषः) बाहरी वेष (अन्तस्तत्त्वस्य) भीतरी/अन्दर स्वरूप के (याथात्म्ये) यथार्थता को (निमायकः न) [भवति] जतानेवाला नहीं होता है।

सरलार्थ – दयापात्र उस वृद्ध व्यक्ति को भूखा जानकर सुरमञ्जरी ने उसे भरपेट भोजन कराया; क्योंकि बाहरी वेष से भीतर के भावों का परिज्ञान नहीं हो सकता है।

विशेषार्थ – यद्यपि वह वृद्ध व्यक्ति जीवन्धरकुमार है; पर वृद्ध वेष के कारण सब लोग उसे भ्रान्तिवश वृद्ध ही समझ रहे हैं। करते भी क्या ? मात्र

वेष से भावों का पता नहीं चल पाता है। भाषा, भोजन और भ्रमण के परिवर्तन से भाव बदलेंगे - ऐसा निर्णय नहीं करना चाहिए।

जैसे द्रव्यलिंगी मुनि, मुनि-अवस्था में योग्य 'हित-मित-प्रिय' भाषा बोलते हों, अनेक दोष और अन्तराय टालकर शुद्ध आहार लेते हों तथा सभी प्रकार के वाहनों का परित्याग कर पैदल ही भ्रमण करते हों; तथापि मिथ्यात्व तथा तीन कषाय चौकड़ी के अभावपूर्वक होनेवाली वीतरागता प्रगट न हुई हो तो मुनि-योग्य 'गुणस्थान' न होने से मुनिपने का अभाव ही है।

भाषा, भोजन तथा भ्रमण बदल जाने से भाव नहीं बदलते। अतः स्पष्ट हुआ कि बाहरी वेष से भीतरी भावों का परिज्ञान नहीं होता।

भीतर/अन्दर के भाव बदलेंगे तो भाषा, भोजन और भ्रमण बदल ही जाएँगे। यदि तीन कषाय चौकड़ी के अभावपूर्वक वीतरागता आत्मा में प्रगट होगी तो निश्चित रूप से भाषा, भोजन और भ्रमण में परिवर्तन होगा ही। अतः तत्त्वज्ञान के अभ्यास से भावों में परिवर्तन लाना चाहिए। साथ में उचित बाह्य क्रियाओं का निषेध नहीं है, वे तो होंगी ही।

भोजन के पश्चात् वृद्ध का विश्राम करना -

भुक्त्वाथ वार्धकेनेव सुष्वाप तलिमे कृती।

योग्यकालप्रतीक्षा हि प्रेक्षापूर्वविधायिनः ॥२२॥

अन्वयार्थ - (अथ) इसके अनन्तर (कृती) वह बुद्धिमान बूढ़ा (भुक्त्वा) भोजन करके (वार्धकेन इव) बुढ़ापे की थकावट से ही मानो (तलिमे) किसी शय्या पर (सुष्वाप) आराम करने के लिए सो गया।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (प्रेक्षापूर्वविधायिनः) विचारपूर्वक कार्य करनेवाले मनुष्य (योग्यकालप्रतीक्षाः) योग्य/उत्तम समय की राह देखनेवाले [भवन्ति] होते हैं।

सरलार्थ - भोजन के पश्चात् वह कार्य कुशल वृद्ध अपनी थकान मिटाने के लिए शय्या पर सो गया; क्योंकि विचारशील मनुष्य अनुकूल अवसर देखकर ही काम करते हैं।

विशेषार्थ – कार्य करने का विशेष उत्साह होने पर भी अथवा विशिष्ट कार्य की बहुत अनिवार्यता हो तो भी जबतक कार्य के लिए योग्य अवसर न हो, तबतक कितना भी कार्य करने का प्रयास किया जाए, कार्य में सफलता नहीं मिलती। अतः कार्यकुशल मनुष्य अनुकूल अवसर की प्रतीक्षा करते हैं, उतावलापन नहीं करते।

यद्यपि वृद्ध वेषधारी जीवन्धरकुमार सुरमञ्जरी को बहुत चाहते हैं, उसे प्राप्त करने के लिए उसके महल में प्रवेश भी कर लिया है; तथापि अभी उचित अवसर नहीं है – ऐसा जानकर विश्राम कर रहे हैं।

वृद्ध का चित्ताकर्षक मधुर गीत गाना –

भुवनमोहनं गानमगासीदथ गानवित् ।

परस्परातिशायी हि मोहः पञ्चेन्द्रियोद्भवः ॥२३॥

अन्वयार्थ – (अथ) इसके अनन्तर (गानवित्) गानविद्या के जाननेवाले उस बूढ़े ने (भुवनमोहनं) जगत को मोहित करनेवाला (गानं) गीत (अगासीत्) गाया।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (पञ्चेन्द्रियोद्भवः) पाँचों इन्द्रियों से उत्पन्न हुआ (मोहः) मोह (विषयों में प्रीति) (परस्परातिशायी) एक-दूसरे से अधिकाधिक प्रभावित करनेवाला [भवति] होता है।

सरलार्थ – भोजनोपरान्त इच्छानुसार पूर्ण विश्राम कर लेने के पश्चात् गानविद्या में निपुण उस वृद्ध ने लोगों के चित्त को मोहित करनेवाला सुन्दर गीत गाना प्रारम्भ किया; क्योंकि पाँचों इन्द्रियों के निमित्त से उत्पन्न होनेवाला मोह परिणाम एक-दूसरे की अपेक्षा अधिकाधिक ही होता है।

विशेषार्थ – जीव को पाँचों इन्द्रियों के विषय भोगने की तीव्र इच्छा रहती है। क्रमशः इन्द्रियों के भोग की अपेक्षाकृत भावना अधिकाधिक रहती है। प्रायः सभी इन्द्रियों में होड़ ही लगी रहती है। कर्ण-इन्द्रिय के भोग में आसक्ति अधिक रहती है, लोभ अधिक रहता है। इस मनोवृत्ति का उदाहरण शास्त्रों में

प्रसिद्ध है। कर्ण-इन्द्रिय के विषय 'स्वर' पर मोहित होकर हिरण अपने प्राण खो बैठता है। जीवन्धरकुमार को सुदर्शन यक्ष ने गानविद्या का मन्त्र दिया था, अतः वे स्वर साधने में निपुण हैं। उनका गायन सहज ही जीवों को अपनी ओर आकर्षित करने में समर्थ सिद्ध हुआ।

वृद्ध के गायन का सुरमञ्जरी पर प्रभाव पड़ना -

गानकौशलतः सैनं शक्तिमन्तममन्यत।

विशेषज्ञा हि बुध्यन्ते सदसन्तौ कुतश्चन ॥२४॥

अन्वयार्थ - (सा) उस सुरमञ्जरी ने (गानकौशलतः) गाने की कुशलता से (एनं) इस बूढ़े को (शक्तिमन्तं) और कार्य करने में भी शक्तिवाला (अमन्यत) समझा।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (विशेषज्ञाः) विशेष बात को जाननेवाले मनुष्य (कुतश्चन) किसी न किसी कारण से (सदसन्तौ) सत्-असत् बात का (बुध्यन्ते) निश्चय कर लिया करते हैं।

सरलार्थ - विदुषी सुरमञ्जरी ने वृद्ध की स्वर-साधना की चतुराई/गायन की चतुरता से उसकी निपुणता को निश्चित जान लिया; क्योंकि बुद्धिमान मनुष्य विशेष परिचय के बिना ही किसी न किसी कारण से अन्य मनुष्य की विद्वत्ता या मूर्खता का परिज्ञान कर लेते हैं।

विशेषार्थ - किसी व्यक्ति की एक विषय में निपुणता हो तो उसकी अन्य विषय में भी गति हो सकती है - ऐसा सामान्य रीति से माना जाता है।

जिसप्रकार उस वृद्ध व्यक्ति की गानविद्या में निपुणता है तो अन्य विषयों में भी गति हो सकती है - ऐसा अनुमान सुरमञ्जरी ने किया, जो वृद्ध वेषधारी जीवन्धरकुमार को अनुकूल सिद्ध हो गया।

वृद्ध से सुरमञ्जरी का अपना भविष्य पूछना -

ततः स्वकार्यमप्यस्मात्सादराभूत्परीक्षितुम्।

स्वकार्येषु हि तात्पर्यं स्वभावादेव देहिनाम् ॥२५॥

अन्वयार्थ – (ततः) इसलिए (सा) वह सुरमञ्जरी (अस्मात्) उस बूढ़े ब्राह्मण से (स्वकार्यं) अपने कार्य की (परीक्षितुं अपि) परीक्षा करने के लिए भी (सादरा अभूत्) आदरयुक्त हुई।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (देहिनां) देहधारियों को (स्वभावात्) स्वभाव से ही (स्वकार्येषु) अपने कार्यों में (तात्पर्यं भवति) तत्परता हुआ करती है।

सरलार्थ – ध्यानाकर्षक वृद्ध का गान सुनने के कारण सुरमञ्जरी को वृद्ध की निपुणता का परिज्ञान हुआ। अतः अपने अभीष्ट कार्य विषयक/पति की प्राप्ति विषयक बात पूछने के लिए वृद्ध के प्रति सुरमञ्जरी में आदरभाव उत्पन्न हुआ; क्योंकि मनुष्यों को अपने कार्यों में तत्परता स्वभाव से ही हुआ करती है।

विशेषार्थ – कोई भी मनुष्य जब अपने आस-पास में कुछ नया तथा अच्छा कार्य देखता है, तो तत्काल उसे अपने जीवन में उसका उपयोग करने का विचार करता है; यह स्वाभाविक ही है।

अतः सुरमञ्जरी को भी अपने जीवन की महत्त्वपूर्ण समस्या 'इच्छित वर की प्राप्ति' के लिए उस गुणी वृद्ध से पूछने की उत्कण्ठा मन में जागृत हुई। अतः स्वाभाविकरूप से उस वृद्ध के प्रति उसके मन में आदरभाव उत्पन्न हुआ।

वृद्ध से सुरमञ्जरी का प्रश्न पूछना –

गानवच्छक्तिरन्यत्र किमस्तीत्यन्वयुङ्क्त सा।

याञ्चायां फलमूकायां न हि जीवन्ति मानिनः ॥२६॥

अन्वयार्थ – (सा) उस सुरमञ्जरी ने (गानवत्) गाने के सदृश (अन्यत्र अपि) दूसरे कार्यों में भी (किं) क्या तुम्हारी (शक्तिः अस्ति) शक्ति है? (इति) इसप्रकार (अन्वयुङ्क्त) पूछा।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (याञ्चायां) याचना के (फलमूकायां) निष्फल होने पर (मानिनः) मानी पुरुष का (न जीवन्ति) जीवित रहना कठिन हो जाता है।

सरलार्थ – सुरमञ्जरी ने वृद्ध के पास जाकर प्रश्न पूछा – “आपने गान-विद्या में जैसी निपुणता धारण कर रखी है, वैसे ही अन्य कार्यों में भी आप कुछ विशेष जानते हैं क्या ?” क्योंकि – अपनी याचना निष्फल हो जाने पर मानी व्यक्तियों का जीवित रहना कठिन हो जाता है।

विशेषार्थ – ‘अपनी अपेक्षा पूर्ण होगी’ – ऐसा निर्णय हो तो कुछ याचना करना उचित होता है; अन्यथा याचना निष्फल होने पर मानी जनों को हार्दिक आघात पहुँचता है।

अतः सुरमञ्जरी ने अपनी मूल समस्या के विषय में कुछ विशेष पूछने के पहले वृद्ध से अन्य विषयों की निपुणता सम्बन्धी जानकारी लेना उचित समझा और चतुराई से प्रश्न पूछ लिया; जो उसकी प्रवृत्ति की अपेक्षा योग्य ही है।

चतुराई से वृद्ध का उत्तर देना –

वाढमस्ति समस्तेपीत्यब्रवीत्प्रौढनैपुणः ।

उक्तिचातुर्यतो दाढ्यमुक्तार्थे हि विशेषतः ॥२७॥

अन्वयार्थ – (प्रौढनैपुणः) अत्यन्त चतुर उस बूढ़े ने (वाढं) हाँ (मम शक्तिः) मेरी शक्ति (समस्ते अपि) सम्पूर्ण विषयों में (अस्ति) है। (इति) इसप्रकार (अब्रवीत्) कहा।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (उक्तार्थे) कहे हुए पदार्थ के विषय में (उक्तिचातुर्यतः) कहने की चतुरता से ही (विशेषतः) बहुत (दाढ्यं) दृढ़ता [भवति] होती है।

सरलार्थ – अधीर सुरमञ्जरी के प्रश्न के उत्तर में अतिशय निपुण वृद्ध ने इसप्रकार कहा – “हाँ, अवश्य, अवश्य। मैं अन्य समस्त कार्यों में भी सम्पूर्ण जानकारी/योग्यता रखता हूँ।” क्योंकि कथन करने की चतुराई के कारण ही कहे हुए विषय में विशेषरूप से दृढ़ता आती है।

विशेषार्थ – यहाँ वृद्धवेषी जीवन्धरकुमार सुरमञ्जरी से प्रति प्रश्न भी कर सकते थे। आपको किस विषय में पूछना है ? आपका क्या प्रश्न है ? आपको

क्या अभीष्ट है ? – आदि। प्रश्न पूछने से अभीष्ट कार्य में बाधा आने की सम्भावना का अनुमान कर उन्होंने 'हाँ' रूप में ही सामान्य उत्तर दिया और सुरमञ्जरी को अधिक तथा पुनः विचार व्यक्त करने का पूरा-पूरा अवसर प्रदान किया।

“अपनी शक्ति के अनुसार अन्य विषयों में भी कुछ जानता हूँ।” – ऐसी सम्भावना व्यक्त करने तथा विनय व्यक्त करनेवाला उत्तर जीवन्धरकुमार ने नहीं दिया। किस व्यक्ति के प्रश्न का कैसा उत्तर देना चाहिए, इस सम्बन्ध में चातुर्य रखनेवाले वृद्ध ने अपनी कथन की चतुराई से प्रश्नकर्ता को तत्काल ही जीत लिया।

सुरमञ्जरी का पुनः प्रश्न –

अभीप्सितवरप्राप्तावुपायं साप्ययाचत ।
रागान्धे हि न जागर्तियाञ्चादैन्यवितर्कणम् ॥२८॥

अन्वयार्थ – (सा अपि) उस सुरमञ्जरी ने भी (अभीप्सितवरप्राप्तौ) अपने चाहे हुए वर की प्राप्ति विषयक (उपायं अयाचत) उपाय की याचना की।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (रागान्धे) प्रेम से अन्धे मनुष्य में (याञ्चादैन्यवितर्कणं) याचना सम्बन्धी दीनता का विचार (न जागर्ति) नहीं होता।

सरलार्थ – तत्काल ही सुरमञ्जरी इच्छित वर की प्राप्ति के विषय में उपाय की याचना वृद्ध से करने लगी; क्योंकि अति राग में अन्धे बने मनुष्य को याचना करने से उत्पन्न होनेवाली दीनता का विचार भी नहीं रहता।

विशेषार्थ – वृद्ध के चतुराई पूर्ण तथा आत्मविश्वास व्यक्त करनेवाले उत्तर से सुरमञ्जरी अतिशय प्रभावित हुई। अतः उसने तुरन्त ही अति महत्वपूर्ण प्रश्न जो जीवन्धरकुमार को भी अत्यन्त अपेक्षित था, वही पूछ लिया।

जब कोई भी मनुष्य क्रोधादि कषाय अथवा हास्यादि नोकषायों के

परिणाम से अन्ध अर्थात् विचारशून्य हो जाता है तब लज्जा, विवेक आदि गुणों को भी ताक में रख देता है।

अतः सुरमञ्जरी ने 'मुझे अपेक्षित वर कब, कैसे और कहाँ मिलेगा ?' इसप्रकार बिना संकोच स्पष्ट ही पूछ लिया।

वृद्ध का उत्तर -

कामं कामप्रदं सोऽयं कामदेवमुपादिशत् ।

मनीषितानुकूलं हि प्रीणयेत्प्राणिनां मनः ॥२६॥

अन्वयार्थ - फिर (सः अयं) उस बूढ़े ने (कामं) अतिशय रीति से (कामप्रदं) सब मनोरथों को सफल करनेवाला (कामदेवं) कामदेव की पूजा का (उपादिशत्) उपदेश दिया।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (मनीषितानुकूलं) इष्ट मनोरथ के अनुकूल कहना ही (प्राणिनां मनः) जीवों के मन को (प्रीणयेत्) प्रसन्न करता है।

सरलार्थ - चतुर वृद्ध ने रागान्ध कन्या सुरमञ्जरी को इच्छित वर की प्राप्ति के उपायस्वरूप उत्तर दिया - "प्रसिद्ध कामदेव की उपासना से तुम्हारा मनोरथ पूर्ण होगा।" क्योंकि - मनोरथ के अनुकूल उपाय के प्रदर्शन से मनुष्यों का मन प्रसन्न होता है।

विशेषार्थ - इस विश्व में 'कामदेव' नाम का कोई देव नहीं है। अज्ञानी लोगों ने अनेक कल्पित देवों की मान्यता बना रखी है; उनमें से 'कामदेव' एक मनोकल्पित देव है।

जैन शासन में तो कामदेव नाम के किसी देव का अस्तित्व ही नहीं है। अन्धश्रद्धा अथवा अज्ञान को पोषण मिले - ऐसे कोई देवी-देवता एवं क्रिया-कलापों का जैन शासन में स्थान ही नहीं है। जैन शासन की यही विशेषता है।

यहाँ प्रश्न उपस्थित होता है कि जीवन्धरकुमार तो जैन थे, उन्होंने कामदेव की उपासना की बात क्यों कही ?

इसका उत्तर - जीवन्धरकुमार सुरमञ्जरी को पत्नी के रूप में चाहते थे, अपनी चाह को सफल बनाने के लिए उन्हें अन्य कोई सुलभ उपाय नहीं दिखा। अतः अपनी इच्छा पूर्ति का सरल उपाय जानकर कामदेव की उपासना की बात कही है; क्योंकि वीतरागी देवों के समक्ष ऐसी कामना की पूर्ति के लिए उपासना करने की बात कहना ही सम्भव नहीं है।

अज्ञानियों को ज्ञानी बनाना कष्ट साध्य तो है ही, साथ ही यह कार्य दीर्घकाल की अपेक्षा रखता है। जीवन्धरकुमार के पास समय बहुत कम था। अतः उन्होंने अज्ञानी का अज्ञान सुरक्षित रखते हुए अर्थात् अज्ञान का लाभ उठाकर ही अपना कार्य निर्धारित योजना के अनुसार सफल बनाने के लिए कामदेव की उपासना की बात कही है।

सुरमञ्जरी की मनोदशा -

मनीषितं च हस्तस्थं मेने सा सुरमञ्जरी।

मनोरथेन तृप्तानां मूललब्धौ तु किं पुनः ॥३०॥

अन्वयार्थ - (सा सुरमञ्जरी) उस सुरमञ्जरी ने (मनीषितं) अपने मनोरथ को (हस्तस्थं) अपने हाथ में आया हुआ (मेने) समझा।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (मनोरथेन तृप्तानां) मनोरथ से सन्तुष्ट होनेवाले मनुष्यों को (मूललब्धौ) यदि मूल पदार्थ मिल जाए (तु) तो (पुनः) फिर (किं) [वक्तव्यं] कहना ही क्या है ?

सरलार्थ - वृद्ध के द्वारा दिए गए आश्वासन से सुरमञ्जरी यह मानने लगी कि अपेक्षित वर हाथ में ही आ गया; अपनी मनोकल्पना से अथवा अनेकप्रकार की मानसिक उमंगों से ही प्रसन्न होनेवाले मनुष्य को कदाचित् इच्छित वस्तु मिल जाए तो फिर उसकी प्रसन्नता का क्या कहना ?

कामदेव के मन्दिर की ओर सुरमञ्जरी का गमन -

अनैषीत्तामसौ पश्चात्कामकोष्ठं यथेप्सितम् ।

विचाररूढकृत्यानां व्यभिचारः कुतो भवेत् ॥३१॥

अन्वयार्थ - (पश्चात्) फिर (असौ) यह बूढ़ा ब्राह्मण (यथेप्सितं) निश्चित किए हुए (कामकोष्ठं) कामदेव के मन्दिर में (तां) उसको (अनैषीत्) ले गया ।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (विचाररूढकृत्यानां) विचारपूर्वक कार्य करनेवाले पुरुषों के (व्यभिचारः) कार्य में हानि (कुतः) कैसे (भवेत्) हो सकती है ?

सरलार्थ - तदनन्तर वह वृद्ध सुरमञ्जरी को पूर्व नियोजित कामदेव के मन्दिर में ले गया; क्योंकि विचारपूर्वक कार्य करनेवालों की कार्य सिद्धि में किसी प्रकार की रुकावट/आपत्ति नहीं आती है ।

विशेषार्थ - जीवन्धरकुमार ने वृद्ध ब्राह्मण का वेष बनाने के पहले ही बुद्धिसेन नामक अपने विदूषक नौकर से विचार-विनिमय कर, कामदेव का मन्दिर कहाँ बनाना, वहाँ बुद्धिसेन को रुकाना, सुरमञ्जरी की कामना पूर्ति हेतु छिपे हुए बुद्धिसेन को क्या कहना - आदि का योजनापूर्वक निर्णय लिया है । उसके अनुसार ही सब चल रहा है । अतः कार्य में आपत्ति अथवा रुकावट आने का प्रश्न ही नहीं उठता ।

कामदेव के समक्ष सुरमञ्जरी द्वारा मनोकामना व्यक्त करना -

कामं सा प्रार्थयामास जीवकस्वामिकाम्यया ।

जन्मान्तरानुबन्धौ हि रागद्वेषौ न नश्यतः ॥३२॥

अन्वयार्थ - (सा) उस कुमारी ने (जीवकस्वामिकाम्यया) जीवन्धरकुमार की प्राप्ति होने की इच्छा से (कामं) कामदेव से (प्रार्थयामास) प्रार्थना की ।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (जन्मान्तरानुबन्धौ) जन्म-जन्मान्तर से बँधे हुए (रागद्वेषौ) राग और द्वेष (न नश्यतः) नाश नहीं होते हैं।

सरलार्थ – उस मन्दिर में पहुँचकर सुरमञ्जरी ने कामदेव से प्रार्थना की कि “हे देव ! आपके प्रसाद से मुझे जीवन्धरकुमार पति के रूप में प्राप्त हों।” क्योंकि जन्म-जन्मान्तर से जीव के साथ सम्बन्ध रखने से राग-द्वेष के परिणाम प्रायः नष्ट नहीं होते।

विशेषार्थ – पूर्वभवों में भी सुरमञ्जरी के जीव का सम्बन्ध जीवन्धरकुमार के जीव के साथ पत्नीरूप रहा है। अतः पिछले भव के राग-द्वेष के संस्कार इस भव में भी नहीं छूट रहे हैं।

प्रत्येक जीव के वर्तमान भव में माता-पिता, भाई-बहिन, पति-पत्नी, मित्र-शत्रु आदि से राग-द्वेषात्मक परिणाम होते हैं, वे अगले भवों में भी प्रायः नहीं छूटते। पूर्वभव के कुछ संस्कार वर्तमान भव में भी रहते हैं और कुछ नए सम्बन्ध जुड़ जाते हैं – ऐसा इस संसार का अनादिकालीन अटूट नियम है।

सुरमञ्जरी की मनोकामना का पूर्ण होना –

लब्धो वर इति प्रोक्तं बुद्धिषेणेन सा सती ।

मनोभुवो वचो मेने स्त्रीणां मौढ्यं हि भूषणम् ॥३३॥

अन्वयार्थ – (तदा) उससमय (सा सती) उस श्रेष्ठ कन्या ने (लब्धः वरः) तूने अपने वर को प्राप्त कर लिया (इति) इसप्रकार (बुद्धिषेणेन प्रोक्तं) बुद्धिसेन से कहे हुए वचन को (मनोभुवः) कामदेव का (वचः) वचन (मेने) समझा।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (स्त्रीणां) स्त्रियों का (मौढ्यं) मूढ़ता ही (भूषणं) भूषण [अस्ति] है।

सरलार्थ – सुरमञ्जरी द्वारा ‘कामदेव’ के सामने मनोकामना व्यक्त करते ही मन्दिर में छिपा हुआ बुद्धिसेन बोलता है – “हे सर्वोत्तम भाग्यशालिनी सुरमञ्जरी ! तुमने अपेक्षित वर प्राप्त कर ही लिया है अर्थात् वर यही है, जो

तुम्हें साथ लेकर मेरे मन्दिर में आया है।” तब उस भोली सुरमञ्जरी ने ‘विदूषक’ के वचन को ही कामदेव का वचन मान लिया। यह सच है कि मूर्खता ही स्त्रियों का भूषण/अलंकार है।

विशेषार्थ – पुराणों में ऐसी अनेक कथाएँ आती हैं, जिसमें अन्धश्रद्धा और गृहीत-मिथ्यात्व का पोषण करने में स्त्रियों की महती भूमिका होती है। पाण्डव पुराण में आता है कि ‘सत्यभामा’ ने वन में निवास कर रही ‘रुक्मिणी’ को ही वनदेवी समझकर उसकी वन्दना कर उससे रुक्मिणी के ही नाश करने का वर माँगा था – आदि-आदि। यहाँ भी सुरमञ्जरी ने विदूषक बुद्धिसेन के वचन को कामदेव का वचन मानकर ‘मूर्खता स्त्रियों का भूषण है’ – इस उक्ति को चरितार्थ किया है।

वृद्ध का अपना मूलरूप प्रगट करना –

कुमारं दर्शिताकारं दृष्ट्वा जिहाय तत्क्षणे।

मृतकल्पा हि कल्पन्ते निर्लज्जा निष्कृपा इव ॥३४॥

अन्वयार्थ – फिर वह कन्या (तत्क्षणे) उसी समय (दर्शिताकारं) दिखलाया है असली रूप जिन्होंने ऐसे (कुमारं) जीवन्धरकुमार को (दृष्ट्वा) देखकर (जिहाय) लज्जित हुई।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (निर्लज्जाः) लज्जारहित पुरुष (निष्कृपाः इव) दयाहीन पुरुषों की तरह (मृतकल्पाः) जीते हुए भी मरे हुए के समान (कल्पन्ते) कल्पना किए जाते हैं/माने जाते हैं।

सरलार्थ – कामदेव के वचन सुनने के पश्चात् सर्वोत्तम गीत गानेवाले उस वृद्ध को जीवन्धरकुमार के रूप में देखकर सुरमञ्जरी अत्यधिक लज्जित हुई; क्योंकि निर्लज्ज मनुष्य दयाहीन मनुष्यों के समान मृतकतुल्य ही हो जाते हैं।

विशेषार्थ – उधर विदूषक ने कामदेव के वचनों में ‘तुमने अपेक्षित वर प्राप्त कर ही लिया है’ – ऐसा सुनते ही इधर वृद्धरूपधारी जीवन्धरकुमार ने अपना मूल रूप प्रगट किया। जब सुरमञ्जरी ने जीवन्धरकुमार के मूलरूप को

देखा तो वह स्वयं अत्यधिक लज्जित हुई। कुल की मर्यादा रखनेवाली सुरमञ्जरी का लज्जित होना उचित ही है।



रागी जीवों को संसार भी सारभूत -

पतिकृत्येन पत्नीं तां सुतरां सोऽप्यतोषयत् ।

संसारोऽपि हि सारः स्याद्दम्पत्योरेककण्ठयोः ॥३५॥

अन्वयार्थ - वहाँ (सः अपि) उन जीवन्धरकुमार ने भी (पतिकृत्येन) पतिकृत्य प्रेमालापदि द्वारा (तां पत्नीं) उस स्त्री को (सुतरां) अत्यन्त (अतोषयत्) सन्तोषित किया।

[अत्र नीतिः] (हिं) निश्चय से (दम्पत्योः एककण्ठयोः) स्त्री पुरुष के एक-सा प्रेम होने पर (संसारः अपि) संसार भी (सारः स्यात्) साररूप हो जाता है।

सरलार्थ - जीवन्धरकुमार ने भी भविष्य में होनेवाली पत्नी सुरमञ्जरी के प्रति अनुकूल प्रेमभाव प्रगट कर उसे सन्तुष्ट किया। यदि पति-पत्नी का एक मन हो तो संसार भी सारभूत लगने लगता है।

विशेषार्थ – एक मन होना अर्थात् विचारों की एकता होना, मतभेद नहीं होना/एकमत होना सुख की उत्पादक मूलवस्तु है। जब अनेक लोगों से सम्पर्क होता है और यदि उनके साथ मतभेद उत्पन्न होता है तो आकुलता होने से दुःख होता है।

जब पति-पत्नी में अथवा अन्य किसी दो या दो से अधिक व्यक्तियों के विचारों में एकरूपता होती है तो सुखानुभव होता है और तब असार संसार भी सारभूत लगने लगता है।

अनन्त ज्ञानियों का एक मत होता है और एक अज्ञानी के अनेक मत होते हैं। अनन्त केवलज्ञानियों के कथन में मतभेद होता ही नहीं है। अतः केवली भगवन्तों द्वारा प्रणीत तत्त्वज्ञान/वस्तुस्वरूप को स्वीकार करना ही सुखी होने का सच्चा उपाय है। यह हम सबको श्रद्धापूर्वक स्वीकार करना चाहिए।

विवाह सानन्द सम्पन्न होना –

ततः कुबेरदत्तेन दत्तां तां सुरमञ्जरीम्।

सुमतेरात्मजां सोऽयमुपयेमे यथाविधि ॥३६॥

अन्वयार्थ – (ततः) इसके अनन्तर (सः अयं) उन्हीं जीवन्धरकुमार ने (कुबेरदत्तेन दत्तां) कुबेरदत्त द्वारा दी हुई (सुमतेः आत्मजां) सुमति की पुत्री (तां सुरमञ्जरीं) उस सुरमञ्जरी को (यथाविधि) विधिपूर्वक (उपयेमे) ब्याहा।

सरलार्थ – तदनन्तर पिता कुबेरदत्त द्वारा दी गई सुमति माता की सुपुत्री सुरमञ्जरी का जीवन्धरकुमार के साथ विधिपूर्वक विवाह सम्पन्न हुआ।

इति श्रीवादीभसिंहसूरिविरचिते क्षत्रचूडामणौ

सुरमञ्जरीलम्बो नाम नवमो लम्बः समाप्तः।

दसवाँ लम्ब

सुरमञ्जरी से अधिक प्रीति का कारण -

अथ पाणिगृहीतीं तां बहु मेने बहुप्रियः ।

बहुयत्नोपलब्धे हि प्रेमबन्धो विशिष्यते ॥१॥

अन्वयार्थ - (अथ) इसके अनन्तर (बहुप्रियः) अनेक स्त्रियों के पति जीवन्धरकुमार ने (तां पाणिगृहीतीं) नव परिणीता सुरमञ्जरी पत्नी को (बहु मेने) बहुत सन्मान दिया।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (बहुयत्नोपलब्धे) बहुत यत्न से प्राप्त वस्तु में (प्रेमबन्धः) प्रेम का सम्बन्ध (विशिष्यते) विशेष हुआ ही करता है।

सरलार्थ - सुरमञ्जरी से विवाह होने पर अनेक स्त्रियों के स्वामी जीवन्धरकुमार नव परिणीता सुरमञ्जरी से अधिक स्नेह करने लगे; क्योंकि जो वस्तु जितनी दुर्लभता से प्राप्त होती है, उस वस्तु पर मनुष्य का उतना ही अधिक प्रेम होता है।

विशेषार्थ - अभी तक जीवन्धरकुमार के सात विवाह हुए हैं। सुरमञ्जरी उनकी सातवीं पत्नी है। सुरमञ्जरी की प्राप्ति के लिए जीवन्धरकुमार को बुद्धिपूर्वक कुछ अधिक परिश्रम करना पड़ा, कष्ट भी उठाने पड़े। अतः उनका अन्य पत्नियों की अपेक्षा सुरमञ्जरी से अधिक स्नेह होना स्वाभाविक ही है।

कुलीन स्त्रियों का पति की इच्छानुसार ही आचरण -

कृच्छ्रेणाराध्य तां भूयो मित्राणां पार्श्वमाश्रितः ।

स्वामीच्छाप्रतिकूलत्वं कुलजानां कुतो भवेत् ॥२॥

अन्वयार्थ - (भूयः) फिर जीवन्धरकुमार (तां) उस स्त्री को (कृच्छ्रेण) किसी न किसी प्रकार से (आराध्य) समझा-बुझा करके (मित्राणां पार्श्व) अपने मित्रों के समीप (आश्रितः) आ गए।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (कुलजानां) कुलीन स्त्रियों के (स्वामी-

च्छाप्रतिकूलत्वं) अपने स्वामी की इच्छा के विरुद्धपना (कुतः) कैसे (भवेत्) हो सकता है ? अर्थात् नहीं हो सकता ।

सरलार्थ – प्रिय पत्नी सुरमञ्जरी के साथ कुछ काल व्यतीत करने के पश्चात् जीवन्धरकुमार ने उसे बहुत कठिनाई से समझाया एवं उसे अपनी ससुराल में ही छोड़कर वे अपने मित्रों के पास पहुँच गए; क्योंकि अपने पति की इच्छा के विरुद्ध प्रवृत्ति करना कुलीन स्त्रियों का कार्य नहीं है ।

विशेषार्थ – जीवन्धरकुमार को अभी राज्य-पद प्राप्त करना है । वे एक स्थान पर कैसे रह पाएँगे ? उन्होंने सुरमञ्जरी को भली प्रकार अपने भावी कार्यक्रमों की सब योजना समझा दी और अकेले ही जाने का विचार स्पष्ट कर दिया । फिर भी सुरमञ्जरी को अधिक खेद हुआ, उसने पति के साथ चलने का भी विचार व्यक्त किया; तथापि जीवन्धरकुमार ने समझाया कि इससमय तुम्हें साथ रखना अभीष्ट नहीं है । अतः तुम्हें इससमय पिता के घर पर ही रहना उचित है ।

सुरमञ्जरी का पति को छोड़कर रहने का विचार बिलकुल नहीं था, तो भी पति की इच्छा के विरुद्ध प्रवृत्ति करना कुलीन तथा क्षत्रिय स्त्रियों का कर्तव्य नहीं है – यह जानकर वह पिता के घर ही रुक गई ।

जीवन्धरकुमार का अपने मित्रों के पास पहुँचना –

सचित्रीयैस्तदा मित्रैः पित्रोरन्तिकमाययौ ।

आत्मदुर्लभमन्येन सुलभं हि विलोचनम् ॥३॥

अन्वयार्थ – (तदा) उससमय सुरमञ्जरी के सहज मिल जाने से (सचित्रीयैः) आश्चर्ययुक्त (मित्रैः) मित्रों के साथ जीवन्धरकुमार (पित्रोः) सुनन्दा व गन्धोत्कट (माता-पिता) के (अन्तिकं) समीप (आययौ) आए ।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (आत्मदुर्लभं) अपने आपको दुर्लभ वस्तु यदि (अन्येन सुलभं) दूसरे को सहज ही मिल जाए तो (विलोचनं) विस्मय को करनेवाली ही [भवति] होती है ।

सरलार्थ – सुरमञ्जरी से विवाह के पश्चात् जब जीवन्धरकुमार अपने मित्रों के पास पहुँचे तो सभी मित्रों को आश्चर्य हुआ; क्योंकि अपने लिए दुष्प्राप्य वस्तु दूसरे को अति सहजता से मिल जाए तो मनुष्य को आश्चर्य होता ही है। तदनन्तर जीवन्धरकुमार अपनी मित्र मण्डली सहित अपने पालन-पोषण करने वाले माता-पिता (सुनन्दा-गन्धोत्कट) के पास पहुँचते हैं।

विशेषार्थ – जिस स्वाभिमानी सुरमञ्जरी का प्राप्त होना कठिन ही नहीं, अपितु अशक्य था; वही सुरमञ्जरी जीवन्धरकुमार को सहज ही प्राप्त हुई है। अतः मित्रों को आश्चर्य होना स्वाभाविक ही है।

एक वर्ष पूर्व दुष्ट काष्ठांगार के आदेशानुसार जीवन्धरकुमार को पकड़ा गया था, तभी से उनको माता-पिता का वियोग हुआ है। जीवन्धरकुमार भी अपने कुछ भी समाचार माता-पिता के पास नहीं भेज पाए हैं। अतः उनका माता-पिता से मिलने जाना योग्य ही है।

माता-पिता का अतिशय आनन्दित होना –

पित्रोरप्यतिमात्रोऽभूत्पुत्रस्नेहोऽस्य वीक्षणात् ।

कस्यानन्दकरो न स्यात्कृतान्तास्यादपागतः ॥४॥

अन्वयार्थ – (अस्य वीक्षणात्) इनके देखने से (पित्रोः अपि) जीवन्धरकुमार के माता-पिता को भी (अतिमात्रः) अतिशय (पुत्रस्नेहः अभूत्) पुत्र प्रेम उत्पन्न हुआ।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (कृतान्तास्यात्) मृत्यु के मुख से (अपागतः) [पुत्रः] निकला हुआ पुत्र (कस्य) किसको (आनन्दकरः न स्यात्) आनन्द करनेवाला नहीं होता है ? अर्थात् सभी को होता है।

सरलार्थ – एक वर्ष के पश्चात् प्रिय पुत्र जीवन्धरकुमार को देखकर माता-पिता को अतिशय आनन्द हुआ; क्योंकि माता-पिता को तो पुत्र का सामान्यरूप से देखना ही आनन्ददायक होता है; तो फिर जो पुत्र मरण के मुख में से निकल कर आया हो और जीवित-अवस्था में देखने को मिला हो तो किस माता-पिता को अतिशय आनन्द नहीं होगा ?

जीवन्धरकुमार का गन्धर्वदत्ता और गुणमाला से मिलना -

ततो गन्धर्वदत्ता च गुणमाला च वल्लभे ।

उल्लाघतां क्रमात्नीते नीतिरेषा हि संसृतौ ॥५॥

अन्वयार्थ - (ततः) फिर जीवन्धरकुमार (गन्धर्वदत्ता गुणमाला च वल्लभे) अपनी प्यारी पत्नियों गन्धर्वदत्ता और गुणमाला से (क्रमात्) क्रमशः मिलकर (उल्लाघतां) प्रसन्नता को (नीते) प्राप्त हुए ।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (संसृतौ) संसार में (एषा) क्रमशः कार्य करना ही (नीतिः) नीति है ।

सरलार्थ - माता-पिता से मिलने के पश्चात् ज्येष्ठ पत्नी गन्धर्वदत्ता और उसके पश्चात् द्वितीय पत्नी गुणमाला से जीवन्धरकुमार जाकर मिले और उन्हें सन्तुष्ट किया; क्योंकि यथायोग्य गुणों के अनुसार मिलने का क्रम रखना ही संसार की रीति-नीति है ।

विशेषार्थ - जीवन्धरकुमार का जब से माता सुनन्दा और पिता गन्धोत्कट से वियोग हुआ था, तभी से गन्धर्वदत्ता और गुणमाला से भी वियोग हो गया था । राजपुरी नगरी में जीवन्धरकुमार सर्वप्रथम अपना पालन-पोषण करनेवाले माता-पिता से मिले । फिर ज्येष्ठ पत्नी गन्धर्वदत्ता से और उसके पश्चात् गुणमाला से मिले । परिवारजनों से मिलने का यही क्रम कुलमर्यादा के अनुरूप है । जीवन्धरकुमार ने घर के प्रमुख सदस्यों से यथायोग्य सामान्य प्रेम-वार्ता करके सबको आनन्दित किया । उनका यह व्यवहार सबको सुखदाता और सम्मानजनक लगा ।

जीवन्धरकुमार का गन्धोत्कट से विचार विनिमय -

अथ गन्धोत्कटेनायं मन्त्रयित्वा ततो ययौ ।

विधित्सिते ह्यनुत्पन्ने विरमन्ति न पण्डिताः ॥६॥

अन्वयार्थ - (अथ) इसके अनन्तर (अयं) यह जीवन्धरकुमार

(गन्धोत्कटेन सह) गन्धोत्कट के साथ (मन्त्रयित्वा) सलाह करके (ततः ययौ) वहाँ से चले गए।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (पण्डिताः) विद्वान् पुरुष (विधित्सिते) इच्छित कार्य के (अनुत्पन्ने) पूर्ण नहीं होने तक (न विरमन्ति) विश्राम नहीं लेते हैं।

सरलार्थ – कुटुम्बीजनों को प्रेमालाप से आनन्दित करने के पश्चात् जीवन्धरकुमार ने पिताश्री गन्धोत्कट से राजपद प्राप्ति विषयक विशेष विचार-विनिमय किया तथा पिता की आज्ञा लेकर राजपुरी नगरी से प्रस्थान किया; क्योंकि जबतक इच्छित कार्य पूर्ण नहीं होता, तबतक बुद्धिमान पुरुष विश्राम नहीं करते।

विशेषार्थ – पिताश्री से राजपद प्राप्ति विषयक विचार करने के पश्चात् सुखद गृहवास छोड़कर अपने अपेक्षित कार्य की सिद्धि के लिए राजपुरी नगरी से जीवन्धरकुमार ने प्रस्थान किया। सुखपूर्वक अपने घर में निवास करते हुए कोई मनुष्य ऐतिहासिक महान कार्य कर नहीं सकता।

उपकथा २१

जीवन्धरकुमार का विदेह देश की ओर गमन –

विदेहाख्ये ततो देशे धरण्यास्तिलकोपमाम् ।

तिलकान्तधरण्याख्यां राजधानीमशिश्रयत् ॥७॥

अन्वयार्थ – (ततः) वहाँ से चलकर जीवन्धरकुमार (विदेहाख्ये देशे) विदेह नाम के देश में (तिलकोपमां) तिलक के समान (तिलकान्तधरण्याख्यां) धरणीतिलका नाम की (राजधानीं) राजधानी में (अशिश्रयत्) पहुँचे।

सरलार्थ – जीवन्धरकुमार राजपुरी नगरी से प्रस्थान कर एक दिन विदेह नामक देश की राजधानी, तिलक के समान 'धरणीतिलका' नामक नगरी में पहुँचे।

जीवन्धरकुमार का धरणीतिलका नगरी में सत्कार -

महितो मातुलेनात्र विदेहाधिपभूभुजा ।

भागिनेयो महाभागो मह्यां केन न मह्यते ॥८॥

अन्वयार्थ - (अत्र) यहाँ (विदेहाधिपभूभुजा) विदेह देश के स्वामी-राजा (मातुलेन) इनके मामा ने (महितः) इनका बड़ा आदर-सत्कार किया।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (मह्यां) पृथ्वी में (महाभागः) भाग्यशाली (भागिनेयः) बहिन के पुत्र अर्थात् भानजे का (केन न मह्यते) कौन आदर नहीं करता ?

सरलार्थ - 'धरणीतिलका' राजधानी में विराजमान राजा गोविन्दराज, जो जीवन्धरकुमार के मामा हैं, उन्होंने जीवन्धरकुमार का समुचित आदर-सत्कार किया; क्योंकि दुनिया में भाग्यशाली भानजे का सभी विशेष आदर करते ही हैं।

विशेषार्थ - लौकिक व्यवहार में भानजे का सर्वत्र आदर-सत्कार होता ही है। यदि भानजा विशेष भाग्यशाली हो तो उसके आदर-सत्कार में विशेषता आती है।

जीवन्धरकुमार युवा, विद्वान, विचारशील, अनेक विद्याओं के धनी, कामदेव तथा तद्भव मोक्षगामी जीव हैं। अतः मामा गोविन्दराज द्वारा उनका यथायोग्य विशेष आदर-सत्कार किया जाना योग्य ही है।

गोविन्दराज का राज्यप्राप्ति में सहयोग -

आसीद्गोविन्दराजोऽपि तद्राज्यस्थापनोद्यतः ।

स्वयं परिणतो दन्ती प्रेरितोऽन्येन किं पुनः ॥९॥

अन्वयार्थ - (गोविन्दराजः अपि) गोविन्दराज भी (तद्राज्य-स्थापनोद्यतः) जीवन्धरकुमार के गए हुए राज्य को फिर से स्थापन करने के लिए तैयार (आसीत्) हुए।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (स्वयं परिणतः दन्ती) अपने आप ही दन्तप्रहार करनेवाला हाथी (अन्येन प्रेरितः) यदि दूसरे से प्रेरित किया जाए तो (किं पुनः) [वक्तव्यं] फिर कहना ही क्या है ?

सरलार्थ – राजा गोविन्दराज भी जीवन्धरकुमार को राज्य दिलाने के लिए विशेष प्रयत्नशील हो गए; जैसे-वैसे तो हाथी स्वभावतः स्वयं ही अपनी सूँड़ और तिरछे दाँतों के प्रहार से वृक्ष आदि उखाड़ने में तत्पर रहता है, उस पर भी यदि उसे कोई उत्तेजित करे तो उसका क्रोध और भी बढ़ जाता है।

विशेषार्थ – मदोन्मत्त हाथी के समान राजा गोविन्दराज शक्तिशाली तो हैं ही, वह स्वयं अपने प्रिय भानजे जीवन्धरकुमार का राज्य दुष्ट काष्ठांगार से छीनने के पक्ष में थे ही। जब जीवन्धरकुमार ने उनसे अपने राज्य की प्राप्ति के लिए सहयोग की अपेक्षा की तो वे इस महत्त्वपूर्ण कार्य के लिए तुरन्त तैयार हो गए।

भविष्य में सफल होनेवाले कार्य में सहयोग करने की भावना सब की सहज ही होती ही है। इस न्याय के अनुसार जीवन्धरकुमार अपने पिता का राज्य प्राप्त करने में सफल होनेवाले हैं – यह जानकर भी राजा गोविन्दराज ने सहयोग करना प्रारम्भ किया। जिसका पुण्योदय रहता है, उसको सब लोग सहज सहयोग करते हैं।

राजा गोविन्दराज का राज्यप्राप्ति हेतु विचार-विनिमय –

मन्त्रिभिर्मन्त्रशालायां मन्त्रयामास मन्त्रवित्।

न ह्यमन्त्रं विनिश्चेयं निश्चिते च न मन्त्रणम् ॥१०॥

अन्वयार्थ – (मन्त्रवित्) मन्त्र के जाननेवाले राजा ने (मन्त्रशालायां) मन्त्रशाला में (मन्त्रिभिः) मन्त्रियों के साथ (मन्त्रयामास) सलाह की।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (अमन्त्रं) विचार-विमर्श बिना [किमपि कार्यं] किसी भी कार्य का (न विनिश्चेयं) निश्चय नहीं करना चाहिए। (च

निश्चिते) और विचार-विमर्श करके निश्चय हो जाने पर (मन्त्रणं न) फिर विचार-विमर्श [करणीयम्] नहीं करना चाहिए।

सरलार्थ – विचारशील राजा गोविन्दराज मन्त्रियों के साथ “दुष्ट काष्ठांगार से किसप्रकार राज्य प्राप्त किया जाए।” इस विषय पर अत्यन्त गम्भीरतापूर्वक विचार करने लगे; क्योंकि – विचार किए बिना कोई भी कार्य निश्चित नहीं करना चाहिए तथा विचारपूर्वक कार्य निश्चित हो जाने पर उस पर पुनः विचार नहीं करना चाहिए।

विशेषार्थ – जबतक किसी भी कार्य के सम्बन्ध में आवश्यक विचार-विनिमय न कर लिया जाए, तबतक उस कार्य का प्रारम्भ नहीं करना चाहिए और जब जिस कार्य को करने के लिए पर्याप्त तथा समुचित तर्क-वितर्कपूर्वक निश्चय कर लिया जाए; तो उस पर पुनः विचार करना आवश्यक नहीं। कारण कि ऐसा करने पर करणीय कार्य के विषय में उत्तरोत्तर अनावश्यक सन्देह बढ़ता जाता है और उस कार्य को करने का भाव ही नष्ट हो जाता है।

अतः चतुर राजनीतिज्ञ राजा गोविन्दराज ने अपने भानजे जीवन्धर को राज्य प्राप्त करने के लिए पर्याप्त ऊहा-पोह के साथ गम्भीरता से विचार कर कार्य-योजना बनाई है। इस श्लोक में अनुप्रास अलंकार का आकर्षक प्रयोग हुआ है।

शत्रु के प्रतिकार की सफल योजना –

काष्ठाङ्गारस्य संदेशं सचिवैः शुश्रुवानयम्।

ज्ञात्वा हि हृदयं शत्रोः प्रारब्धव्या प्रतिक्रिया ॥११॥

अन्वयार्थ – (अयं) इस गोविन्दराज ने (सचिवैः) मन्त्रियों द्वारा (काष्ठाङ्गारस्य) काष्ठांगार का यह वक्ष्यमाण (सन्देशं) सन्देश (शुश्रुवान्) सुना।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (शत्रोः) शत्रु का (हृदयं) मन (ज्ञात्वा) जानकर ही (प्रतिक्रिया) प्रतिकार (प्रारब्धव्या) आरम्भ करना चाहिए।

सरलार्थ – राजा गोविन्दराज ने अपने मन्त्रणाकक्ष में मन्त्रियों से काष्ठांगार के सन्देश को सुना और उस पर विचार किया; क्योंकि शत्रु के विचारों को जानकर ही बुद्धिमान मनुष्य शत्रु का प्रतिकार करना प्रारम्भ करते हैं।

विशेषार्थ – शत्रु को जीतने के लिए शत्रु का प्रतिकार करना ही चाहिए; ऐसा निर्णय होने पर भी प्रतिकार कब अर्थात् किस समय और कैसे करें ? अर्थात् किन साधनों से करें, इसका निर्णय भी अत्यावश्यक है और यह निर्णय शत्रु के विचारों को यथार्थरूप से जाने बिना सम्भव नहीं है।

राजा गोविन्दराज ने काष्ठांगार के विचारों को भी सुना और उनका मन्थन किया। बुद्धिहीन मनुष्य शत्रु का प्रतिकार बिना सोचे समझे तथा नियोजन के बिना ही करते हैं, अतः उसे सफलता नहीं मिलती। राजा गोविन्दराज कुशल राजनीतिज्ञ और बुद्धिमान हैं, उन्होंने शत्रु काष्ठांगार के विचार जानकर ही प्रतिकार की योजना बनाई है।

काष्ठांगार का राजा गोविन्दराज को सन्देश –

अघेनाहमपख्यातिं राजघे मदहस्तिनि।

लब्धवानवबुध्येत मिथ्येयं तत्त्ववेदिना ॥१२॥

अन्वयार्थ – (राजघे मदहस्तिनि) राजा सत्यन्धर के एक मदोन्मत्त हाथी के द्वारा मारे जाने पर (अघेन) मेरे पापोदय से (अहं) मैंने ही (अपख्यातिं) उनकी मृत्यु के अपयश को (लब्धवान्) प्राप्त किया, किन्तु (तत्त्ववेदिना) यथार्थ बात के जाननेवाले (इयं) यह बात (मिथ्या) झूठी (अवबुध्येत) समझते हैं।

सरलार्थ – काष्ठांगार के प्रेषित पत्र में लिखा था कि – “हे राजा गोविन्दराज ! मैं कुछ अपनी वेदना आपके समक्ष व्यक्त करना चाहता हूँ। सत्य स्थिति तो यह है कि बगीचे में क्रीड़ा करते समय एक मदोन्मत्त हाथी ने राजा सत्यन्धर को मार डाला; परन्तु मेरे पाप कर्म के उदय से राजा को मारने का कलंक मेरे माथे लगा है।”

“हे राजेश्वर गोविन्दराज ! आप वस्तुस्थिति की यथार्थता जानने का प्रयत्न करें। आप तत्त्वज्ञ हैं, समझदार हैं, अतः आपसे विनम्र निवेदन है कि मेरे ऊपर आरोपित ‘राज-द्रोह’ का समाचार असत्य समझें।”

दुष्ट काष्ठांगार की कुटिलता -

निःशल्योऽहं भवाम्येष भवत्यत्र समागते ।

दुर्जनेऽपि हि सौजन्यं सुजनैर्यदि सङ्गमः ॥१३॥

अन्वयार्थ - (भवति) आपके (अत्र) यहाँ (समागते) आने पर (एषः अहं) अपयशी मैं (निःशल्यः) निःशल्य (भवामि) हो जाऊँगा।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (यदि) अगर (सुजनैः) सज्जन पुरुषों के साथ (सङ्गमः) समागम हो जाए तो (दुर्जने अपि) दुष्ट पुरुष में भी (सौजन्यं) सज्जनता [भवति] आ जाती है।

सरलार्थ - “हे राजा गोविन्दराज ! आपका इससमय राजपुरी नगरी में पधारना आवश्यक है। आपके शुभागमन से मेरी अपकीर्ति दूर हो जाएगी और मैं निश्चिन्त भी हो जाऊँगा; क्योंकि सज्जनों की संगति से दुर्जन मनुष्यों में भी सज्जनता आ जाती है। अतः मेरा निमन्त्रण स्वीकार कर राजपुरी नगरी में पधारने का कष्ट करें।”

विशेषार्थ - दुनिया में अपराधी अपना अपराध प्रगट नहीं हो, इसलिए सज्जनता का स्वाँग रचता है एवं सज्जनता की महिमा स्वीकार करता ही है। इससे यह तो स्पष्ट हो ही जाता है कि जगत में सज्जनता का विशेष महत्त्व है।

दुष्ट काष्ठांगार के क्रिया-कलापों से भी यह बात स्पष्ट होती है।

दुर्जन की नम्रता का स्वरूप -

इत्युक्त्या निश्चितोऽरातिरतिसन्धित्सुरञ्जसा ।

असतां हि विनम्रत्वं धनुषामिव भीषणम् ॥१४॥

अन्वयार्थ - (इति उक्त्या) राजा गोविन्दराज ने काष्ठांगार के इस

सन्देश से (अरातिः) शत्रु (अञ्जसा) निश्चय से/वास्तविक (अति-सन्धित्सुः) धोखा देना चाहता है। (इति) यह (निश्चितः) निश्चय किया।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (असतां विनम्रत्वं) दुर्जनों का नम्र होना (धनुषां इव) धनुष के सदृश (भीषणं) भयंकर [भवति] होता है।

सरलार्थ – उपर्युक्त पत्र के सन्देश पर विचारशील राजा गोविन्दराज और उनके मन्त्रियों ने विचार कर दुष्ट काष्ठांगार को धोखा देनेवाला तथा महा धूर्त निश्चित किया; क्योंकि जैसे लक्ष्य वेध करने में तत्पर होने से धनुष की नम्रता (नमन) खतरनाक होती है, वैसे दुर्जनों की नम्रता भी परिणाम में भयंकर होने से खतरनाक सिद्ध होती है।

राजा गोविन्दराज का निर्णय –

विप्रलम्भोत्सुके शत्रौ कार्यान्धोऽयमतप्यत ।

दुर्जनाग्रे हि सौजन्यं कर्दमे पतितं पयः ॥१५॥

अन्वयार्थ – (कार्यान्धः) अपने कार्य में अन्ध अर्थात् जिसे अपने काम के सिवाय दूसरा कुछ नहीं सूझता – ऐसे (अयं) यह गोविन्दराज (विप्रलम्भोत्सुके) धोखा देने में उत्सुक (शत्रौ) शत्रु के ऊपर (अतप्यत) अत्यन्त तप्तायमान हुए, क्रोधित हुए।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (दुर्जनाग्रे) दुष्ट पुरुष के सामने (सौजन्यं) सज्जनता (कर्दमे) कीचड़ में (पयः पतितं) दूध फेंकने के समान है।

सरलार्थ – अपने कार्य में कुशलता रखनेवाले राजा गोविन्दराज, धोखा देने में तत्पर दुष्ट काष्ठांगार पर अत्यधिक क्रोधित हुए और उसके साथ मन ही मन युद्ध करना ही उचित है – ऐसा निर्णय लिया; क्योंकि दुष्ट मनुष्य के सामने सज्जनता प्रगट करना कीचड़ में दूध डालने के समान व्यर्थ है।

विशेषार्थ – दुष्ट काष्ठांगार के मीठे शब्द तथा नम्रता से प्रभावित न होकर राजनीति में निपुण राजा गोविन्दराज ने उसकी धूर्तता, नीचता तथा स्वार्थलिप्सा

को जान लिया और उसे आस्तीन का साँप जानकर उसे पक्का शत्रु मानकर उसके साथ युद्ध करना ही उपाय है - ऐसा यथोचित निर्णय लिया।

राजनीति में कूटनीति -

आहूतास्तेन साकूतं गच्छामस्तच्छलाद्वयम्।

इत्युच्चैर्निश्चिकायासौ बकायन्ते हि जिष्णवः ॥१६॥

अन्वयार्थ - (तेन) उस काष्ठांगार द्वारा (साकूतं) छल से/किसी खोटे अभिप्राय से (आहूताः) बुलाए हुए (वयं) हम लोग भी (तच्छलात्) इस निमित्त से (गच्छामः) वहाँ चलें। (इति) इसप्रकार (असौ) इस गोविन्दराज ने (उच्चैः निश्चिकाय) अच्छी तरह से निश्चय किया।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (जिष्णवः) शत्रुओं को जीतनेवाले राजा लोग (बकायन्ते) बगुले के सदृश आचरण करते हैं।

सरलार्थ - काष्ठांगार ने हम लोगों को छल से एवं दुष्ट अभिप्राय से बुलाया है - ऐसा जानकर उसके निमन्त्रण का निमित्त पाकर राजा गोविन्दराज ने राजपुरी जाने का निर्णय लिया है; क्योंकि विजय पाने के इच्छुक मनुष्य बगुले के समान आचरण करते हैं।

विशेषार्थ - बगुला बाह्य में ध्यानस्थ एवं शान्त मुद्राधारी दिखता है और अन्तरंग में तो अभिप्राय केवल मछलियों को निगलने का ही रहता है। राजा गोविन्दराज ने भी कूटनीति का प्रयोग किया।

अन्तरंग में दुष्ट काष्ठांगार को मारकर जीवन्धरकुमार को राज्य देने का भाव है और बाह्य में काष्ठांगार के आमन्त्रण पर मित्रतावश राजपुरी जाने का कार्यक्रम प्रसिद्ध किया है।

राजा गोविन्दराज की घोषणा -

काष्ठाङ्गारेण सञ्जातं सख्यं प्रख्यापयन्नसौ।

डिण्डिमं ताडयामास गतेर्वार्ता हि पूर्वगा ॥१७॥

अन्वयार्थ – (काष्ठाङ्गारेण सह) काष्ठांगार के साथ (सख्यं) हमारी मित्रता (सञ्जातं) हो गई। (इति) ऐसा (प्रख्यापयन्) प्रसिद्ध करते हुए (असौ) इस राजा ने (डिण्डिमं) ढिंढोरा (ताडयामास) पिटवा दिया।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (वार्ता) समाचार (गतेः पूर्वगा) व्यक्ति जाने से पहले पहुँचता है।

सरलार्थ – “काष्ठांगार के साथ हमारी मित्रता हो चुकी है।” – ऐसी उद्घोषणा राजा गोविन्दराज ने करा दी; क्योंकि समाचारों की गति अति तेज होती है, वह मनुष्य के पहुँचने के पूर्व ही दूर तक पहुँच जाती है।

विशेषार्थ – राजा गोविन्दराज ने राजपुरी नगरी जाने के पूर्व ही उक्त उद्घोषणा के अनुसार अपनी मित्रता के समाचार राजा काष्ठांगार के पास पहुँचाने का उपाय किया।

राजा गोविन्दराज की जागरुकता –

चातुरङ्गबलं पश्चाच्चतुरोऽयं न्यशामयत्।

आलोच्यात्मारिकृत्यानां प्राबल्यं हि मतो विधिः ॥१८॥

अन्वयार्थ – (पश्चात्) इसके अनन्तर (अयं चतुरः राजा) इस चतुर राजा ने (चातुरङ्गबलं) अपनी चतुरंगिणी बड़ी भारी सेना को (न्यशामयत्) चलने के लिए तैयार किया।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (आत्मारिकृत्यानां) अपनी और शत्रु के कार्यों की (प्राबल्यं) प्रबलता को (आलोच्य) विचार करके ही (विधिः मतः) कोई कार्य करना निश्चित किया जाता है।

सरलार्थ – मित्रता की घोषणा करने के पश्चात् राजा गोविन्दराज ने काष्ठांगार को धन और सेनादिक की अपेक्षा बलवान जानकर, उस पर विजय प्राप्त करने के लिए चतुरंगिणी सेना तैयार की; क्योंकि शत्रु को अपने से अधिक बलवान जानकर ही युद्ध की तैयारी करना योग्य है।

विशेषार्थ – शत्रु को अपने . . अधिक बलवान जानकर जो तैयारी की

जाती है, वह विजय का कारण बनती है। शत्रु को कभी कमजोर नहीं समझना चाहिए; अन्यथा पराजय की सम्भावना रहती है। अतः शत्रु को अपने से बलवान जानने/मानने में ही अपना हित निहित है।

देखो ! राजा लोगों की 'बगुला नीति' – बाह्य में तो मित्रता की घोषणा की है और अन्तरंग में शत्रु पर विजय प्राप्त करने हेतु चतुरंगिणी सेना तैयार की जा रही है।

पुण्योदय से ही सभी कार्यों की सिद्धि –

प्रतस्थे चाथ सल्लग्ने पात्रदानादिपूर्वकम् ।

दानपूजातपःशीलशालिनां किं न सिध्यति ॥१९॥

अन्वयार्थ – (अथ) इसके अनन्तर (सल्लग्ने) शुभलग्न में (पात्र-दानादिपूर्वकं) पात्रदानादि पुण्यकर्म पूर्वक जीवन्धरकुमार सहित गोविन्दराज (प्रतस्थे च) वहाँ से निकले।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (दानपूजातपःशीलशालिनां) दान, पूजा, तप और शीलादिक का पालन करनेवाले मनुष्यों के (किं) क्या (न सिध्यति) सिद्ध नहीं होता है ? अर्थात् उनके सब कार्य सिद्ध हो जाते हैं।

सरलार्थ – तदनन्तर एक दिन शुभ मुहूर्त में अरहन्तादि पंचपरमेष्ठियों की पूजा करके तथा पात्र जीवों को यथोचित दान देकर राजा गोविन्दराज ने राजपुरी नगर की ओर प्रस्थान किया; क्योंकि दान, पूजा, तप और शील से सम्पन्न मनुष्य के सभी कार्य सिद्ध हो ही जाते हैं।

विशेषार्थ – दान पूजादिक मांगलिक कार्य करनेवालों के सभी कार्य सफल होते हैं – ऐसा सामान्य कथन किया गया है। इसका हमें भावार्थ समझना चाहिए।

जो मनुष्य वर्तमान काल में दान-पूजादिक मांगलिक कार्य करता हो और उसके पूर्वबद्ध पुण्यकर्मों का योगवशात् उदय हो तो वर्तमान पुण्य कर्मों पर आरोप करके पुण्यकार्यों से कार्य सम्पन्न हुआ – ऐसा कथन करने की पद्धति

आगम में आती है। जैसे मैनासुन्दरी और कुष्ठरोगी श्रीपाल द्वारा सिद्धचक्र विधान करने से और पूर्वबद्ध पुण्यकर्मों का उदय आने से कुष्ठ रोग दूर हुआ तो सिद्धचक्र विधान से श्रीपाल राजा का कुष्ठ रोग दूर हुआ — ऐसा कथन करने की शास्त्रों में परम्परा है; तथापि सिद्धचक्र विधान करने से कुष्ठ रोग दूर हुआ — ऐसा मानना यथार्थ नहीं है।

वर्तमान में पुण्य कार्य हो और उसी समय पूर्वबद्ध पुण्यकर्म का उदय न हो तो संकट परिहार का और अनुकूल कार्य होने का नियम नहीं है। जैसे पाँचों पाण्डवों ने मुनि जीवन में महाव्रतरूप पुण्यकार्य और वीतराग धर्म प्रगट किया था; परन्तु उनके पूर्वबद्ध कर्म का उदय न होने से अग्नि पानीरूप परिणत नहीं हुई।

तथा अणुव्रती एवं शीलवती सीता के पूर्वबद्ध पुण्यकर्म के उदय से अग्नि पानीरूप परिणत हो गई; अर्थात् वर्तमानकालीन दान-पूजादिक मांगलिक शुभ कार्यों से सभी कार्य सम्पन्न हो ही जाते हैं — ऐसा सर्वथा नियम नहीं है। (मोक्षमार्गप्रकाशक, अध्याय ८, पृष्ठ १७१-१७४)

वर्तमानकालीन दान-पूजादिक शुभ कार्यों से कार्य सम्पन्न नहीं होते; ऐसा जानकर, दान-पूजादि कार्यों से उदास होकर पुण्य के प्रति अविश्वास करना भी अनुचित है। सांसारिक कार्यों को सफल बनाने की भावना से दान-पूजादिक करने की प्रवृत्ति भी गलत है। दान-पूजादिक से पुण्य-कर्मों का बन्ध होना तथा उससे कार्य सम्पन्न होना, यह तो सहज निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है, इसका निषेध नहीं समझना चाहिए।

राजा गोविन्दराज का राजपुरी नगरी के निकट आगमन —

अथ राजपुरीं प्राप्य राजा कैश्चित्प्रयाणकैः ।

निकषा तत्पुरीं क्वापि निषसाद महाबलः ॥२०॥

अन्वयार्थ — (अथ) इसके अनन्तर (महाबलः) बड़ी भारी सेना का स्वामी (राजा) यह गोविन्दराज (कैश्चित् प्रयाणकैः) कई पड़ाव डालने के अनन्तर (राजपुरीं प्राप्य) राजपुरी को प्राप्त कर (तत्पुरीं निकषा) उस राजपुरी नगरी के समीप (क्व अपि) कहीं पर (निषसाद) ठहर गया।

सरलार्थ – बड़ी भारी सेना का स्वामी राजा गोविन्दराज रास्ते में अनेक स्थानों पर पड़ाव डालते हुए राजपुरी नगरी के निकट पहुँचे और उसके समीप ही एक सुरम्य उद्यान में ठहर गए।



विशेषार्थ – यहाँ प्रश्न हो सकता है कि राजा गोविन्दराज सीधे राजपुरी नगरी में क्यों नहीं पहुँचे ? नगरी के निकट उद्यान में ही क्यों ठहरे ?

उत्तर यह है कि राजा जैसे पुण्यवान पुरुषों का, नगर प्रवेशादि अकस्मात् नहीं होता है, उनके स्वागत-सत्कार आदि के लिए विशेष कार्यक्रम पहले ही निश्चित होता है।

दूसरी महत्वपूर्ण बात यह भी है कि राजा गोविन्दराज के मन में इससमय काष्ठांगार से राज्य छीनकर राजपद अपने भानजे जीवन्धरकुमार को सौंपने की पक्की योजना है। यदि वह सीधे ही नगर में प्रवेश करते तो वे पूर्व नियोजित महत्वपूर्ण कार्य कैसे कर पाते ? अतः नगर में प्रवेश न करके नगर के समीप ही उद्यान में ठहर गए; जिससे भविष्य के लिए स्वतन्त्रतापूर्वक कार्य योजना पर विचार-विमर्श किया जा सके तथा राजा काष्ठांगार की क्रिया-प्रतिक्रिया भी जानने में आए।

काष्ठांगार का कपटपूर्ण व्यवहार -

प्राभृतं प्राहिणोत्तस्य काष्ठाङ्गारो मुधा मुहुः ।

हन्त कापटिका लोके बुधायन्ते हि मायया ॥२१॥

अन्वयार्थ - (काष्ठाङ्गारः) काष्ठांगार ने (तस्य पार्श्वे) उस गोविन्दराज के पास (मुधा) व्यर्थ (मुहुः) बार-बार (प्राभृतं) बहुत-सी भेंट (प्राहिणोत्) भेजीं ।

[अत्र नीतिः] (हन्त) खेद है ! कि (हि) निश्चय से (लोके) संसार में (कापटिका) कपटी लोग (मायया) माया से (बुधायन्ते) पण्डित पुरुषों के समान आचरण करते हैं ।

सरलार्थ - दुष्ट काष्ठांगार राजा गोविन्दराज के पास अपनी मित्रता का प्रदर्शन करता हुआ पुनः पुनः अनेक प्रकार की भेंट सामग्री भेज रहा है; क्योंकि इस संसार में कपटी मनुष्य छल-कपट से विद्वानों के समान व्यवहार करते हैं, इसका महान खेद है ।

विशेषार्थ - जैसे बिल्ली आँखें बन्द करके दूध पीती है; उससमय अपने सन्तोष के लिए भले ही यह जाने कि मुझे कोई देख नहीं रहा है, लेकिन दूध का मालिक डण्डा मारकर बिल्ली को अपराध का दण्ड देता है; वैसे ही काष्ठांगार यह समझ रहा है कि मेरी कूटनीति कोई नहीं समझ पाएगा; तथापि राजा गोविन्दराज राजपद पर जीवन्धरकुमार को बिठाने की पूरी योजना बना रहे हैं, जिससे काष्ठांगार राजा तो रहेगा ही नहीं, उसका जीना भी सम्भव नहीं होगा ।

राजा गोविन्दराज की प्रतिक्रिया -

प्रतिप्राभृतमेतस्मै प्राहैषीत्स्वामिमातुलः ।

आ समीहितनिष्पत्तेराराध्याः खलु वैरिणः ॥२२॥

अन्वयार्थ - (स्वामिमातुलः) जीवन्धरकुमार के मामा ने भी (एतस्मै) इस काष्ठांगार के लिए (प्रतिप्राभृतं) भेंट के बदले में भेंट (प्राहैषीत्) भेजी ।

[अत्र नीतिः] (खलु) निश्चय से (आ समीहितनिष्पत्तेः) अपने मनोरथ की सिद्धि पर्यन्त (वैरिणः) शत्रु भी (आराध्याः) आराधना करने योग्य [भवन्ति] होते हैं।

सरलार्थ – जीवन्धरकुमार के मामा राजा गोविन्दराज भी सब कुछ जानते-समझते हुए चतुराई से, मायाचारी दुष्ट काष्ठांगार को भेंट के बदले अपनी ओर से भी पुनः पुनः भेंट सामग्री भेज रहे हैं; क्योंकि जबतक अपना मतलब सिद्ध न हो, तबतक अपने शत्रु को भी प्रसन्न रखना आवश्यक होता है।

विशेषार्थ – राजा लोग नट के समान होते हैं; अतः अपना अभिप्राय/उद्देश्य जबतक सिद्ध न हो, तबतक वे शत्रु के साथ भी प्रेमपूर्वक व्यवहार करते हैं; अन्यथा अपने अभिप्रेत कार्य की सम्पन्नता में व्यवधान आ सकता है। अतएव दुष्ट काष्ठांगार को शत-प्रतिशत शत्रु जानते-मानते हुए भी राजा गोविन्दराज मैत्रीपूर्ण व्यवहार कर रहे थे, जो सर्वथा उचित है। उचित अवसर के पहले ही शत्रु को अपना अभिप्राय ज्ञात हो जाए तो अपनी हानि की सम्भावना रहती है। अतः राजा गोविन्दराज ने उचित अवसर की प्रतीक्षा की।

राजा गोविन्दराज द्वारा 'स्वयंवर' की घोषणा –

कन्याशुल्कतया लोके यन्त्रभेदमघोषयत्।

उपायप्रष्टरूढा हि कार्यनिष्ठानिरङ्कुशाः ॥२३॥

अन्वयार्थ – फिर गोविन्दराज ने (लोके) लोक में (कन्याशुल्क-तया) कन्या के मूल्यरूप से (यन्त्रभेदं अघोषयत्) यन्त्र भेद की घोषणा कराई अर्थात् यह घोषणा कराई कि जो चन्द्रक यन्त्र का भेदन करेगा, उससे अपनी कन्या का विवाह करूँगा।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (उपायप्रष्टरूढाः) सदुपाय में तत्पर पुरुष (कार्यनिष्ठानिरङ्कुशाः) नियम से कार्य को विघ्नरहित सिद्ध करनेवाले [भवन्ति] होते हैं।

सरलार्थ – “जो कोई वीर पुरुष चन्द्रकयन्त्र पर स्थित कृत्रिम वराहत्रय

का भेदन करेगा, उसको मेरी कन्या वर रूप में स्वीकार करेगी।” – ऐसी घोषणा राजा गोविन्दराज ने सर्वत्र ही करा दी; क्योंकि कारण कार्य की उत्तम जानकारी रखनेवाले पुरुषों के काम में किसी प्रकार की बाधा नहीं आती है।

विशेषार्थ – राजा गोविन्दराज अपनी कन्या के लिए योग्य वर तो चाहते ही थे और साथ ही अनेक राजाओं के साथ मैत्रीभाव भी चाहते थे। उसे काष्ठांगार के विरुद्ध शक्ति संचय भी करनी थी तथा जीवन्धरकुमार का यथार्थ परिचय कराने का भी भाव उनके मन में था। वे कोई न कोई बहाना तो चाहते ही थे। उन्हें इन कार्यों के लिए अपनी कन्या के हेतु स्वयंवर मण्डप की रचना ही अधिक उपयुक्त लगी। अतः उन्होंने देश-देशान्तर में ‘स्वयंवर’ रचना की घोषणा करा दी, जो अत्यन्त उचित है।

कन्या के स्वयंवर की घोषणा का परिणाम –

धनुर्धराश्च सम्भूतास्त्रैवर्णिककुलोद्भवाः ।

आमोहो देहिनामास्थामस्थानेऽपि हि पातयेत् ॥२४॥

अन्वयार्थ – तदनन्तर (त्रैवर्णिककुलोद्भवाः) तीनों वर्णों के कुल में उत्पन्न (धनुर्धराः) धनुर्धारी (सम्भूताः) वहाँ आकर इकट्ठे हो गए।

[**अत्र नीतिः**] (हि) निश्चय से (आमोहः) जबतक मोह रहता है तबतक वह मोह (देहिनां) जीवों की (आस्थां) बुद्धि अथवा श्रद्धा का (अस्थाने अपि) नहीं पाने योग्य वस्तु में भी (पातयेत्) पतन करा देता है।

सरलार्थ – तदनन्तर ‘कन्या-लोभ’ के कारण तीन वर्णों के कुल में उत्पन्न विशेष लोग – धनुर्विद्या में निपुण राजा, सेनापति, सरदार आदि वीर पुरुष स्वयंवर मण्डप में आने लगे; क्योंकि जीव को जबतक मोह है, तबतक वह मोह जीव की अयोग्य स्थानों में प्रवृत्ति कराता ही है।

विशेषार्थ – कन्या तो नियम से एक ही पुरुष को वरेगी, अन्य अनेक

पुरुषों को तो अपमानित ही होना है। यह सब जानते हुए भी मोहवश सबको ऐसा लगता है कि 'कन्या मुझे ही वरेगी।' इस कारण अनेक लोग स्वयंवर मण्डप में आ गये।

जीव को एक मोह परिणाम ही दुःखदाता है। अन्य बाह्य वस्तुएँ जीव को कभी दुःख दे ही नहीं सकतीं। एकत्र हुए सभी पुरुषों को मोह परिणाम ने ही सन्त्रस्त किया है। मोह को अनेकबार लोभ भी कहते हैं। अतः लोभ पाप को बाप बखाना – ऐसी उक्ति भी प्रचलित है।

धनुर्धर योद्धा वराहत्रय को भेदने में असफल –

ततश्चन्द्रकयन्त्रस्थवराहत्रय - भेदने।

न शेकुश्चापिनः सर्वे क्व विद्या पारगामिनी ॥२५॥

अन्वयार्थ – (ततः) फिर (सर्वे चापिनः) सर्व धनुर्धारी (चन्द्रक-यन्त्रस्थवराहत्रयभेदने) चन्द्रक-यन्त्र में बने हुए वराहों के भेदने में (न शेकुः) समर्थ नहीं हुए।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (पारगामिनी) परिपूर्ण (विद्या) विद्या (क्व) कहाँ होती है ?

सरलार्थ – सब धनुर्धारी चन्द्रक-यन्त्र में स्थित कृत्रिम वराह को भेदने में सर्वथा असमर्थ रहे; क्योंकि कोई भी विद्या पूर्ण रीति से सभी सामान्य मनुष्यों को प्राप्त नहीं होती; विरले व्यक्ति ही परिपूर्ण विद्या के धारी होते हैं।

विशेषार्थ – कन्या प्राप्ति के लोभ में तो अनेक धनुर्धारी आए हैं; परन्तु परिपूर्ण विद्या के अभाव में अपेक्षित कार्य नहीं कर पाए। अतः स्वयं अपमानित भी हुए हैं। अन्य कोई उपाय न होने से खेद-खिन्न होकर हार मान कर बैठ गए।

वराहत्रय के भेदन में जीवन्धरकुमार सफल –

अलातचक्रतः शीघ्रं चक्रमारुह्य हेलया।

विव्याध विजयासूनुर्भानुः किं न तमोहरः ॥२६॥

अन्वयार्थ – (विजयासूनुः) विजया रानी के पुत्र जीवन्धरकुमार ने (चक्रं आरुह्य) चन्द्रक-यन्त्र पर चढ़कर (हेलया) क्रीड़ा मात्र से (शीघ्रं) शीघ्र ही (अलातचक्रतः) अलातचक्र से तीनों वराहों का (विव्याध) भेदन कर दिया।

[अत्र नीतिः] निश्चय से (किं) क्या (भानुः) सूर्य (तमोहरः) [न भवति] अन्धकार को नाश करनेवाला नहीं है ? किन्तु है ही।



सरलार्थ – माता विजया के सुपुत्र जीवन्धरकुमार ने अग्नि-अंगार युक्त चन्द्रक-यन्त्र पर चढ़कर खेल-खेल में ही/सहजता से ही घूमते हुए वराहत्रय का भेदन कर दिया; क्योंकि जिस अन्धकार को तारे आदि नष्ट नहीं कर पाते, उसे सूर्य सहज ही नष्ट कर देता है।

विशेषार्थ – जो कार्य सामान्य जनों को कष्ट साध्य अथवा असाध्य लगता है, उसी कार्य को महापुरुष सहजता से सम्पन्न कर डालते हैं। यहाँ पर जीवन्धरकुमार को सूर्य की उपमा दी है और अन्य सभी राजा आदि धनुर्धारियों को तारागण और दीपक की उपमा दी है।

राजा गोविन्दराज की क्रान्तिकारी घोषणा –

अथ गोविन्दराजोऽपि राज्ञामित्थमचीकथत् ।

सात्यन्धरिरयं हीति स्थाने हि कृतिनां गिरः ॥२७॥

अन्वयार्थ – (अथ) इसके अनन्तर (गोविन्दराजः अपि) गोविन्दराज ने भी (राज्ञां समक्षं) वहाँ राजाओं के सामने (अयं सात्यन्धरिः) यह सत्यन्धर महाराज के पुत्र हैं (इति इत्थं) इसप्रकार (अचीकथत्) कहां।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (कृतिनां) बुद्धिमान पुरुषों की (गिरः) वाणी (स्थाने) योग्य स्थान में ही [भवति] होती है।

सरलार्थ – तदनन्तर राजा गोविन्दराज ने उपस्थित सभी राजाओं के समक्ष अत्यन्त आनन्द और उत्साह के साथ घोषणा की कि चन्द्रक-यन्त्र के वराहत्रय का भेदन करनेवाले जीवन्धरकुमार स्वर्गीय राजा श्री सत्यन्धर के सुपुत्र और मेरे भानजे हैं; क्योंकि बुद्धिमान पुरुष योग्य समय पर ही महत्त्वपूर्ण विषयों का कथन करते हैं।

विशेषार्थ – राजा गोविन्दराज ने काष्ठांगार के विरोध में और अपने अनुकूल सभी राजाओं का मानस बनाने के उद्देश्य से स्वर्ण-अवसर जानकर जीवन्धरकुमार का वास्तविक परिचय सबको करा दिया।

सभी राजाओं द्वारा गोविन्दराज के कथन का समर्थन –

राजानोऽप्येवमस्माभिरस्मारीत्यभ्यनन्दिषुः ।

आचष्टे हि नरेन्द्रत्वमालीढादिषु पाटवम् ॥२८॥

अन्वयार्थ – (राजानः अपि) यह बात सुनकर राजा लोगों ने भी (एवं) ऐसा (अस्माभिः) हम लोग भी (अस्मारि) स्मरण करते हैं (इति) इसप्रकार (अभ्यनन्दिषुः) राजपुत्र की प्रशंसा की। (हि) निश्चय से (आलीढादिषु पाटवं) आलीढादि पाँच स्थानों पर पाई गई चतुरता ने जीवन्धरकुमार के (नरेन्द्रत्वं) राजापने को (आचष्टे) प्रगट कर दिया अर्थात् धनुर्धारियों में जीवन्धरकुमार की चतुराई देखकर राजा लोगों ने यह निश्चय कर लिया कि ये अवश्य सत्यन्धर महाराज के ही पुत्र हैं।

सरलार्थ – उपस्थित सभी राजा लोग राजा गोविन्दराज से जीवन्धरकुमार का परिचय सुनकर जीवन्धरकुमार की विशेष प्रशंसा करते हुए कहने लगे कि

हे राजन ! हमने भी इस युवक की धनुर्विद्या का चातुर्य और विभिन्न क्रिया-कलाप देखकर ही यह अनुमान लगा लिया था कि युवक क्षत्रिय-पुत्र ही होना चाहिए।

जीवन्धरकुमार के विशेष परिचय से काष्ठांगार भयभीत -

काष्ठाङ्गारः कुमारस्य वीक्षणात्क्षीणमानसः ।

तच्छ्रुतेर्मृत - कल्पोऽयमनल्पाधिरचिन्तयत् ॥२९॥

अन्वयार्थ - (कुमारस्य) जीवन्धरकुमार को (वीक्षणात्) देखने से (क्षीणमानसः) मन में खेद को प्राप्त हुआ (अयं काष्ठाङ्गारः) यह काष्ठांगार (तच्छ्रुतेः) गोविन्द महाराज की वार्ता को सुनने से (मृतकल्पः) मरे हुए के समान (अनल्पाधिः) अत्यन्त मानसिक व्यथा से व्यथित होकर (अचिन्तयत्) विचार करने लगा।

सरलार्थ - जीवन्धरकुमार के दर्शन मात्र से ही काष्ठांगार का मन शंकित हो गया था, पर अब राजा गोविन्दराज से जीवन्धरकुमार का वास्तविक परिचय सुनकर तो वह मरे हुए के समान असह्य दुःख का अनुभव करता हुआ निम्नप्रकार से विचार करने लगा।

भयभीत काष्ठांगार मानसिक पीड़ा से पीड़ित -

सात्यन्धरौ च सत्यस्मिन्सद्यो हन्त वयं हताः ।

वीरेण हि मही भोग्या योग्यतायां च किं पुनः ॥३०॥

अन्वयार्थ - (सात्यन्धरौ अस्मिन् सति) काष्ठांगार सोचता है कि इसके सत्यन्धर महाराज का पुत्र होने पर तो (हन्त) हाय ! (वयं) हम सब (सद्यः) अभी (हताः) मारे गए।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (मही) पृथ्वी (वीरेण) वीरों द्वारा (भोग्या) भोग्य [भवति] होती है (पुनः) फिर (योग्यतायां) सब प्रकार की योग्यता रहने पर (तु किं वक्तव्यं) तो कहना ही क्या है ?

सरलार्थ - हाय ! हाय !! महान खेद है कि चन्द्रक-यन्त्र के वराहत्रय का

भेदन करनेवाला यह युवक यदि सचमुच राजा सत्यन्धर का ही पुत्र है तो हम इसी समय मारे गए; क्योंकि यह पृथ्वी वीर पुरुषों से ही भोगने योग्य होती है और उस वीर पुरुष में विशेष योग्यता हो तो उसके राजा होने में कोई सन्देह नहीं, वह अवश्य ही राजा बनेगा।

काष्ठांगार के मन में 'मथन' विषयक अविश्वास -

कथमेनं वणिक्पाशं मथनोऽप्यवधीत्तदा।

आत्मनीने विनात्मानमञ्जसा न हि कश्चन ॥३१॥

अन्वयार्थ - (तदा) उससमय (मथनः अपि) मथन ने भी (एनं वणिक्पाशं) इस कुत्सित वैश्य को (कथं) कैसे (अवधीत्) मारा ?

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से इस लोक में (आत्मनीने) अपने हित के लिए (आत्मानं) अपने (विना) सिवाय (कश्चन) अन्य कोई (अञ्जसा हितः न) सच्चा हितकारी नहीं [अस्ति] है।

सरलार्थ - एक वर्ष पूर्व मैंने अपने प्रिय साले 'मथन' को इस नीच जीवन्धरकुमार को 'जान से मारने' की आज्ञा दी थी। उसने जीवन्धरकुमार को क्यों नहीं मारा ? उसे जीवित कैसे छोड़ दिया ? इससे ज्ञात होता है कि वास्तव में अपने को छोड़ कर अन्य कोई अपना हित करनेवाला नहीं है।

विशेषार्थ - अध्यात्म में तो अपना आत्महित स्वयं को ही करना चाहिए; यह परम सत्य बात है। व्यावहारिक कार्यों में भी अपना कार्य यथासम्भव स्वयं ही करना उचित है। अन्य के भरोसे कार्य छोड़ देने पर सफलता की सम्भावना कम रहती है।

काष्ठांगार ने जीवन्धरकुमार को मृत्युदण्ड दिया था, उससमय ही सुदर्शन यक्ष ने आकर जीवन्धरकुमार की रक्षा की, उन्हें मारने नहीं दिया और अपने विमान से अन्यत्र ले गया; पर मथन ने काष्ठांगार के भय के कारण सत्य बात उन्हें नहीं बताई, पर इससमय जीवन्धरकुमार को जीवित और साक्षात् देखकर काष्ठांगार को अपना साला, मथन, धोखेबाज प्रतीत हो रहा है, जो सत्य ही है।

काष्ठांगार को पश्चात्ताप -

दुराकूतः किमाहूतो मातुलोऽस्य मया मुधा ।

स्ववधाय हि मूढात्मा कृत्योत्थापनमिच्छति ॥३२॥

अन्वयार्थ - (मया) मैंने (दुराकूतः) दुष्ट अभिप्रायवाले (अस्य) इसके (मातुलः) मामा को (मुधा) व्यर्थ (किं) क्यों (आहूतः) बुलाया ?

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (मूढात्मा) मूर्ख पुरुष (स्ववधाय) अपने नाश के लिए (कृत्योत्थापनं) वेताल (व्यन्तर विशेष) के जगाने की अपने आप ही (इच्छति) इच्छा करता है।

सरलार्थ - काष्ठांगार मन ही मन पश्चात्ताप करता हुआ सोचता है कि मैंने जीवन्धरकुमार के मामा दुष्ट गोविन्दराज को आमन्त्रण देकर यहाँ व्यर्थ ही बुलाया; क्योंकि मूर्ख व्यक्ति की मूर्खता स्वयं ही सिद्ध होती है, वह स्वयं अपने नाश के लिए वेताल (व्यन्तर विशेष) को जगाने की इच्छा करता है।

विशेषार्थ - काष्ठांगार मन ही मन पश्चात्ताप करता हुआ सोच रहा है कि मैंने व्यर्थ ही जीवन्धरकुमार के मामा राजा गोविन्दराज को राजपुरी नगरी में निमन्त्रण देकर बुलाया; क्योंकि विवेकशून्य मनुष्य मूर्खतावश ऐसी अनिष्ट सामग्री स्वयं ही एकत्र करता रहता है; जो परिणाम में स्वयं को ही हानिकारक सिद्ध होती है। मैंने इस कपटी, दुर्दान्त गोविन्दराज को यहाँ बुलाकर अपने ही पैरों पर कुल्हाड़ी मारी है अर्थात् वेताल (व्यन्तर) को निमन्त्रण दिया है।

मैं यह नहीं जानता था कि यह गोविन्दराज राजा सत्यन्धर के मारे जाने सम्बन्धी राज-द्रोहजनित अपयश को दूर करने के बदले, मेरे ही प्राणों का घातक बनकर यहाँ आएगा।

काष्ठांगार का अपनी भावी अनिष्टता पर विचार -

गोविन्दराजयुक्तोऽयं दुर्दान्तः किं न विधित्सति ।

मरुत्सखे मरुद्भूते मह्यां किं वा न दह्यते ॥३३॥

अन्वयार्थ – (गोविन्दराजयुक्तः) राजा गोविन्दराज जिसका सहयोगी है – ऐसा (अयं दुर्दान्तः) यह कठिनाई से दमन होनेवाला जीवन्धरकुमार (किं न विधिं त्सति) क्या नहीं करेगा ? अर्थात् यह मेरे लिए सब अनिष्टों को करने के लिए समर्थ होगा।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (मरुद्भूते) वायु के वेग से प्रज्वलित (मरुत्सखे) अग्नि के होने पर (मह्यां) पृथ्वी में (किं वा) क्या कौन-सी वस्तु (न दह्यते) नहीं जलती है ? अर्थात् सब भस्मीभूत हो जाता है।

सरलार्थ – राजा गोविन्दराज सहित यह महाशक्तिशाली दुर्दान्त जीवन्धरकुमार सब कुछ अनर्थ कर डालेगा; क्योंकि पवन की सहायता से प्रज्वलित अग्नि जगत की सर्व वस्तुओं का नाश कर देती है।

विशेषार्थ – यहाँ राजा गोविन्दराज को 'पवन' और जीवन्धरकुमार को 'अग्नि' के रूप से प्ररूपित किया गया है। जिसप्रकार अग्नि, वस्तुओं को स्वयं ही जलाती है और यदि उसे वेगवान पवन का सहयोग और मिल जाए तो विनाश का कहना ही क्या ?

जीवन्धरकुमार तो अकेला ही मुझे राजपद से च्युत करने में समर्थ है, तो फिर राजा गोविन्दराज का उसे सहयोग मिल जाने से और कहना ही क्या रहा?

जीवन्धरकुमार के मित्रों की चतुराई –

इति चिन्ताकुलं शत्रुं स्वामिमित्राणि चिक्षिपुः ।

विपदो वीतपुण्यानां तिष्ठन्त्येव हि पृष्ठतः ॥३४॥

अन्वयार्थ – (स्वामिमित्राणि) जीवन्धरकुमार के मित्रों ने (इति) इसप्रकार (चिन्ताकुलं) चिन्ता से व्याकुल (शत्रुं) शत्रु काष्ठांगार को (चिक्षिपुः) भड़काया।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (वीतपुण्यानां) जिनका पुण्यकर्म क्षीण हो गया है, उन पुरुषों के (विपदः) विपत्तियाँ (पृष्ठतः) पीछे (तिष्ठन्ति एव) लगी ही रहती हैं।

सरलार्थ – उपर्युक्त प्रकार से चिन्तातुर एवं निकट भविष्य में उत्पन्न होनेवाले संकट से भयभीत काष्ठांगार को जीवन्धरकुमार के मित्रों ने जीवन्धरकुमार के ही विरोध में भड़काया; क्योंकि पुण्यहीन मनुष्यों के पीछे विपत्तियाँ एक के बाद एक आती ही रहती हैं।

विशेषार्थ – पुण्यहीन होना ही विपत्तियों को आमन्त्रण देना है। जबतक पूर्वबद्ध पुण्यकर्म का उदय रहता है, तबतक आपत्तियों के आने के लिए स्थान नहीं मिलता। जिसे आपत्तियाँ नहीं चाहिए उसे पूर्वबद्ध पुण्यकर्म का उदय चाहिए।

पुण्यबन्ध के लिए जीव के पुण्य परिणाम होना आवश्यक हैं और पुण्य परिणामों के लिए देव-शास्त्र-गुरु की सेवा-भक्ति आवश्यक है। सेवा-भक्ति के लिए देवादि का स्वरूप जानना भी परम आवश्यक है। स्वरूप के निर्णय के लिए शास्त्रों का स्वाध्याय, तत्त्वों का मनन-चिन्तन, सत्-समागम आदि करने का बुद्धिपूर्वक प्रयत्न करना ही कर्तव्य है।

दुष्ट काष्ठांगार द्वारा युद्ध की घोषणा –

मत्सरी कौरवेणायं भर्त्सनादयुयुत्सत।

मत्सराणां हि नोदेति वस्तुयाथात्मयचिन्तनम् ॥३५॥

अन्वयार्थ – फिर (अयं मत्सरी) मत्सरभाव रखनेवाले इस काष्ठांगार ने (भर्त्सनात्) ताड़न और अपमान से (कौरवेण सह) कुरुवंशी जीवन्धरकुमार के साथ (अयुयुत्सत) युद्ध करने की इच्छा की।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (मत्सराणां) मत्सरी पुरुषों के (वस्तुयाथात्मयचिन्तनं) पदार्थ के स्वरूप का विचार करना (न उदेति) नहीं होता है।

सरलार्थ – जीवन्धरकुमार के मित्रों के भड़काने/उकसाने से एवं दूसरों का उत्कर्ष सहन न होने से क्रोधित होकर काष्ठांगार ने बलशाली तथा पुण्यवान जीवन्धरकुमार से युद्ध करने की इच्छा प्रगट की; क्योंकि मत्सर-भावना युक्त

मनुष्य को वस्तु के यथार्थ स्वरूप का अर्थात् हिताहित का विचार ही नहीं रहता।

विशेषार्थ – राजा गोविन्दराज मेरे विरोध में ही लड़ेंगे। अन्य अनेक राजा भी जीवन्धरकुमार का साथ देंगे। जीवन्धरकुमार अकेले ही अत्यन्त सामर्थ्य-शाली हैं। उनका मित्र परिवार भी बहुत बड़ा है।

जब जीवन्धरकुमार सेठ गन्धोत्कट के घर में निवास करते थे, उससमय ही उनके पराक्रम का ज्ञान हो चुका था। इतना सब ज्ञान होते हुए भी मत्सर-भाव के कारण काष्ठांगार विचारशून्य हो गया तथा अविवेकपूर्वक जीवन्धरकुमार से युद्ध करने की घोषणा कर दी।

युद्ध के समय राजाओं में भेद –

केचित्कौरवतः केचिद्वैरितोऽप्यभवन्नृपाः।

सुजनेतरलोकोऽयमधुना न हि जायते ॥३६॥

अन्वयार्थ – [युद्धे] उस युद्ध में (केचित् नृपाः) कुछ राजा तो (कौरवतः) जीवन्धरकुमार की ओर (अभवन्) हो गए और (केचित्) कुछ (वैरितः अपि) शत्रु के पक्ष में (अभवन्) हो गए।

[**अत्र नीतिः**] (हि) निश्चय से (सुजनेतरलोकः) सज्जन और दुर्जन का पक्ष करनेवाला (अयं) यह संसार (अधुना) अभी (न जायते) नहीं हुआ है; किन्तु हमेशा से चला आ रहा है।

सरलार्थ – युद्ध का निर्णय होते ही कुछ विशिष्ट विचारशील और बलवान राजा जीवन्धरकुमार के पक्ष में और कुछ निकृष्ट विचारवाले तथा बलहीन राजा काष्ठांगार के पक्ष में हो गए; क्योंकि इस संसार में कुछ मनुष्य सज्जनों के और कुछ मनुष्य दुर्जनों के पक्षपाती सदा से ही होते आए हैं।

विशेषार्थ – संसार में सदा ही सज्जन और दुर्जन लोग रहे हैं और उनके पक्षपाती भी अनादिकाल से ही हैं। इस अनादिकालीन संसार का स्वरूप ही

ऐसा है। अतः इस युद्ध प्रसंग पर भी कुछ राजाओं ने जीवन्धरकुमार का पक्ष लिया और कुछ ने काष्ठांगार का पक्ष लिया है। इसमें कुछ भी आश्चर्य और खेद नहीं है, यह पक्षपात स्वाभाविक ही है।

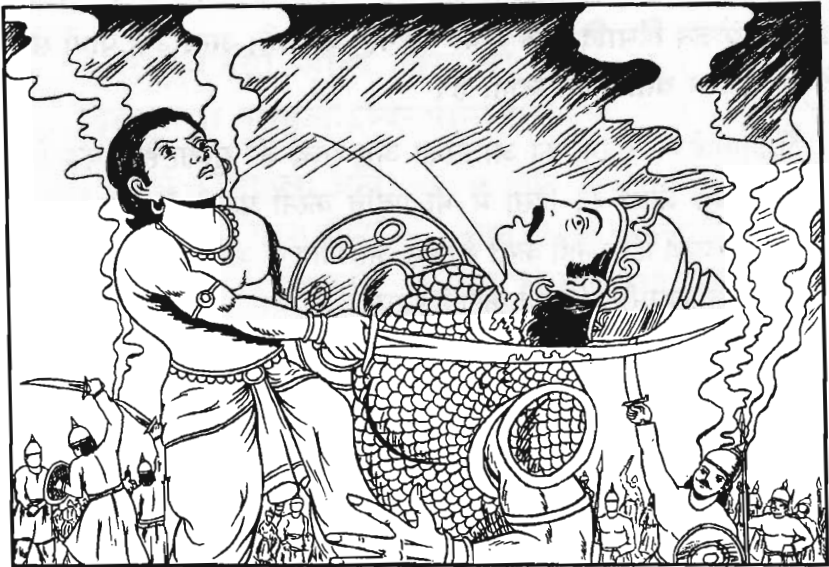
युद्ध का परिणाम -

कौरवौऽप्याहवेऽरातिं लोकान्तरमजीगमत् ।

दुर्बला हि बलिष्ठेन बाध्यन्ते हन्त संसृतौ ॥३७॥

अन्वयार्थ - (कौरवः अपि) कुरुवंशी जीवन्धरकुमार ने भी (आहवे) संग्राम में (अरातिं) शत्रु को (लोकान्तरं अजीगमत्) परलोक पहुँचा दिया।

[अत्र नीतिः] (हन्त) खेद है ! हाय ! (हि) निश्चय से (संसृतौ) संसार में (दुर्बलाः) दुर्बल प्राणी (बलिष्ठेन) बलवानों से (बाध्यन्ते) हारते आए हैं।



सरलार्थ - कुरुवंशी बलवान जीवन्धरकुमार ने निर्बल काष्ठांगार को युद्ध में 'परलोक' पहुँचा दिया; क्योंकि संसार में बलवान जीव दुर्बल प्राणियों पर सदैव विजय प्राप्त करते हैं। हैं।

युद्ध एवं अणुव्रतों का स्वरूप -

अथ सङ्ग्रामसंरम्भं कौरवोऽयमवारयत् ।

मुधावधादिभीत्या हि क्षत्रिया व्रतिनो मताः ॥३८॥

अन्वयार्थ - (अथ) इसके अनन्तर (अयं कौरवः) इस जीवन्धरकुमार ने शत्रु के मर जाने पर (सङ्ग्रामसंरम्भं) संग्राम के आरम्भ को (अवारयत्) बन्द कर दिया।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (मुधा) व्यर्थ, निष्प्रयोजन (वधादि-भीत्या) हिंसादिक पाँच पापों के डर से (क्षत्रियाः) क्षत्रिय लोग (व्रतिनः मताः) व्रती माने गए हैं।

सरलार्थ - काष्ठांगार की मृत्यु होते ही अपना प्रयोजन पूरा हो जाने से विवेकी जीवन्धरकुमार ने तत्काल युद्ध बन्द कर दिया; क्योंकि क्षत्रिय लोग भी निष्प्रयोजन हिंसादि पाँच पापों को नहीं करते हैं; अतः उन्हें पापों से विरक्त अर्थात् व्रती माना जाता है।

विशेषार्थ - क्षत्रियों को आत्मरक्षा और राज्य की सुरक्षा हेतु, युद्ध में होनेवाली त्रस जीवों की हिंसा में भी प्रवृत्ति करनी पड़ती है; तथापि वे निष्प्रयोजन/व्यर्थ हिंसा नहीं करते हैं। इस अभिप्राय से आगम में क्षत्रियों को भी अष्ट मूलगुणधारी अणुव्रती कहा है। शास्त्रों में चार प्रकार की हिंसा का वर्णन आता है, उसका संक्षिप्त विवरण निम्नप्रकार है -

१. संकल्पी हिंसा - केवल निर्दय परिणाम ही हैं हेतु जिसमें, ऐसे संकल्पपूर्वक किया गया किसी जीव का प्राणघात ही संकल्पी हिंसा है।

२. उद्योगी हिंसा - व्यापारादि कार्यों में सावधानी वर्तते हुए भी जो हिंसा होती है, उसे उद्योगी हिंसा कहते हैं।

३. आरम्भी हिंसा - रसोई बनाना, झाड़ू लगाना आदि गृह-कार्यों में सावधानी वर्तते हुए भी हिंसा हो जाती है, उसे आरम्भी हिंसा कहते हैं।

४. विरोधी हिंसा — अपने तथा अपने परिवार एवं धर्मायतन आदि पर किए गए आक्रमण से रक्षा के लिए अनिच्छापूर्वक की गई हिंसा, विरोधी हिंसा है।

इस श्लोक में जो 'मुधा' शब्द आया है, उसका अर्थ निष्प्रयोजन/व्यर्थ है। संकल्पी हिंसा न करने के कारण ही मनुष्य को सामान्यतः ब्रती माना जाता है। वास्तविक तो सम्यग्दर्शनपूर्वक दो कषाय चौकड़ी के अभाव-पूर्वक पाँच अणुव्रतादि का पालन करनेवाले 'व्रत' प्रतिमाधारक को ही ब्रती श्रावक कहते हैं। दर्शनप्रतिमाधारी भी पंचमगुणस्थानवर्ती है।

मुनि जीवन धन्य है, जिस जीवन में चारों प्रकार की हिंसा का नियम से सर्वथा त्याग अर्थात् अभाव रहता है। अतएव मुनिराज अहिंसा महाव्रती कहलाते हैं। ऐसे मुनिराज ही हमारे आदर्श हैं।

एक कारण से अनेक कार्य —

वीरसूर्विजया जाता वीरपत्नी च मे सुता।

इत्युक्त्वा मातुलोऽप्येनमानन्दादभ्यनन्दयत् ॥३९॥

अन्वयार्थ — (मातुलः अपि) जीवन्धरकुमार के मामा ने भी (विजया वीरसूः) मेरी बहिन विजया वीरपुत्र को (जाता) उत्पन्न करनेवाली (च) और (मे सुता) मेरी पुत्री (वीरपत्नी) वीर पुरुष की स्त्री (जाता) हुई (इति) इसप्रकार (उक्त्वा) कहकर (एनं) कुमार का (आनन्दात्) आनन्द से (अभ्यनन्दयत्) अभिनन्दन किया।

सरलार्थ — मामा गोविन्दराज अपने भानजे जीवन्धरकुमार से कहते हैं कि "हे भगिनीसुत ! आपने आज युद्ध में विजय प्राप्त की है, अतः मेरी बहिन 'वीर माता' हो गई और मेरी कन्या भी 'वीर भार्या' हुई है। मैं तुम्हारा हार्दिक अभिनन्दन करता हूँ।"

विशेषार्थ — युद्ध में जीवन्धरकुमार ने विजय प्राप्त की है, यह तो एक कारण हुआ और कार्य अनेक हुए हैं। इससे पता चलता है कि एक

निमित्तरूप कारण से ही अनेक नैमित्तिक कार्य होने/कहने का व्यवहार चलता है।

सामन्तिक राजाओं के व्यवहार में परिवर्तन -

समन्ततः समायाताः सामन्तास्तं सिषेविरे ।

समौ हि नाट्यसभ्यानां सम्पदां च लयोदयौ ॥४०॥

अन्वयार्थ - फिर (समन्ततः) चारों ओर से (समायाताः) आए हुए (सामन्ताः) छोटे-छोटे देशों के राजा (तं सिषेविरे) उनकी सेवा करने लगे।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (नाट्यसभ्यानां) नाटक के सभ्यों अर्थात् दर्शकों के लिए (सम्पदां) नाटक के पात्र की सम्पत्ति का (लयोदयौ) नाश और उदय (समौ) तुल्य होता है।

सरलार्थ - स्वयंवर के निमित्त से आए हुए सामन्तिक अर्थात् चारों ओर के राजा युद्ध में काष्ठांगार के मरते ही अब जीवन्धरकुमार की सेवा करने लगे; क्योंकि नाटक के रंगमंच पर होनेवाली हानि-लाभ की घटनाओं का अच्छा या बुरा प्रभाव दर्शकों पर होता ही नहीं है।

विशेषार्थ - प्रत्येक मनुष्य अपना ही प्रयोजन सिद्ध करना चाहता है। उसे दूसरों के हानि-लाभ से कोई मतलब नहीं होता। काष्ठांगार की पराजय पर मानो कुछ विशेष हुआ ही नहीं - ऐसी सहजता से सामन्तिक राजागण जीवन्धरकुमार की सेवा करने लगे।

जिसप्रकार नाट्यसभा के सभ्यों/दर्शकों के हृदय में नाटक में दिखाए जानेवाले किसी के अभ्युदय और किसी के पतन को देखकर उन्हें कोई विशेष हर्ष-विषाद नहीं होता।

उसीप्रकार उस समय स्वयंवर सभा में आए हुए अन्य सामन्तिक राजा, जो पहले काष्ठांगार की सेवा करते थे, अब वे काष्ठांगार के युद्ध में मारे जाने पर विजेता जीवन्धरकुमार की सेवा करने लगे। उन्हें युद्ध के परिणाम पर कोई विशेष हर्ष-विषाद नहीं हुआ।

जीवन्धरकुमार की विशेष प्रवृत्ति का वर्णन -

राजपुर्यामगाच्चायमभिषेक्तुं जिनालयम् ।
भगवद्विव्यसान्निध्ये निष्प्रत्यूहा हि सिद्धयः ॥४१॥

अन्वयार्थ - फिर यह जीवन्धरकुमार (राजपुर्या) राजपुरी नगरी के अन्दर (अभिषेक्तुं) राज्याभिषेक से अभिषिक्त होने के लिए (जिनालयं) जिनमन्दिर में दर्शनार्थ (अगात्) गए।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (भगवद्विव्यसान्निध्ये) भगवान की दिव्य समीपता होने पर (सिद्धयः) सिद्धियाँ (निष्प्रत्यूहाः भवन्ति) निर्विघ्न प्राप्त होती हैं।

सरलार्थ - युद्ध में विजय प्राप्त करने के पश्चात् जीवन्धरकुमार राज्याभिषेक की निर्विघ्न सम्पन्नता के लिए राजपुरी नगरी के जिनालयों की वन्दना हेतु गमन करते हैं; क्योंकि देवाधिदेव भगवान अरहन्त के अति पवित्र और अलौकिक निमित्त से सभी कार्य निर्विघ्न सिद्ध होते हैं।

विशेषार्थ - जीवन्धरकुमार के मानस-मन्दिर में अपना वंशपरम्परागत राज्य प्राप्त करने का भाव अनेक दिनों से अति तीव्रता से था। आज वह सम्पन्न होने जा रहा है। सबके ही मन में जीवन्धरकुमार का राज्याभिषेक करने का विचार आया। ऐसे अवसर पर उसकी निर्विघ्नता का भाव मन में आना स्वाभाविक है।

किसी भी कार्य के सफल होने का मूल कारण तो एक पुण्योदय ही है और पुण्योदय के लिए पुण्य की सत्ता होना आवश्यक है। पुण्यभावों के लिए देव-गुरु-शास्त्र का सान्निध्य अनिवार्य है।

अतः जीवन्धरकुमार ने सर्वप्रथम देववन्दना हेतु जिनमन्दिर की ओर गमन किया। वर्तमानकालीन पुण्य-परिणामों से इच्छित कार्य सफल होने का कोई नियम नहीं है। कार्य की सम्पन्नता के लिए तो पूर्वबद्ध पुण्यकर्मों का उदय आवश्यक रहता है। फिर भी गृहस्थ को तो पुण्य-परिणाम एवं

पुण्यक्रिया करने का भाव अपने मन में भूमिकानुसार आए बिना रहता ही नहीं है। तदनुसार जीवन्धरकुमार को जिन-मन्दिर जाने का भाव सर्वप्रथम आया।

सुदर्शन यक्ष की कृतज्ञता —

तावता संन्यधात्तत्र यक्षो यक्षचरो मुदा।

फलमेव हि यच्छन्ति पनसा इव सज्जनाः ॥४२॥

अन्वयार्थ — (तावता) उसी समय (यक्षचरः यक्षः) कुत्ते का जीव यक्ष (मुदा) हर्ष से (तत्र) वहाँ (संन्यधात्) आया।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (सज्जनाः) सज्जन पुरुष (पनसाः इव) कटहल के वृक्षों की तरह (फलं एव) फल को ही (यच्छन्ति) देते हैं।

सरलार्थ — जिनेन्द्र भगवान के दर्शन करने के पश्चात् राज्याभिषेक के सम्बन्ध में विचार-विनिमय चल ही रहा था, इतने में ही कृतज्ञ यक्ष सुदर्शन विजयी वीर जीवन्धरकुमार के सामने सेवाभाव से उपस्थित हुआ; क्योंकि सज्जन मनुष्य 'कटहल' वृक्षों के समान पुनः पुनः सब को सुखद फल प्रदान करते ही रहते हैं।

विशेषार्थ — सर्वप्रथम विशेष यश प्राप्त जीवन्धरकुमार ने त्रिलोकी नाथ तीर्थंकर भगवन्तों की पूजा-भक्ति की। तदनन्तर अभिषेक मण्डप में जीवन्धरकुमार के मित्र, सामन्त एवं राजागण तथा मामा राजा गोविन्दराज एकत्र होकर राज्याभिषेक के लिए विचार-विनिमय कर ही रहे थे, इतने में पूर्वभव के कुत्ते का जीव जो जीवन्धरकुमार द्वारा दिए गए महामन्त्र णमोकार से सुदर्शन यक्ष बना था, वह राज्याभिषेक के महान कार्य में सहयोग देने हेतु उपस्थित हुआ है।

जैसे कटहल का वृक्ष पुनः पुनः फल देता ही रहता है, वैसे ही कृतज्ञ तथा सज्जन सुदर्शन यक्ष जीवन्धरकुमार की आपत्ति और खुशी के अवसर पर बार-बार सहयोग देता ही रहता है।

जीवन्धरकुमार से महाराजा जीवन्धरकुमार होना —

अथ गोविन्दराजेन यक्षराजो यथाविधि ।

अभ्यषिञ्चन्महाराज कौरवं गुरुगौरवात् ॥४३॥

अन्वयार्थ — (अथ) इसके अनन्तर (यक्षराजः) यक्षेन्द्र ने (गोविन्द-राजेन सह) गोविन्दराज के साथ (गुरुगौरवात्) बड़े गौरव से (महाराजं कौरवं) महाराजा जीवन्धरकुमार का (यथाविधि) विधिपूर्वक (अभ्यषिञ्चत्) राज्याभिषेक किया ।

सरलार्थ — विशिष्ट विचार-विनिमय और सन्तोषकारक सब व्यवस्थाएँ हो जाने पर रत्नमय सिंहासन पर विराजमान महापुण्यशाली कुरुवंशी महाराजा जीवन्धरकुमार का यक्षेन्द्र और राजा गोविन्दराज आदि महानुभावों ने अत्यन्त वैभव के साथ विधिपूर्वक अभिषेक मण्डप में राज्याभिषेक किया ।

विशेषार्थ — समस्त प्रजाजन को अब जीवन्धरकुमार राजा बन गए हैं — यह जानकर अतिशय आनन्द हुआ । प्रजा ने महान उत्साहपूर्वक उनका स्वागत किया । यहाँ राज्याभिषेक कार्यक्रम अति आवश्यक था, जो यथासमय किया गया ।

यक्षेन्द्र का अपने निवास पर गमन —

अयादापृच्छ्य राजेन्द्रं यक्षेन्द्रोऽपि स्वमन्दिरम् ।

न ह्यासक्त्या तु सापेक्षो भानुः पद्मविकासने ॥४४॥

अन्वयार्थ — (यक्षेन्द्रः अपि) यक्षेन्द्र भी (राजेन्द्रं आपृच्छ्य) राजेन्द्र से पूछकर (स्वमन्दिरं) अपने स्थान को (अयात्) चला गया ।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (भानुः) सूर्य (पद्मविकासने) कमलों के प्रफुल्लित होने पर (आसक्त्या) फिर किसी आसक्ति से (सापेक्षः न भवति) अपेक्षा नहीं करता है अर्थात् कमलों को खिलाकर फिर उनसे कुछ सम्बन्ध नहीं रखता हुआ अस्ताचल की ओर चला जाता है ।

सरलार्थ — उत्साह और आनन्दपूर्वक एवं ठाठ-बाट से जीवन्धरकुमार

का राज्याभिषेक हो जाने के पश्चात् यक्षेन्द्र सुदर्शन ने राजाधिराज जीवन्धरकुमार से आज्ञा लेकर अपने निवास स्थान को प्रस्थान किया; क्योंकि सूर्य कमलों को खिलाने के बाद उनसे सम्बन्ध न रखकर अस्ताचल की ओर प्रस्थान करता है।

विशेषार्थ – अपना उद्देश्य पूर्ण होने के पश्चात् मेहमान को अपने निजी स्थान को जाना ही उचित रहता है। मेहमान का दूसरे के घर में अधिक कालपर्यन्त अनावश्यक रहना उचित नहीं है।

राजाधिराज जीवन्धरकुमार का समयोचित कार्य –

तर्पिताखिललोकोऽस्मात्सौधाभ्यन्तरमाश्रितः ।

सिंहासनमलञ्चक्रे राजसिंहः क्रमागतम् ॥४५॥

अन्वयार्थ – (तर्पिताखिललोकः) फिर प्रसन्न किया है सम्पूर्ण लोक को जिसने ऐसे (राजसिंहः) उन राजाओं में श्रेष्ठ जीवन्धरकुमार ने (अस्मात्) इस जिनमन्दिर से निकलकर (सौधाभ्यन्तरमाश्रितः) और अपने महल को प्राप्त करके (क्रमागतं) कुलपरम्परा से प्राप्त (सिंहासनं) राजसिंहासन को (अलञ्चक्रे) सुशोभित किया।

सरलार्थ – समस्त प्रजाजन को प्रसन्न करनेवाले सिंह के समान तेजस्वी तथा प्रधान राजा जीवन्धरकुमार अभिषेक मण्डप से निकलकर राजमहल में पहुँचे और वहाँ कुलपरम्परा से प्राप्त सिंहासन को सुशोभित किया।

विशेषार्थ – राज्याभिषेक के आनन्ददायक अवसर पर राजा जीवन्धरकुमार ने अनेक लोगों को भिन्न-भिन्न प्रकार से अपेक्षित दान दिया। दयापात्र बन्दीजनों को कारागार से मुक्त कर सुखी किया तथा विशिष्ट विद्वानों का उचित सत्कार कर उन्हें सम्मानित किया।

सामान्य जन को विस्मय –

तद्वृत्तान्तवितर्कोऽभूल्लोके विस्मयबृंहितः ।

अतर्क्यसम्पदापद्भ्यां विस्मयो हि विशेषतः ॥४६॥

अन्वयार्थ – (लोके) फिर सारे लोक में (विस्मयबृंहितः) विस्मय से वृद्धिगत (तद्वृत्तान्तवितर्कः) जीवन्धरकुमार के वृत्तान्त का विचार (अभूत्) हुआ।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (अतर्क्यसम्पदापद्ध्यां) अकल्पित सम्पत्ति एवं विपत्ति के आने से (विशेषतः) विशेषरूप से (विस्मयः) आश्चर्य [भवति] हुआ करता है।

सरलार्थ – जीवन्धरकुमार के अकस्मात् राजा बन जाने की घटना से सर्वत्र आश्चर्य ही आश्चर्य हुआ; क्योंकि अकस्मात् आनेवाली सम्पत्ति और विपत्ति से विशेषरूप से आश्चर्य होता ही है।

विशेषार्थ – जीवन्धरकुमार सेठ गन्धोत्कट के पुत्र के रूप में ही सबको प्रसिद्ध थे। एक व्यापारी के पुत्र का एकाएक राजा हो जाना, विस्मय का कारण बनना स्वाभाविक ही है।

कर्मोदय की विचित्रता –

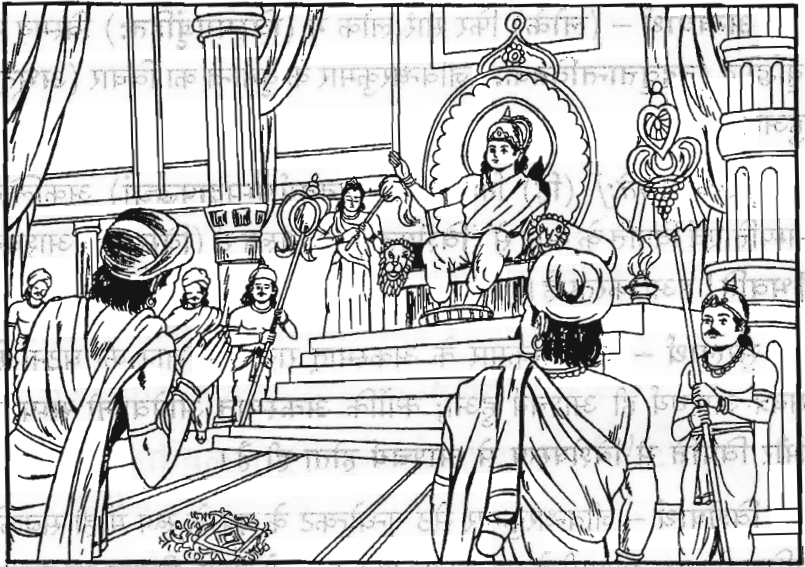
क्व पूज्यं राजपुत्रत्वं प्रेतावासे क्व वा जनिः ।

क्व वा राज्यपुनःप्राप्तिरहो कर्मविचित्रता ॥४७॥

अन्वयार्थ – (क्व) कहाँ तो (पूज्यं) पूज्य (राजपुत्रत्वं) राजपुत्रपना (क्व वा) और कहाँ उनका (प्रेतावासे जनिः) श्मशान-भूमि में जन्म लेना (क्व वा) तथा कहाँ (राज्यपुनः प्राप्तिः) फिर से राज्य का मिल जाना।

[अत्र नीतिः] (अहो) अहो ! (कर्मविचित्रता) कर्मों की विचित्रता आश्चर्यजनक है।

सरलार्थ – कहाँ तो बालक जीवन्धर का आदरणीय राजपुत्रत्व ? और कहाँ श्मशान-भूमि में जन्म लेना ? तथा कहाँ सामान्य वैश्य पुत्र को राज्य पद की प्राप्ति होना ? वास्तव में देखा जाए तो पूर्वबद्ध कर्म के उदय से जीवन में महा-विविधता उत्पन्न होती है।



विशेषार्थ – यहाँ तो हम जीवन्धरकुमार के जीवन की विचित्रता जान रहे हैं। वास्तव में देखा जाए तो हर एक जीव के जीवन में कर्मोदय के निमित्त से नाना प्रकार की विचित्रताएँ देखने में आती हैं। ज्ञानी जीव ऐसे अद्भुत वस्तुस्वरूप को देखकर वैराग्य भावना भाते हैं अथवा अनादि-अनन्त-एकरूप रहनेवाले निज भगवान् आत्मा का ही श्रद्धान् करते हैं।

सांसारिक सुख-दुःख के मूल कारण –

पुण्यपापादृते नान्यत्सुखे दुःखे च कारणम् ।

तन्तवो हि लूतायाः कूपपातनिरोधिनः ॥४८॥

अन्वयार्थ – [अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (पुण्यपापात्) पुण्य और पाप के (ऋते) बिना (अन्यत्) और कोई भी वस्तु (सुखे) सुख (च) और (दुःखे) दुःख में (कारणं न) कारण नहीं है। जैसे पाप का उदय होने से (लूतायाः) मकड़ी के जाले के (तन्तवः) छोटे-छोटे तन्तु (कूपपातनिरोधिनः) कूप में गिरने से रोकनेवाले [न भवन्ति] नहीं होते हैं।

सरलार्थ – जैसे मकड़ी के जाल के तन्तु कुएँ में गिरते हुए प्राणी को

नहीं बचा सकते, वैसे ही पुण्य और पापकर्म के बिना सुख और दुःख में अन्य कोई बाह्य वस्तु कारण नहीं हो सकती।

विशेषार्थ — ‘अनुकूलवेदनं साता’, ‘प्रतिकूलवेदनमसाता’ अनाकुलता-रूप/सुखरूप संवेदन/अनुभवन साता वेदनीय का कार्य है और प्रतिकूल/आकुलतारूप अथवा दुःखरूप अनुभवन असाता वेदनीय का कार्य है।

वेदनीय कर्म जीवविपाकी है। अतः उसका फल जीव के परिणामों में होता है। अतएव सुख-दुःख में मूल कारण पुण्य तथा पाप कर्म ही हैं। अन्य बाह्य सामग्री कारण नहीं, वह निमित्त भले हो। यहाँ बाह्य कारणों को मकड़ी के तन्तुओं के समान कहाँ हैं।

जो होनेवाला है, वही होता है —

हत्त्वा जिघांसुमात्मानं लेभे राज्यं जिघांसितः ।

भाव्यवश्यं भवेदेव न हि केनापि रुध्यते ॥४६॥

अन्वयार्थ — (जिघांसितः) जिसको मारना चाहते थे उसने (आत्मानं) अपने (जिघांसुं) मारनेवाले को (हत्त्वा) मारकर (राज्यं) राज्य (लेभे) ले लिया।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (भावि) जो कुछ होना है, वह (अवश्यं एव) अवश्य ही (भवेत्) होता है। (केन अपि) किसी से भी (न रुध्यते) नहीं सेका जाता है।

सरलार्थ — दुष्ट काष्ठांगार ने जीवन्धरकुमार को मारने की इच्छा की थी; किन्तु जीवन्धरकुमार ने ही काष्ठांगार को मार डाला और अपना राज्य प्राप्त कर लिया; क्योंकि भविष्य में जो कुछ भी होनेवाला है, वह होकर ही रहता है, किसी से भी टाला नहीं जा सकता।

विशेषार्थ — जो कुछ होनेवाला है, वह होकर ही रहता है, इसे ही संक्षेप में क्रमनियमितपर्याय या क्रमबद्धपर्याय कहते हैं अथवा सम्यक् नियति या सम्यक् नियतिवाद भी कहते हैं।

वीतरागी सर्वज्ञ भगवान ने जिसे जैसा जाना है, वह वैसा ही होता है; किन्तु इससे कोई यह माने कि केवलज्ञान के अधीन वस्तु का परिणमन है, सो सही नहीं है। सही बात तो यह है कि जीवादि छहों द्रव्यों का परिणमन अपने स्वभाव से ही सुनिश्चित है, उसे केवली भगवान अपने केवलज्ञान से मात्र जानते हैं।

जो इस क्रमबद्धपर्यायरूप वस्तु-व्यवस्था को यथार्थपने जानता है, उसकी आकुलता मिट जाती है और वह निश्चिन्त होकर अपने निज भगवान आत्मा को स्वीकार करके सम्यग्दृष्टि हो जाता है और क्रम से सर्वज्ञ बनकर अशरीरी सिद्ध भगवान हो जाता है, जो प्रत्येक जीव का अन्तिम साध्य है।

क्रमबद्धपर्यायरूप इस आनन्ददायक विषय का समर्थन कार्तिकेय स्वामी ने बारस-अणुवेक्खा ग्रन्थ की गाथा क्रमांक ३२१ एवं ३२२ में किया है। आगम में अन्य अनेक स्थानों पर भी ऐसा उल्लेख मिलता है। (विशेष जानकारी के लिए डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल लिखित क्रमबद्धपर्याय पुस्तक को पढ़िए।)

काष्ठांगार के मरण का सच्चा कारण -

जिजीविषा प्रपञ्चेन जातोऽयं राजवञ्चकः।

काष्ठाङ्गारोऽपि नष्टोऽभूत्स्वयं नाशी हि नाशकः ॥५०॥

अन्वयार्थ - (जिजीविषा प्रपञ्चेन) अपने जीने की इच्छा के विस्तार से (राजवञ्चकः) राजा को धोखे से मारनेवाला (अयं काष्ठाङ्गारः अपि) यह काष्ठांगार भी (नष्टः अभूत्) मारा गया।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (नाशी) दूसरे का नाश करनेवाला (स्वयं नाशकः स्यात्) अपना ही नाश करनेवाला होता है।

सरलार्थ - जीने की प्रबल इच्छा से दुष्ट काष्ठांगार ने अपने स्वामी, उपकारक तथा सरल स्वभावी राजा सत्यन्धर को मायाचारी से मरवाया था। उसी दुष्ट काष्ठांगार को जीवन्धरकुमार ने मार दिया है; क्योंकि दूसरे का नाश करनेवाला व्यक्ति स्वयं अपना ही नाश कर लेता है।

विशेषार्थ – दूसरे के लिए बनाया गया गड़ढा अपने ही लिए खाई बन जाता है – इस कहावत के अनुसार जीवन्धरकुमार का नाश करने की भावना रखनेवाले काष्ठांगार का नाश जीवन्धरकुमार के द्वारा ही हुआ है। दूसरों का बुरा चाहनेवालों का कल्याण कभी हो ही नहीं सकता।

प्रत्येक व्यक्ति का स्वभाव अलग-अलग –

यक्षः क्षणोपकारेण प्राणदायी बभूव सः।

काष्ठाङ्गारः कृतघ्नोऽभूत्स्वभावो न हि वार्यते ॥५१॥

अन्वयार्थ – (सः यक्षः) कुत्ते का जीव वह यक्ष (क्षणोपकारेण) क्षणमात्र के उपकार से (प्राणदायी बभूव) जीवन्धरकुमार के प्राणों के बचानेवाला हुआ और (काष्ठाङ्गारः) काष्ठांगार (कृतघ्नः अभूत्) कृतघ्न हुआ अर्थात् महाराज ने जिसे राज्य दिया था, वही उन्हीं के प्राणों का घातक हुआ।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (स्वभावः) प्रकृति-स्वभाव(नियति) किसी से भी (न वार्यते) बदला नहीं जा सकता है।

सरलार्थ – क्षणमात्र के उपकार के कारण यक्ष सुदर्शन जीवन्धरकुमार के प्राणों का रक्षक हुआ और बहुत उपकार करनेवाले राजा सत्यन्धर के लिए कृतघ्न काष्ठांगार घातक हुआ; क्योंकि जिस वस्तु का जो स्वभाव होता है, वह किसी भी प्रकार बदला नहीं जा सकता।

विशेषार्थ – सज्जन स्वभाववाले यक्ष ने अपने कुत्ते के पूर्वभव में मरण के समय जीवन्धरकुमार ने णमोकार मन्त्र सुनाकर जो उपकार किया था, उस उपकार के बदले जीवन्धरकुमार के प्राणों की रक्षा की तथा अन्य अनेकप्रकार के उपकार जीवन्धरकुमार के प्रति किए।

राजा सत्यन्धर ने दुष्ट स्वभावी काष्ठांगार को अपने विशाल राज्य का अनेक वर्षों तक शासक बनाया। इतना बड़ा उपकार करने पर भी कृतघ्न काष्ठांगार ने उपकारी राजा सत्यन्धर के प्राणों का मायाचारी से घात कराया;

क्योंकि सज्जन तथा दुर्जन मनुष्यों का स्वभाव बदलने में कोई समर्थ नहीं हो सकता।

वस्तु का स्वभाव अपरिवर्तनीय -

अपकारोपकाराभ्यां सदसन्तौ न भेदिनौ।

दग्धं च भाति कल्याणं केनाङ्गारविशुद्धता ॥५२॥

अन्वयार्थ - [अत्र नीतिः] (सदसन्तौ) सज्जन और दुर्जन (अपकारोपकाराभ्यां) अपकार और उपकार करने से (न भेदिनौ) दुर्जन और सज्जन नहीं हो जाते अर्थात् सज्जनों के साथ अपकार करने से वह दुर्जन नहीं हो जाते और दुर्जनों के साथ उपकार करने से वे सज्जन नहीं होते हैं। (हि) निश्चय से (दग्धं च कल्याणं) जला हुआ भी सोना (भाति) शोभायमान होता है; किन्तु (अङ्गारविशुद्धता) कोयले में श्वेतपना (केन अपि उपायेन) किसी भी उपाय से [न भवति] नहीं होता।

सरलार्थ - जैसे स्वर्ण तपाए जाने पर भी अपनी कान्ति और बहुमूल्यता को नहीं छोड़ता है तथा कोयला किसी प्रकार और कभी भी अपनी कालिमा को नहीं छोड़ता है; वैसे ही सज्जन मनुष्य का स्वभाव उपकार से और दुर्जन मनुष्य का स्वभाव अपकार से विपरीत नहीं होता अर्थात् बदलता नहीं है। सज्जन सज्जन ही रहते हैं और दुर्जन दुर्जन ही रहते हैं।

विशेषार्थ - वस्तु अपने स्वभाव मात्र ही होती है। जैसे अग्नि का स्वभाव उष्णता है। यदि उष्णता का नाश हो जाए तो अग्नि की सत्ता ही नहीं रहेगी। वैसे ही कृतज्ञता सज्जन का स्वभाव है। यदि कृतज्ञता नहीं तो मनुष्य सज्जन कैसा ? दुर्जन के स्वभाव के सम्बन्ध में भी ऐसा ही समझना चाहिए।

धन से सज्जनता और दुर्जनता का सम्बन्ध नहीं -

रिक्तारिक्तदशायां च सदसन्तौ न भेदिनौ।

खाताऽपि हि नदी दत्ते पानीयं न पयोनिधिः ॥५३॥

अन्वयार्थ – [अत्र नीतिः] (रिक्तारिक्तदशायां च) धनी और निर्धन की अवस्था में भी (सदसन्तौ) सज्जन और दुर्जन (न भेदिनौ) भेदित नहीं होते हैं। अर्थात् निर्धन अवस्था में भी सज्जन उपकार ही करते हैं; परन्तु दुर्जन धनयुक्त अवस्था में भी अपकार ही करता है। (हि) निश्चय से (खाता अपि नदी) सूख जाने पर भी खोदी हुई नदी (पानीयं दत्ते) प्यासों को जल देती है, किन्तु (पयोनिधिः न) लबालब खारे जल से भरा हुआ समुद्र पीनेयोग्य पानी नहीं देता।

सरलार्थ – जैसे नदी सूख जाने पर भी उसे खोदने से वह प्यासे पथिक को मीठा जल देती है, वैसे ही सज्जन मनुष्य निर्धन हो जाने पर भी दूसरों को यथाशक्ति मदद ही करते हैं। और जैसे अपरिमित खारे जल से भरा हुआ समुद्र प्यासे पाथिक की प्यास नहीं बुझा सकता, वैसे ही दुर्जन पुरुष धनवान होने पर भी दूसरों की कभी सहायता नहीं करते हैं।

उत्तम राजा सभी को सुखदाता –

इतीयं किंवदन्ती च तद्देशे शंवदाप्यभूत्।

राजवन्ती सती भूमिः कुतो वा न सुखायते ॥५४॥

अन्वयार्थ – (तद्देशे) जीवन्धरकुमार के राज्य में (अपि) भी (इति) इसप्रकार (इयं किंवदन्ती) यह कहावत (शंवदा अभूत्) सबको प्रिय हुई।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (राजवन्ती) उत्तम राजा से युक्त (सती) समीचीन (भूमिः) पृथ्वी (कुतोः वा न सुखायते) क्या प्रजा को सुख देनेवाली नहीं होती है ? किन्तु होती ही है।

सरलार्थ – उत्तम राजा सहित श्रेष्ठ भूमि सब तरह से सुख देती है। यह जनश्रुति राजा जीवन्धरकुमार के राज्य में सर्वत्र फैल गई।

विशेषार्थ – सर्वोत्तम राजा जीवन्धरकुमार के श्रेष्ठ अनुशासन के कारण प्रजा सब तरह से सुखी थी; अतः सबके मन मन्दिर में राजा जीवन्धरकुमार का विशेष स्थान था। प्रजा अत्यन्त सन्तुष्ट हो गई थी।

काष्ठांगार के परिवारजन का भी सुखपूर्वक निवास -

काष्ठाङ्गारकुटुम्बस्याप्यनुमेने सुखासिकाम् ।
स्वस्थानेऽपि महाराजो न ह्यस्थानेऽपि रुट् सताम् ॥५५॥

अन्वयार्थ - (महाराजः) महाराज जीवन्धर ने (काष्ठाङ्गारकुटुम्बस्य) काष्ठांगार के कुटुम्ब को (अपि) भी (स्वस्थाने अपि) अपने ही स्थान में (सुखासिकां) सुखपूर्वक रहने की (अनुमेने) अनुमति दे दी।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (सतां) सज्जन पुरुषों का (रुट्) क्रोध (अस्थाने) अयोग्य स्थान में (न) [भवति] नहीं होता है।

सरलार्थ - राजा जीवन्धरकुमार ने काष्ठांगार के कुटुम्बी जनों को अपने स्थान पर सुखपूर्वक निवास करने के लिए सानन्द स्वीकृति प्रदान की; क्योंकि महापुरुषों का क्रोध निरपराधी जीवों पर कभी नहीं होता।

विशेषार्थ - राजा जीवन्धरकुमार को तो काष्ठांगार से अपना राज्य प्राप्त करना था; इस प्रयोजन के लिए शत्रु तो मात्र काष्ठांगार था। उसके कुटुम्बी जन तो सामान्य प्रजा है। उसकी सुरक्षा और उत्तम व्यवस्था राजा जीवन्धरकुमार का ही काम था; अतः उन्होंने अपना वही काम किया है।

राजा जीवन्धरकुमार के सु-शासन से सब सन्तुष्ट -

यौवराज्ये च नन्दाद्वयं वृद्धक्षत्रोचिते पदे ।
गन्धोत्कटं च चक्रेऽसौ लोकवन्द्ये च मातरौ ॥५६॥

अन्वयार्थ - फिर (असौ) इन जीवन्धरकुमार ने (यौवराज्ये) युवराज के पद पर अपने छोटे भाई (नन्दाद्वयं) नन्दाद्वय को (च) और (वृद्धक्षत्रोचिते पदे) बूढ़े क्षत्रियों के योग्य पद पर (गन्धोत्कटं) गन्धोत्कट को (च) और (मातरौ) दोनों माताओं को (लोकवन्द्ये) लोकपूज्य (पदे) पद पर (चक्रं) स्थापित किया।

सरलार्थ - राजा जीवन्धरकुमार ने अपने भाई नन्दाद्वय को युवराज का

पद दिया, पिता गन्धोत्कट को राज-पिता के पद से अलंकृत किया और माता विजया तथा सुनन्दा को राजमाता पद से विभूषित किया। इतना ही नहीं जो वृद्ध क्षत्रिय लोग थे, उनको भी उनके योग्य पदों पर सम्मानपूर्वक विराजमान किया।

विशेषार्थ – इस दुनिया में कोई भी वस्तु व्यर्थ अर्थात् निरुपयोगी नहीं है। मात्र वस्तु की उपयोगिता जानकर उसका उपयोग करनेवाले नियोजक मनुष्य की कमी है। योग्य नियोजक व्यक्ति सब वस्तुओं का योग्य उपयोग करता है। कहा भी है –

अमन्त्रक्षरं नास्ति नास्ति मूलनौषधम् ।

अयोग्यः पुरुषो नास्ति योजकस्तत्र दुर्लभः ॥

राजा जीवन्धर योग्य नियोजकों में से एक हैं। अतः उन्होंने सब पात्र मनुष्यों का यथायोग्य उपयोग करना प्रारम्भ किया।

राजा जीवन्धरकुमार का प्रजा के हित में प्रथम प्रयास –

अकरामकरोद्भ्रात्रीं वर्षाणि द्वादशाप्ययम् ।

महिषैः क्षुभितं तोयं न हि सद्यः प्रसीदति ॥५७॥

अन्वयार्थ – और (अयं) इन जीवन्धरकुमार ने (ध्रात्रीं) पृथ्वी को (प्रजा को) (द्वादशवर्षाणि) बारह वर्ष पर्यन्त (अकरां) कर/टैक्स से रहित (अकरोत्) कर दिया।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (महिषैः) भैंसाओं से (क्षुभितं तोयं) गन्दा किया हुआ जल (सद्यः) शीघ्र ही (न प्रसीदति) निर्मल नहीं होता है।

सरलार्थ – प्रजा को सुखी चाहने वाले दयालु राजा जीवन्धरकुमार ने प्रजा के हितार्थ प्रजा को बारह वर्ष तक सब प्रकार के करों से मुक्त किया; क्योंकि भैंसों द्वारा गन्दा किया गया सरोवर का जल अल्प काल में स्वच्छ नहीं हो पाता है।

विशेषार्थ – सरोवर के स्वच्छ जल को तो मात्र पीना चाहिए; किन्तु मोटी बुद्धिवाले भैंसे पानी पीकर उसे गन्दा कर देते हैं। वह सरोवर दीर्घकाल बीत जाने पर ही स्वच्छ होता है।

वैसे ही दुष्ट काष्ठांगार ने प्रजा पर अनेक प्रकार के कष्टदायक कर लगाकर प्रजा को दुखी किया था। कर चुकाने में प्रजा अत्यन्त कष्ट का अनुभव करती थी, धीरे-धीरे उनकी निर्धनता भी बढ़ती जा रही थी। इस कारण प्रजा बहुत दुखी और असन्तुष्ट थी।

राजा जीवन्धरकुमार ने यह सब जान लिया। अतः प्रजा को सुखी, सन्तुष्ट और सम्पन्न बनाने के उद्देश्य से प्रजा को बारह वर्ष के लिए 'कर मुक्त' कर दिया, जो प्रजा के लिए उचित ही था।

राजा जीवन्धरकुमार से मित्र भी सन्तुष्ट -

पद्मवक्त्रादिमित्रेभ्यो यथायोग्यमदात्पदम् ।

अविशेषपरिज्ञाने न हि लोकोऽनुरज्यते ॥५८॥

अन्वयार्थ - इन जीवन्धरकुमार ने (पद्मवक्त्रादिमित्रेभ्यः) पद्मास्य आदि मित्रों के लिए (यथायोग्यं पदं) यथायोग्य पद (अदात्) दिए।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (अविशेषपरिज्ञाने) सबको समान मानने से (लोकः) लोग (न अनुरज्यते) संतुष्ट नहीं होते हैं अर्थात् जीवन्धरकुमार ने मित्रों को कौन किस पद के योग्य है ऐसा परिज्ञान करके उनको यथायोग्य पद दिया।

सरलार्थ - राजा जीवन्धरकुमार ने अपने पद्मास्य आदि अनेक मित्रों को भी उनकी पात्रता के अनुसार सम्मानसहित योग्य स्थान देकर उनका उत्साह बढ़ाया; क्योंकि छोटे-बड़े सभी के साथ समान व्यवहार करने से जन समुदाय सन्तुष्ट नहीं होता है।

विशेषार्थ - जन समुदाय अर्थात् सामान्य जनता प्रायः अपना सम्मान नहीं चाहती; परन्तु जो कोई 'विशिष्ट' गुण सम्पन्न हैं; उन मनुष्यों का सम्मान अवश्य चाहती है। अतः योग्य शासकों का कर्तव्य है कि वह गुणी लोगों को उनकी पात्रता के अनुसार सम्मानित अवश्य करें।

राजा जीवन्धरकुमार द्वारा अपनी पत्नियों को बुलाना -

पद्मादयोऽपि तद्देव्यः समागत्य तदाज्ञया ।

तं समीक्ष्य क्षणे चासन्क्षीणाखिलमनोव्यथाः ॥५९॥

अन्वयार्थ - (तदाज्ञया पद्मादयः अपि देव्यः) उससमय राजा जीवन्धरकुमार की आज्ञा से उनकी पद्मा आदि स्त्रियाँ (समागत्य) आकर (तं समीक्ष्य) उन जीवन्धरकुमार को देखकर (क्षणे च क्षीणाखिलमनोव्यथाः) उसी समय/तत्काल सम्पूर्ण मन की पीड़ा से रहित (आसन्) हुईं ।

सरलार्थ - राजा जीवन्धरकुमार की आज्ञानुसार उनकी पद्मा आदि सातों पत्नियों/रानियों को अपने-अपने पितृ-गृह/पीहर से बुलवा लिया गया । सभी रानियाँ अपने प्रिय पति राजा जीवन्धरकुमार के पास आ गईं । उन्होंने अपने पतिदेव को राज-सिंहासन पर बैठे हुए देखकर तत्काल अत्यन्त आनन्द का अनुभव किया और वे वियोगजन्य दुःखों को भूल गईं ।

सुख-दुःख का परस्पर सम्बन्ध -

चिरस्थाय्यपि नष्टं स्याद्विरुद्धार्थं हि वीक्षिते ।

सन्निधावपि दीपस्य किं तमिस्रं गुहामुखम् ॥६०॥

अन्वयार्थ - [अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (विरुद्धार्थं) विरुद्ध पदार्थ के (वीक्षिते) देखने पर (चिरस्थायी) चिरकाल से स्थित पदार्थ (अपि) भी (नष्टं स्यात्) नष्ट हो जाते हैं अर्थात् थोड़ा-सा सुख मिलने से पूर्व के सब दुःख भूल जाते हैं (दीपस्य सन्निधौ अपि) दीपक के सान्निध्य में भी (किं) क्या (गुहामुखं) गुफाओं का मुख (तमिस्रं) अन्धकार सहित [स्यात्] रह सकता है ?

सरलार्थ - जैसे अन्धकार से परिपूर्ण व्याप्त गुफा के समीप दीपक लाने पर अन्धकार स्वयमेव ही निकल कर भाग जाता है, वैसे ही दुःख के विरोधी सुख के आगमन से ही चिरस्थायी दुःख स्वयमेव ही भाग जाता है ।

विशेषार्थ - पद्मा आदि पत्नियाँ अपने स्वामी जीवन्धरकुमार के वियोग

से अत्यन्त दुःखी थीं; किन्तु अब पति का संयोग होते ही उनका वियोगजन्य दुःख तत्काल ही नष्ट हो गया।

यहाँ दुःख को अन्धकार और सुख को दीपक की उपमा दी है। जीवन्धरकुमार की सभी पत्नियों को अपने पतिदेव को राजा के रूप में देखकर अत्यन्त हर्ष हुआ है; जो स्वाभाविक ही है।

राजा जीवन्धरकुमार का आठवाँ विवाह -

अथायं नुवतेः पुत्रीं दत्ता गोविन्दभूभुजा ।

पर्यणैषीन्महाराजः पार्थिवैर्विहितोत्सवः ॥६१॥

अन्वयार्थ - (अथ) इसके अनन्तर (पार्थिवैः विहितोत्सवः) राजाओं ने किया है उत्सव जिनके लिए ऐसे (अयं महाराजः) इन महाराज जीवन्धरकुमार ने (गोविन्दभूभुजा) गोविन्दराज से (दत्तां) दी हुई (नुवतेः) नुवति की (पुत्रीं) पुत्री लक्ष्मणा को (यथाविधि पर्यणैषीत्) विधिपूर्वक ब्याहा।

सरलार्थ - महाराजा जीवन्धरकुमार के अधीनस्थ समस्त राजाओं ने उन्हें राज्य पद मिलते ही आनन्द महोत्सव मनाया। तदनन्तर कुछ समय पश्चात् राजा जीवन्धरकुमार ने अपनी मामी नुवति की सुपुत्री लक्ष्मणा जिसे मामा राजा गोविन्दराज ने समर्पित किया; उसका विधिपूर्वक वरण किया।

विशेषार्थ - जीवन्धरकुमार ने राजा बनने के पूर्व ही सात कन्याओं के साथ विवाह किए हैं। अब राजा होने पर अपने मामा की पुत्री 'लक्ष्मणा' के साथ विधिपूर्वक आठवाँ एवं अन्तिम विवाह किया है।

इति श्रीवादीभसिंहसूरिविरचिते क्षत्रचूडामणौ

लक्ष्मणालम्भो नाम दशमो लम्बः ।

जैसे नमक की डली खार के पिण्ड से बनी है, इसी भाँति मैं साक्षात् प्रगट शरीर से भिन्न, जिसका स्वभाव लोकालोक का प्रकाशक, चैतन्यधातु, सुखपिण्ड, अखण्ड, अमूर्तिक, अनन्तगुणों से पूरित बना हूँ; इसमें सन्देह नहीं है।

- ज्ञानानन्द श्रावकाचार पृष्ठ - १६७

ग्यारहवाँ लम्ब

जीवन्धरकुमार के विशेष प्रसन्नता का कारण -

अथ राज्यश्रिया लब्ध्वा लक्ष्मणां मुमुदे कृती ।

चिरकाङ्क्षितलाभे हि तृप्तिः स्यादतिशायिनी ॥१॥

अन्वयार्थ - (अथ) इसके अनन्तर (कृती) विद्वान राजा जीवन्धरकुमार (राज्यश्रिया) [सह] राज्यलक्ष्मी के साथ (लक्ष्मणां लब्ध्वा) लक्ष्मणा को प्राप्त करके (मुमुदे) अत्यन्त प्रसन्न हुए।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (चिरकाङ्क्षितलाभे) चिरकाल की चाही हुई वस्तु की प्राप्ति होने पर ही (अतिशायिनी) अत्यन्त (तृप्तिः) प्रसन्नता (स्यात्) होती है।

सरलार्थ - जीवन्धरकुमार 'राज्यलक्ष्मी' के साथ ही 'पत्नी' लक्ष्मणा को प्राप्त कर अतिशय आनन्दित हुए; क्योंकि चिरकाङ्क्षित वस्तु की प्राप्ति हो जाने पर प्रसन्नता होना स्वाभाविक ही है।

विशेषार्थ - इच्छित वस्तु की प्राप्ति से सुख होता है - यह उपचरित कथन है। वास्तव में सुख का कारण तो कषायों का घटना है। (देखिए मोक्षमार्गप्रकाशक, अध्याय ३ और ४) अनादिकाल से किसी भी जीव को परद्रव्य से आजतक सुख अथवा दुःख कभी नहीं हुआ; वर्तमान काल में भी नहीं हो रहा है, भविष्य में भी नहीं होगा। ऐसा सम्यग्दृष्टि का पक्का निर्णय रहता है। अन्दर में तो जीवन्धरकुमार को भी ऐसा ही निश्चय था।

जीवन्धरकुमार और काष्ठांगार में अन्तर का निरूपण -

लब्ध्वा राज्यमयं राजा रेजे सर्वगुणैरपि ।

काचो हि याति वैगुण्यं गुण्यतां हारगो मणिः ॥२॥

अन्वयार्थ - (अयं राजा) यह महाराजा जीवन्धरकुमार (राज्यं लब्ध्वा) राज्य को प्राप्त करके (सर्वगुणैः अपि) सब गुणों से भी (रेजे) शोभायमान हुए।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (हारगः काचः) हार में पिरोया हुआ काँच (वैगुण्यं याति) बुरा प्रतीत होता है (तु) किन्तु उसके स्थान पर पिरोई हुई (मणिः) मणि (गुण्यतां याति) शोभा को प्राप्त होती है अर्थात् सर्वगुण सम्पन्न जीवन्धरकुमार को राज्य की प्राप्ति सुवर्ण में सुगन्ध की तरह हुई।

सरलार्थ – जैसे मणियों के हार में गूँथे जाने पर काँच कभी शोभा को प्राप्त नहीं होता; किन्तु मणि ही सुशोभित होती है; वैसे ही जिस राज्य को पाकर दुष्ट काष्ठांगार ने मात्र निन्दा ही प्राप्त की थी, उसी राज्य को प्राप्त कर विद्वान एवं सद्गुणों से अलंकृत जीवन्धरकुमार सब लोगों के प्रशंसा के पात्र बन गए हैं।

विशेषार्थ – यहाँ ग्रन्थकार आचार्य श्री वादीभसिंह ने दुष्ट काष्ठांगार को काँच के टुकड़े जैसी निर्मूल्य वस्तु की और विद्वान तथा गुणवान राजा जीवन्धरकुमार को अति मूल्यवान मणि की उपमा देकर उनके महत्त्व को स्पष्ट किया है।

सज्जन/बुद्धिमान मनुष्य की विशेषताएँ –

कृतिनामेकरूपा हि वृत्तिः सम्पदसम्पदोः ।

न हि नादेयतोयेन तोयधेरस्ति विक्रिया ॥३॥

अन्वयार्थ – [अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (सम्पदसम्पदोः) सम्पत्ति और विपत्ति में (कृतिनां) बुद्धिमानों की (वृत्तिः) वृत्ति (एकरूपा भवेत्) एक-सी रहती है। [अत्र नीतिः] सच है (नादेयतोयेन) नदी के जल से (तोयधेः) समुद्र में (विक्रिया न अस्ति) विकार भाव अर्थात् मर्यादा का उल्लंघन नहीं होता है।

सरलार्थ – जिसप्रकार हजारों नदियों के जल को ग्रहण करके भी समुद्र अपनी मर्यादा का उल्लंघन नहीं करता है; उसीप्रकार बुद्धिमान/सज्जन पुरुष भी महान सम्पत्ति या विपत्ति के आने पर भी प्रसन्न या खेद-खिन्न नहीं होते हैं; वे तो समताभाव ही धारण किए रहते हैं।

विशेषार्थ – जीवन्धरकुमार तो पहले एक सामान्य वणिक-पुत्र मात्र थे

और अब सर्वाधिकार सम्पन्न 'राजा' बन गए हैं। इतना आमूलचूल परिवर्तन होने पर भी जीवन्धरकुमार को किंचित भी गर्व उत्पन्न नहीं हुआ। वे पहले जैसे ही सरल स्वभावी रहे। यही बुद्धिमान/सज्जन पुरुष की विशेषता समझना चाहिए।

राजा का सच्चा स्वरूप -

सुखदुःखे प्रजाधीने तदाभूतां प्रजापतेः ।

प्रजानां जन्मवर्जं हि सर्वत्र पितरौ नृपाः ॥४॥

अन्वयार्थ - (तदा) उससमय अर्थात् राज्य मिलने पर (प्रजापतेः) महाराजा जीवन्धरकुमार के (सुखदुःखे) सारे सुख-दुःख (प्रजाधीने) प्रजा के अधीन (अभूतां) हो गए अर्थात् प्रजा के सुख-दुःख से वे अपने को सुखी-दुःखी समझने लगे।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (जन्मवर्जं) जन्म देने के सिवाय सर्वत्र अन्य सब विषयों में (नृपाः) राजा ही (प्रजानां) प्रजा के (पितरौ स्तः) माँ-बाप हैं।

सरलार्थ - अब राजा जीवन्धरकुमार का सुख-दुःख प्रजा के सुख-दुःख के अधीन हो गया है; क्योंकि एक जन्म देनेरूप काम को छोड़कर सब बातों में राजा प्रजा के माता-पिता ही हैं।

विशेषार्थ - जबसे जीवन्धरकुमार 'राजा जीवन्धरकुमार' बनकर राज्य सिंहासन पर आरूढ़ हुए हैं, तबसे वे प्रजा के सुख से अपने को सुखी और प्रजा के दुःख से अपने को दुःखी अनुभव करते हैं। जिसप्रकार सुयोग्य माता-पिता अपनी सन्तान के सुख-दुःख का ध्यान रखकर उसे सुयोग्य बनाने का सतत प्रयत्न करते हैं, उसीप्रकार प्रजापालक सुयोग्य राजा भी अपनी प्रजा के सुख-दुःख का ध्यान रखकर उसे सुखी और सम्पन्न बनाने का सदा प्रयत्न करते रहते हैं। तदनुसार प्रजावत्सल राजा जीवन्धरकुमार भी अपनी प्रजा के साथ एकरूप ही हो गए हैं, - ऐसा प्रतीत होता है।

राजा जीवन्धरकुमार की प्रजा के भाव -

आसीत्प्रीतिकरं तस्य करदानं च दानवत् ।

वृषलाः किं न तुष्यन्ति शालेये बीजवापिनः ॥५॥

अन्वयार्थ - (च) और (तस्य) उसकी प्रजा का (करदानं) राजा को कर देना (दानवत्) दान देने की तरह (प्रीतिकरं) प्रीतिकर अर्थात् आनन्ददायक (आसीत्) हुआ ।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (शालेये) धान्य के खेत में (बीज-वापिनः) बीज बोनेवाले (वृषलाः) किसान लोग (किं) क्या (न तुष्यन्ति) सन्तुष्ट नहीं होते हैं ? अर्थात् होते ही हैं । जिसप्रकार किसान खेत में बीज बोने से खुश होते हैं; उसीप्रकार प्रजा राजा को कर देने में प्रसन्न थी ।

सरलार्थ - राजा जीवन्धरकुमार की प्रजा को अब 'राज्य-कर' देना दान देने के समान आनन्ददायक हो गया है; क्योंकि धान के खेत में बीज बोने वाले किसान को सन्तोष होना स्वाभाविक है ।

विशेषार्थ - जिसप्रकार उपजाऊ भूमि में बीज बोनेवाले किसान को भविष्य में बीज से कई गुनी फसलरूपी फल-प्राप्ति का निश्चय रहता है, अतः बीज बोने में उसे उत्साह ही रहता है; उसीप्रकार अब प्रजा को निर्णय हो गया है कि राजा को राज्य-कर के रूप में दिया गया धन हमारी ही सुख-सुविधा के लिए खर्च होनेवाला है । अतः प्रजा, राजा जीवन्धरकुमार को कर देने में दान देने के समान आनन्द का अनुभव करने लगी ।

जीवन्धरकुमार की राज्यव्यवस्था -

मित्रोदासीनशत्रूणां विषयेष्वपसर्पतः ।

तदज्ञानेऽपि तद्ज्ञानात्तदैवासीत्प्रतिक्रिया ॥६॥

अन्वयार्थ - (तदज्ञाने अपि) उस राजा के राज्य में राजा को स्वयं किसी कार्य का साक्षात् ज्ञान नहीं होने पर भी (मित्रोदासीनशत्रूणां) मित्र, शत्रु और उदासीन राजाओं के (विषयेषु) देशों में (अपसर्पतः) घूमनेवाले

गुप्तचरों द्वारा (तद्ज्ञानात्) उनका सारा वृत्तान्त जानकर (तदा एव) उसी समय (तत्प्रतिक्रिया) उसका उपाय (आसीत्) होता था।

सरलार्थ – राजा जीवन्धरकुमार अपने से मित्रता, उदासीनता तथा शत्रुता रखनेवाले मण्डलीक राजाओं का पता गुप्तचरों के माध्यम से बराबर रखते थे; तथापि उन मित्रादि राजाओं को इसका कुछ भी पता नहीं चलता था। तदनुसार उचित पद्धति द्वारा मित्र राजाओं को राज्यव्यवस्था में उत्साहित करते थे, उदासीनों के प्रति माध्यस्थ भाव रखते थे और शत्रुता रखनेवाले राजाओं का नाश करते हुए राजा जीवन्धरकुमार अपनी राज्यव्यवस्था व्यवस्थित रखते थे।

जीवन्धरकुमार की दिनचर्चा –

**रात्रिन्दिवविभागेषु नियतो नियतिं व्यधात्।
कालातिपातमात्रेण कर्तव्यं हि विनश्यति ॥७॥**

अन्वयार्थ – (नियतः) नियमपूर्वक कार्य करनेवाले उन राजा ने (रात्रिन्दिवविभागेषु) रात-दिन के विभागों में (नियतिं) नियत किए हुए कार्य को (व्यधात्) यथासमय पर किया।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (कालातिपातमात्रेण) काम करने योग्य समय के निकल जाने पर (कर्तव्यं विनश्यति) कार्य नष्ट होता है।

सरलार्थ – नियमपूर्वक कार्य करनेवाले राजा जीवन्धरकुमार दिन और रात्रि के कार्यों को समय-विभाग करके ही निश्चित करते थे; क्योंकि कार्य करने का योग्य समय निकल जाने पर योग्य कार्य भी बिगड़ जाता है।

विशेषार्थ – प्रत्येक कार्य का अपना-अपना उचित समय होता है। उस काल में वह कार्य किया जाए तो कार्य की सफलता निश्चित होती है। असमय में किया हुआ कार्य अधिक श्रम करने पर भी सफल नहीं हो पाता है; लेकिन वही कार्य उचित समय पर करने से अल्प श्रम में सफल होता देखा जाता है।

जैसे – गीली मिट्टी के घड़े को कुम्हार मनचाहा आकर दे सकता है; किन्तु उसी घड़े को सूख जाने पर अथवा अग्नि में पक जाने पर, उसके आकार में कोई परिवर्तन सम्भव नहीं है। यदि कुम्हार हठपूर्वक पक्के घड़े का आकार बदलना चाहेगा तो आकार तो नहीं बदलेगा; अपितु घड़ा ही फूट जाएगा। इससे उचित समय पर काम करने का महत्त्व अच्छी तरह समझ में आता है।

राज्यशासन और तप की समानता –

तपसा हि समं राज्यं योगक्षेमप्रपञ्चतः ।

प्रमादे सत्यधः पातादन्यथा च महोदयात् ॥८॥

अन्वयार्थ – [अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (योगक्षेमप्रपञ्चतः) योग और क्षेम के विस्तार से (तपसा समं राज्यं) तप के समान राज्य है अर्थात् जिसप्रकार तप में योग और क्षेम की आवश्यकता है, उसीप्रकार राज्य में योग और क्षेम की आवश्यकता है। (प्रमादे सति) प्रमाद होने पर अर्थात् राजा और तपस्वी राज्य-पालन और तपस्या में यदि प्रमाद करे तो (अधःपातात्) दोनों का अधःपतन होता है (च) और (अन्यथा) प्रमादरहित योग और क्षेम पालन करने से (महोदयात्) दोनों का महान उदय होता है।

सरलार्थ – राज्यशासन, योग और क्षेम के विचार से तप के समान है; क्योंकि राज्य और तप के योग-क्षेम के विषय में प्रमाद करने से दोनों का अधःपतन होता है और प्रमाद छोड़ने से दोनों का महान उत्कर्ष होता है। कभी नहीं प्राप्त वस्तु के पाने को योग कहते हैं और प्राप्त वस्तु की रक्षा करना क्षेम कहलाता है।

विशेषार्थ – राज्यशासन की अपेक्षा 'योग' शब्द का अर्थ अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति और 'क्षेम' का अर्थ प्राप्त की हुई वस्तु की सुरक्षा है।

जो राजा प्रमाद को छोड़कर अप्राप्त वस्तु – प्रदेश, धन-धान्यादि की प्राप्ति का प्रयत्न करते हैं और प्राप्त वस्तु की सुरक्षा के लिए सदैव जागरूक रहते हैं, उनका राज्य स्वयमेव ही सतत उत्कर्ष को प्राप्त होता रहता है और

जो राजा प्रमाद के वश होकर अपने राज्य के योग-क्षेम पर विचार नहीं करते, आलस्य में पड़े रहते हैं; उनके राज्य का सहज ही अधःपतन हो जाता है।

‘तप’ की अपेक्षा – योग शब्द का अर्थ मन-वचन-काय की दुष्ट प्रवृत्ति और क्षेम का अर्थ – योग से आत्मा की रक्षा करना।

जब साधुजन प्रमाद से रहित होकर अर्थात् आत्मकल्याणकारी कार्यों में सावधान रहते हैं/तप करते हैं, तब उन्हें मोक्ष की प्राप्ति होती है अथवा स्वर्गादिक की अभ्युदय परम्परापूर्वक मोक्ष की प्राप्ति होती है। इसप्रकार तप का उत्कर्ष होता है और जब प्रमाद से योग में प्रवृत्त होते हैं, तब तपरूपी कार्य सफल नहीं होता; अतः तप का अपकर्षण होता है। राज्य और तप में कथंचित समानता है।

जीवन्धरकुमार की राज्यव्यवस्था –

प्रबुद्धेऽस्मिन्भुवं कृत्स्नां रक्षत्येकपुरीमिव ।

राजन्वती च भूरासीदन्वर्थं रत्नसूरपि ॥९॥

अन्वयार्थ – (प्रबुद्धे अस्मिन्) सारे कार्यों में सावधान इन राजा के (एकपुरीं इव) एक नगरी के समान (कृत्स्नां भुवं) सारी पृथ्वी की (रक्षति सति) बुद्धिमानी से रक्षा करने पर (भूः) पृथ्वी (राजन्वती) श्रेष्ठ राजा से युक्त (अन्वर्थं) सार्थक (रत्नसूः अपि) रत्नों को देनेवाली (आसीत्) हुई।

सरलार्थ – राजा जीवन्धरकुमार राज्य कार्यों में अत्यन्त सावधान रहते हैं; अपने विशाल राज्य को एक नगरी के समान सहजता से सम्हाल रहे हैं। अतः पृथ्वी राजन्वती अर्थात् श्रेष्ठ राजावाली तो हो ही गई है और रत्नसू अर्थात् रत्नों को उत्पन्न करनेवाली भी बन गई है।

विशेषार्थ – राजा जीवन्धरकुमार एक श्रेष्ठ पुत्ररत्न हैं; अतः पृथ्वी की रत्नसू संज्ञा भी सार्थक हो गई है।

राजमाता विजया को संसार से विरक्ति –

एवं विराजमानेऽस्मिन् राजराजे महोदये ।

विजया जननी तस्य विरक्ता संसृतावभूत् ॥१०॥

अन्वयार्थ – (एवं) इसप्रकार (महोदये) महान उदयवाले (अस्मिन् राजराजे विराजमाने) इस राजेश्वर के विराजमान होने पर (विजया तस्य जननी) विजया नाम की जीवन्धरकुमार की माता (संसृतौ विरक्ता) संसार से विरक्त (अभूत्) हुई अर्थात् उसे वैराग्य उत्पन्न हुआ।

सरलार्थ – पूर्वोक्त प्रकार से महान पुण्योदयी राजा जीवन्धरकुमार सुचारुरूप से राज्य संचालन करते हुए अत्यन्त शोभा को प्राप्त हो रहे थे, तब राजमाता विजया सहसा संसार से विरक्ति को प्राप्त हुई।

राजमाता विजया का सन्तोष प्रगट करना –

पैतृकं पदमद्राक्षमत्राहं पुत्रपुङ्गवे।

कृताः पुरोपकर्तारः कृतकृत्या यथोचितम् ॥११॥

अन्वयार्थ – (अत्र पुत्रपुङ्गवे) इस पुत्रश्रेष्ठ में (अहं) मैंने (पैतृकं) पिता के (पदं) पद को अर्थात् राजा के पद को (अद्राक्षं) देख लिया और (पुरोपकर्तारः) पहले उपकार करनेवाले को भी (यथोचितं) यथोचित (कृतकृत्याः) कृतकृत्य (कृताः) कर दिया है अर्थात् पहले जिन्होंने हम पर उपकार किया था, उन सबका हमने प्रत्युपकार कर दिया।

सरलार्थ – मैंने जीते-जी अपने सर्वोत्तम और इकलौते पुत्र जीवन्धरकुमार को अपने पिता का राज्य प्राप्त कर राज्याधिकारी के रूप में देख लिया है। मेरी असहाय विधवा अवस्था में उपकार करनेवाले पद्मास्य आदि का यथाशक्य यथायोग्य प्रत्युपकार भी कर दिया है; अतः अब मैं सभी प्रकार से शल्यरहित हो गई हूँ।

राजमाता के पुण्य-पाप विषयक विचार –

फलं च पुण्यपापानां मया मय्येव वीक्षितम्।

शास्त्रादृते किमन्यत्र कर्मपाकोऽयमीक्षितः ॥१२॥

अन्वयार्थ – [अत्र नीतिः] (च) और जब (मया) मैंने (शास्त्रात् ऋते) शास्त्रों के बिना (मयि एव) अपने आप में ही (पुण्यपापानां) पुण्य

और पाप का (फलं) फल (वीक्षितं) देख लिया तो (पुनः) फिर (अयं कर्मपाकः) यह कर्मों का फल (अन्यत्र) दूसरे स्थान में [भवति] (किं ईक्षितः) मैं क्यों देखूँ ?

सरलार्थ – शास्त्रों का श्रवण या पठन किए बिना ही मैंने अपने जीवन में पुण्य-पाप का फल प्रत्यक्ष देख लिया है/ अनुभव कर लिया है। अतएव अब पुण्य-पाप का फल दूसरे प्राणियों के जीवन में देखने की आवश्यकता ही नहीं रही है।

विशेषार्थ – पाप-पुण्य के फल प्रत्यक्ष अपने जीवन में देखनेवाली मात्र विजया माता ही नहीं हैं, अन्य सजग और विचारशील व्यक्ति शास्त्राधार के बिना ही अपने जीवन में पाप-पुण्य के फल को प्रत्यक्ष देख सकते हैं/ अनुभव कर सकते हैं। मात्र देखने की दृष्टि चाहिए।

यह जगत ही पाप-पुण्य का प्रत्यक्ष प्रदर्शन है। पुण्य-पाप का प्रत्यक्ष फल भोगनेवाला व्यक्ति अपने पाप-पुण्य के फल का प्रत्यक्ष दर्शन करता है। विवेकशील राजमाता विजया ने पाप-पुण्य दोनों का सर्वथा त्याग करने अर्थात् वीतरागतारूप सत्यधर्म प्रगट करने का निर्णय लिया।

राजमाता विजया का दीक्षा लेने का विचार –

अतोऽपास्य सुतस्नेहं तपस्यामि यथोचितम् ।

ज्ञात्वापि कुण्डपातोऽयं कुत्सितानां हि चेष्टितम् ॥१३॥

अन्वयार्थ – (अतः) इसलिए (अहं) मैं (सुतस्नेहं) पुत्र का मोह (अपास्य) छोड़ करके (यथोचितं) यथायोग्य (तपस्यामि) तप करूँगी।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से [संसारभावं] (ज्ञात्वापि) संसार के स्वभाव को जानकर भी (अयं कुण्डपातः) इस संसाररूपी गड्ढे में पड़े रहना (कुत्सितानां) नीच पुरुषों की (चेष्टितं) चेष्टा है।

सरलार्थ – राजमाता विजया ने विचारपूर्वक निर्णय लिया कि अब मैं पुत्र-प्रेम त्याग कर शास्त्रोक्त पद्धति से तपस्या करूँगी; क्योंकि गृहवास तो

महा दुःखदायक है – ऐसा जानकर भी जो संसार के गड्ढे में पड़ा रहना चाहता है, वह अज्ञानी और अविवेकी मनुष्य है।

विशेषार्थ – विवेकपूर्वक/ज्ञान के अनुसार जीवन बदलने का प्रयास करना ज्ञानी श्रावक की विशेषता है। अतः राजमाता ने भी सभी प्रकार के शल्यों का परित्याग कर आर्यिका की दीक्षा लेने का निर्णय किया।

विजया के साथ सुनन्दा को भी वैराग्य –

इति वैराग्यतस्तस्याः सुनन्दापि व्यरज्यत ।

पाके हि पुण्यपापानां भवेद्बाह्यं च कारणम् ॥१४॥

अन्वयार्थ – (इति) इसप्रकार (तस्याः) विजया रानी के (वैराग्यतः) विरक्त हो जाने पर (सुनन्दा अपि) गन्धोत्कट की स्त्री सुनन्दा भी (व्यरज्यत) संसार से विरक्त हो गई।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (पुण्यपापानां च) पुण्य और पाप के (पाके) उदय आने में (बाह्यं कारणं) बाह्य कारण (भवेत्) [एव] अवश्य ही होता है।

सरलार्थ – पूर्वोक्त प्रकार से राजमाता विजया के विरक्ति के परिणामों को जानकर सेठ गन्धोत्कट की पत्नी सुनन्दा (जिन्होंने जीवन्धरकुमार का लालन-पालन किया था) को भी वैराग्यभाव जागृत हुआ; क्योंकि पाप और पुण्य के उदय आने में कोई न कोई बाह्य निमित्त कारण अवश्य हुआ करता है।

विशेषार्थ – जीव का वैराग्यरूप परिणाम पुण्य परिणाम है। प्रत्येक कार्य के दो कारण होते हैं – एक उपादान अर्थात् मूल कारण, दूसरा निमित्त कारण। जो पदार्थ स्वयं तो विवक्षित कार्यरूप न परिणमे; परन्तु कार्य की उत्पत्ति में अनुकूल होने का जिस पर आरोप आ सके, उस पदार्थ को निमित्त कारण कहते हैं।

निमित्त कारण के भी दो भेद हैं – १. अन्तरंग निमित्त कारण २. बहिरंग निमित्त कारण। यहाँ वैराग्यरूप पुण्य परिणाम में कर्म का उदय तो अन्तरंग

निमित्त कारण है और राजमाता विजया की विरक्ति के परिणाम बहिरंग निमित्त कारण हैं। प्रत्येक कार्य में बाह्य निमित्त भी स्वाभाविकरूप से होता ही है।

ज्ञानी श्रावक को भी रागजन्य दुःख -

ततः कृच्छ्रायमाणं ते महीनाथं च कृच्छृतः ।

अनुज्ञाप्य ततो गत्वादीक्षिषातां यथाविधि ॥१५॥

अन्वयार्थ - (ततः) इसके अनन्तर (ते) उन दोनों माताओं ने (कृच्छ्रायमाणं) शोकयुक्त (महीनाथं) राजा जीवन्धरकुमार को (कृच्छृतः) किसी प्रकार कष्ट से (अनुज्ञाप्य) समझाकर (ततः गत्वा) और वन में जाकर (यथाविधि) विधिपूर्वक (अदीक्षिषातां) जिनदीक्षा ग्रहण की।

सरलार्थ - जन्मदात्री राजमाता विजया एवं पालन-पोषण करनेवाली माता सुनन्दा - दोनों ही माताओं के दीक्षा लेने के विचार से होनेवाले वियोग से अत्यन्त दुःखी जीवन्धरकुमार को दोनों माताओं ने बड़ी कठिनाई से शान्त किया और फिर जंगल में जाकर आगमोक्त विधि से दीक्षा ली।

विशेषार्थ - राजा जीवन्धरकुमार सम्यग्दृष्टि, ज्ञानी एवं तद्भव मोक्षमार्गी जीव थे। वे माताओं के वियोग से दुःखी क्यों हुए ? शोक क्यों किया ? ऐसे प्रश्न मन में उत्पन्न होने स्वाभाविक हैं। इन प्रश्नों का उत्तर निम्नानुसार है -

आत्मा में श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र आदि अनन्त गुण हैं और प्रत्येक गुण का परिणमन अपने-अपने में पूर्ण स्वतन्त्र है। एक गुण का परिणमन अन्य गुण के परिणमन में कुछ नहीं कर सकता। अतः श्रद्धा और ज्ञान गुण सम्यक् रूप से परिणमने पर चारित्र भी सम्यक् होता है; पर वह चारित्र अरहन्त-सिद्ध जैसा पूर्ण शुद्ध नहीं हो पाता।

जबतक कषाय परिणाम हैं, तबतक अपनी-अपनी भूमिका के अनुसार विद्यमान कषाय चौकड़ी के उदय से दुःख होना वस्तुस्वरूप के अनुकूल है। तद्भव मोक्षगामी भगवान रामचन्द्र, भरत चक्रवर्ती आदि का गृहस्थ जीवन भी समझना उपयोगी रहेगा।

मुनि जीवन में जितने अंश में कषाय (एक कषाय चौकड़ी) है, उतने अंश में मुनिराज को भी दुःख होता है। चारित्र गुण में सम्यक्पना आने पर भी वीतरागता और सरागता का परिणाम बना रहता है, इसे मिश्रभाव कहते हैं। चौथे गुणस्थान से दसवें गुणस्थान तक ऐसा मिश्रभाव साधक के जीवन में भी बना रहता है। अतः माताओं के वियोग में राजा जीवन्धरकुमार का दुःखी होना भूमिकानुसार युक्तिसंगत ही है। (स्पष्टीकरण के लिए समयसार कलश ११० का अर्थ एवं भावार्थ तथा मोक्षमार्गप्रकाशक का अधिकार ७, संवर तत्त्व का अन्यथारूप देखिए।)

पद्मा नाम की आर्यिका से दीक्षा लेना -

पद्माख्या श्रमणीमुख्या विश्राण्य श्रमणीपदम् ।

तन्मातृभ्यां ततस्तं च महीनाथमबोधयत् ॥१६॥

अन्वयार्थ - (श्रमणीमुख्या) उससमय सम्पूर्ण आर्यिकाओं में श्रेष्ठ (पद्माख्या) पद्मा नाम की आर्यिका ने (तन्मातृभ्यां) उन दोनों माताओं के लिए (श्रमणीपदं) आर्यिका का पद (विश्राण्य) देकर (ततः) फिर (तं च महीनाथं) उन राजा जीवन्धरकुमार को (अबोधयत्) प्रतिबोधित किया।

सरलार्थ - समस्त आर्यिकाओं में प्रधान पद्मा नामक आर्यिका ने दोनों माताओं को विधिपूर्वक आर्यिका पद की दीक्षा दे दी, पश्चात् दुःखी राजा जीवन्धरकुमार को भी उपदेश दिया।

पद्मा आर्यिका का उपदेश -

प्रब्रज्याः जातुचित्प्राज्ञैः प्रतिषेद्धुं न युज्यते ।

न हि खादापतन्ती चेद्रत्नवृष्टिर्निवार्यते ॥१७॥

अन्वयार्थ - [अत्र नीतिः] (प्राज्ञैः) बुद्धिमानों द्वारा (जातुचित्) कभी भी (प्रब्रज्याः) दीक्षा लेने से (प्रतिषेद्धुं) रोकना (न युज्यते) उचित नहीं है। (हि) निश्चय से (चेत्) यदि (खात्) आकाश से (रत्नवृष्टिः) रत्नों की वर्षा (आपतन्ती) होती है तो (न निवार्यते) रोकी नहीं जाती।

सरलार्थ – बुद्धिमान लोगों को जिन-दीक्षा लेने से रोकना नहीं चाहिए, अर्थात् बुद्धिमानों को दीक्षा में बाधक नहीं बनना चाहिए; क्योंकि आकाश से स्वयं बरसती हुई रत्नवृष्टि को कोई भी बुद्धिमान मनुष्य नहीं रोकता ।

विशेषार्थ – जैसे आकाश से स्वयं बरसती हुई रत्नवृष्टि को कोई रोकता नहीं है, वैसे ही जिन-दीक्षा में बाधा डालना भी उचित नहीं है। ऐसा अज्ञानजन्य कार्य कोई बुद्धिमान कभी नहीं करता है। जिनदीक्षा का स्वागत करना ही प्रत्येक जीव का पवित्र तथा प्रथम कर्तव्य है, उसमें बाधा डालना तो मोक्षमार्ग में बाधा डालना है, जो अक्षम्य अपराध है।

जिनदीक्षा लेना विवेकी जनों का कर्तव्य –

वयस्यन्तेऽपि वा दीक्षा प्रेक्षावद्भिरपेक्ष्यताम् ।

भस्मने रत्नहारोऽयं पण्डितैर्न हि दह्यते ॥१८॥

अन्वयार्थ – [अत्र नीतिः] (अपि वा) और (प्रेक्षावद्भिः) बुद्धिमान पुरुष (अन्ते वयसि) अवस्था के अन्त में जिनदीक्षा ग्रहण करने की (अपेक्ष्यतां) अपेक्षा किया करते हैं। (हि) निश्चय से (पण्डितैः) पण्डित पुरुष (अयं रत्नहारः) इस मनुष्यजन्मरूपी रत्नों के हार को (भस्मने) इन्द्रिय विषयरूपी भस्म के लिए (न दह्यते) नहीं जलाते हैं।

सरलार्थ – विवेकीजनों को कम से कम अपनी मनुष्य आयु के अन्तिम भाग अर्थात् वृद्धावस्था में तो जिनदीक्षा को स्वीकार करना ही चाहिए; क्योंकि पण्डित जन राख के लिए रत्नहार को जलाने का निकृष्ट कार्य नहीं करते।

विशेषार्थ – मनुष्य जन्म रत्नहार के समान है। यदि कोई मनुष्य जीवन जिन-दीक्षा के बिना ही बिता देता है तो उसने भस्म के समान इन्द्रियजन्य भोगों के लिए मनुष्य जीवन को बिता दिया – ऐसा समझना चाहिए।

जिस मनुष्य का विचार दिगम्बर मुनि होने का नहीं है और

जिस स्त्री का विचार आर्यिका दीक्षा लेने का नहीं है, वह श्रावक या श्राविका भी नहीं हैं; क्योंकि अणुव्रत उन्हीं पात्र जीवों के लिए हैं; जो महाव्रत लेने की तीव्र अभिलाषा रखते हैं।

राजा जीवन्धरकुमार का राजमहल में लौटना -

इति प्रबोधितो नत्वा प्रसवित्रीं सकाशतः ।

प्रश्रयेण गतो राजा प्राविक्षन्नृपमन्दिरम् ॥१९॥

अन्वयार्थ - (इति) इसप्रकार (प्रबोधितः) समझाए हुए (राजा) राजा जीवन्धरकुमार ने (नत्वा) नमस्कार करके (प्रसवित्रीं सकाशतः) माता के समीप से (प्रश्रयेण गतः) विनयपूर्वक लौटकर (नृपमन्दिरं प्राविक्षत्) राजमहल में प्रवेश किया।

सरलार्थ - उपर्युक्त प्रकार से जिनदीक्षा की उपादेयता का उपदेश आर्यिका पद्मा से सुनकर राजा जीवन्धरकुमार अपनी माताओं को नमस्कार करके एवं उनसे विनयपूर्वक विदा लेकर अपने राजमहल में वापिस लौट आए।

विशेषार्थ - दिगम्बर मुनि महाराज का निवास तो नगर से दूर वन में ही रहता है। वे मात्र आहार के निमित्त से दिन में एकबार नगर में मौन धारण करके आते हैं। आहार के उपरान्त पुनः वन को गमन कर जाते हैं।

आर्यिकाओं का निवास भी नगर से न अति दूर और न अधिक समीप, नगर के बाहर ही सुरक्षित स्थान पर रहता है। राजा जीवन्धरकुमार ऐसे ही स्थान पर अपनी माताओं के साथ आर्यिका के निवास स्थान पर गए थे। माताओं की दीक्षा के पश्चात् वे उनसे विदा लेकर राजमहल को लौटे।

ज्ञानियों का विकारभाव क्षणस्थायी-

न चिराद्धि पदं दत्ते कृतिनां हृदि विक्रिया ।

यदि रत्नेऽपि मालिन्यं न हि तत्कृच्छ्रशोधनम् ॥२०॥

अन्वयार्थ - [अत्र नीतिः] जिसप्रकार (रत्ने अपि) रत्न में भी (यदि

मालिन्यं) यदि मलिनता हो तो (तत्कृच्छ्रशोधनं न) उसका साफ होना कुछ कठिन नहीं है। इसीप्रकार (विक्रिया) इष्ट वियोगादिजन्य शोकादि भाव (कृतिनां हृदि) बुद्धिमानों के हृदय में (चिरात्) बहुत काल तक (पदं) स्थान (न दत्ते) प्राप्त नहीं करता है।

सरलार्थ — जैसे रत्न पर आई हुई मलिनता सरलता से अल्प समय में ही नष्ट हो जाती है, वैसे ही बुद्धिमानों को प्राप्त हुए क्रोधादि या हास्यादि विकारीभाव अत्यल्प समय में विनाश को प्राप्त होते हैं।

विशेषार्थ — क्रोधादि कषाय के परिणाम हास्यादि नोकषाय के परिणामों से तीव्र होते हैं और अधिक काल तक बने रहते हैं। तद्भव मोक्षगामी राजा जीवन्धरकुमार को भी माताओं के वियोग से शोकजन्य नोकषाय के परिणाम उत्पन्न हुए थे। वे परिणाम स्वयमेव अल्पशक्तिशाली और अल्पजीवी थे। राजा जीवन्धरकुमार के माताओं के वियोगजन्य दुःखद परिणाम अल्पकाल में ही नष्ट हो गए और वे सहजरूप से राज-काज में संलग्न हो गए।

सुख में लम्बा समय बीतते देर नहीं लगती —

अथास्य क्षात्रविद्यस्य क्षणवद्भुञ्जतो महीम् ।

त्रिदशोपमसौख्येन त्रिंशद्दर्षाण्ययासिषुः ॥२१॥

अन्वयार्थ — (अथ) इसके अनन्तर (क्षात्रविद्यस्य) क्षात्र विद्या में निपुण (अस्य) इन जीवन्धर महाराजा के (त्रिदशोपमसौख्येन) देवताओं के समान सुख से (महीं) पृथ्वी को (भुञ्जतः) भोगते हुए (त्रिंशत् वर्षाणि) तीस वर्ष (क्षणवत्) एक क्षण के समान (अयासिषुः) बीत गए।

सरलार्थ — राजनीति विशारद राजा जीवन्धरकुमार ने देवों के समान सुखपूर्वक जीवन बिताते हुए विशाल राज्य का भोग किया; जिससे उनके राज्यशासन के ३० वर्ष मात्र कुछ क्षण के समान व्यतीत हो गए।

विशेषार्थ — सुखी जीवन का दीर्घ काल भी क्षणमात्र प्रतिभासित होता है। मनुष्य को रोटी, कपड़ा और मकान की सहज व्यवस्था हो जाए तो वह पंचेन्द्रियों के विषयों में निमग्न हो जाता है।

स्वर्ग के देवों को असंख्यात वर्ष की आयु भी क्षणमात्र जैसी प्रतीत होती है। अनुकूल संयोगों के कारण सहज सुखी मनुष्य को धर्म करने व समझने का भाव भी मन में उत्पन्न नहीं होता।

किन्हीं विरले ही मनुष्यों को धर्म समझने का भाव उत्पन्न होता है, उनमें भी किन्हीं विरले ही मनुष्यों को धर्म समझ में आता है और उनमें से भी कुछ विरले ही मनुष्य धर्म को जीवन में उतारने का प्रयत्न करते हैं।

जीवन्धरकुमार का जलक्रीड़ा के लिए प्रस्थान -

ततः कदाचिदस्यासीज्जलक्रीडामहोत्सवः ।

वसन्ते सह कान्ताभिरष्टाभिरतिकौतुकात् ॥२२॥

अन्वयार्थ - (ततः) इसके अनन्तर (कदाचित्) कभी (वसन्ते) वसन्त ऋतु में (अष्टाभिः कान्ताभिः सह) अपनी आठ स्त्रियों के साथ (अति-कौतुकात्) अति कौतुहल से (अस्य) इन जीवन्धरकुमार ने (जलक्रीडा-महोत्सवः) जलक्रीड़ा का महान उत्सव (आसीत्) किया।



सरलार्थ - कुछ समय सुखपूर्वक बीत जाने पर वसन्त ऋतु में एक दिन राजा जीवन्धरकुमार ने अपनी आठों रानियों सहित बड़े उत्साह से सज-धज कर जलक्रीड़ा के लिए प्रस्थान किया तथा जलक्रीड़ा का महान उत्सव मनाया।

विशेषार्थ – रागी जीव अपने रागभाव को व्यक्त करने के लिए कुछ न कुछ माध्यम खोज ही लेते हैं। ऐसे समय में वसन्त ऋतु का आगमन, जलक्रीड़ा आदि के कार्यक्रम उनके लिए अति अनुकूल हो जाते हैं।

कषाय और नौकषाय के परिणाम तो बिना सिखाए ही जीव अति रुचि और उत्साहपूर्वक सहज ही सीख लेता है। इसे ही अनादिकालीन अगृहीत मिथ्याचारित्र समझना चाहिए।

जीवन्धरकुमार का मनोविनोद –

जलक्रीडाश्रमात्सोऽयमाक्रीडे च सनीडके।

क्रीडन्कापटिकैः श्लाघ्यं कापेयं निरवर्तयत् ॥२३॥

अन्वयार्थ – (सः अयं) फिर उन्हीं जीवन्धरकुमार ने (जलक्रीडाश्रमात्) जलक्रीड़ा के परिश्रम से थककर (सनीडके) लतामण्डप युक्त (आक्रीडे) किसी उद्यान में (कापटिकैः क्रीडन्) बन्दरों के साथ क्रीड़ा करते हुए (श्लाघ्यं कापेयं) प्रशंसनीय बन्दरों की चेष्टा (निरवर्तयत्) देखी।

सरलार्थ – राजा जीवन्धरकुमार इच्छानुसार जलक्रीड़ा करते हुए जब थक गए, तब समीपवर्ती लता-भवन में जाकर बन्दरों की सुन्दर-सुन्दर चेष्टाओं का अवलोकन करने लगे।

विशेषार्थ – रागी जीव सुख की प्राप्ति के लिए राग के अधीन होकर एक के बाद एक विषय को अपने ज्ञान का ज्ञेय बनाकर सुखी होना चाहता है; किन्तु अन्य जीवादि ज्ञेय द्रव्यों से सुख नहीं मिलता – इसका निर्णय मिथ्यादृष्टि को न होने से वह सतत दुःखी ही रहता है। ज्ञानी साधक को यथार्थ निर्णय होने पर भी वह रागवश किंचित दुःखी होता है।

जब जीव अपने भगवान आत्मा को निर्विकल्प रीति से ज्ञान का ज्ञेय बनाएगा, तब अपने भगवान आत्मा से ही साधक जीव को सच्चे सुख की प्राप्ति होगी। साधक जीव इस क्रम से अर्थात् निज शुद्धात्मा को ध्यान का ध्येय बनाता हुआ अनन्त सुखी हो जाता है। फिर अन्य-अन्य

ज्ञेय जानने की आकुलता मिट जाती है; क्योंकि केवलज्ञान होने पर तीन लोक में स्थित अनन्त ज्ञेय एक ही समय में ज्ञान के ज्ञेय बनते हैं।

उपकथा-२२

जीवन्धरकुमार द्वारा बन्दरों की क्रीड़ा का अवलोकन -

अन्यसम्पर्कतः क्रुद्धां मर्कटीं कोऽपि मर्कटः ।

प्रकृतिस्थां बहुपायैर्नाशकत्कर्तुमुद्यतः ॥२४॥

अन्वयार्थ - तत्पश्चात् (कः अपि) कोई एक (मर्कटः) बन्दर (अन्य-सम्पर्कतः) किसी दूसरी बन्दरी से सम्भोग करने के कारण (क्रुद्धां) क्रोधित हुई (मर्कटीं) अपनी प्यारी बन्दरी को (बहुपायैः) बहुत उपायों से (प्रकृतिस्थां) पूर्व की तरह प्रसन्न (कर्तुं) करने के लिए (उद्यतः न अशक्तुं) समर्थ नहीं हुआ।

सरलार्थ - उस लता-मण्डप में राजा जीवन्धरकुमार ने देखा कि किसी बन्दर ने अपनी प्रिया के सिवाय किसी दूसरी बन्दर की बन्दरी के साथ सम्भोग किया, जिसे देखकर उसकी प्रिया बन्दरी उस बन्दर से नाराज हो गई। तब उस बन्दर ने अपनी बन्दरी को प्रसन्न करने के लिए, अनेक उपाय किए; पर वह बन्दर अपने प्रयास में सफल नहीं हुआ।

विशेषार्थ - उक्त घटना से स्पष्ट है कि तिर्यच गति के संज्ञी जीवों में भी अपने-पराये का विवेक तथा अपने हिताहित का ज्ञान रहता है; जिसके कारण संज्ञी तिर्यच भी देशनालब्धि पाकर सम्यक्त्व की प्राप्ति कर सकते हैं; अणुव्रतों का ग्रहण भी उनके जीवन में सम्भव है। अतः असंख्यात तिर्यच जीव पंचम गुणस्थानवर्ती हैं - ऐसा शास्त्रों में कथन मिलता है।

बन्दर द्वारा मायाचारी से अपनी बन्दरी को मनाने का प्रयास -

ततः शाखामृगोऽप्यासीन्मायिको मृतवद्दशः ।

तदवस्थां भयग्रस्ता वानरीऽयमपाकरोत् ॥२५॥

अन्वयार्थ - (ततः) फिर (मायिकः) छली/मायावी (शाखामृगः

अपि) वह बन्दर भी (मृतवद्दशः) मरे हुए के समान दशावाला (आसीत्) हो गया अर्थात् श्वास रोककर पृथ्वी पर लेट गया। यह देखकर (भयग्रस्ता) भय से पीड़ित (इयं वानरी) इस बन्दरी ने (तदवस्थां) उसकी मृततुल्य अवस्था को (अपाकरोत्) दूर किया।

सरलार्थ – बन्दरी को मनाने/प्रसन्न करने के अनेक उपाय असफल हो जाने पर उस बन्दर ने मायाचारी का प्रयोग किया। वह बन्दर मरने का नाटक करते हुए जमीन पर लेट गया; तब बन्दरी उसे मरा हुआ समझकर अत्यन्त भयभीत हुई और उसकी सेवा करने लगी।

विशेषार्थ – यहाँ दृष्टान्त बन्दर-बन्दरी का दिया है। वे कारणवश एक-दूसरे से अप्रसन्न हो रहे हैं और परस्पर प्रसन्न करने का भी प्रयास कर रहे हैं। यही मनुष्य जीवन की अवस्था हो रही है। मनुष्य जीवन का बहुभाग एक-दूसरे से अप्रसन्न होने में तथा एक-दूसरे को प्रसन्न करने में ही व्यतीत हो रहा है।

अतः सावधान होकर जीवन को वीतरागमय बनाने का प्रयत्न करना चाहिए, अन्यथा यह बहुमूल्य मनुष्य जीवन व्यर्थ ही चला जाएगा। जब तक वीतरागता की प्राप्ति नहीं होगी, तबतक सच्चा सुख भी मिलना सम्भव नहीं है। अतः राग-द्वेष से हटकर लोकोत्तर पुरुषार्थ का प्रयत्न करना चाहिए।

लता-मण्डप के रक्षक वनमाली का मण्डप में प्रवेश –

हर्षलो हरिरप्यस्यै पनसस्य फलं ददौ ।

वनपालो जहारैतद्वानरीमपि भर्त्सयन् ॥२६॥

अन्वयार्थ – (हर्षलः हरिः अपि) तब हर्षित उस बन्दर ने भी (अस्यै) अपनी इस बन्दरी के लिए (पनसस्य फलं) एक पनस का फल (ददौ) दिया; परन्तु (वनपालः) वनपाल ने (वानरीं अपि भर्त्सयन्) बन्दरी की भर्त्सना करके (एतत् जहार) यह फल छीन लिया।

सरलार्थ – बन्दरी की खुशामद से प्रसन्न होकर बन्दर ने अपनी मायाचारी

का वेष छोड़ दिया और बन्दरी को प्रसन्न करने के लिए एक कटहल का फल तोड़कर बन्दरी को दिया। उसी समय वनमाली आ गया और उसने बन्दरी का अनादर करके (भय दीखाकर) उससे कटहल का फल छीन लिया।



विशेषार्थ – राजा जीवन्धरकुमार इस घटना को देखकर विचारमग्न हो गए और संसार की स्थिति पर गम्भीरता से विचार करने लगे।

जीवन्धरकुमार को वैराग्य उत्पन्न होना –

इत्यशेषं विशेषज्ञो वीक्षमाणः क्षितीश्वरः ।

तत्क्षणे जातवैराग्यादनुप्रेक्षामभावयत् ॥२७॥

अन्वयार्थ – (इति) यह (अशेषं) सब घटना (वीक्षमाणः) देखनेवाले (विशेषज्ञः) विद्वान (क्षितीश्वरः) राजा जीवन्धरकुमार ने (तत्क्षणे) उसी समय (जातवैराग्यात्) वैराग्य उत्पन्न होने से (अनुप्रेक्षां) बारह भावनाओं का (अभावयत्) चिन्तन किया।

सरलार्थ – उक्त घटना को देखकर विवेकशील एवं विलक्षण बुद्धि के

धनी राजा जीवन्धरकुमार को वैराग्य उत्पन्न हुआ और वे बारह भावनाओं का चिन्तन करने लगे।

वनपाल को देखकर राजा जीवन्धर का विचार –

मद्यते वनपालोऽयं काष्ठाङ्गारायते हरिः।

राज्यं फलायते तस्मान्मयैव त्याज्यमेव तत् ॥२८॥

अन्वयार्थ – (अयं वनपालः) यह वनपाल (मद्यते) मेरे समान है (हरिः) वानर (काष्ठाङ्गारायते) काष्ठांगार के समान है और (राज्यं) राज्य (फलायते) पनस फल के समान है; (तस्मात्) इसलिए (तत्) यह राज्य (मया एव) मेरे द्वारा ही (त्याज्यं एव) छोड़ने ही योग्य है।

सरलार्थ – राजा जीवन्धरकुमार विचार करते हैं कि यह वनपाल तो मेरे समान है, बन्दर काष्ठांगार के स्थान पर है। राज्य कटहल के फल के समान है। अतः इस राज्य का मुझे ही त्याग करना चाहिए।

विशेषार्थ – राजा जीवन्धरकुमार विचारमग्न हैं। वे विचार करते हैं कि यह राज्य पहले मेरे पिताजी राजा सत्यन्धर के पास था। उनका कपट द्वारा नाश करके राज्य काष्ठांगार ने छीन लिया। अब मैं बलवान हुआ तो काष्ठांगार को मारकर मैंने राज्य पर अधिकार कर लिया। मुझसे भी कोई बलवान उत्पन्न हो सकता है और वह मुझसे राज्य छीन सकता है। अतः ऐसे नश्वर राज्य का त्याग करना ही श्रेयस्कर है। ऐसे वैराग्यमय विचार पुनः पुनः राजा जीवन्धर के मन में उत्पन्न हो रहे हैं।

राजा जीवन्धरकुमार द्वारा अनुप्रेक्षाओं का चिन्तन –

अनित्य अनुप्रेक्षा

जाताः पुष्टाः पुनर्नष्टा इति प्राणभृतां प्रथाः।

न स्थिता इति तत्कुर्याः स्थायिन्यात्मन्पदे मतिम् ॥२९॥

अन्वयार्थ – (जाताः) जन्म लिया (पुष्टाः) पुष्ट हुए (पुनः नष्टाः) और

फिर नष्ट हो गए (इति) ऐसी (प्राणभृतां) संसार में प्राणियों की (प्रथाः) परिपाटी है (न) [के अपि] (स्थिताः) कोई भी स्थिर नहीं है। (तत्) इसलिए (आत्मन्) हे आत्मा ! (स्थायिनी पदे) सदा स्थिर रहनेवाले मोक्षस्थान में ही (मतिं) बुद्धि अर्थात् अपने ध्यान को (कुर्याः) लगा।

सरलार्थ – जीव मनुष्यादि पर्यायों में उत्पन्न होते हैं, परिपुष्ट होते हैं और फिर नष्ट हो जाते हैं। जीव की कोई भी अवस्था स्थिर नहीं रहती, सब संसारी जीवों की यही परम्परा है। इसलिए हे आत्मन् ! तुम आत्मा के चिरस्थायी पद 'मोक्ष' की नित्य भावना करो।

स्थायीति क्षणमात्रं वा ज्ञायते न हि जीवितम् ।

कोटेरप्यधिकं हन्त जन्तूनां हि मनीषितम् ॥३०॥

अन्वयार्थ – (हि) निश्चय से (जीवितं) यह जीवन (क्षणमात्रं वा) क्षणमात्र भी (स्थायीति न ज्ञायते) स्थायी नहीं – यह जान पड़ता है। (हन्त !) खेद है ! फिर भी (जन्तूनां) प्राणियों की (मनीषितं) इच्छाएँ (कोटेः अपि अधिकं) करोड़ों से भी अधिक हैं।

सरलार्थ – यह मनुष्य जीवन एक क्षण भी स्थिर रहेगा या नहीं, इसका किसी को भी विश्वास नहीं है; फिर भी महान खेद है कि अज्ञानी जीव करोड़ों से भी अधिक इच्छाएँ मन में सँजोए रखता है, जिनका पूर्ण होना कभी सम्भव ही नहीं है।

अवश्यं यदि नश्यन्ति स्थित्वापि विषयाश्चिरम् ।

स्वयं त्याज्यास्तथा हि स्यान्मुक्तिः संसृतिरन्यथा ॥३१॥

अन्वयार्थ – (यदि) अगर (विषयाः) इन्द्रियों के विषय (चिरं) बहुत काल तक (स्थित्वा अपि) स्थिर रहकर भी (अवश्यं) अवश्य (नश्यन्ति) नाश को प्राप्त हो जाते हैं, तो (स्वयं) स्वयं ही (त्याज्याः) छोड़ देने चाहिए। (तथाहि) ऐसा करने पर (मुक्तिः स्यात्) आत्मा कर्म बन्धन से छूट जाता है। (अन्यथा) और इसके विपरीत करने से (संसृतिः एव स्यात्) संसार ही होता है अर्थात् फिर संसार में घूमना पड़ता है।

सरलार्थ – स्पर्शनेन्द्रिय आदि पंचेन्द्रिय के स्पर्शादि विषय कुछ काल तक ही टिकते हैं, वे एक न एक दिन अवश्य ही स्वयमेव नष्ट हो जाते हैं। इन विषयों का हम स्वयं त्याग करते हैं तो मुक्ति की प्राप्ति होती है और यदि वे विषय हमें ही छोड़ देते हैं तो अनन्त दुःखमय संसार बना ही रहता है।

अनश्वरसुखावाप्तौ सत्यां नश्वरकायतः ।

किं वृथैव नयस्यात्मन्क्षणं वा सफलं नय ॥३२॥

अन्वयार्थ – (आत्मन्) हे आत्मा ! यदि (नश्वरकायतः) नाशवान शरीर से (अनश्वरसुखावाप्तौ सत्यां) अविनाशी सुख अर्थात् मोक्ष प्राप्त हो सके तो (किं) क्यों (वृथा एव) वृथा ही (क्षणं) समय को (नयसि) खोता है (सफलं नय) तू इस समय को सफल कर।

सरलार्थ – हे आत्मन ! यदि तुम यथार्थ पुरुषार्थ करते हो तो नश्वर शरीर के निमित्त से तुम्हें अविनश्वर मोक्ष-सुख की प्राप्ति होती है। इसलिए मनुष्य भव का एक भी क्षण व्यर्थ नहीं खोना चाहिए; किन्तु प्रत्येक क्षण मोक्ष-पुरुषार्थ में लगाकर सफल बनाना अत्यावश्यक है।

अशरण अनुप्रेक्षा

पयोधौ नष्टनौकस्य पतत्रेरिव जीव ते ।

सत्यपाये शरण्यं न तत्स्वास्थ्ये हि सहस्रधा ॥३३॥

अन्वयार्थ – (जीव) हे जीव ! (पयोधौ) समुद्र में (नष्टनौकस्य) डूब गया है नौकारूपी आश्रय जिसका, ऐसे (पतत्रेः इव) पक्षी की तरह (ते) तेरे (अपाये सति) नाश अर्थात् मृत्यु के समय (शरण्यं न) कोई भी शरण नहीं है।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (स्वास्थ्ये) सुखी अवस्था में (सहस्रधा शरण्यं भवन्ति) हजारों शरण हो जाते हैं।

सरलार्थ – हे आत्मन ! जैसे समुद्र के मध्य में नौका नष्ट होने के कारण नौकारहित पक्षी का कोई रक्षक नहीं होता, अधिक न उड़ सकने के कारण

उसका मरण सुनिश्चित है; वैसे ही तुझे मरणादि आपत्ति के आ जाने पर तेरा कोई रक्षक नहीं है। आई हुई आपत्ति का सामना स्वयं तुम्हें ही करना पड़ेगा; परन्तु सकुशल होने पर अपरिचित हजारों जन भी सहायक हो जाते हैं, यह संसार का स्वरूप है।

आयुधीयैरतिस्निग्धैर्बन्धुभिश्चाभिसंवृतः ।

जन्तुः संरक्ष्यमाणोऽपि पश्यतामेव नश्यति ॥३४॥

अन्वयार्थ – (आयुधीयैः) आयुध को लिए हुए (अतिस्निग्धैः) अत्यन्त प्यारे (बन्धुभिः) बन्धुओं से (अभिसंवृतः) चारों ओर से घेरे हुए और (संरक्ष्यमाणः अपि) संरक्षित भी (जन्तुः) प्राणी (पश्यतां एव) देखनेवालों के आगे (नश्यति) नाश को प्राप्त होता है।

सरलार्थ – मरण के समय शस्त्रधारी बड़े-बड़े योद्धा और अत्यन्त प्यारे बन्धुजनों से घेरा देकर रक्षा किए जानेवाला मनुष्य भी देखते-देखते ही मरण को प्राप्त हो जाता है। सर्व रक्षक व्यर्थ सिद्ध होते हैं।

मन्त्रयन्त्रादयोऽप्यात्मन्स्वतन्त्रं शरणं न ते ।

किन्तु सत्येव पुण्ये हि नो चेत्के नाम तैः स्थिताः ॥३५॥

अन्वयार्थ – (आत्मन्) हे आत्मा ! (मन्त्रयन्त्रादयः अपि) मन्त्र-यन्त्रादिक भी (ते) तेरे (स्वतन्त्रं) स्वतन्त्र (शरणं न) रक्षक नहीं हैं; (किं तु) परन्तु (पुण्ये सति एव) पुण्य होने पर ही ये सब सहायता करते हैं। (नो चेत्) यदि पुण्य का उदय नहीं है तो (तैः) इन मन्त्र-तन्त्रादिकों से (के नाम स्थिताः) संसार में कौन स्थिर है अर्थात् कोई भी स्थिर नहीं है।

सरलार्थ – हे आत्मन ! पूर्वबद्ध पुण्यकर्म के उदय की अपेक्षा से रहित मन्त्र-तन्त्रादिक स्वतन्त्र रीति से तेरा रक्षण नहीं कर सकते। पूर्व पुण्य का उदय हो तो ही मन्त्रादिक सहायक सिद्ध होते हैं। यदि पुण्योदय के बिना ही मन्त्रादिक रक्षक हो सकते तो आज तक कोई मरता ही नहीं, सभी जीव अमर हो जाते।

संसार अनुप्रेक्षा

नटवन्नैकवेषेण भ्रमस्यात्मन्स्वकर्मतः ।

तिरश्चि निरये पापाद्विपुण्याद्द्वयात्रे ॥३६॥

अन्वयार्थ — (आत्मन्) हे आत्मन् ! (त्वं) तू (नैकवेषेण) नाना प्रकार के वेष धारण करके (नटवत्) नट के समान (स्वकर्मतः) अपने कर्मों के वश से (भ्रमसि) घूम रहा है और (पापात्) पाप से (तिरश्चि निरये) तिर्यच और नरक गति में (पुण्यात्) पुण्य से (दिवि) स्वर्ग में और (द्वयात्) पुण्य-पाप से (नरे) मनुष्य गति में जन्म धारण करता है।

सरलार्थ — हे आत्मन् ! तुम अपने कर्मों के उदय-के निमित्त से अनेक प्रकार के वेष — मनुष्यादि पर्याय धारण कर नट के समान चारों गतियों में भटक रहे हो। पाप-कर्मोदय से तिर्यच और नरक गति में जाना होता है तथा पुण्य-कर्मोदय से स्वर्ग मिलता है। जब पाप-पुण्य दोनों कर्म समान होते हैं, तब जीव मनुष्य बनता है।

पञ्चानन इवामोक्षादसिपञ्जर आहितः ।

क्षणेऽपि दुःसहे देहे देहिन्हन्त कथं वसेः ॥३७॥

अन्वयार्थ — (देहिन्) हे देही ! (हन्त) खेद है ! (असिपञ्जरेआहितः) तू लोहे के पिंजरे में कैद हुए (पञ्चाननः इव) सिंह की तरह (अमोक्षात्) बिना मोक्ष के (क्षणे अपि दुःसहे) क्षणमात्र भी नहीं सहा जाए ऐसे (देहे) शरीर में (कथं) किसप्रकार (वसेः) रहता है ?

सरलार्थ — हे देहधारी जीव ! जैसे लोहे के पिंजरे में शूरवीर शेर का विवश होकर जबतक छुटकारा नहीं होता, तबतक रहता है तथा पिंजरे से छूटने की तीव्र इच्छा रखता है; वैसे ही जिसमें क्षणमात्र भी रहना अतिशय असह्य है, ऐसे अपवित्र शरीर में तुम रहते हो — यह महान खेद है। अतएव शरीररहित मुक्त होने का प्रयास करो।

तत्रास्ति यत्र वै भुक्तं पुद्गलेषु मुहुस्त्वया ।

तल्लेशस्तव किं तृप्त्यै बिन्दुः पीताम्बुधेरिव ॥३८॥

अन्वयार्थ – हे आत्मन् ! (पुद्गलेषु) पुद्गलों में (तत् न अस्ति) कोई परमाणु ऐसा नहीं है (यत्) जो (त्वया) तूने (मुहुः) बार-बार (न वै भुक्तं) नहीं भोगा हो और (तल्लेशः) उन पुद्गलों का थोडा अंश (पीताम्बुधेः) पूरे समुद्रका जल पीनेवाले को (बिन्दुः इव) बूँद के समान है (किं) क्या वह (तव) तुम्हारी (तृप्त्यै) तृप्ति के लिए [स्यात्] होगा ? [अपि तु न स्यात्] कदापि नहीं है ।

सरलार्थ – हे भोगाभिलाषी जीव ! इस संसार में जो अनन्तानन्त पुद्गल द्रव्य हैं, उनको यह जीव बार-बार भोग चुका है । अतः तुमने जो भोगा नहीं है – ऐसा एक भी पुद्गल परमाणु शेष नहीं है । जैसे समुद्र भर पानी पीने के इच्छुक व्यक्ति को एक बूँद पानी पीने को मिले तो उसे कभी सन्तोष नहीं हो सकता; वैसे ही वर्तमानकालीन कुछ पुद्गलों का सेवन करने से तुम्हें सन्तोष नहीं हो सकता । इसलिए तुम भोगाभिलाषा को छोड़ दो ।

भुक्तोज्झितं तदुच्छिष्टं भोक्तुमेवोत्सुकायसे ।

अभुक्तं मुक्तिसौख्यं त्वमतुच्छं हन्त नेच्छसि ॥३९॥

अन्वयार्थ – हे आत्मन् ! (हन्त) खेद है ! (त्वं) तू (भुक्तोज्झितं) भोगकर छोड़े गए (तत् उच्छिष्टं) उन्हीं उच्छिष्ट भोगों को (भोक्तुं एव) फिर भोगने के लिए (उत्सुकायसे) उत्कण्ठित हो रहा है और (अभुक्तं) पूर्व में नहीं किया है भोग जिसका ऐसे (अतुच्छं) महान (मुक्तिसौख्यं) मोक्षरूपी सुख की (न इच्छसि) इच्छा नहीं करता है ।

सरलार्थ – हे आत्मन् ! खेद है कि तुम जिन पुद्गलादि वस्तुओं को अनेक बार भोगकर उच्छिष्ट बना चुके हो; उन्हीं को पुनः पुनः भोगने के लिए उत्कण्ठित हो रहे हो; परन्तु जिस अनादि-अनन्त आनन्ददायक मोक्षसुख का तुमने एक बार भी स्वाद नहीं लिया, उस महान सुख की इच्छा भी नहीं करते हो । भाई ! अब तो मोक्षसुख की इच्छा करो ।

संसृतौ कर्म रागाद्यैस्ततः कायान्तरं ततः ।

इन्द्रियाणीन्द्रियद्वारा रागाद्याश्चक्रकं पुनः ॥४०॥

अन्वयार्थ — (संसृतौ) संसार में (रागाद्यैः) रागादिक भावों से (कर्म) कर्म बँधते हैं। (ततः) फिर उसी कर्म से (कायान्तरं) नवीन शरीर उत्पन्न होता है (ततः) और फिर उसी शरीर से (इन्द्रियाणि) इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं और (इन्द्रियद्वारा रागाद्याः) इन्द्रियों के द्वारा ही राग-द्वेषादिक होते हैं। (पुनः) इसीप्रकार (चक्रकं) संसारचक्र की उत्पत्ति होती है।

सरलार्थ — इस संसार में जीव को राग-द्वेषादि भावों से पौद्गलिक आठ कर्मों का बन्ध होता है। कर्म के उदय का निमित्त पाकर जीव को औदारिकादि शरीर की प्राप्ति होती है। शरीर में स्पर्शनादि इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं। इन्द्रियों के निमित्त से जीव पुनः राग-द्वेषादि विभावरूप से परिणमित होता है, जिससे पुनः कर्म बन्ध होता है। इसप्रकार यह संसार का चक्र अनादि काल से घूमता ही चला आ रहा है।

सत्यनादौ प्रबन्धेऽस्मिन्कार्यकारणरूपके ।

येन दुःखायसे नित्यमद्य वात्मन्विमुञ्च तत् ॥४१॥

अन्वयार्थ — (कार्यकारणरूपके) कार्य-कारणरूप (अस्मिन् अनादौ) इस अनादि (प्रबन्धे सति) प्रबन्ध के होने पर (येन) जिससे (त्वं नित्यं दुःखायसे) तू नित्य दुःखी होता है। (अद्य वा) अब तो (तत् विमुञ्च) उसको (राग-द्वेषादि परिणामों को) छोड़ दो।

सरलार्थ — हे आत्मन ! कारण-कार्यरूप यह परिपाटी अनादिकालीन होने पर, जिन राग-द्वेषादि परिणामों से तुम सदा दुःखी होते चले आ रहे हो, उन राग-द्वेषादि विकारी दुःखद परिणामों को अब तो छोड़ दो और सदा के लिए सुखी हो जाओ।

एकत्व अनुप्रेक्षा

त्यक्तोपात्तशरीरादिः स्वकर्मानुगुणं भ्रमन् ।

त्वमात्मन्नेक एवासि जनने मरणेऽपि च ॥४२॥

अन्वयार्थ – (आत्मन्) हे आत्मन ! (त्यक्तोपात्त शरीरादिः) छोड़कर फिर ग्रहण किया है शरीरादिक को जिसने ऐसा (त्वं) तू (स्वकर्मानुगुणं भ्रमन्) अपने कर्मों के अनुसार भ्रमण करता हुआ (जनने) जन्म (मरणे अपि च) और मरण के समय में भी (एकः एव असि) अकेला ही है।

सरलार्थ – पुराने शरीर को छोड़कर नवीन शरीर को धारण करनेवाले और स्वयं किए हुए कर्मों के कारण संसार में भटकनेवाले हे आत्मन ! तुम अकेले ही जन्म तथा मरण सम्बन्धी दुःखों को भोगते हो। इन दुःखों को भोगने में तुम्हारा कोई साथी नहीं होता है।

बन्धवो हि श्मशानान्ता गृह एवार्जितं धनम्।

भस्मने गात्रमेकं त्वां धर्म एव न मुञ्चति ॥४३॥

अन्वयार्थ – देख ! (बन्धवः) बन्धुजन भी (श्मशानान्ताः) केवल श्मशान पर्यन्त ही साथ जाते हैं, (अर्जितं धनं) कमाया हुआ धन (गृहे एव) घर में ही रह जाता है और (गात्रं भस्मने) शरीर भी तेरा भस्मरूप परिणत हो जाता है। (एकं) केवल एक (धर्मः एव) धर्म ही (त्वां न मुञ्चति) तुझको नहीं छोड़ता है अर्थात् धर्म ही एक तेरे साथ जाता है।

सरलार्थ – पुत्र, मित्र, कलत्र तथा बन्धुगण श्मशान पर्यन्त ही साथ देते हैं, अगले भव में तुम्हारे साथ नहीं जाते। पाप करके कमाया हुआ धन घर में ही रह जाता है। शरीर भी अग्नि में राख हो जाता है। इस संसार में मात्र धर्म ही जीव के साथ जाता है।

पुत्र-मित्र-कलत्राद्यमन्यदप्यन्तरालजम्।

नानुयायीति नाश्चर्यं नन्वङ्गं सहजं तथा ॥४४॥

अन्वयार्थ – (पुत्रमित्रकलत्राद्यम्) पुत्र, मित्र, स्त्री तथा (अन्तरालजं अन्यत् अपि) बीच में मिलनेवाले और भी (न अनुयायि) यदि तेरे साथ नहीं जाते तो (इति न आश्चर्यं) इसमें कुछ भी आश्चर्य नहीं है। (ननु अङ्गं सहजं तथा) किन्तु इस पर्याय के प्रारम्भ से ही साथ रहनेवाला शरीर भी साथ नहीं जाता है [इति आश्चर्यम्] आश्चर्य इसमें है।

सरलार्थ — जीवन में समय-समय पर संयोगरूप में प्राप्त होनेवाली बाह्य वस्तुएँ — पुत्र, मित्र, स्त्री, धन, धान्यादि कोई भी पर-भव में जीव के साथ नहीं जाते, इसमें कुछ भी आश्चर्य की बात नहीं; किन्तु जो शरीर नवीन पर्याय में प्रारम्भ से ही जीव के साथ रहता है, वह भी पर-भव में उसके साथ नहीं जाता — यह महान आश्चर्य की बात है। जब आत्मा के साथ जन्म से ही घनिष्ठ सम्बन्ध रखनेवाला यह शरीर अन्त समय में जीव के साथ नहीं जाता तो जीव से प्रत्यक्ष भिन्न स्त्री-पुत्रादि से क्या आशा की जा सकती है ?

त्वमेव कर्मणां कर्ता भोक्ता च फलसन्ततेः ।

मोक्ता च तात किं मुक्तौ स्वाधीनायां न चेष्टसे ॥४५॥

अन्वयार्थ — (त्वं एव) तू ही (कर्मणां) कर्मों का (कर्ता) कर्ता और (फलसन्ततेः) फल-परंपरा का (भोक्ता) भोगनेवाला है (मोक्ता च) और तू ही कर्मों का नाश करके मुक्ति को प्राप्त करनेवाला है। इसलिए (तात) हे तात ! (स्वाधीनायां मुक्तौ) अपने स्वाधीन मुक्ति की प्राप्ति में (किं) क्यों (न चेष्टसे) प्रयत्न नहीं करता है ?

सरलार्थ — हे आत्मन् ! तुम अकेले ही शुभाशुभ कर्मों के कर्ता, उनके फल के भोक्ता और उनका नाश करनेवाले भी तुम ही हो; अतएव तुम्हारा कर्तव्य है कि तुम स्वाधीन मुक्ति को प्राप्त करने का प्रयत्न करो।

अज्ञातं कर्मणैवात्मन्स्वाधीनेऽपि सुखोदये ।

नेहसे तदुपायेषु यतसे दुःखसाधने ॥४६॥

अन्वयार्थ — हे आत्मन् ! (कर्मणा एव अज्ञातं) कर्मों के उदय से अज्ञानी होकर तू (स्वाधीने अपि) स्वाधीन होने पर भी (सुखोदये) मोक्षसुख में और (तत् उपायेषु) उसके उपायों में (न ईहसे) चेष्टा नहीं करता है; किन्तु (दुःखसाधने) दुःखों के कारणों में निरन्तर (यतसे) यत्न किया करता है।

सरलार्थ — हे आत्मन् ! तुम स्वभाव से स्वाधीन होने पर भी स्वयं कर्म

के वशीभूत होकर अज्ञानी हुए हो। मोक्षसुख तथा मोक्षमार्ग के विषय में प्रयास भी नहीं करते हो और मोक्ष के विपरीत दुःखों के कारणभूत सांसारिक कार्यों के करने में ही सदैव प्रयत्नशील रहते हो। अपने हित की बात अब तो सोचो और सच्चे पथ के पथिक बन जाओ।

अन्यत्व अनुप्रेक्षा

देहात्मकोऽहमित्यात्मज्जातु चेतसि मा कृथाः ।

कर्मतो ह्यापृथक्त्वं ते त्वं निचोलासिसन्निभः ॥४७॥

अन्वयार्थ – (आत्मन्) हे आत्मन ! (देहात्मकः अहं) मैं देहरूप हूँ (इति) यह बात (त्वं) तू (जातु) कदापि (चेतसि) अपने चित्त में (मा कृथाः) मत ला। (हि) निश्चय से (कर्मतः) कर्म से (ते) तेरे (अपृथक्त्वं) शरीर की एकता है। (त्वं) तू तो (निचोलासिसन्निभः) म्यान के भीतर रहनेवाली तलवार के समान [असि] है।

सरलार्थ – हे आत्मन ! ‘मैं शरीररूप हूँ’ – ऐसा विचार अपने मन में कभी नहीं लाना चाहिए। यद्यपि कर्मोदय के निमित्त से तुम्हें जीव और शरीर के साथ एकरूपता का आभास हो रहा है; किन्तु तुम तो म्यान के भीतर रखी हुई तलवार के समान भिन्न ही हो। अतः शरीर से तुम्हारा आत्मा भिन्न ही है – ऐसा चिन्तन करो।

अधुवत्वादमेध्यत्वादचित्त्वाच्चान्यदङ्गकम् ।

चित्त्वनित्यत्वमेध्यत्वैरात्मन्नन्योऽसि कायतः ॥४८॥

अन्वयार्थ – हे आत्मन ! (अधुवत्वात्) अनित्य (अमेध्यत्वात्) अपवित्र और (अचित्त्वात्) चेतनारहित – इन तीन कारणों से (अङ्गकं) शरीर (अन्यत्) आत्मा से भिन्न है और (चित्त्वनित्यत्वमेध्यत्वैः) सचेतनत्व, नित्यत्व, पावित्र्य होने के कारण (त्वं) तू (कायतः अन्यः असि) शरीर से भिन्न है।

सरलार्थ – हे आत्मन ! शरीर अनित्य, अपवित्र और चेतना से रहित है और जीव नित्य, पवित्र तथा चेतनासहित है। तुम जीव हो, अतः तुम शरीर से सर्वथा भिन्न ही हो।

हेये स्वयं सती बुद्धिर्यत्नेनाप्यसती शुभे ।

तद्धेतुकर्म तद्वन्तमात्मानमपि साधयेत् ॥४९॥

अन्वयार्थ – (बुद्धिः) बुद्धि (हेये) बुरे कामों में (स्वयं सती) अपने आप ही लग जाती है; किन्तु (शुभे यत्नेन अपि असती) अच्छे कार्यों में प्रयत्न करने पर भी प्रवृत्त नहीं होती। (तद्धेतुः) इस प्रवृत्ति का कारण (कर्म) कर्म ही है जो (आत्मानं अपि) आत्मा को भी (तद्वन्तं साधयेत्) अपने समान ही कर देता है।

सरलार्थ – मनुष्य की बुद्धि छोटे कार्यों में अपने आप प्रवृत्त होती है और अच्छे कार्यों में प्रयत्न करने पर भी प्रवृत्त नहीं होती। इसके कारणभूत पाप कर्म को उदय जीव को विपरीत कार्यों का कर्ता बना देता है। अतः विवेकशील मनुष्यों को अच्छे कार्यों में ही प्रवृत्त होने का प्रयत्न करना चाहिए।

अशुचि अनुप्रेक्षा

मेध्यानामपि वस्तूनां यत्सम्पर्कादमेध्यता ।

तद्गात्रमशुचीत्येतत्किं नाल्पमलसम्भवं ॥५०॥

अन्वयार्थ – (यत्सम्पर्कात्) जिसके सम्बन्ध से (मेध्यानां) पवित्र (वस्तूनां अपि) वस्तुएँ भी (अमेध्यता) अपवित्र हो जाती हैं और जो (अल्पमलसम्भवं) अल्प रुधिर-वीर्यादि मलों से उत्पन्न हुआ है (तद् गात्रं) वह शरीर (किं) क्या (अशुचि न) अपवित्र नहीं है ? (इति) इसलिए (एतत्) यह अवश्य ही अपवित्र है।

सरलार्थ – जिस शरीर के सम्पर्क से पवित्र वस्तुएँ भी अपवित्र हो जाती हैं। जो शरीर रज और वीर्यादि मलों से ही उत्पन्न होता है, वह शरीर पवित्र कैसे हो सकता है ? वास्तव में शरीर तो सदा ही अपवित्र है और अपवित्र ही रहेगा, वह कभी पवित्र नहीं हो सकता। अतः उससे विरक्त ही होना चाहिए।

अस्पष्टं दृष्टमङ्गं हि सामर्थ्यात्कर्मशिल्पिनः ।

रम्यमूहे किमन्यत्स्यान्मलमांसास्थिमज्जतः ॥५१॥

अन्वयार्थ – (हि) निश्चय से (कर्मशिल्पिनः) कर्मरूपी कारीगर की (सामर्थ्यात्) चतुराई से (अङ्गं) शरीर का अंतरंग (अस्पष्टं दृष्टं) स्पष्ट दिखाई नहीं देता है। (अतः) इसलिए (रम्यं भासते) सुन्दर मालूम होता है; (ऊहे सति) परन्तु विचार करने पर इसमें (मलमांसास्थिमज्जतः) मल, मांस, हड्डी और मज्जा के सिवाय (अन्यत् किं स्यात्) और क्या है ? अर्थात् शरीर इन्हीं अपवित्र वस्तुओं से बना है।

सरलार्थ – वस्तुस्थिति को देखा जाए तो कर्मरूपी कारीगर की चतुराई से/नाम कर्मोदय से उत्पन्न यह शरीर वास्तविकरूप से न देखे जाने से सुन्दर ही प्रतीत होता है; किन्तु विचार करने पर इस शरीर में मल, मांस, हड्डी और मज्जा आदि के अतिरिक्त और कुछ अच्छी वस्तु दिखाई ही नहीं देती।

दैवादन्तः स्वरूपं चेद्बहिर्देहस्य किं परैः।

आस्तामनुभवेच्छेयमात्मन्को नाम पश्यति ॥५२॥

अन्वयार्थ – हे आत्मन ! (परैः किं) और तो क्या (चेत्) यदि (दैवात्) दैवयोग से (देहस्य) इस शरीर का (अन्तःस्वरूपं) भीतरी हिस्सा (बहिः स्यात्) शरीर से बाहर निकल आए तो (इयं अनुभवेच्छा) इसके सुखानुभव करने की इच्छा तो (दूरे आस्तां) दूर ही रहे (कः नाम पश्यति) कोई इसे देखेगा भी नहीं।

सरलार्थ – हे आत्मन ! यदि दैवयोग से शरीर का भीतरी भाग बाहर निकल आए तो इस शरीर को भोगने की इच्छा तो दूर, कोई इस शरीर को देखना भी पसन्द नहीं करेंगे। ऐसे शरीर को देखते ही सभी को अत्यन्त घृणा उत्पन्न होती है।

एवं पिशितपिण्डस्य क्षयिणोऽक्षयशङ्कृतः।

गात्रस्यात्मन्क्षयात्पूर्वं तत्फलं प्राप्य तत्त्यज ॥५३॥

अन्वयार्थ – (एवं) इसप्रकार हे आत्मन ! (क्षयिणः) नाश को प्राप्त होनेवाले (अक्षयशङ्कृतः) किन्तु अविनाशी सुख के कारणभूत

(पिशितपिण्डस्य गात्रस्य) इस मांस के पिण्डरूप शरीर के (क्षयात् पूर्व) नाश होने से पहले (तत्फलं प्राप्य) इससे मोक्षरूपी फल को प्राप्त करके (तत् त्यज) इसको छोड़ दे।

सरलार्थ – यद्यपि मांस के पिण्डरूप यह मनुष्य शरीर नश्वर है, तथापि मोक्ष प्राप्ति में निमित्त कारण है। अतएव हे आत्मन ! इस मनुष्य शरीर के नाश होने के पहले ही मोक्षसुखरूप फल प्राप्त कर लो और तत्पश्चात् इस शरीर का छोड़ दो।

आत्तसारं वपुः कुर्यास्तथात्मंस्तत्क्षयेऽप्यभीः ।

आत्तसारेश्चुदाहेऽपि न हि शोचन्ति मानवाः ॥५४॥

अन्वयार्थ – (हि) निश्चय से (यथा) जिसप्रकार (मानवाः) मनुष्य (आत्तसारेश्चुदाहे अपि) ग्रहण कर लिया है रसरूपी सार जिसका ऐसे ईख के छिलकों के जलाने में (न शोचन्ति) शोक नहीं करते हैं। (तथा) उसीप्रकार हे आत्मन ! (त्वं) तू भी (आत्तसारं) गृहीतसार इस (वपुः) शरीर को (कुर्याः) कर ले; [यतः] जिससे तू (तत्क्षये अपि) इस शरीर के नाश होने पर भी (अभीः) भयरहित रहे।

सरलार्थ – जिसप्रकार मनुष्य ईख (गन्ने) से रस निकालने के पश्चात् उसे जलाने से दुःखी नहीं होता; वैसे ही हे आत्मन ! तुम भी इस मनुष्य शरीर के निमित्त से मोक्ष का साधन कर शरीर को निस्सार/रस रहित बना लो और फिर इस शरीर के नाश होने से निर्भय हो जाओ।

आस्रव अनुप्रेक्षा

अजस्रमास्रवन्त्यात्मन्दुर्मोचाः कर्मपुद्गलाः ।

तैः पूर्णस्त्वमधोऽधः स्या जलपूर्णा यथा प्लवः ॥५५॥

अन्वयार्थ – हे आत्मन ! (दुर्मोचाः) बड़े दुःख से अलग होनेवाले (कर्मपुद्गलाः) जो कर्मरूपी पुद्गल (अजस्रं) निरन्तर (आश्रवन्ति) आते हैं (तैः पूर्णः) उन कर्मों से परिपूर्ण भरा हुआ (त्वं) तू (जलपूर्णाः प्लवः

यथा) जल से भरी हुई नौका के समान (अधोऽधः स्याः) नीचे ही नीचे चला जाता है अर्थात् अधोगति को प्राप्त होता जाता है।

सरलार्थ – हे आत्मन ! अतिकष्ट से दूर होनेवाले पुद्गलमय कर्म परमाणु तुम्हारी आत्मा में प्रति समय आ रहे हैं। उन कर्मों के भार से तुम जैसे जल से भरी हुई नौका नीचे जल में डूबती जाती है, वैसे तुम भी अधोगति को प्राप्त होते जा रहे हो।

तन्निदानं तवैवात्मन्योगभावौ सदातनौ।

तौ विद्धि सपरिस्पन्दं परिणामं शुभाशुभम् ॥५६॥

अन्वयार्थ – हे आत्मन ! (तन्निदानं) उस आस्रव के कारण (तव एव) तेरे ही (सदातनौ) अनादि काल से प्रवृत्त (योगभावौ स्तः) योग और आत्मा के कषयादिक भाव हैं, (त्वं) तू (सपरिस्पन्दं) आत्मा के प्रदेशों में चंचलतासहित (शुभाशुभं) शुभ और अशुभरूप (परिणामं) परिणाम को (तौ) योग और कषाय (विद्धि) जान।

सरलार्थ – हे आत्मन ! इस आस्रव के कारण तुम्हारे अनादि काल से ही योग और कषाय के परिणाम हो रहे हैं। मन-वचन-काय के निमित्त से होनेवाले आत्मप्रदेश की चंचलता को योग तथा जीव के शुभाशुभ परिणामों को कषाय कहते हैं।

आस्रवोऽयममुष्येति ज्ञात्वात्मन्कर्मकारणे।

तत्तन्निमित्तवैधुर्यादपवाहोर्ध्वगो भव ॥५७॥

अन्वयार्थ – हे आत्मन ! (अमुष्य) अमुक कर्म का (अयं आस्रवः) यह आस्रव है (इति ज्ञात्वा) इसप्रकार भली-भाँति जानकर (तत्तन्निमित्त वैधुर्यात्) कर्म के निमित्त के त्यागने से (कर्मकारणे) कर्म और कारणरूप आस्रव को (अपवाहा) छोड़कर (ऊर्ध्वगः भव) ऊर्ध्वगामी हो अर्थात् मोक्ष प्राप्त कर।

सरलार्थ – हे आत्मन ! इन कर्मों के आस्रव का कारण तुम्हारे ही योग

और कषाय भाव/परिणाम हैं। इसप्रकार कर्म और कर्म के कारणों को जानकर कर्मास्रवों के कारणभूत योग और शुभाशुभ भावों का त्याग करो और सहज मुक्त हो जाओ।

संवर अनुप्रेक्षा

संरक्ष्य समितिं गुप्तिमनुप्रेक्षापरायणः ।

तपः संयमधर्मात्मा त्वं स्या जितपरीषहः ॥५८॥

अन्वयार्थ — हे आत्मन् ! (अनुप्रेक्षापरायणः) बारह भावनाओं में तत्पर (त्वं) तू (तपः संयमधर्मात्मा) तप-संयम और धर्मरूप होकर (समितिं गुप्तिं) समिति और गुप्तियों का (संरक्ष्य) पालन करता हुआ (जितपरीषहः) बाईस परीषहों का जीतनेवाला (स्याः) हो।

सरलार्थ — हे आत्मन् ! तुम पाँच समितियों और तीन गुप्तियों का पालन करो। बारह भावनाओं के अनुचिन्तन में तत्पर हो जाओ। तप, संयम और धर्मों को धारण करके परीषहों के विजेता बन जाओ।

एवं च त्वयि सत्यात्मन्कर्मास्रवनिरोधनात् ।

नीरन्ध्रपोतवद्भूया निरपायो भवाम्बुधौ ॥५९॥

अन्वयार्थ — (च) और हे आत्मन् ! (कर्मास्रवनिरोधनात्) कर्मों का आस्रव रुक जाने से (त्वयि एवं सति) तू इसप्रकार निरास्रव होने पर (नीरन्ध्रपोतवत्) छिद्ररहित नौका के समान तुम (भवाम्बुधौ) संसाररूपी समुद्र में (निरपायः भूयाः) निर्विघ्न हो जाओगे।

सरलार्थ — हे आत्मन् ! जैसे नौका के भीतर जल आने का छिद्र बन्द हो जाने पर नौका का जलाशय में डूबने का खतरा नहीं रहता; वैसे ही आत्मा में कर्मों के आगमन का द्वार बन्द हो जाने से आत्मा को संसार-सागर में डूबने का भय नहीं रहता।

विकथादिवियुक्तस्त्वमात्मभावनयान्वितः ।

त्यक्तबाह्यस्पृहो भूया गुप्त्याद्यास्ते करस्थिताः ॥६०॥

अन्वयार्थ – हे आत्मन ! (विकथादिवियुक्तः) विकथादि प्रमादों से रहित और (आत्मभावनयान्वितः) आत्मभावना से युक्त होकर (त्वं) तू (त्यक्तबाह्यस्पृहः भूयाः) बाह्य पदार्थों में वांछा रहित हो। (तथा सति) ऐसा होने पर (गुप्त्याद्याः) गुप्ति आदि (ते) तेरे (करस्थिताः स्युः) हाथ पर ही रखी हुई वस्तु की तरह हो जाएँगी।

सरलार्थ – हे आत्मन ! तुम विकथा, कषायादि प्रमादों से रहित हो जाओ और निज भगवान् आत्मा का ध्यान करो। पुत्र, मित्र, कलत्र तथा धन-धान्यादिक बाह्य पदार्थों से ममता छोड़ दो। ऐसा करने से गुप्ति, समिति, तप और परिषहजय आदि स्वयमेव ही प्राप्त हो जाते हैं।

एवमक्लेशगम्येऽस्मिन्नात्माधीनतया सदा ।

श्रेयोमार्गे मतिं कुर्याः किं बाह्ये तापकारिणि ॥६१॥

अन्वयार्थ – हे आत्मन् ! (एवं) इसप्रकार (सदा) हमेशा (आत्मा-धीनतया) आत्मा की स्वाधीनता से (अक्लेशगम्ये) सुलभ प्राप्त (अस्मिन्) इस (श्रेयोमार्गे) मुक्तिमार्ग में (मतिं कुर्याः) अपनी बुद्धि लगाओ। (तापकारिणि बाह्ये) दुःखदायी बाह्य मार्ग में [बुद्ध्याः](किं प्रयोजनं) बुद्धि लगाने से क्या प्रयोजन ?

सरलार्थ – हे आत्मन् ! अपने ही अधीन होने से सहज साध्य मोक्षमार्ग में ही अपनी बुद्धि को सदा लगाओ, जिससे सुख की प्राप्ति होती है। मोक्षमार्ग को छोड़कर दुःखजनक बाह्य सांसारिक कार्यों में बुद्धि लगाने से सुखरूपी प्रयोजन की सिद्धि नहीं होती।

शुष्कनिर्बन्धतो बाह्ये मुह्यतस्तव हृद्व्यथा ।

प्रत्यक्षितैव नन्वात्मन्प्रत्यक्षनिरयोचिता ॥६२॥

अन्वयार्थ – हे आत्मन ! (बाह्ये) बाह्य पदार्थों में (शुष्कनिर्बन्धतः)

निस्सार सम्बन्ध करके (मुह्यतः तव) मोह करते हुए तेरे (हृद्व्यथा) हृदय में पीड़ा (प्रत्यक्षनिरयोचिता) प्रत्यक्ष नरक के समान (प्रत्यक्षिता एव) प्रत्यक्ष सिद्ध ही है।

सरलार्थ — हे आत्मन ! भ्रामक कल्पनाओं से अर्थात् विपरीत मान्यताओं से बाह्य पदार्थों में मोह करनेवाली तुम्हारी मानसिक पीड़ा कभी दूर नहीं होती। वास्तव में देखा जाए तो यह मानसिक पीड़ा प्रत्यक्ष नरक के दुःखों के समान ही है।

निर्जरा अनुप्रेक्षा

रत्नत्रयप्रकर्षेण बद्धकर्मक्षयोऽपि ते ।

आध्मातः कथमप्यग्निर्दाह्यं किं वावशेषयेत् ॥६३॥

अन्वयार्थ — हे आत्मन ! (रत्नत्रयप्रकर्षेण) सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र की वृद्धि से (ते) तेरे (बद्धकर्मक्षयः अपि भवेत्) संचित कर्मों का भी नाश हो ही जाता है। जैसे (आध्मातः) धोंकनी से उदीप्त हुई (अग्निः) अग्नि (दाह्यं) दाह्य वस्तु को (किं) क्या (कथं अपि) किसी प्रकार (अवशेषयेत्) बाकी रहने देती है ? बिलकुल नहीं रहने देती।

सरलार्थ — जैसे वायु आदि के निमित्त से प्रज्वलित हुई अग्नि सभी जलने योग्य (दाह्य) पदार्थों को नियम से जलाती है, जलाए बिना किसी को नहीं छोड़ती; वैसे ही सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की प्रकर्षता से पूर्व संचित समस्त कर्मों का भी सर्वथा नाश हो ही जाता है।

क्षयादनास्रवाच्चात्मन्कर्मणामसि केवली ।

निर्गमे चाप्रवेशे च धाराबन्धे कुतो जलम् ॥६४॥

अन्वयार्थ — (आत्मन्) हे आत्मन ! (कर्मणां) पूर्व संचित कर्मों के (क्षयात्) क्षय से (अनास्रवात् च) और आगामी आनेवाले कर्मों के निरोध से तू (केवली असि) केवली है। जैसे (धाराबन्धे) सरोवर में (जलस्य निर्गमे) पूर्व संचित जल के निकल जाने पर और (अप्रवेशे च) नवीन जल के नहीं आने पर (जलं) पानी (कुतः) कहाँ से [भवेत्] हो सकता है ?

सरलार्थ — हे आत्मन ! जैसे सरोवर में से पूर्व संचित जल को निकाल दिया जाए और उसमें नवीन जल भी न आए तो वह सरोवर कुछ समय में अवश्य ही जल से रहित हो जाता है; वैसे ही तुम्हारी आत्मा में से पूर्व संचित कर्म निर्जरा द्वारा निकल जाते हैं और आस्रव के निरोधरूप संवर से नवीन कर्म आत्मा में आते ही नहीं है। इसप्रकार कर्मों का सर्वथा नाश होने पर तुम अवश्य केवलज्ञानी भगवान बन जाओगे। अरहन्त और सिद्ध बनने का यही मार्ग है।

रत्नत्रयस्य पूर्तिश्च त्वयात्मन्सुलभैव सा ।

मोहक्षोभविहीनस्य परिणामो हि निर्मलः ॥६५॥

अन्वयार्थ — (आत्मन) हे आत्मन ! (च) और तब (सा रत्नत्रयस्य पूर्तिः) वह रत्नत्रय की पूर्ति (त्वया सुलभा एव) तेरे लिए सुलभ ही है। (हि) निश्चय से (मोहक्षोभविहीनस्य) मोह एवं क्षोभ से रहित जीव के (परिणामः) परिणाम (निर्मलः) निर्मल [भवति एव] ही होता है।

सरलार्थ — हे आत्मन ! निज शुद्धात्मा के विशेष आश्रय से उत्पन्न संवर तथा निर्जरा होने पर 'रत्नत्रय' की पूर्णता भी तुम्हें सहज सुलभ है; क्योंकि जब आत्मा मोह और क्षोभ से रहित हो जाता है तो उसके परिणामों में निर्मलता आती ही है। (यहाँ मोह का अर्थ दर्शन-मोह और क्षोभ का अर्थ चारित्र-मोह समझना चाहिए।)

परिणामविशुद्ध्यर्थं तपो बाह्यं विधीयते ।

न हि तण्डुलपाकः स्यात्पावकादिपरिक्षये ॥६६॥

अन्वयार्थ — हे आत्मन ! (परिणामविशुद्ध्यर्थं) परिणामों की शुद्धि के लिए (बाह्यं तपः) बाह्य तप (विधीयते) करना चाहिए।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (पावकादिपरिक्षये) अग्नि आदिक के बुझ जाने पर (तण्डुलपाकः न स्यात्) चावलों का पकना नहीं होता है।

सरलार्थ — हे आत्मन ! जैसे चावल और जल (उपादान कारण) के मौजूद

रहने पर भी बाह्य कारण अग्नि और बटलोई/तपेली आदिक के न होने पर भात नहीं बन सकता; वैसे ही परिणामों की विशुद्धि भी बाह्य तप के बिना नहीं हो सकती। अतएव परिणामों की विशुद्धि के लिए बाह्य तप भी करना चाहिए।

परिणामविशुद्धिश्च बाह्ये स्यान्निःस्पृहस्य ते ।

निःस्पृहत्वं तु सौख्यं तद्बाह्ये मुह्यसि किं मुधा ॥६७॥

अन्वयार्थ — हे आत्मन ! (बाह्ये) बाह्य पदार्थों में (निःस्पृहस्य ते) इच्छा रहित होने से तेरे (परिणामविशुद्धिः स्यात्) परिणामों की विशुद्धि होगी (तु पुनः) और (निःस्पृहत्वं सौख्यं भवति) बाह्य पदार्थों में इच्छा न करना ही सुख है (तत्) इसलिए (बाह्ये) बाह्य पदार्थों में (किं) क्यों (मुधा) वृथा (मुह्यसि) मोह करता है ?

सरलार्थ — हे आत्मन ! बाह्य पदार्थों की इच्छा-न करना ही परिणामों की विशुद्धि है और जहाँ इच्छा का अभाव है, वहाँ सुख है। अतएव बाह्य पदार्थों से मोह करना योग्य नहीं है; मोह व्यर्थ और दुःखदायक है।

गुप्तेन्द्रियः क्षणं वात्मन्नात्मन्यात्मानमात्मना ।

भावयन्पश्य तत्सौख्यमास्तां निश्रेयसादिकम् ॥६८॥

अन्वयार्थ — हे आत्मन ! (गुप्तेन्द्रियः) जितेन्द्रिय होकर (आत्मनि) आत्मा में (आत्मना) आत्मा के द्वारा (आत्मानं) आत्मा को (क्षणं भावयन्) क्षण मात्र अनुभवन करता हुआ (त्वं) तू (तत्सौख्यं पश्य) उस सुख को देख (निश्रेयसादिकं दूरे आस्तां) मोक्ष का सुख तो दूर ही रहने दे।

सरलार्थ — हे आत्मन ! मोक्ष का सुख तो अभी दूर रहने दो; जब मिलेगा तब मिलने दो। अभी तो तुम जितेन्द्रिय बनकर आत्मा में आत्मा के द्वारा आत्मा का ध्यान करो; जिससे तुम्हें निस्पृह स्वरूप साक्षात् निराकुल सुख अनुभव में आणा।

अनन्तं सौख्यमात्मोत्थमस्तीत्यत्र हि सा प्रमा ।

शान्तस्वान्तस्य या प्रीतिः स्वसंवेदनगोचरा ॥६९॥

अन्वयार्थ – (शान्तस्वान्तस्य) शान्त अन्तःकरणवाले पुरुषों को (स्वसंवेदनगोचरा) अपने अनुभव में आनेवाली (प्रीतिः) प्रीति ही (आत्मोत्थं) आत्मा से उत्पन्न (अनन्तं सौख्यं) अनन्त सुख है (हि) निश्चय से (इत्यत्र) इसमें (सा प्रमा) यही प्रमाण है।

सरलार्थ – शान्तचित्त मनुष्य अपने स्वसंवेदन ज्ञान से अनुपम आनन्द का अनुभव करता है। वह आनन्द का अनुभव ही 'मात्र आत्मा में ही सुख है' – इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है।

लोक अनुप्रेक्षा

प्रसारिताङ्घ्रिणा लोकः कटिनिक्षिप्तपाणिना ।

तुल्यः पुंसोर्ध्वमध्याधोविभागत्रिमरुद्वृतः ॥७०॥

अन्वयार्थ – हे आत्मन ! (ऊर्ध्वमध्याधोविभागः) ऊर्ध्वलोक, मध्यलोक और अधोलोक – ये तीन विभाग हैं जिसके ऐसा और (त्रिमरुद्वृतः) घनोदधिवातवलय, घनवातवलय और तनुवातवलय – इन तीन वातवलयों से वेष्टित (प्रसारिताङ्घ्रिणा) पैर फैलाए हुए (कटिनिक्षिप्त- पाणिना) कमर पर हाथ रखा है जिसने ऐसे (पुंसा) पुरुष के (तुल्यः) समान (लोकः) [अस्ति] यह लोक है।

सरलार्थ – यह षट्द्रव्यमयी लोक दोनों पैरों को फैलाए तथा कमर पर हाथ रखे हुए (मस्तकरहित) पुरुष के आकार के समान है। इस लोक के ऊर्ध्वलोक, मध्यलोक और अधोलोक – ये तीन भेद हैं। यह लोक घनोदधिवातवलय, घनवातवलय और तनुवातवलय से वेष्टित है।

जन्ममृत्योः पदे ह्यात्मन्नसंख्यातप्रदेशके ।

लोके नायं प्रदेशोऽस्ति यस्मिन्नाभूरनन्तशः ॥७१॥

अन्वयार्थ – हे आत्मन ! (जन्ममृत्योः) जन्म-मरण के (पदे) स्थान-स्वरूप (असंख्यातप्रदेशके) असंख्यात प्रदेशरूप (लोके) इस लोक में

(अयं प्रदेशः न अस्ति) ऐसा कोई भी प्रदेश नहीं है (यस्मिन्) जिस प्रदेश में (त्वं) तू (अनन्तशः) अनन्त बार (न अभूः) न जन्मा-मरा हो।

सरलार्थ – हे आत्मन ! जन्म और मृत्यु के स्थानस्वरूप इस लोक में ऐसा एक भी प्रदेश शेष नहीं है, जिस प्रदेश में तुमने जन्म नहीं लिया हो और मरण भी नहीं किया हो।

सत्यज्ञाने पुनश्चात्मन्पूर्ववत्संसरिष्यसि ।

कारणे जृम्भमाणेऽपि न हि कार्यपरिक्षयः ॥७२॥

अन्वयार्थ – हे आत्मन ! (अज्ञाने सति) मिथ्याज्ञान के होने पर (त्वं) तू (पूर्ववत्) पहले की तरह (पुनः च) फिर (संसरिष्यसि) संसार में घूमेगा।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (कारणे जृम्भमाणे) कारण के वर्धमान रहने पर (अपि) क्या (कार्यपरिक्षयः) [भवति] कार्य नष्ट हो जाता है ? [न भवति] अर्थात् कार्य कदापि नष्ट नहीं होता है।

सरलार्थ – हे आत्मन ! आत्मज्ञान न होने से तुम इस दुःखमय संसार में हमेशा की तरह परिभ्रमण करते ही रहोगे; क्योंकि कार्य की उत्पादक सामग्री के होने पर कार्य का प्रादुर्भाव अवश्य ही होता है, अतएव तुम आत्मज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न करो, जिससे मुक्ति की प्राप्ति हो सके। आत्मज्ञान ही संसार का नाशक है।

यतस्व तत्तपस्यात्मन्मुक्त्वा मुग्धोचितं सुखम् ।

चिरस्थाय्यन्धकारोऽपि प्रकाशे हि विनश्यति ॥७३॥

अन्वयार्थ – (आत्मन्) हे आत्मन ! (मुग्धोचितं) मूढ़ पुरुषों के भोगने योग्य (सुखं) इन्द्रिय सुख को (मुक्त्वा) छोड़कर (तपसि यतस्व) तप करने में यत्न कर।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (प्रकाशे) प्रकाश होने पर (चिरस्थायी) चिरकाल से स्थित (अन्धकारः अपि) अन्धकार भी (विनश्यति) नष्ट हो जाता है।

सरलार्थ – इसलिए हे आत्मन ! मूर्खजनों को भोगने योग्य सुखाभासरूप इन्द्रियजन्य सुख को छोड़कर तुम यथार्थ ज्ञान द्वारा सम्यक् तप के लिए प्रयत्न करो; क्योंकि प्रकाश के होने पर चिरकाल से व्याप्त अन्धकार भी तत्काल नष्ट हो जाता है।

बोधिदुर्लभ अनुप्रेक्षा

भव्यत्वं कर्मभूजन्म मानुष्यं स्वङ्गवंश्यता ।

दुर्लभं ते क्रमादात्मन्समवायस्तु किं पुनः ॥७४॥

अन्वयार्थ – (आत्मन्) हे आत्मन् ! (ते) तेरा (भव्यत्वं) भव्यपना होना, (कर्मभूजन्म) कर्म भूमि में जन्म लेना, (मानुष्यं) मनुष्यपर्याय का पाना, (स्वङ्गवंश्यता) सुन्दर शरीर और अच्छे कुल में उत्पन्न होना – ये सब बातें (क्रमात्) क्रम से (दुर्लभं) उत्तरोत्तर दुर्लभ हैं (तु) और (समवायः) इन सबका एक जगह मिलने पर तो (किं पुनः) बात ही क्या कहें ?

सरलार्थ – हे आत्मन ! जब मोक्षमार्ग तथा मोक्ष प्राप्ति में कारणभूत – (१) भव्यपना (२) कर्मभूमि में जन्म (३) मनुष्य पर्याय (४) नीरोग शरीर और (५) उत्तम कुल में जन्म – इन पाँचों में से क्रम से एक-एक की प्राप्ति होना अत्यन्त कठिन है तो एकसाथ इन पाँचों का मिलना सुलभ कैसे होगा ?

व्यर्थः स समवायोऽपि तवात्मन्धर्मधीर्न चेत् ।

कणिशोद्गमवैधुर्ये केदारादिगुणेन किम् ॥७५॥

अन्वयार्थ – (आत्मन्) हे आत्मन ! अब भी (चेत्) यदि (तव) तेरी (धर्मधीः न) धर्म में बुद्धि नहीं हुई तो (सः समवायः अपि व्यर्थः) पूर्वोक्त सब बातों का मिलना भी निष्फल है।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (कणिशोद्गमवैधुर्ये) अत्र के पौधों में अन्नयुक्त बालों के न निकलने पर (केदारादिगुणेन) खेत आदिक सामग्रियों के उत्तम होने से (किं) क्या प्रयोजन ?

सरलार्थ – हे आत्मन ! कदाचित भव्यत्व आदि दुर्लभ पाँचों की एकसाथ

प्राप्ति भी हो जाए; परन्तु यदि तुम्हारी यथार्थ धर्म में रुचि नहीं है तो उन पाँचों का एकसाथ पाना भी व्यर्थ है। जैसे खेत वगैरह अच्छे भी रहें; पर उनमें बीज बोने पर अनाज की उत्पत्ति न हो तो उनकी अच्छाई से भी क्या लाभ ?

तदात्मन्दुर्लभं गात्रं धर्मार्थं मूढ कल्प्यताम् ।

भस्मने दहतो रत्नं मूढः कः स्यात्परो जनः ॥७६॥

अन्वयार्थ – (मूढ) हे मूढ़ात्मन् ! (तत्) इसलिए (दुर्लभं गात्रं) दुर्लभ शरीर को (धर्मार्थं) धर्म के लिए (कल्प्यतां) संकल्प कर दे।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (भस्मने) भस्म के लिए (रत्नं दहतः) रत्न को जलानेवाले पुरुष की अपेक्षा (परः) दूसरा (कः) कौन (जनः) मनुष्य (मूढः) मूर्ख (स्यात्) है ?

सरलार्थ – हे आत्मन् ! जैसे कोई पुरुष बर्तन माँजने के लिए उपयोगी राख बनाने हेतु बहुमूल्य रत्नों को जलाकर उनकी राख तैयार करता है तो वह महामूर्ख समझा जाता है; वैसे ही मात्र सांसारिक सुख के लिए ही इस मनुष्य पर्याय को गँवाना महामूर्खता है। नर-देह का उपयोग तो धर्म की प्राप्ति के लिए करना ही युक्तिसंगत है।

देवता भविता श्वापि देवः श्वा धर्मपापतः ।

तं धर्मं दुर्लभं कुर्या धर्मो हि भुवि कामसूः ॥७७॥

अन्वयार्थ – हे आत्मन् ! (धर्मपापतः) धर्म और पाप से (श्वा अपि) कुत्ता भी (देवः) देव और (देवता) देवता (श्वा) कुत्ता (भविता) हो जाता है। इसलिए तू (दुर्लभं) दुर्लभ (तं) उस (धर्मं) धर्म को (कुर्याः) धारण कर। (हि) निश्चय से (भुवि) संसार में (धर्मः) धर्म (कामसूः) इच्छित कार्य को पुष्ट करनेवाला है।

सरलार्थ – हे आत्मन् ! पाप के प्रभाव से देव भी कुत्ता हो जाता है और धर्म के प्रभाव से कुत्ता भी देव-पर्याय प्राप्त कर लेता है। इसलिए इस दुर्लभ धर्म को धारण करो; क्योंकि इस संसार में धर्म ही सब मनोरथों को पूर्ण करनेवाला है।

भव्यस्याबाह्यचित्तस्य सर्वसत्त्वानुकम्पिनः ।

करणत्रयशुद्धस्य तवात्मन्बोधिरेधताम् ॥७८॥

अन्वयार्थ – हे आत्मन ! (भव्यस्य) भव्य, (अबाह्यचित्तस्य) बाह्य पदार्थों में मानसिक वृत्तिरहित, (सर्वसत्त्वानुकम्पिनः) सम्पूर्ण जीवों पर दया करनेवाले और (करणत्रयशुद्धस्य) अधःकरण, अपूर्वकरण तथा अनिवृत्तिकरणरूप परिणामों से निर्मल (तव) तेरे (बोधिः एधतां) सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की वृद्धि होवे ।

सरलार्थ – हे भव्य आत्मन ! तुम बाह्य पदार्थों से उदासीन, अहिंसा प्रेमी और अधःकरण, अपूर्वकरण तथा अनिवृत्तिकरणरूप परिणामों से निर्मल हो गए हो । अब 'रत्नत्रय' रूप धर्म की वृद्धि के लिए सतत प्रयत्नशील रहो ।

धर्म अनुप्रेक्षा

पश्यात्मन्धर्ममाहात्म्यं धर्मकृत्यो न शोचति ।

विश्वैर्विश्वस्यते चित्रं स हि लोकद्वये सुखी ॥७९॥

अन्वयार्थ – (आत्मन्) हे आत्मन ! (धर्ममाहात्म्यं पश्य) धर्म का माहात्म्य देख ! (धर्मकृत्यः) धर्म-कार्य करनेवाला मनुष्य (न शोचति) कभी शोक नहीं करता है और (विश्वैः विश्वस्यते) सब मनुष्य उसका विश्वास करते हैं । (हि) निश्चय से (चित्रं) आश्चर्य है (सः) वह (लोकद्वये) दोनों लोकों में (सुखी भवति) हमेशा सुखी रहता है ।

सरलार्थ – हे आत्मन ! तुम धर्म की महिमा को तो देखो ! धर्म करनेवाले मनुष्य को दुःख की प्राप्ति नहीं होती; धार्मिक मनुष्य पर सभी विश्वास करते हैं । आश्चर्य की बात तो यह है कि यह धर्मात्मा इहलोक में ही नहीं, परलोक में भी सुखी होता है ।

तवात्मन्नात्मनीनेऽस्मिञ्जैनधर्मेऽतिनिर्मले ।

स्थवीयसी रुचिः स्थेयादामुक्तेर्मुक्तिदायिनी ॥८०॥

अन्वयार्थ - हे आत्मन ! (आमुक्तेः) जबतक मुक्ति न हो तबतक (आत्मनीने) आत्मा का हित करनेवाले (अतिनिर्मले) अत्यन्त निर्मल (अस्मिन् जैनधर्मे) इस जैनधर्म में (तव) तेरी (स्थवीयसी) स्थिर (मुक्ति-दायिनी) मुक्ति को देनेवाली (रुचिः स्थेयात्) श्रद्धा होवे।

सरलार्थ - इसलिए हे आत्मन ! आत्महितकारक, अत्यन्त निर्मल इस जैनधर्म में जबतक मुक्ति की प्राप्ति नहीं होती, तबतक तुम्हारी अटल श्रद्धा बनी रहे।

विशेषार्थ - बन्दर, बन्दरी और वनपाल के बीच घटित वैराग्योत्पादक विशिष्ट घटना को देखकर राजा जीवन्धरकुमार को संसार, शरीर एवं भोगों से विरक्ति हो गई है। इसकारण उन्होंने अनित्यादि बारह भावनाओं का चिन्तन (ग्यारहवें लम्ब के श्लोक क्रमांक २९ से श्लोक ८० तक) किया है।

प्रथमानुयोग के शास्त्र में मानो यह नियम ही है कि जिन महापुरुषों का चरित्र कहा जाता है, उनको वैराग्य हो जाता है और वे नियम से बारह भावनाओं का चिन्तन-मनन करते हुए जिनदीक्षा को स्वीकार करते हैं एवं अन्त में जगतपूज्य बन जाते हैं। इस शास्त्र में भी राजा जीवन्धरकुमार ने वैराग्य हो जाने के कारण अनुप्रेक्षाओं का चिन्तन किया है, जो सबके लिए अत्यन्त उपयोगी है।

राजा जीवन्धरकुमार की विरक्ति का दृढ़ होना -

इत्यनुप्रेक्षया चासीदक्षोभ्यास्य विरक्तता।

व्यवस्था हि सतां शैली साहाय्येऽप्यत्र किं पुनः ॥८१॥

अन्वयार्थ - (इति) इसप्रकार (अनुप्रेक्षया) बारह भावनाओं के चिन्तन करने से (अस्य) इन जीवन्धर महाराज का (विरक्तता) वैराग्य भाव (अक्षोभ्या) स्थिर (आसीत्) हो गया।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से (सतां) सज्जन पुरुषों की (शैली) किसी कार्य के प्रारम्भ करने की प्रवृत्ति (व्यवस्था स्यात्) व्यवस्थित/निश्चित

हुआ करती है और (अपि) यदि (अत्र साहाय्ये) इसमें सहायता मिल जाए तो (किं पुनः वक्तव्यं) फिर कहना ही क्या है ?

सरलार्थ – पूर्वोक्त प्रकार से बारह भावनाओं का पुनः पुनः चिन्तन-मनन करने के कारण महान चिन्तक राजा जीवन्धरकुमार का वैराग्य अत्यन्त पुष्ट हो गया; क्योंकि महापुरुष अपने स्वीकृत कार्य में सदैव अत्यन्त दृढ़ रहते हैं और कोई सहायक मिलता है तो उनकी दृढ़ता और भी परिपक्व हो जाती है।

विशेषार्थ – राजा जीवन्धरकुमार को बन्दरों की घटना ने तो आन्दोलित किया ही था; उसके निमित्त से वैराग्य तो अंकुरित हुआ ही था; फिर भी बारह अनुप्रेक्षाओं के पुनः पुनः अनुचिन्तन से उनके वैराग्य परिणामों को और भी बल मिल गया।

राजा जीवन्धरकुमार की वैराग्य-भावना में वृद्धि –

विरक्तो राज्यमन्यच्च न तृणायाप्यमन्यत।

हस्तस्थेप्यमृते को वा तित्तसेवापरायणः ॥८२॥

अन्वयार्थ – (विरक्तः) फिर संसार के विषयों से विरक्त राजा जीवन्धरकुमार ने (राज्यं) अपने राज्य को (अन्यत् च) और सब पदार्थों को (तृणाय अपि) तृण के समान भी (न अमन्यत) नहीं समझा।

[अत्र नीतिः] निश्चय से (हस्तस्थे) हाथ में रखे हुए (अमृते अपि) अमृत के होने पर भी (कः वा) कौन बुद्धिमान पुरुष (तित्तसेवापरायणः स्यात्) कड़वी वस्तु के सेवन करने में तत्पर होगा ? कोई भी नहीं।

सरलार्थ – संसार से उदासीन होने के कारण राजा जीवन्धरकुमार राज्य को और अन्य भोग्य-पदार्थों को तृण के समान तुच्छ समझने लगे। ठीक ही है; क्योंकि हाथ में अमृत आ जाने पर कड़वी वस्तु के सेवन की चाह कोई भी नहीं करता। तद्भव मोक्षगामी राजा जीवन्धरकुमार को साक्षात् मोक्ष के कारण प्राप्त हो रहे हैं, तब वे संसार के कारण राज्यादि में मोह कैसे कर सकते हैं ?

राजा जीवन्धरकुमार द्वारा जिनेन्द्र भगवान की पूजा -

ततस्तस्माद्विनिर्गत्य सम्पूज्य परमेश्वरम् ।

योगीन्द्रादश्रृणोद्धर्ममधीती जिनशासने ॥८३॥

अन्वयार्थ - (ततः) तदनन्तर (जिनशासने अधीती) जैन शास्त्रों के जाननेवाले उन जीवन्धरकुमार ने (तस्मात् विनिर्गत्य) वहाँ से निकलकर (परमेश्वरं सम्पूज्य) जिनेन्द्र भगवान की पूजा करके (योगीन्द्रात्) किसी ऋद्धिधारी मुनि से (धर्मं अश्रृणोत्) धर्मश्रवण किया ।

सरलार्थ - राजा जीवन्धरकुमार के हृदय में वैराग्य के अंकुर प्रस्फुटित हुए हैं। वे उस लता भवन से लौटकर सीधे जिनालय में पहुँचे, वहाँ अत्यन्त भक्तिभाव से जिनेन्द्र भगवान की पूजा की तथा वहीं पर उपस्थित चारण ऋद्धिधारी मुनिराज से धर्मश्रवण किया ।

विशेषार्थ - राजा जीवन्धरकुमार ने जिनेन्द्र भगवन्तों की भक्ति-भाव से पूजा-अर्चना की। पूजन में अपनी बात भगवान को सुनाई जाती है; किन्तु भगवान क्या कहते हैं, उसको जानना भी परमावश्यक होता है। जिनकी पूजा की जाती है, उनके सन्देश को सुनना ही धर्मश्रवण है। अतः पूजा के उपरान्त धर्मश्रवण का कार्य होना सहज ही है।

भव्यजीव को धर्मश्रवण के भाव हों और उसे धर्म सुनने को न मिले - यह असम्भव है। अतः जीवन्धरकुमार को चारणऋद्धिधारी मुनिराज से धर्मश्रवण का सहज ही योग मिल गया।

धर्मश्रवण से धर्मज्ञान में निर्मलता -

धर्मश्रुतेर्बभूवायं धार्मविद्योऽतिनिर्मलः ।

अत्युत्कटो हि रत्नांशुस्तज्जवेकटकर्मणा ॥८४॥

अन्वयार्थ - फिर (धर्मश्रुतेः) धर्म का स्वरूप सुनने से (अयं) ये राजा जीवन्धरकुमार (अति निर्मलः) अत्यन्त निर्मल (धार्मविद्यः बभूव) धर्म विद्या के जाननेवाले हो गए।

[अत्र नीतिः] (हि) निश्चय से जिसप्रकार (रत्नांशुः) रत्नों की किरणें (तज्जवेकटकर्मणा) रत्न को शाण पर रखनेवाले चतुर मनुष्य की चमक लाने की चतुराई से (अत्युत्कटः अभूत) अत्यन्त उज्ज्वल हो जाती हैं; उसी प्रकार जीवन्धरकुमार धर्म का स्वरूप सुनने से और अधिक तत्त्वज्ञाता हो गए।

सरलार्थ – चारणऋषिधारी मुनिराज से राजा जीवन्धरकुमार को धर्मश्रवण का स्वर्ण अवसर प्राप्त हुआ। वे जैन धर्म के ज्ञाता तो थे ही, मुनिराज से धर्मश्रवण कर उनका धर्मज्ञान अत्यन्त निर्मल हो गया; क्योंकि स्वभाव से चमकदार रत्न को कोई चतुर जौहरी शाण पर चढ़ाकर उसे और घिसेगा तो उसकी चमक में और अभिवृद्धि ही होगी।

राजा जीवन्धरकुमार का मुनिराज से प्रश्न –

पुनश्चारणयोगीन्द्रः पूर्वजन्मबुभुत्सया ।

भूपेन परिपृष्टोऽयमाचष्टास्य पुराभवम् ॥८५॥

अन्वयार्थ – (पुनः च) फिर (पूर्वजन्मबुभुत्सया) अपने पूर्वजन्म के वृत्तान्त को जानने की इच्छा से (भूपेन) राजा द्वारा (परिपृष्टः) पूछे गए प्रश्न का (अयं चारणयोगीन्द्रः) उन चारण ऋषिधारी मुनिराज ने (अस्य पुराभवं) जीवन्धरकुमार के पूर्वजन्म का वृत्तान्त (आचष्ट) इसप्रकार कहा।

सरलार्थ – धर्मश्रवण से तृप्त होने के पश्चात् राजा जीवन्धरकुमार ने अपने पूर्वभव के वृत्तान्त जानने की इच्छा से अत्यन्त विनयपूर्वक मुनिराज से प्रश्न पूछ ही लिया। निमित्तज्ञानी मुनिराज ने राजा जीवन्धरकुमार की जिज्ञासा शान्त करने के लिए उनके प्रश्न का उत्तर देना प्रारम्भ किया।

उपकथा-२३

मुनिराज द्वारा जीवन्धरकुमार के प्रश्न का उत्तर –

भूपेन्द्र धातकीखण्डे भूम्यादितिलके पुरे ।

सूनुः पवनवेगस्य राज्ञोऽभूस्त्वं यशोधरः ॥८६॥

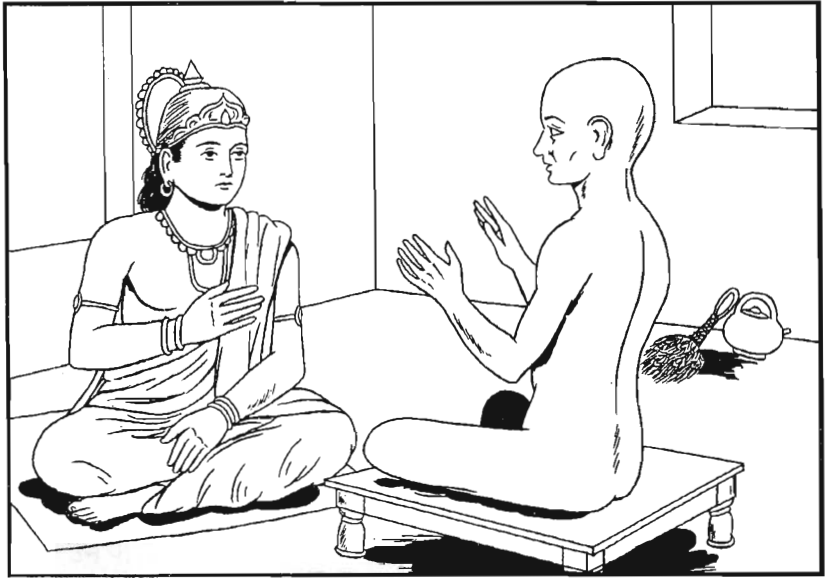
अन्वयार्थ – (भूपेन्द्र) हे राजन ! (धातकीखण्डे) धातकी खण्ड नाम

के द्वीप में (भूम्यादितिलके पुरे) भूमितिलक नाम के नगर में (त्वं) तुम (राज्ञः पवनवेगस्य) राजा पवनवेग के (यशोधरः सनुः अभूः) यशोधर नाम के पुत्र थे।

सरलार्थ – हे राजन ! तुम अपने पूर्वभव में धातकीखण्ड द्वीप के भूमितिलक नगर में राजा पवनवेग के यशोधर नाम के सुपुत्र थे।

राजहंस कदाचित्त्वं राजहंसस्य शावकम्।

नीडात्क्रीडार्थमानीय निरवद्यमवीवृधः ॥८७॥



अन्वयार्थ – (राजहंस) हे राजश्रेष्ठ ! (त्वं) तुमने (कदाचित्) किसी समय (राजहंसस्य शावकं) हंस के बच्चे को (क्रीडार्थं) खेलने के लिए (नीडात् आनीय) घोंसले से लाकर (निरवद्यं यथा स्यात् तथा अवीवृधः) उसका निर्दोषता से पालन-पोषण किया।

सरलार्थ – हे राजन ! एक समय तुम किसी राजहंस के बच्चे को अपने मनोविनोद के लिए पकड़कर ले आए और उसे पिंजड़े में बन्द कर उसका पालन-पोषण करने लगे।

तत्कृतोऽपि समाकर्ण्य धार्मविद्यः स ते पिता ।

तदा धर्ममुपादिक्षद्यतोऽभूरतिधार्मिकः ॥८८॥

अन्वयार्थ – (तदा) उस समय (सः) उस (ते) तुम्हारे (धार्मविद्यः) धर्मात्मा (पिता) पिता ने (तत् कृतः अपि) यह बात कहीं से (समाकर्ण्य) सुनकर तुमको (धर्म उपादिक्षत्) धर्म का उपदेश दिया; (यतः) जिस उपदेश के सुनने से (त्वं) तुम (अतिधार्मिकः अभूः) अत्यन्त धर्मात्मा बन गए।

सरलार्थ – यह समाचार जब तुम्हारे पिताश्री को मालूम हुआ; तब उन्होंने तुम्हें बहुत समझाया। तुम्हें धर्म का उपदेश दिया, तब तुमने उस राजहंस के बच्चे को तो मुक्त कर दिया और स्वयं संसार से उदासीन होकर धर्मात्मा हो गए।

राजा यशोधर की मुनि-दीक्षा –

निवारितोऽपि पित्रा त्वमतिनिर्वेदतस्ततः ।

जातरूपधरो जातः स्त्रीभिरष्टाभिरन्वितः ॥८९॥

अन्वयार्थ – (ततः) फिर (पित्रा) पिता से (निवारितः अपि) रोके हुए भी (त्वं) तुम (अतिनिर्वेदतः) अत्यन्त वैराग्य के कारण (अष्टाभिः स्त्रीभिः अन्वितः) आठ स्त्रियों सहित (जातरूपधरः जातः) दिगम्बर मुनि एवं तुम्हारी स्त्रियाँ आर्यिका हो गयी।

सरलार्थ – तदनन्तर तुम्हारे पिता राजा पवनवेग ने तुम्हें बहुत समझाया, मुनि-दीक्षा से रोकने के लिए बहुत प्रयास किया; परन्तु अत्यन्त तीव्र वैराग्य के कारण तुमने उनकी बात नहीं मानी तथा दीक्षा धारण कर दिगम्बर मुनि बन गए। उसी समय तुम्हारी आठों पत्नियों ने भी आर्यिका के व्रत धारण किए।

यशोधर मुनिराज द्वारा भावी पर्यायों का ज्ञान करना –

घोरेण तपसा लब्ध्वा देवत्वं च त्रिविष्टपात् ।

अष्टाभिः स्त्रीभिरेताभिरत्राभूर्भव्यपुङ्गव ॥९०॥

अन्वयार्थ – (भव्यपुङ्गव) हे भव्य श्रेष्ठ ! फिर (त्वं) तुम (घोरेण तपसा) घोर तपश्चरण के द्वारा (देवत्वं च लब्ध्वा) देवपर्याय को प्राप्त कर (त्रिविष्टपात्) फिर उस स्वर्ग से चयकर (अत्र) यहाँ पर (एताभिः अष्टाभिः स्त्रीभिः सह) इन आठ स्त्रियों के साथ (अभूः) उत्पन्न हुए हो।

सरलार्थ – हे भव्योत्तम ! मुनि-दीक्षा लेने के उपरान्त तुमने घोर तपस्या की, जिसके प्रभाव से आप वैमानिक देव हुए और वहाँ से अपनी आयु पूर्ण कर इस मनुष्य लोक में अपनी आठों स्त्रियों सहित यहाँ उत्पन्न हुए हो।

पूर्व पर्याय के परिणामों का फल –

स्वपदाद्वालहंसस्य पितृभ्यां च पुराभवे।

वियोजनाद्वियोगस्ते बन्धोऽभूदिव बन्धनात् ॥९१॥

अन्वयार्थ – इसलिए (पुराभवे) पूर्वजन्म में (बालहंसस्य) हंस के बच्चे को (स्वपदात्) उसके स्थान (पितृभ्यां च) और माता-पिता से (वियोजनात्) वियोग करने से (ते वियोगः) तुम्हारा स्थान और माता-पिता से वियोग और (बन्धनात्) उस बच्चे को पिंजरे में बन्द कर रोकने से (बन्धः अभूत्) तुम्हारा बन्धन हुआ।

सरलार्थ – हे राजा जीवन्धर ! आपने यशोधर राजा के भव में राजहंस के बच्चे को उसके स्थान से तथा उसके माता-पिता से कुछ समय के लिए अलग किया था। उन परिणामों के फलस्वरूप आपको इस मनुष्य भव में अपने राज्यपद और माता-पिता के वियोग के दुःख को अनेक वर्षों तक भोगना अनिवार्य हो गया। आपने राजहंस के बच्चे को पिंजड़े के बन्धन में डाला था; अतः उसके फलस्वरूप आपको काष्ठांगार के बन्धन में रहना पड़ा।

राजा जीवन्धरकुमार की मनःस्थिति –

इति योगीन्द्रवाक्येन भोगीव पविपाततः।

भीतो राज्यादयं राजा प्रणम्य स्वपुरीमयात् ॥९२॥

अन्वयार्थ – (इति योगीन्द्रवाक्येन) इसप्रकार मुनि के वचनों से

(पविपाततः) बिजली के गिरने से (भीतः भोगी इव) डरे हुए सर्प की तरह (राज्यात् भीतः) राज्य से भयभीत (अयं राजा) ये राजा जीवन्धरकुमार (प्रणम्य) मुनि को नमस्कार कर (स्वपुरीं अयात्) अपनी नगरी में आ गए।

सरलार्थ — जैसे बिजली के गिरने से सर्प भयभीत हो जाता है; वैसे ही मुनिराज से धर्मोपदेश और अपने पूर्व भव का वृत्तान्त जानकर राजा जीवन्धरकुमार राज्य तथा पंचेन्द्रिय के भोगों से भयभीत हो गए। तदनन्तर मुनिराज को नमस्कार कर विरक्त राजा जीवन्धरकुमार ने अपनी राजपुरी नगरी की ओर प्रस्थान किया।

आठों रानियों और भाई नन्दाद्वय की मनःस्थिति —

सद्भर्मामृतपानेन सानुजास्तस्य वल्लभाः।

विषप्रख्यममन्यन्त तत्सौख्यं विषयोद्भवम् ॥१३॥

अन्वयार्थ — (सानुजाः) इनके छोटे भाई सहित (तस्य वल्लभाः) उनकी आठों स्त्रियों ने (सद्भर्मामृतपानेन) धर्मरूपी अमृत का पान करने से (विषयोद्भवं सौख्यं) पंचेन्द्रियों के विषय से उत्पन्न सुख को (विषप्रख्यं अमन्यन्त) विष के समान समझा।

सरलार्थ — राजा जीवन्धरकुमार के साथ उनकी आठों रानियों और भाई नन्दाद्वय ने भी महा-मुनिराज से उपदेश सुना। इसकारण वे सभी समीचीन धर्मरूप अमृतपान से पंचेन्द्रियजन्य सुख को विष के समान दुःखदायक मानने लगे।

जीवन्धरकुमार द्वारा पुत्र को राज्य सौंपना —

तत्र गन्धर्वदत्तायाः पुत्रं सत्यंधराह्वयम्।

अभिषिच्य ततस्ताभिः प्रापदास्थायिकां कृती ॥१४॥

अन्वयार्थ — (तत्र) वहाँ पर (कृती) बुद्धिमान राजा जीवन्धरकुमार ने (गन्धर्वदत्तायाः) अपनी रानी गन्धर्वदत्ता के (सत्यंधराह्वयं) सत्यन्धर नाम के (पुत्रं) पुत्र को (अभिषिच्य) राज्याभिषेक करके राज्य सौंप कर (ततः)

फिर (ताभिः सह) अपनी आठों स्त्रियों के साथ स्वयं (आस्थायिकां प्रापत्) भगवान के समवशरण में पहुँचे।

सरलार्थ – संसार से अति विरक्त तथा बुद्धिमान राजा जीवन्धरकुमार ने अपनी राजपुरी नगरी में पहुँचकर अपनी ज्येष्ठ (प्रथम) प्रिय पटरानी गन्धर्वदत्ता के सुपुत्र सत्यन्धर को राज्य सिंहासन पर बिठाकर उसका राज्याभिषेक किया। तदनन्तर स्वयं अपनी आठों रानियों को साथ लेकर चौबीसवें तीर्थकर भगवान महावीर के समवशरण में पहुँचे।

तीर्थकर महावीर की पूजा -

श्रीसभायां समभ्येत्य श्रीवीरं जिननायकम्।

पूजयामास पूज्योऽयमस्तावीच्च पुनः पुनः ॥१५॥

अन्वयार्थ – फिर (अयं पूज्यः) इन पूज्य जीवन्धरकुमार ने (श्रीसभायां समभ्येत्य) समवशरण की धर्मसभा में पहुँच कर (जिननायकं श्रीवीरं) जिनेन्द्र श्री महावीर स्वामी की (पूजयामास) पूजा की और (पुनः पुनः अस्तावीत्) बारम्बार उनका स्तवन किया।

सरलार्थ – सम्माननीय तथा विरक्त जीवन्धरकुमार ने समवशरण में पहुँचकर वर्तमान काल में धर्म-प्रवर्तक तीर्थकर भगवान महावीर की पूजा करते हुए उनकी पुनः पुनः स्तुति की।

विशेषार्थ – गुणों के प्रति मन में उत्पन्न अनुराग, प्रीतिभाव, बहुमान के भाव को पूजा कहते हैं। अष्ट द्रव्यों से पूजन करना उसका बाह्य प्रतीक है। गुणों का वर्णन करना स्तुति है। दूसरे शब्दों में गुणों का स्मरण पूजा है और वचनों द्वारा गुणों को कहना स्तुति है।

तीर्थकर महावीर की स्तुति -

भगवन्भवरोगेण भीतोऽहं पीडितः सदा।

त्वय्यकारणवैद्योऽपि सहा किं तस्य कारणा ॥१६॥

अन्वयार्थ – (भगवान्) हे भगवन् ! (अहं) मैं (भवरोगेण) संसार के

जन्म-मरण के रोग से (सदा) अनादिकाल से (पीडितः) पीडित [च] और (भीतः) भयभीत [अस्मि] हूँ। [अधुना] (त्वयि अकारणवैद्ये) [सति] (अपि) आपके अकारण वैद्य होने पर भी (तस्य कारणा) उसकी वेदना (सह्या किम्) क्या सहने योग्य है ? अर्थात् आप इस वेदना को शीघ्र ही नष्ट करें।

सरलार्थ — हे वर्द्धमान भगवान ! इस संसार में अनादिकाल से जन्म-जरा-मरण रूपी रोग के कारण मैं सतत दुःखी तथा भयभीत हूँ। अब आप मुझे सर्वथा निरपेक्ष भव-रोग नाशक श्रेष्ठतम वैद्य मिल गए हो। अतः हे प्रभु ! मेरी आपसे यही विनती है कि आप मेरी संसार पीड़ा को नष्ट करो।

त्वं सार्वः सर्वविद्देव सर्वकर्मणि कर्मठः।

भव्यश्चाहं कुतो वा मे भवरोगो न शाम्यति ॥९७॥

अन्वयार्थ — (देव) हे देव ! (त्वं) आप (सार्वः) सबके हित करनेवाले (सर्ववित्) सब कुछ देखने-जाननेवाले और (सर्वकर्मणि कर्मठः) सभी कर्मों के करने में शूरी [असि] हो (च) और (अहं) मैं (भव्यः) भव्य हूँ तो (मे भवरोगः) मेरा संसार का रोग (कुतो वा न शाम्यति) क्यों शान्त नहीं होता ?

सरलार्थ — हे सन्मतिदाता भगवान महावीर ! आप सबका समान रीति से हित करनेवाले हो। आप तो सभी कार्यों के करने में सर्वथा समर्थ हो। आप मेरी भव्यतारूप पात्रता का विचार कर मुझे अनादिकाल से चले आ रहे भव-रोग से मुक्त करो; यही मेरी आपसे विनती है।

निर्मोह मोहदावेन देहजीर्णोरुकानने।

दह्यमानतया शश्वन्मुह्यन्तं रक्ष रक्ष माम् ॥९८॥

अन्वयार्थ — (निर्मोह) हे मोहरहित वीतराग जिनेन्द्र ! (देहजीर्णोरुकानने) देहरूपी बहुत पुरानी गहन अटवी में (मोहदावेन) मोहरूपी दावानल से (दह्यमानतया) जलने के कारण (शश्वत् मुह्यन्तं) निरन्तर विवेकरहित (माम्) मेरी (रक्ष रक्ष) रक्षा करो, रक्षा करो।

सरलार्थ – हे मोहरहित वीतरागी महावीर भगवान ! जैसे कोई प्राणी किसी पुराने गहन वन में दावानल से जलता है; उसीप्रकार मैं भी इस शरीररूपी वन में मोहरूपी अग्नि से निरन्तर जल रहा हूँ। आप मोह का नाश करने में अत्यन्त शूरवीर हैं, इसलिए मेरे मोह का नाश कर मेरी भी रक्षा कीजिए।

संसारविषवृक्षस्य सर्वापत्फलदायिनः ।

अंकुरं रागमुन्मूलं वीतराग विधेहि मे ॥९९॥

अन्वयार्थ – (वीतराग) हे वीतराग ! (सर्वापत्फलदायिनः) सर्व प्रकार की विपत्तिरूपी फल को देनेवाले (संसारविषवृक्षस्य) संसाररूपी विषवृक्ष के (अंकुरं) अंकुर के समान (मे रागं) मेरे रागभाव को (उन्मूलं विधेहि) जड़ से रहित कर दो।

सरलार्थ – हे वीतरागी अतिवीर महावीर भगवान ! जैसे विष वृक्ष का अंकुर, वृक्ष बनकर प्राणनाशक अनेक फलों को उत्पन्न करता है; वैसे ही अल्प रागभाव भी संसाररूपी वृक्ष बनकर अनेक दुःखदायक, आपत्तिजनक फलों को देता है। अतएव हे वीर प्रभु ! आप मेरे रागभावों को समूल नष्ट करने की कृपा करो।

कर्णधार भवाणोर्धेर्मध्यतो मज्जता मया ।

कृच्छ्रेण बोधिनौर्लब्धा भूयान्निर्वाणपारगा ॥१००॥

अन्वयार्थ – (कर्णधार) हे सच्चे खेवटिया भगवान ! (भवाणोर्धेः मध्यतः) संसाररूपी समुद्र के मध्य में (मज्जता मया) डूबते हुए मेरे द्वारा (कृच्छ्रेण लब्धा) बड़ी कठिनाई से प्राप्त की हुई (बोधिनौः) रत्नत्रयरूपी नौका (निर्वाणपारगा भूयात्) मुझे मोक्षरूपी पार पर पहुँचानेवाली होवे।

सरलार्थ – हे भगवान ! जैसे समुद्र में डूबता हुआ कोई मनुष्य कर्मोदय से कोई नौका को प्राप्त कर ले; किन्तु यदि योग्य नाविक न मिले तो समुद्र पार नहीं कर पाता है; उसीप्रकार मैं भी संसाररूपी समुद्र में डूब रहा था, परन्तु इससे पार होने के लिए मुझे रत्नत्रय-रूपी नौका तो प्राप्त हो चुकी है, परन्तु

चतुर नाविक के बिना पार कैसे होऊँ ? आप संसार-सागर से पार उतारनेवाले चतुर नाविक हैं। अतः आपसे निवेदन है कि मुझे कृपा कर इस संसार-समुद्र से पार लगा दीजिए।

भगवान महावीर से दीक्षा की अनुमति -

इति स्तोत्रावसाने च लब्ध्वायं त्रिजगद्गुरोः ।

अनुज्ञां जिनदीक्षायामानमद्गणनायकम् ॥१०१॥

अन्वयार्थ - (इति त्रिजगद्गुरोः) इसप्रकार तीन जगत के स्वामी महावीर तीर्थकर के (स्तोत्रावसाने) स्तवन के अन्त में (अयं) इन्होंने (अनुज्ञां लब्ध्वा) आज्ञा पाकर (जिनदीक्षायां) जिनदीक्षा लेने के प्रारम्भ में (गणनायकं) गणधरदेव को (आनमत्) नमस्कार किया।

सरलार्थ - त्रिलोक के गुरु तीर्थकर भगवान महावीर की पूर्वोक्त प्रकार से स्तुति करने के पश्चात् राजा जीवन्धरकुमार ने उनसे दीक्षा के लिए अनुमति प्राप्त की और जिनदीक्षा के पूर्व गणधर देव को भक्तिभाव से नमस्कार किया।

विशेषार्थ - तीर्थकर भगवान तो पूर्ण वीतरागी होते हैं। वे किसी को न तो जिनदीक्षा के लिए अनुमति देते हैं और न किसी का किसी भी काम के लिए विरोध करते हैं। वे तो सदैव ज्ञाता-दृष्टारूप ही रहते हैं।

गुरु से अनुमति लेने की पद्धति है। अतः जीवन्धरकुमार ने भगवान महावीर को अपना दीक्षा गुरु मानकर उनसे जिनदीक्षा धारण करने औपचारिक अनुमति चाही। दीक्षार्थी राजा जीवन्धरकुमार ने गणधर परमेश्वरी को नमस्कार कर उनसे दीक्षा ग्रहण की। एतदर्थ दीक्षा ग्राहक जीवन्धरकुमार ने गणधर देव को भी नमस्कार किया।

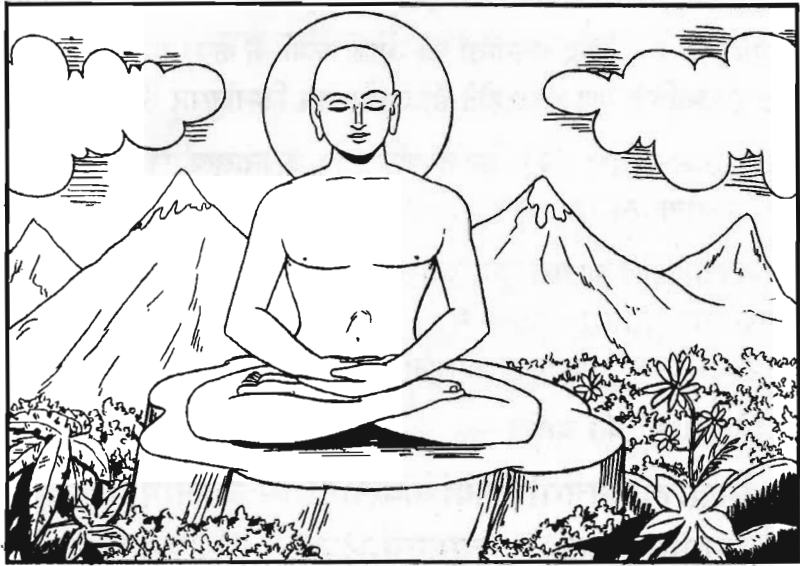
जीवन्धरस्वामी द्वारा घोर तप -

प्राज्ञः प्रब्रज्य तत्पाश्वे तपस्तेपेऽतिदुश्चरम् ।

येन कर्माष्टकस्यापि नष्टता स्याद्यथाक्रमम् ॥१०२॥

अन्वयार्थ - फिर (प्राज्ञः) बुद्धिमान राजा ने (प्रब्रज्य) दीक्षा ग्रहण

करके (तत्पाश्वे) महावीरस्वामी के निकट (अतिदुश्चरं तपः) बहुत कठोर तप (तेपे) किया (येन) जिस तप के द्वारा (कर्माष्टकस्य) आठ कर्मों का (नष्टता) नाश (यथाक्रमं स्यात्) यथाक्रम से होता है।



सरलार्थ – बुद्धिमान एवं मोक्षाभिलाषी राजा जीवन्धरकुमार ने श्री गणधर देव से जिनदीक्षा धारण की और दीक्षोपरान्त जिस तप के द्वारा आठों कर्मों का नाश हो जाता है – ऐसी उग्र तपश्चर्या मुनिराज जीवन्धरस्वामी ने तीर्थकर भगवान महावीर के सान्निध्य में की।

सिद्ध-अवस्था की प्राप्ति –

श्रीरत्नत्रयपूर्त्याथ जीवन्धरमहामुनिः ।

अष्टाभिः स्वगुणैः पुष्टोऽनन्तज्ञानसुखादिभिः ॥१०३॥

अन्वयार्थ – (अथ) इसके अनन्तर (जीवन्धरमहामुनिः) वे जीवन्धर महामुनि (श्रीरत्नत्रयपूर्त्या) पवित्र सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र की परिपूर्णता से (अनन्तज्ञानसुखादिभिः) अनन्तज्ञान-सुखादिक (अष्टाभिः स्वगुणैः) आत्मा के आठ स्वाभाविक गुणों से (पुष्टः अभूत्) पुष्ट हुए।

सरलार्थ – कठोर तपश्चरण के प्रताप से महामुनिराज जीवन्धरकुमार ने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को पूर्ण किया तथा आठों कर्मों का नाश करके यथासमय अनन्तज्ञानादि आठों आत्मगुणों की पूर्णता को प्राप्त कर अविनाशी सिद्धपद को प्राप्त हुए।

विशेषार्थ – सिद्ध भगवन्तों को आठों कर्मों के क्षय/नाश होने पर जो आठ स्वाभाविक गुण प्रगट होते हैं, उनके नाम निम्नानुसार हैं –

(१) अनन्तज्ञान (२) अनन्तदर्शन (३) अनन्तसुख (४) अनन्तवीर्य (५) अव्याबाधत्व (६) अवगाहनत्व (७) सूक्ष्मत्व (८) अगुरुलघुत्व।

अनन्तज्ञानादि को यहाँ गुण शब्द से निरूपित किया गया है; किन्तु वास्तव में देखा जाए तो सिद्ध-अवस्था में इन आठों पर्यायों की प्राप्ति होती है। यहाँ गुण शब्द का अर्थ पर्याय ही समझना चाहिए।

मोक्षलक्ष्मी की प्राप्ति –

सिद्धो लोकोत्तराभिख्यां केवलाख्यामकेवलाम्।

अनुपमामनन्तां तामनुबोभूयते श्रियम् ॥१०४॥

अन्वयार्थ – फिर (सिद्धः भूत्वा) सिद्ध पदवी को प्राप्त कर (लोकोत्तरा-भिख्यां) अलौकिक (अनुपमां) उपमारहित (तां) उस (अनन्तां) अनन्त (केवलाख्यां) अनन्य (अकेवलां श्रियं) मुख्य मोक्षरूपी लक्ष्मी का (अनुबोभूयते) अनुभव किया।

सरलार्थ – मुनिवर जीवन्धरकुमार ने सिद्ध पद प्राप्त कर लोकोत्तर, अनुपम, अनन्त और अनन्य मोक्षलक्ष्मी प्राप्त कर अविनाशी अतीन्द्रिय मोक्षसुख का अनुभवन किया।

विशेषार्थ – वस्तु व्यवस्था का यह पक्ष कितना मधुर और आनन्दमय है कि अनादि-अनन्त संसार की दुःखमय अवस्था का तो नाश होता है; परन्तु प्राप्त अनन्त सुखमय सिद्ध-अवस्था का कभी नाश नहीं होता। यद्यपि पर्याय प्रतिसमय बदलती/पलटती रहती है; परन्तु नित्य बदलती हुई नवीन पर्याय अनन्त सुखमय ही होती है।

ग्रन्थकार की पाठकों को पवित्र प्रेरणा -

(शार्दूलविक्रीडित)

एवं निर्मलधर्मनिर्मितमिदं शर्म स्वकर्मक्षय-
प्राप्तुं प्राप्तमतुच्छमिच्छतितरां यो वा महेच्छो जनः ।
सोऽयं दुर्मतकुञ्जरप्रहरणे पञ्चाननं पावनं
जैनं धर्ममुपाश्रयेत मतिमात्रिश्रेयसः प्राप्तये ॥१०५॥

अन्वयार्थ - (यः वा महेच्छः जनः) जो उत्तम सहृदय पुरुष (एवं) इसप्रकार (निर्मलधर्मनिर्मितं) पवित्र धर्म से रचित (स्वकर्मक्षयप्राप्तं) आत्मा के अष्टकर्मों के नाश होने से प्राप्त (अतुच्छं) महान (इदं शर्म) इस सुख को (प्राप्तुं) प्राप्त करने की (इच्छतितरां) इच्छा करता है (सः अयं मतिमान्) वही बुद्धिमान पुरुष (निश्रेयसः प्राप्तये) मोक्ष की प्राप्ति के लिए (दुर्मतकुञ्जरप्रहरणे) मिथ्यामत रूपी हस्तियों के नाश करने के लिए (पञ्चाननं) सिंह के समान पवित्र (जैनं धर्म) जिनधर्म को (उपाश्रयेत) धारण करे।

सरलार्थ - जो भव्य आत्माएँ अष्टकर्म रहित, अनन्त, अनुपम तथा लोकोत्तर मोक्षसुख की इच्छा रखते हैं; उनका कर्तव्य है कि वे दुर्मतिरूपी हस्तियों के नाश करने में समर्थ सिंह के समान परम सत्य, परम पवित्र अनादि-अनन्त 'जैनधर्म/जिनधर्म' को धारण करें।

विशेषार्थ - इस 'क्षत्रचूडामणि' ग्रन्थ में कुल ग्यारह अध्याय (लम्ब) हैं, जिनमें कुल ७४७ श्लोक हैं। इसमें मात्र एक श्लोक 'शार्दूलविक्रीडित' छन्द में (ग्यारहवें लम्ब का छन्द क्रमांक १०५) लिखा गया है, शेष ७४६ श्लोक 'अनुष्टुप' श्लोक में रचे गए हैं। 'जैनधर्म' शब्द का उपयोग पूरे ग्रन्थ में मात्र ग्यारहवें लम्ब के ८०वें श्लोक में बारह भावनाओं के अनुचिन्तन में और इस श्लोक में किया है।

ग्रन्थ के नामकरण का कारण -

राजतां राजराजोऽयं राजराजो महोदयैः ।

तेजसा वयसा शूरः क्षत्रचूडामणिर्गुणैः ॥१०६॥

अन्वयार्थ - (गुणैः क्षत्रचूडामणिः) राजा के गुणों से क्षत्रियों के शिरोभूषण (तेजसा) तेज (च) और (वयसा) युवावस्था से (शूरः) शूरवीर (महोदयैः) महान ऐश्वर्य से (राजराजः) कुबेर के समान (अयं राजराजः) राजाओं के राजा जीवन्धर महाराज निरन्तर (राजतां) शोभायमान होंगे ।

सरलार्थ - जो पूर्वबद्ध पुण्यकर्मों से प्राप्त विशाल ऐश्वर्य के धनी एवं गृहस्थ जीवन में कुबेर के समान अतिशय धनवान् थे। शरीर की स्वाभाविक कान्ति के कारण अत्यन्त शोभायमान और युवा-अवस्था में अतुल शक्ति के कारण शूरवीर थे। युद्धकला में अत्यन्त कुशल तथा आपत्तियों पर विजय पाने में सहज धैर्यशाली थे। जो क्षत्रियों में प्रमुख मुकुट में मणि के समान श्रेष्ठ थे। ऐसे राजा जीवन्धरकुमार पूर्वोक्त रीति से आत्म-साधना के द्वारा सिद्ध पद को प्राप्त हुए।

विशेषार्थ - 'क्षत्रचूडामणि' शब्द का प्रयोग ग्रन्थ के अन्तिम श्लोक में ही ग्रन्थकार आचार्य श्रीवादीभसिंह ने किया है। इसका अर्थ है - जीवन्धरकुमार मुकुट में मणि के समान क्षत्रियों में प्रमुख हैं। इसकारण ही इस ग्रन्थ का नामकरण 'क्षत्रचूडामणि' के नाम से सार्थक सिद्ध हुआ है। अतः क्षत्रियों में शिरोमणि जीवन्धरकुमार के इस चरित्र-ग्रन्थ का नाम क्षत्रचूडामणि 'यथा नाम तथा गुण' की कहावत को चरितार्थ कर सत्य सिद्ध हुआ है।

इसप्रकार यहाँ आचार्य श्री वादीभसिंह रचित क्षत्रचूडामणि नामक ग्रन्थ अन्वयार्थ, सरलार्थ और विशेषार्थ के साथ पूर्ण हुआ।

इति श्रीवादीभसिंहसूरिविरचिते क्षत्रचूडामणौ एकादशो लम्बः

स
मासम्

प्रस्तुत संस्करण की कीमत कम करने वाले दातारों की सूची

1. श्रीमती निर्मलादेवी ध.प. प्रदीपकुमारजी चुड़ीवाले	1100.00
निखार पे संस की सुपुत्री की सगाई के उपलक्ष्य में, जयपुर	
2. श्री कमलकुमारजी बड़जात्या अपने सुपुत्र सोकतकुमार, मुम्बई	1100.00
की सगाई के उपलक्ष्य में	
3. श्रीमती पुष्पलता जैन, (जीजीबाई) ध.प.	1001.00
अजितकुमारजी जैन, छिन्दवाड़ा	
4. श्री नरेन्द्रकुमारजी जैन वज्रपुरवाले	1000.00
5. श्री देवेन्द्रकुमारजी जैन, सिंगोडी	1000.00
6. श्री पीयूषकुमार जैन एवं अनामिका जैन, जयपुर	1000.00
7. स्व. श्री शान्तिनाथजी सोनाज, अकलूज	501.00
8. श्रीमती आशिमा जैन, जयपुर	500.00
9. ब्रजबाला गंगवाल, दिल्ली	500.00
10. श्रीमती राजेश्वरी अशोकजी जैन, बड़ोदरा	500.00
11. श्री कन्नूभाई मूलचन्द भाई दोशी, मुम्बई	500.00
12. श्रीमती चित्रा प्रवीण शाह	500.00
13. श्री पदमचन्दजी जैन, धनवाद	500.00
14. श्री सुन्दरलालजी जैन, सेनगाँव (हिंगोली)	500.00
15. श्री अनिलजी जैन, कोटा	500.00
16. श्रीमती आशा जैन ध.प. अरहन्त जैन, नीमच	500.00
17. श्रीमती अनिता जैन, कोटा	500.00
18. स्व. धापूदेवी ध.प. स्व. ताराचन्दजी गंगवाल	251.00
जयपुर की पुण्य स्मृति में	
19. श्रीमती पानादेवी मोहनलालजी सेठी, गोहाटी	101.00

कुल राशि

12,054.00

प्रथमानुयोग का प्रयोजन

प्रथमानुयोग में तो संसार की विचित्रता, पुण्य-पाप का फल, महन्त पुरुषों की प्रवृत्ति इत्यादि निरूपण से जीवों को धर्म में लगाया है। जो जीव तुच्छबुद्धि हों वे भी उससे धर्मसन्मुख होते हैं, क्योंकि वे जीव सूक्ष्म निरूपण को नहीं पहिचानते, लौकिक कथाओं को जानते हैं, वहाँ उनका उपयोग लगता है। तथा प्रथमानुयोग में लौकिक प्रवृत्तिरूप ही निरूपण होने से उसे वे भली-भांति समझ जाते हैं। तथा लोक में तो राजादिक की कथाओं में पाप का पोषण होता है। यहाँ महन्तपुरुष राजादिक की कथाएँ तो हैं, परन्तु प्रयोजन जहाँ-तहाँ पाप को छुड़ाकर धर्म में लगाने का प्रगट करते हैं; इसलिए वे जीव कथाओं के लालच से तो उन्हें पढ़ते-सुनते हैं और फिर पाप को बुरा, धर्म को भला जानकर धर्म में रुचिवन्त होते हैं।

इसप्रकार तुच्छबुद्धियों को समझाने के लिए यह अनुयोग है। 'प्रथम' अर्थात् 'अव्युत्पन्न मिथ्यादृष्टि', उनके अर्थ में जो अनुयोग सो प्रथमानुयोग है। ऐसा अर्थ गोम्मटसार की टीका में किया है।

तथा जिन जीवों के तत्त्वज्ञान हुआ हो, पश्चात् इस प्रथमानुयोग को पढ़ें-सुनें तो उन्हें वह उसके उदाहरणरूप भासित होता है। जैसे - जीव अनादिनिधन है, शरीरादिक संयोगी पदार्थ हैं - ऐसा यह जानता था। तथा पुराणों में जीवों के भवान्तर निरूपित किये हैं, वे उस जानने के उदाहरण हुए। तथा शुभ-अशुभ शुद्धोपयोग को जानता था व उसके फल को जानता था। पुराणों में उन उपयोगों की प्रवृत्ति और उनका फल जीव के हुआ सो निरूपण किया है, वही उस जानने का उदाहरण हुआ। इसीप्रकार अन्य जानना।

यहाँ उदाहरण का अर्थ यह है कि जिस प्रकार जानता था, उसीप्रकार वहाँ किसी जीव के अवस्था हुई - इसलिए यह उस जानने की साक्षी हुई।

तथा जैसे कोई सुभट है - वह सुभटों की प्रशंसा और कायरों की निन्दा जिसमें हो - ऐसी किन्हीं पुराण-पुरुषों की कथा सुनने से सुभटपने में अति उत्साहवान होता है; उसीप्रकार धर्मात्मा है - वह धर्मात्माओं की प्रशंसा और पापियों की निन्दा जिसमें हो ऐसे किन्हीं पुराण-पुरुषों की कथा सुनने से धर्म में अति उत्साहवान होता है।

इसप्रकार यह प्रथमानुयोग का प्रयोजन जानना।

